भारत का आर्थिक विकास

(ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA)

[भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के निमित्त]

डा० ए० पी० गौड़, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, बी० एस० एस० डी० कॉलिज, कानपुर।

प्रो० पी० एल० गोलवलकर, एम० ए०, बी० कॉम०,
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, राजकीय कॉलिज, गुना।

डा० सी० बी० मामोरिया, एम० ए०, एम० कॉम०, पी-एच० डी०,
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कार विजेता)
(सदस्य, फैकल्टी ऑफ कॉमर्स, राजस्थान विश्वविद्यालय)
अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, महाराणा भूपाल कॉलिज, उदयपुर।

प्रो० एस० एम० शुक्ल, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०,
वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कॉलिज, कानपुर।

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक
मूल्य : ११।) या ११ रु० २५ नये पैसे

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तक का तृतीय संस्करण इतनी अल्प अवधि में समाप्त होकर उसका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित होना ही पुस्तक की लोकप्रियता का परिचय देता है। अतः यह संस्करण पाठकों को प्रस्तुत करते समय लेखकों एवं प्रकाशकों को हर्ष हो रहा है।

इस संस्करण में आरम्भ से अन्त तक अद्यावधि संशोधन किये गये हैं तथा अद्यावधि आँकड़ों का समावेश भी किया गया है। साथ ही, भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक में प्रस्तुत नवीन सामग्री, अद्यावधि आँकड़े, सरल भाषा एवं विवेचन शैली से यह पुस्तक केवल "भारत के आर्थिक विकास" के पाठकों को ही नहीं अपितु "भारत की आर्थिक समस्याओं" के अध्ययन अध्यापन-कर्त्ताओं को भी अपनी लोकप्रियता का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रकाशकों की ओर से पुस्तक के संशोधन की सूचना काफी पूर्व आने के बाद भी कुछ कठिनाइयों के कारण इसका संशोधित संस्करण तत्काल प्रकाशित न हो सका, जिसका हमें खेद है। साथ ही साथ हर्ष भी है कि यह संस्करण ऐसे समय में प्रकाशित हो रहा है कि जब विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति विशेष जागरूकता एवं चेतना रहती है।

पुस्तक मे प्रारम्भ से अन्त तक केवल अद्यावधि संशोधन ही नही किये गये हैं, अपितु अनेक अध्याय पूर्णतया बदल दिये गये है। साथ ही, पुस्तक में आवश्यक अद्यावधि आँकड़ो एवं सामग्री का समावेश किया गया है। भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही, अनावश्यक तालिकाएँ हटा ली गई हैं।

इस संस्करण के संशोधन में ही नहीं अपितु कुछ अध्यायो के लिखने में भी प्रो० बी० पी० श्रीवास्तव गोल्डमेडलिस्ट, सागर विश्वविद्यालय तथा महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज के हमारे साथी ने हमें मौलिक सहायता की है। उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करें, यही हमारी समझ से परे है।

नवीन सामग्री, अद्यावधि आकडे, सरल भाषा, गहन एवं विस्तृत विवेचन शैली से पुस्तक विद्यार्थियो में अपनी उपयोगिता का परिचय देगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही, सामान्य पाठकों को भी देश की विभिन्न समस्याओं का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

तृतीय संस्करण की भूमिका

प्रकाशकों की ओर से पुस्तक के संशोधन की सूचना काफी पूर्व आने के बाद भी कुछ कठिनाइयों के कारण इसका संशोधित संस्करण तत्काल प्रकाशित न हो सका, जिसका हमें खेद है। साथ ही साथ हर्ष भी है कि यह संस्करण ऐसे समय में प्रकाशित हो रहा है कि जब विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति विशेष जागरूकता एवं चेतना रहती है।

पुस्तक में प्रारम्भ से अन्त तक केवल अद्यावधि संशोधन ही नहीं किये गये हैं, अपितु अनेक अध्याय पूर्णतया बदल दिये गये है। साथ ही, पुस्तक में आवश्यक अद्यावधि आंकड़ों एवं सामग्री का समावेश किया गया है। भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही, अनावश्यक तालिकाएँ हटा ली गई हैं।

इस संस्करण के संशोधन में ही नहीं अपितु कुछ अध्यायों के लिखने में भी प्रो० बी० पी० श्रीवास्तव गोल्डमेडलिस्ट, सागर विश्वविद्यालय तथा महारानी लक्ष्मीबाई कॉलेज के हमारे साथी ने हमें मौलिक सहायता की है। उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करें, यही हमारी समझ से परे है।

नवीन सामग्री, अद्यावधि आंकड़े, सरल भाषा, गहन एवं विस्तृत विवेचन शैली से पुस्तक विद्यार्थियों में अपनी उपयोगिता का परिचय देगी, ऐसा विश्वास है। साथ ही, सामान्य पाठकों को भी देश की विभिन्न समस्याओं का परिचय देने में सफल होगी।

—लेखकगण

अनुक्रमणिका

[प्रथम खण्ड]

[द्वितीय खण्ड]

———

पृष्ठ क्रम

भारत का आर्थिक विकास

का लेबनान और जोर्डन में प्रवेश। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से आंका जाता है। इसलिए राजनैतिक कदम उठाते समय उसके आर्थिक परिणामों को देखने के लिए गत इतिहास का अनुभव उपयोगी होता है। आर्थिक एवं औद्योगिक नीति बनाते समय उसके राजनैतिक परिणामों को देखे बिना हम आगे नहीं चल सकते। इसी प्रकार कृषि नीति अपनाते समय कृषकों की वर्तमान स्थिति, उनके आर्थिक स्रोत, उनमें प्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी आर्थिक उन्नति के लिए भारत स्वयं जिम्मेवार है, अतः हमारे आर्थिक विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम भावी नीति का सफल संचालन नहीं कर सकते। राज्य की आर्थिक नीति के संचालन तथा देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ़, उन्नत एवं सन्तुलित बनाने के लिए मुद्रा एवं चलन सम्बन्धी नीति, राजस्व नीति, कर-नीति आदि का एक दूसरे पर होने वाला प्रभाव भी दृष्टि में रखना होगा, इसलिए आर्थिक विकास का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्ययन के आधार पर भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का समुचित हल होकर देश अधिभौतिक कल्याण (Material Welfare) की ओर अधिकाधिक अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के अध्ययन से हम भारत की तुलना उन देशों के साथ कर सकते हैं तथा उनके आर्थिक प्रयत्नों की सहायता से अपनी समस्यायें सुलझाने में भी सफल हो सकते हैं।

प्रथम भाग

प्रास्ताविक

वायु दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए बाधक होती हैं। दूसरी ओर समशीतोष्ण जलवायु मे मनुष्य को काम करने का उत्साह रहता है, जिससे ऐसे प्रदेशो का आर्थिक विकास अबाधित रूप से हो सकता है। इस प्रकार जलवायु से मनुष्य की श्रम करने की शक्ति एव उत्साह प्रभावित होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सभ्यता का विकास तो उष्ण देशो मे हुआ, लेकिन सबसे अधिक आर्थिक विकास शीत एवं सम शीतोष्ण प्रदेशो मे हो हुआ।

जलवायु का प्रभाव मनुष्य के कार्य जीवन ((Working Life) पर भी पडता है। जैसे—शीत देशो के मनुष्य स्वस्थ, दीर्घ जीवी, अधिक कुशल एवं परिश्रमी होते हैं तो उष्ण देशो के मनुष्य अस्वस्थ, अल्पजीवी तथा आलसी होते हैं। इसी कारण वे अपना आर्थिक विकास शीघ्र गति से नही कर पाते। जलवायु का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता हैं, क्योकि जहां ऋतु परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है वहां प्रत्येक मौसमी परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैसे-भारत मे शीत, वर्षा एव ग्रीष्म ऋतु मे मौसमी परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती है, जिनसे हमारी कार्यक्षमता प्रभावित होती है।

प्रत्येक देश की फसलो एव वनस्पति पर वहाँ की जलवायु का प्रभाव पडता है और प्रत्येक देश के उद्योग धन्धे वहाँ की वनस्पति तथा फसलो पर निर्भर रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जलवायु पर निर्भर रहता है, जैसे—भारत मे सूती वस्त्र का उद्योग बम्बई और अहमदाबाद मे अधिक विकसित है, जहाँ भारत के कुल वस्त्र का ७०% वस्त्र निर्माण होता है, क्योंकि बम्बई एव अहमदाबाद मे इस उद्योग के लिये आवश्यक उष्ण एव आर्द्र जलवायु है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की जलवायु गन्ने के लिए पोषक होने से इन राज्यो मे शक्कर व्यवसाय केन्द्रित है।

यातायात पर भी जलवायु का गहरा प्रभाव पडता है, किसी भी देश की आर्थिक उन्नति यातायात के विकास पर निर्भर रहती है, जैसे—जहाँ पर हिम वर्षा अधिक होती है वहाँ के स्थल मार्ग हिम वर्षा में बन्द हो जाते हैं अथवा शीत प्रदेशों में नदियों का पानी जम जाता है, जिससे नदियों अथवा समुद्र का उपयोग निम्न तापक्रम मे जल यातायात के लिए नही हो सकता। उदाहरणार्थ—बाल्टिक सागर शीत ऋतु में जल यातायात के लिए निरुपयोगी हो जाता है, इसी प्रकार कनाडा की नदियाँ भी अधिक सर्दी पडने पर जम जाती हैं। वायु-यातायात पर भी जलवायु का प्रभाव होता है, क्योकि वायु-यातायात के लिए निरभ्र आकाश रहना आवश्यक होता है। यदि जलवायु के कारण आकाश स्वच्छ नहीं रहते, आँधी अथवा कुहरा रहता है तो उससे वायु-यातायात को खतरा बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि देश की जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता, उद्योग धन्धे, सभ्यता एव यातायात पर होता है।

(२) भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुयें—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत उन सब वस्तुओ का समावेश होता है जो प्रकृति मानव समाज के उपयोग के लिए उदारता

अध्याय १

विषय-प्रवेश

(Introduction)

"भारतीय अर्थशास्त्र" और "भारत का आर्थिक विकास" ये एक ही जीवन के दो अङ्ग हैं, जिनमें से पहला केवल वर्तमान स्थिति का अध्ययन करता है तो दूसरा भूत एवं वर्तमान के अध्ययन के साथ ही भविष्य का निर्धारण करने में सहायक होता है।"

"भारत का आर्थिक विकास" इस विषय को कुछ अर्थशास्त्रियों ने 'भारतीय अर्थशास्त्र' नाम दिया है। परन्तु वास्तव मे भारतीय अर्थशास्त्र नाम ठीक नही है, क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र मे अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्तो की विवेचना न कर अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो को ही भारत की आर्थिक स्थिति की पृष्ठ भूमि मे लागू किया जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र "आर्थिक विचारों के इतिहास" (History of Economic Thought) की भाँति भारतीय अर्थशास्त्रियों की आर्थिक विचारधाराओं का इतिहास नही है और न इसमे ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही किया गया है जो अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से भिन्न हों एव भारतीय परिस्थिति मे ही विशेष रूप से लागू होते हो। अपितु भारतीय अर्थशास्त्र अथवा भारत के आर्थिक विकास के अन्तर्गत हम देश के उपलब्ध नैसर्गिक, मानवी एवं आर्थिक साधनों का उपयोग अधिभौतिक उन्नति के लिए किस प्रकार किया गया है, किस प्रकार हो रहा है एवं किस प्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन करते है। दूसरे शब्दो मे, भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठ-भूमि में भारत का आर्थिक जीवन किस प्रकार विकसित होता गया, उसकी आर्थिक समस्याएँ तथा उनको हल करने के उपाय एव योजनाओं के अध्ययन को हम "भारत का आर्थिक विकास" कह सकते है। इस प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भारत के नैसर्गिक स्रोत एवं उनका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी नैसर्गिक रचना एव उसका आर्थिक जीवन पर प्रभाव, हमारी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव आदि का अध्ययन किया जायगा। आर्थिक पृष्ठ-भूमि में हमारा औद्योगिक विकास एवं उसकी समस्याएँ, कृषि एवं कृषि समस्याएँ, मुद्रा एवं बैंकिंग का विकास एवं उनकी समस्याएँ आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन होगा। इसी प्रकार राजनैतिक पृष्ठ-भूमि मे राज्य द्वारा उद्योग एव अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए कौनसी नीति समय-समय पर अपनाई गई तथा उसके क्या परिणाम हुए, आदि का अध्ययन हम करेंगे। इस प्रकार देश की राजनैतिक,

(२) भूमि की उर्वराशक्ति मे वृद्धि,
(३) वर्षा की पर्याप्तता,
(४) वन-सम्पत्ति पर आधारित उद्योगो का विकास,
(५) इमारती लकडी, ईंधन तथा औषधोपयोगी वनस्पति की प्राप्ति।

इसी कारण भारत मे प्रति वर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है तथा पच वर्षीय योजनाओ मे वनो के विकास पर काफी बल दिया गया है।

(५) **खनिज सम्पत्ति**—किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसका जीवन के ढंग पर गहरा प्रभाव पडता है। वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए खनिज सम्पत्ति अनिवार्य है। भारतवर्ष को ही देखें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत मे खनिज सम्पत्ति पर्याप्त होते हुए भी उसका पर्याप्त विदोहन नही किया गया है। भारत मे कोयले की खानें होते हुए भी यहाँ का कोयला निम्न कोटि का है तथा कोयले की खानों का वितरण ठीक से नही हुआ है। फलतः भारत को दक्षिण अफ्रीका से कोयला आयात करना पडता है। परन्तु अन्य खनिज सम्पत्ति भारत मे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, केवल उनका आर्थिक विकास के लिए समुचित रीति से विदोहन करने की आवश्यकता है। अन्य देशो की ओर देखने से यह स्पष्ट होता है कि इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया आदि के औद्योगिक एव आर्थिक विकास का आधार वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही है।

(६) **भौगोलिक स्थिति**—देश की भौगोलिक स्थिति पर उस देश के वाणिज्य एव उद्योग का विकास निर्भर रहता है। भौगोलिक दृष्टि से यदि देश विश्व के मध्य मे बसा हुआ है, जहाँ से उसे विश्व के सब देशो मे व्यापार करने मे सुगमता होती है तो उस दशा मे उस देश का आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सकेगा। जल, मार्ग की सुगमता, सुरक्षित व्यापारिक मार्ग तथा विश्व मे केन्द्रीय स्थिति होना किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड की विश्व मे केन्द्रीय स्थिति है, चारो तरफ से जल मार्ग उपलब्ध होने मे उसको विश्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करना सुगम हुआ है। भारत की स्थिति आर्थिक विकास की दृष्टि मे अनुकूल है। तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण जल-मार्ग भी उपलब्ध है, परन्तु समुद्र तट कटा-फटा न होने से अच्छे बन्दरगाहो की कमी है। इसी प्रकार मध्य पूर्व एशिया से व्यापार करने के लिए अनुकूल स्थिति भी भारत को प्राप्त है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की जलवायु आदि भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। भारत मे अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति उपलब्ध हैं। परन्तु यहाँ के उपलब्ध साधनो का विदोहन भारतीयों ने अपने आर्थिक विकास के लिए नही किया है। सौभाग्य मे भारत मे वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, खनिज

का लेबनान और जोर्डन में प्रवेश। इसी प्रकार प्रत्येक आर्थिक क्रिया का परिणाम राजनैतिक दृष्टि से आंका जाता है। इसलिए राजनैतिक कदम उठाते समय उसके आर्थिक परिणामों को देखने के लिए गत इतिहास का अनुभव उपयोगी होता है। आर्थिक एवं औद्योगिक नीति बनाते समय उसके राजनैतिक परिणामो को देखे बिना हम आगे नही चल सकते। इसी प्रकार कृषि नीति अपनाते समय कृषकों की वर्तमान स्थिति, उनके आर्थिक स्रोत, उनमें प्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक रूढियो का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी आर्थिक उन्नति के लिए भारत स्वय जिम्मेवार है, अतः हमारे आर्थिक विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योकि बिना इस अध्ययन के हम भावी नीति का सफल संचालन नही कर सकते। राज्य की आर्थिक नीति के सचालन तथा देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ, उन्नत एवं सन्तुलित बनाने के लिए मुद्रा एवं चलन सम्बन्धी नीति, राजस्व नीति, कर-नीति आदि का एक दूसरे पर होने वाला प्रभाव भी दृष्टि मे रखना होगा, इसलिए आर्थिक विकास का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्ययन के आधार पर भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओ का समुचित हल होकर देश अधिभौतिक कल्याण (Material Welfare) की ओर अधिकाधिक अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार विभिन्न देशो के आर्थिक विकास के अध्ययन से हम भारत की तुलना उन देशो के साथ कर सकते हैं तथा उनके आर्थिक प्रयत्नों की सहायता से अपनी समस्यायें सुलझाने में भी सफल हो सकते हैं।

———

अध्याय २

भौगोलिक वातावरण एवं आर्थिक विकास

(Geographical Environments & Economic Development)

"भारत का आर्थिक विकास नजरबन्द है।"

—वीरा ऐन्सटी।

"भारतीय समाज की परिस्थितियों के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी स्वयं भारत है।"

—सर एडवर्ड ब्लण्ट।

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ के मानवी एवं नैसर्गिक साधनों पर निर्भर रहता है, इसलिए देश के आर्थिक विकास में नैसर्गिक साधनों और भौगोलिक वातावरण का प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश की जलवायु, धरातल की रचना, खनिज सम्पत्ति एवं वन सम्पत्ति पर उस देश का आर्थिक विकास निर्भर होता है, क्योंकि इन्हीं के विदोहन से मानव अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है, इसलिए यदि भौगोलिक वातावरण को हम देश के आर्थिक जीवन का आधार कहें तो अनुचित न होगा।

देश के आर्थिक विकास के लिए तथा मानव समाज की अधिभौतिक प्रगति के लिए इनका समुचित एवं वैज्ञानिक रीति से उपयोग करना आवश्यक होता है तथा इस उपयोग के ढंग पर ही देश की आर्थिक उन्नति तथा अवनति निर्भर रहती है। नैसर्गिक साधनों के विदोहन करने का कार्य प्रत्येक देश के मानव समाज द्वारा होता है, *इसलिए आर्थिक विकास के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली घटक* (Factor) 'मनुष्य' होता है। इस प्रकार किसी भी देश का आर्थिक विकास नैसर्गिक साधनों की बहुलता अथवा कमी, उस देश की जन-संख्या एवं जनता की विशेषतायें तथा काम करने की आदतें, वहाँ की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक संस्थायें तथा वहाँ के वैधानिक एवं राजनैतिक वातावरण पर निर्भर रहता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण अनेक देशों में नैसर्गिक साधनों की सम्पन्नता होते हुए भी उनमें से एक देश आर्थिक दृष्टि से उन्नत शिखर पर रहता है तो दूसरा देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है। आर्थिक विकास के लिए नैसर्गिक साधनों का विदोहन करने का काम मनुष्य का होता है और वह अपने आर्थिक *विकास के लिए उनका विदोहन कहाँ तक कर* सकता है, इस पर आर्थिक विकास निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, अमरीका और भारत के आर्थिक विकास की तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि भारत में नैसर्गिक साधनों

जिम्मेवार है। राजनैतिक गुलामी एवं तत्कालीन शासकीय नीति के कारण ही हमारे यहाँ शिक्षा के विकास और आर्थिक विकास के प्रयत्न सच्चे दिल से नहीं किये गये। यदि भारत में शिक्षा का पर्याप्त विकास होता तथा धर्म को हम सही अर्थ में समझ पाते[1] तो सम्भवतः भारतीयों की रूढ़िवादिता एवं सकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता।

(२) जाति प्रणाली—हमारी सामाजिक संस्थाओं में सबसे प्रमुख स्थान जाति-प्रणाली का है। भारतीय जातियों का निर्माण यहाँ की धार्मिक परम्पराओं के कारण ही हुआ है, जिन्होंने सामाजिक संगठन को अनेक पृथक वर्गों में (जातियों में) बाँट दिया है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन की अपनी विशेषता है, जो अन्य देशों तथा धर्मों में इस रूप में नहीं है। समाज का विभाजन विभिन्न जातियों में होने से उनकी आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाएँ भी अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार होती हैं, जिससे देश के आर्थिक विकास में रुकावटें आती हैं, इसलिए भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर जाति प्रणाली के प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि "जाति प्रणाली तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली ने अनादि काल से कुटुम्ब, समाज तथा किसी व्यवसाय अथवा संघ के सदस्यों का नियमन किया है, जिससे उनका जन्म से सम्बन्ध रहता था।"

परिभाषा—

जिस पद्धति में एक वंश के निवासी अपनी रोटी-बेटी व्यवहार आपस में करते हैं तथा उनका एक ही नाम होता है, उसे एक जाति कहा जाता है। श्री मूरे के अनुसार : "जो आपस में रोटी-बेटी व्यवहार करते हैं ऐसे समूह" को जाति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में : "ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनको एक नाम से पहिचाना जाता है तथा जो एक ही परम्परागत व्यवसाय करते हैं" उसे जाति कहते।[2] इस प्रकार की जातियाँ कई उपजातियों में भी विभाजित हैं तथा इनमें ऊँच-नीच भाव होते हैं, जिससे इनके आपसी रोटी-बेटी व्यवहार भी नहीं होते।

उगम—

जाति-प्रणाली का जन्म किस प्रकार से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ भारतीय लेखकों के अनुसार भारतीय जाति का उगम ऐतिहासिक बताया गया है। भारत के आदि निवासियों को जिन लोगों ने युद्ध में हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे क्रमशः यहाँ के निवासी हो गये। इनमें विजयी लोग अपने को पराजितों से उच्च वर्णीय मानते थे। इस प्रकार जितनी जातियों ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी जातियाँ यहाँ पर बनीं। इसके बाद

---

1. धर्म का सही अर्थ है—धृञ् धारयते इद् धर्मः—समाज के स्थायित्व के लिए जो नियम आवश्यक हैं वह धर्म है।

2. Economic Development of India—Vera Anstey.

वायु दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए बाधक होती हैं। दूसरी ओर समशीतोष्ण जलवायु मे मनुष्य को काम करने का उत्साह रहता है, जिससे ऐसे प्रदेशो का आर्थिक विकास अबाधित रूप से हो सकता है। इस प्रकार जलवायु से मनुष्य की श्रम करने की शक्ति एव उत्साह प्रभावित होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सभ्यता का विकास तो उष्ण देशो मे हुआ, लेकिन सबसे अधिक आर्थिक विकास शीत एवं सम शीतोष्ण प्रदेशो मे ही हुआ।

जलवायु का प्रभाव मनुष्य के कार्य जीवन ((Working Life) पर भी पडता है। जैसे—शीत देशो के मनुष्य स्वस्थ, दीर्घ जीवी, अधिक कुशल एवं परिश्रमी होते हैं तो उष्ण देशो के मनुष्य अस्वस्थ, अल्पजीवी तथा आलसी होते हैं। इसी कारण वे अपना आर्थिक विकास शीघ्र गति से नही कर पाते। जलवायु का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता हैं, क्योकि जहाँ ऋतु परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है वहाँ प्रत्येक मौसमी परिवर्तन के कारण स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैसे-भारत मे शीत, वर्षा एव ग्रीष्म ऋतु मे मौसमी परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न बीमारियाँ होती है, जिनसे हमारी कार्यक्षमता प्रभावित होती है।

प्रत्येक देश की फसलो एव वनस्पति पर वहाँ की जलवायु का प्रभाव पडता है और प्रत्येक देश के उद्योग धन्धे वहाँ की वनस्पति तथा फसलो पर निर्भर रहते हैं। इस कारण प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जलवायु पर निर्भर रहता है, जैसे—भारत मे सूती वस्त्र का उद्योग बम्बई और अहमदाबाद मे अधिक विकसित है, जहाँ भारत के कुल वस्त्र का ७०% वस्त्र निर्माण होता है, क्योंकि बम्बई एव अहमदाबाद मे इस उद्योग के लिये आवश्यक उष्ण एव आर्द्र जलवायु है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की जलवायु गन्ने के लिए पोषक होने से इन राज्यो मे शक्कर व्यवसाय केन्द्रित है।

यातायात पर भी जलवायु का गहरा प्रभाव पडता है, किसी भी देश की आर्थिक उन्नति यातायात के विकास पर निर्भर रहती है, जैसे—जहाँ पर हिम वर्षा अधिक होती है वहाँ के स्थल मार्ग हिम वर्षा में बन्द हो जाते हैं अथवा शीत प्रदेशों में नदियों का पानी जम जाता है, जिससे नदियों अथवा समुद्र का उपयोग निम्न तापक्रम मे जल यातायात के लिए नही हो सकता। उदाहरणार्थ—बाल्टिक सागर शीत ऋतु में जल यातायात के लिए निरुपयोगी हो जाता है, इसी प्रकार कनाडा की नदियाँ भी अधिक सर्दी पडने पर जम जाती हैं। वायु-यातायात पर भी जलवायु का प्रभाव होता है, क्योकि वायु-यातायात के लिए निरभ्र आकाश रहना आवश्यक होता है। यदि जलवायु के कारण आकाश स्वच्छ नहीं रहते, आँधी अथवा कुहरा रहता है तो उससे वायु-यातायात को खतरा बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि देश की जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता, उद्योग धन्धे, सभ्यता एव यातायात पर होता है।

(२) भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुयें—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत उन सब वस्तुओ का समावेश होता है जो प्रकृति मानव समाज के उपयोग के लिए उदारता

से देती है। भूमि अथवा निसर्गदत्त वस्तुओं पर ही मानव समाज की उत्पादन शक्ति, वहाँ के उद्योग धन्धे एवं आर्थिक प्रगति निर्भर रहती है। किसी भी देश मे उत्पादन के लिये भूमि महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता। इन प्रकृतिदत्त साधनो पर ही जन-संख्या का घनत्व निर्भर रहता है। जिन प्रदेशों मे प्रकृति ने अत्यन्त उदारता से काम किया है वहाँ पर जन-संख्या का घनत्व अन्य प्रदेशो की अपेक्षा अधिक रहेगा। इसलिए भूमि को देश के आर्थिक विकास का केन्द्र कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि इसी पर मानव की आर्थिक क्रियायें निर्भर रहती हैं। इसी प्रकार भूमि का प्रभाव सभ्यता के विकास पर अधिक होता है, क्योकि जहाँ निसर्ग की उदारता के कारण उसका आर्थिक विकास सम्भव होता है और जन-संख्या का घनत्व बढ़ता है, उन्ही क्षेत्रो मे मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा निसर्ग पर विजय प्राप्त कर अपनी अधिक उन्नति कर सकता है। परन्तु किसी भी दशा में उसकी आर्थिक क्रियायें निसर्गदत्त प्रसाधनों मे ही सीमित रहेंगी।

(३) धरातल की रचना—धरातल की रचना पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है तथा भूमि मे जो रसायनिक मिश्रण पाये जाते हैं उनका प्रभाव उस देश में होने वाली खनिज सम्पत्ति पर पड़ता है। इसी प्रकार वह प्रदेश कितने अक्षांश एवं रेखांश मे बसा हुआ है, इस प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव उस देश मे होने वाली वनस्पति तथा फसलो पर पडता है, क्योकि अक्षांश एवं रेखांश पर ही किसी देश की जलवायु निर्भर रहती है। भूमि के नीचे पाये जाने वाले रसायनिक मिश्रणो पर भूमि की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है, जिस पर किसी भी फसल की उपजाऊ शक्ति निर्भर रहती है। इस प्रकार धरातल की रचना पर उस देश की उपज तथा उसमे पाई जाने वाली खनिज सम्पत्ति निर्भर रहती है। इसका प्रभाव देश के उद्योग-धन्धो एवं मानवी आर्थिक क्रियाओं पर होने के कारण धरातल की रचना पर भी देश का आर्थिक विकास निर्भर रहता है।

(४) वन-सम्पत्ति—प्रत्येक देश की वन-सम्पत्ति उस देश के धरातल की रचना एवं जलवायु पर निर्भर रहती है। फिर भी वन-सम्पत्ति का प्रभाव प्रत्येक देश के उद्योग धन्धो पर पडता है, जैसे—नार्वे और स्वीडन के विशाल वन प्रदेशो मे लकड़ी की अधिकता के कारण वहाँ नार्वे, कागज, दियासलाई आदि बनाने के उद्योग-धन्धों की अधिकता है। भारत मे सिन्धु और गंगा नदी के मैदानो मे अच्छी एवं उपजाऊ मिट्टी के कारण वहाँ की फसलें अच्छी होती है, फलतः वहाँ जन-संख्या का घनत्व अधिक है। इसी प्रकार विभिन्न देशो में जलवायु के अनुसार पशु वृद्धि भी होती है। वन प्रदेशों की अधिकता एवं कमी का प्रभाव जलवायु पर होता है तथा उससे भूमि का कटाव (Soil Erosion) भी नही होता। इस प्रकार वन-सम्पत्ति एवं पशु सम्पत्ति का प्रभाव वहाँ के उद्योग-धन्धो एवं मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पडता है।

इसके अलावा वनों से निम्न लाभ होते हैं:—

(१) नदियो की बाढ मे कमी,

(२) भूमि की उर्वराशक्ति मे वृद्धि,
(३) वर्षा की पर्याप्तता,
(४) वन-सम्पत्ति पर आधारित उद्योगो का विकास,
(५) इमारती लकडी, ईंधन तथा औषधोपयोगी वनस्पति की प्राप्ति।

इसी कारण भारत मे प्रति वर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है तथा पंच वर्षीय योजनाओ मे वनो के विकास पर काफी बल दिया गया है।

(५) खनिज सम्पत्ति—किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा उसका जीवन के ढंग पर गहरा प्रभाव पडता है। वर्तमान युग मे किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के लिए खनिज सम्पत्ति होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योकि किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए खनिज सम्पत्ति अनिवार्य है। भारतवर्ष को ही देखें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत मे खनिज सम्पत्ति पर्याप्त होने हुए भी उसका पर्याप्त विदोहन नही किया गया है। भारत मे कोयले की खानें होने हुए भी यहाँ का कोयला निम्न कोटि का है तथा कोयले की खानों का वितरण ठीक से नही हुआ है। फलतः भारत को दक्षिण अफ्रीका से कोयला आयात करना पडता है। परन्तु अन्य खनिज सम्पत्ति भारत मे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, केवल उनका आर्थिक विकास के लिए समुचित रीति से विदोहन करने की आवश्यकता है। अन्य देशो की ओर देखने से यह स्पष्ट होता है कि इङ्गलैंड, आस्ट्रेलिया आदि के औद्योगिक एव आर्थिक विकास का आधार वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही है।

(६) भौगोलिक स्थिति—देश की भौगोलिक स्थिति पर उस देश के वाणिज्य एव उद्योग का विकास निर्भर रहता है। भौगोलिक दृष्टि से यदि देश विश्व के मध्य मे बसा हुआ है, जहाँ से उसे विश्व के सब देशो मे व्यापार करने मे सुगमता होती है तो उस दशा मे उस देश का आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सकेगा। जल, मार्ग की सुगमता, सुरक्षित व्यापारिक मार्ग तथा विश्व मे केन्द्रीय स्थिति होना किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैड की विश्व मे केन्द्रीय स्थिति है, चारो तरफ से जल मार्ग उपलब्ध होने मे उसको विश्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध प्रस्थापित करना सुगम हुआ है। भारत की स्थिति आर्थिक विकास की दृष्टि मे अनुकूल है। तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण जल-मार्ग भी उपलब्ध है, परन्तु समुद्र तट कटा-फटा न होने से अच्छे बन्दरगाहो की कमी है। इसी प्रकार मध्य पूर्व एशिया से व्यापार करने के लिए अनुकूल स्थिति भी भारत को प्राप्त है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की जलवायु आदि भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। भारत मे अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति उपलब्ध हैं। परन्तु यहाँ के उपलब्ध साधनो का विदोहन भारतीयों ने अपने आर्थिक विकास के लिए नही किया है। सौभाग्य से भारत मे वन सम्पत्ति, पशु सम्पत्ति, खनिज

सम्पत्ति आदि औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक सभी नैसर्गिक साधन उपलब्ध हैं, जिनका विदोहन करने के लिए जन-संख्या की भी अधिकता है। परन्तु हमारे नागरिकों मे उत्साह की कमी है। इसके साथ ही एशिया मे केन्द्रीय भौगोलिक स्थिति तथा भारतीय व्यापार एव उद्योग को सहायक राष्ट्रीय सरकार भी उपलब्ध है। इसलिए यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भविष्य में भारत उपलब्ध नैसर्गिक साधनो का अपने आर्थिक विकास के लिए अवश्य ही विदोहन कर अपनी आर्थिक उन्नति से चमक उठेगा।

अध्याय ३

सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ तथा आर्थिक विकास

(Social and Religious Institutions and Economic Development)

"गरीबी और धर्म भारतीय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख तथ्य हैं।"
—ग्रामीण साख समिति की रिपोर्ट, १९५४।

मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति एवं विकास पर जिस प्रकार भौगलिक स्थिति का प्रभाव पडता है उसी प्रकार देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव भी मनुष्य के आर्थिक विकास पर पडता है। मनुष्य जिस सामाजिक वातावरण में रहता है उससे उसके विचार एवं कार्य शक्ति को प्रेरणा मिलती है। धार्मिक संस्थाएं एवं प्रचलित धार्मिक रूढियो के अनुसार मनुष्य के उद्योग-धन्धे प्रभावित होते है, इसलिए आर्थिक विकास मे भारत की राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओ का बहुत बडा हाथ रहा है। सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओ ने जितना हमारे आर्थिक विकास को प्रभावित किया है उतना सम्भवतः अन्य देशो मे शायद ही प्रभावित किया होगा। भारत मे प्रत्येक सामाजिक क्रिया के पीछे धार्मिक भावना रहती है। उदाहरणार्थ, मकान की नींव खुदवाने के लिए मुहूर्त देखा जाता है, बीज बोने के लिए अथवा खेती का प्रारम्भ करने के लिए भी मुहूर्त देखा जाता है। स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाओं के पीछे धर्म का कितना हाथ है। आज भी धर्म निरपेक्ष भारत के मन्त्रीगण बद्रीनाथ एवं केदारनाथ की यात्रा सरकारी व्यय से करते हैं* और राष्ट्र-

* नवभारत टाइम्स—१०-७-५८।

पति बिना मुहूर्त के पदग्रहण नही करते । भारत मे समाज द्वारा वर्जित कोई भी व्यवसाय अथवा धन्धा नही किया जा सकता है। यहाँ तक कि जीवन की आवश्यक वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी धर्म का निर्णय माना जाता है। इसी कारण भारत के आर्थिक जीवन एव विकास के अध्ययन के लिए यहाँ की सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ का अध्ययन आवश्यक है।

भारत के आर्थिक विकास मे जिन धार्मिक एवं सामाजिक सस्थाओ तथा रूढियो का विशेष हाथ रहा है वे निम्न हैं :—

(१) धर्म (Religion)।
(२) जाति-प्रणाली (Caste System)।
(३) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System)।
(४) उत्तराधिकार कानून (Laws of Inheritance & Succession)।
(५) पर्दा प्रथा एव बाल विवाह।
(६) भारतीय दर्शन।

(१) धर्म—भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। हमारे यहाँ के खान-पान के धार्मिक बन्धन, जाति प्रथा का अस्तित्व, अहिंसा परमोऽधर्मः का अवलम्बन आदि धार्मिक भावनाओ के कारण भारतीय अनेक उपयोगी वस्तुएँ अपने उपयोग मे नही लाते। भारतीय जीवन का आदर्श ही "सादा जीवन एवं उच्च विचार" माना जाता है, परन्तु 'सादा जीवन' का यह तात्पर्य नही कि मनुष्य अपनी अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न न करें। इस विचारधारा के कारण ही भारत में एक साधारण नागरिक अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति मे सन्तोष रखने का प्रयत्न करता है तथा महत्त्वाकांक्षा अथवा भविष्य के विषय मे कुछ प्रयत्न नही करता। अहिंसा परमोऽधर्मः के तत्व के कारण हमारे किसान घुन आदि से अन्न अथवा फसलो की रक्षा के लिए कीटनाशक रसायनो (Insecticides) का उपयोग नही करते और छुआछूत की भावनाओ के कारण वे हड्डी, मैला इत्यादि खादो का उपयोग नही करते। समाज के बन्धनो के कारण किसान मुर्गी इत्यादि पालने के लाभकर धन्धे भी नही करते। इस प्रकार भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का महत्त्व होने के कारण रूढिवादिता एव सकुचित प्रवृत्ति की प्रधानता हो गई है।* इस प्रवृत्ति के कारण हम प्रत्येक पहलू को धार्मिक एव सामाजिक दृष्टि से देखते हैं एव आर्थिक विकास द्वारा अधिभौतिक प्रगति के लिए प्रयत्न नही करते।

फिर भी हमारी पिछडी हुई आर्थिक स्थिति की सारी जिम्मेदारी केवल धार्मिक भावनाओ पर ही नही लादी जा सकती, क्योंकि आर्थिक अवस्था के लिए केवल धर्म ही जिम्मेवार न होते हुए हमारी गत आर्थिक परिस्थिति एव राजनैतिक गुलामी

* The Economic Development of India—Vera Anstey, pp. 46.

जिम्मेवार है। राजनैतिक गुलामी एवं तत्कालीन शासकीय नीति के कारण ही हमारे यहाँ शिक्षा के विकास और आर्थिक विकास के प्रयत्न सच्चे दिल से नहीं किये गये। यदि भारत में शिक्षा का पर्याप्त विकास होता तथा धर्म को हम सही अर्थ में समझ पाते[1] तो सम्भवतः भारतीयों की रूढ़िवादिता एवं संकुचित मनोवृत्ति का अन्त हो जाता।

(२) जाति प्रणाली—हमारी सामाजिक संस्थाओं में सबसे प्रमुख स्थान जाति-प्रणाली का है। भारतीय जातियों का निर्माण यहाँ की धार्मिक परम्पराओं के कारण ही हुआ है, जिन्होंने सामाजिक संगठन को अनेक पृथक वर्गों में (जातियों में) बाँट दिया है। जाति प्रथा भारतीय सामाजिक संगठन की अपनी विशेषता है, जो अन्य देशों तथा धर्मों में इस रूप में नहीं है। समाज का विभाजन विभिन्न जातियों में होने से उनकी आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाएँ भी अपनी जातीय परम्पराओं के अनुसार होती हैं, जिससे देश के आर्थिक विकास में रुकावटें आती हैं, इसलिए भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर जाति प्रणाली के प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि "जाति प्रणाली तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली ने अनादि काल से कुटुम्ब, समाज तथा किसी व्यवसाय अथवा संघ के सदस्यों का नियमन किया है, जिससे उसका जन्म से सम्बन्ध रहता था।"

परिभाषा—

जिस पद्धति में एक वंश के निवासी अपनी रोटी-बेटी व्यवहार आपस में करते हैं तथा उनका एक ही नाम होता है, उसे एक जाति कहा जाता है। श्री सेन्ट्रे के अनुसार : "जो आपस में रोटी-बेटी व्यवहार करते हैं ऐसे समूह" को जाति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में : "ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनको एक नाम से पहिचाना जाता है तथा जो एक ही परम्परागत व्यवसाय करते हैं" उसे जाति कहते।[2] इस प्रकार की जातियाँ कई उपजातियों में भी विभाजित हैं तथा इनमें ऊँच-नीच भाव होते हैं, जिससे इनके आपसी रोटी-बेटी व्यवहार भी नहीं होते।

उगम—

जाति-प्रणाली का जन्म किस प्रकार से हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ भारतीय लेखकों के अनुसार भारतीय जाति का उगम ऐतिहासिक बताया गया है। भारत के आदि निवासियों को जिन लोगों ने युद्ध में हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे क्रमशः यहाँ के निवासी हो गये। इनमें विजयी लोग अपने को पराजितों से उच्च वर्णीय मानते थे। इस प्रकार जितनी जातियों ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमाया उतनी जातियाँ यहाँ पर बनीं। इसके बाद

---

1. धर्म का सही अर्थ है—यत् धारयते तद् धर्मः—समाज के स्थायित्व के लिए जो नियम आवश्यक हैं वह धर्म है।

2. Economic Development of India—Vera Anstey.

जब कुछ सुधारकों ने जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया तथा दो जातियों में रोटी बेटी का व्यवहार किया तब ऐसी जो सन्तानें हुई उनको उन जातियों ने बहिष्कृत किया तथा एक तीसरी जाति का निर्माण हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता के "चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम् गुणकर्म विभागशः" उक्ति के अनुसार व्यक्ति के गुण एवं कर्मों के अनुसार उनको चार वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र–मे विभाजित किया गया। इस प्रकार प्रारम्भ में गुण तथा कर्मों के आधार पर समाज का विभाजन चार जातियों में हुआ तथा इसके बाद वर्णशंकर से अनेक उप-जातियाँ सामने आई। इस प्रकार कर्म एवं गुण भेद से वर्ण-व्यवस्था निर्माण करने का हेतु समाज की धार्मिक एकता कायम रखना था। "वर्णानां ब्राह्मणो गुरु" उक्ति से तथा ब्राह्मणों की कर्म निष्ठा के कारण इनका समाज मे सर्वोच्च स्थान था, परन्तु इन्होने स्वार्थ तथा अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए अन्य वर्णों को विद्याध्ययन से दूर रखा तथा मनमानी कर अनेक जातियों का निर्माण किया। गीता के अनुसार केवल समाज के स्थायित्व के लिए वर्ण-व्यवस्था निर्माण की गई थी, जिनमे केवल वही व्यक्ति किसी वर्ण का हो सकता था जो उस वर्ण के अनुसार कर्म करता हो। आगे चलकर इन्ही वर्णों को जातिक हा जाने लगा तथा गुण एव कर्मों की प्रधानता केवल नाम मात्र ही रही, जिससे किसी भी व्यक्ति की जाति उसके जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

इसके अलावा जाति प्रथा के उगम सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानो के अनेक तर्क हैं। श्री जे० एस० मिल के अनुसार जातियों का निर्माण श्रम विभाजन के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार श्री सेनार्ट के सिद्धान्त के अनुसार जातियां प्राचीन कार्यों के सस्थाओ को विकसित रूप हैं। कुछ भी हो, जाति प्रथा अनेक ऐतिहासिक परिवर्तनों के बावजूद भी अबाधित रही तथा समाज मे अपना अस्तित्व बनाये हुए है और उसका प्रभाव हमारी आर्थिक क्रियाओ पर पडता है।

भारतीय जाति-प्रणाली की तुलना कही कही योरोपीय देशो के शिल्प सघों (Craft-guilds) तथा व्यवसाय सङ्घो (Merchants-guilds) से की जाती है। इसमे शङ्का नही कि प्राचीन काल मे यहाँ की जातियाँ शिल्प-सङ्घ के रूप मे ही थी और उनका सगठन भी व्यावसायिक आधार पर हो था, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के वचनो से स्पष्ट है। कर्म के अनुसार जाति का विभाजन चार वर्णों मे किया गया तथा प्रत्येक का विभाजन उनकी क्रियाओ के अनुसार अनेक उप समूहो में हुआ, जैसे—लोहे का काम करने वाले लुहार, चमडे का काम करने वाले चर्मकार (चमार) आदि। परन्तु इनमे जातीयता नही थी। कोई भी व्यक्ति एक सङ्घ से दूसरे सङ्घ मे जा सकता था तथा रोटी बेटी व्यवहार भी होते थे। इस प्रकार योरोपीय सङ्घ वास्तव मे राज्य एवं सामन्तवादियो के अत्याचारो से बचने के लिए बनाये गये संगठित दल थे, लेकिन हमारे देश मे जातियां फूट और अनेकता के कारण बनी।

जाति प्रथा के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) जाति प्रणाली के अस्तित्व से श्रम-विभाजन की प्रगति हुई

है तथा प्रत्येक जाति अपने पैतृक व्यवसाय को अबाधित रखती है, जिससे कुशलता की वृद्धि हो कर भारतीय कार्य कुशलता आज भी बनी हुई है। जाति प्रथा के कारण ही हमारे यहां कुटीर उद्योगों का अस्तित्व आज भी देखने को मिलता है।

(२) प्राचीन काल में जब राज्य द्वारा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना नहीं होती थी, उस समय जाति-प्रणाली ने शिल्प शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा द्वारा सहायता की। उदाहरणार्थ, पिता अपने पुत्र अथवा कुटुम्बियों को अपने व्यवसाय अथवा शिल्प की शिक्षा निःशुल्क एवं बडी लगन के साथ देता था।

(३) पैतृक व्यवसाय परम्परागत चालू रहने के कारण व्यावसायिक एवं शिल्प सम्बन्धी कुशलता की वृद्धि होने में जाति प्रथा सहायक होती थी एवं हुई है। इसके साथ ही कुटुम्ब की किसी व्यवसाय अथवा शिल्प की ख्याति उसके व्यावसायिक उन्नति में सहायक होती थी तथा उसे विज्ञापन आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

(४) जाति प्रथा में प्रत्येक जाति की उन्नति के प्रयत्न उनकी पंचायतों द्वारा किए जाते थे तथा ये पंचायतें उन जातियों के वृद्ध अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पालन-पोषण के लिए जिम्मेवार थीं। इसके अलावा जाति पचायतों द्वारा जातीय व्यवसाय का नियमन भी होता था।

(५) जाति प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति का धन्धा उसके जन्म से ही निश्चित हो जाता था, जिसकी तैयारी वह अपने बचपन से ही करता था। इससे उसे बड़ा होने पर व्यवसाय अथवा नौकरी की खोज में नहीं भटकना पड़ता था।

(६) जाति प्रथा से विभिन्न जातियों में सहकारिता रही, क्योंकि प्रत्येक जाति एक दूसरे पर निर्भर थी।

सामाजिक दृष्टि से जाति प्रथा ने हिन्दू समाज की बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करने में तथा अपनी आन्तरिक एकता बनाये रखने में सहायता पहुँचाई है। कुकर्मों के फलस्वरूप जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से प्रत्येक जाति की अवनति से रक्षा भी हुई है।

जाति प्रथा के दोष—परन्तु जाति प्रथा के उपर्युक्त आर्थिक गुण होते हुए भी जाति प्रथा के कारण व्यक्तिगत उत्साह एवं प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) को गहरी ठेस पहुँची है। जाति प्रथा से उपरोक्त लाभ प्राचीन काल में मिलते रहे, परन्तु आज जातीयता अपने नग्न एवं विकृत स्वरूप में है। इस कारण हमारी आर्थिक उन्नति के लिए वह आज किसी भी प्रकार से सहायक नहीं है। जाति प्रथा के आर्थिक दुष्परिणाम निम्न हैं :—

(१) जाति प्रथा का महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि जाति प्रथा श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक होती है। एक जाति के लोग अन्य जाति का व्यवसाय नहीं कर सकते, जिससे समाज में अप्रतियोगी-समूहों का निर्माण हो गया है, जिससे आर्थिक विकास में रुकावट आती है। मनुष्य केवल अपने जातीय शिल्प अथवा व्यवसाय को ही कर सकता है। इस कारण श्रमिकों में व्यावसायिक गतिशीलता नहीं रहती।

(२) जाति प्रथा मे केवल जातीय-व्यवसाय करना पडता है। इससे व्यक्तिगत रुचि का व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नही रहता। फलतः प्रारम्भण वृत्ति एवं अन्वेषण, सुधार आदि के लिए जाति प्रथा मे कोई स्थान नही है। इससे औद्योगिक एव आर्थिक विकास मे रुकावटें आती है। ब्राह्मण की रुचि किसी शिल्प मे भले ही हो, परन्तु उसे ब्रह्म कर्म ही करना पडेगा। इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति एव उत्पादनशीलता प्रभावित होती है।

(३) जाति प्रथा की धार्मिक भावनाग्रो के कारण ही विदेश यात्रा (समुद्र यात्रा) भारत मे वर्जित है। इसी कारण विदेशो व्यापार को अधिकाश भारतियो ने नही अपनाया। फलतः देश का विदेशी व्यापार .शियो के हाथ मे चला गया, जिससे भारत को आर्थिक हानि हुई।

(४) श्रम की गतिशीलता के साथ ही जाति प्रथा पूंजी की गतिशीलता मे भी बाधक होती है, क्योकि प्रत्येक जाति का व्यवसाय सीमित रहता था। एक जाति के लोग दूसरे व्यवसाय में पूंजी नही लगाते थे। फलतः देश की पूंजी की गतिशीलता मे जाति प्रथा बाधक होने के कारण देश के औद्योगिक विकास के लिए भी जाति प्रथा बाधक रही। इससे देश में बडे पैमाने वाले उद्योगो की स्थापना मे बाधा आई, क्योंकि ऐसे उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे विदेशी पूंजी द्वारा ही स्थापित किए गए।

(५) जाति प्रथा के कारण श्रम के महत्त्व को भी गहरा धक्का लगा है, क्योकि ऊँचे वर्गो की जातियो मे शारीरिक श्रम करना, यहा तक कि हल का छूना भी पाप समझा जाता है। इस कारण ऐसे लोग कोई भी उत्पादन का काम नही करते है, जिसमे देश की श्रम शक्ति का एक बडा भाग बेकार हो जाता है और राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के लिए निरुपयोगी हो जाता है। ब्राह्मण का लड़का "ओ३म् भवति भिक्षादेहि" का आधार लेकर भीख मांगना पसन्द करेगा, परन्तु अपने श्रम से अपनी रोटी नही कमावेगा।

(६) जाति प्रथा ने जहाँ प्रारम्भिक अवस्था मे समाज मे एकता एव सहकारिता की भावना भरी, उस जाति प्रथा से आज हिन्दू समाज का विघटन हो रहा है तथा परस्पर घृणा, द्वेष एव फूट की भावना बढ रही है। इसमे सामाजिक अव्यवस्था के साथ ही आर्थिक अव्यवस्था भी बढती है। विभिन्न जाति वालो की पूंजी, बुद्धिमत्ता एव व्यापारिक तन्त्र सहकारिता मे काम नही कर सकते। भारत के आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ होने का यह भी एक कारण है। इसके अलावा जीव शास्त्रियो के अनुसार एक ही जाति में परस्पर विवाह होने से जातीय अवनति होती है, जिससे कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(७) सामाजिक एव राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण समाज मे एकता होना राष्ट्रीयता के लिए पोषक होता है। इसके विपरीत जाति प्रथा से समाज का विभाजन अनेक वर्गों मे हो गया है, जिससे राष्ट्रीय एकता मे बाधा आती है।

(८) जाति प्रथा से फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि प्रत्येक जाति मे शादी, जन्म, मृत्यु आदि विशेष अवसरो पर विशेष प्रकार की दावतें देनी आवश्यक होती है। इन सस्कारो पर खर्चा होता है, जिससे फिजूल खर्ची को प्रोत्साहन मिलता है तथा ऋण भार बढता जाता है।

जाति प्रथा की अवनति—

आज-कल आधुनिक शिक्षा के कारण जाति प्रथा को गहरा धक्का लगा है तथा विचारशील व्यक्ति जाति प्रथा की सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयो के कारण इस प्रथा का अन्त करने के लिये प्रयत्नशील है, अतः जाति प्रथा का अस्तित्व आज अत्यन्त शिथिल रूप में है। छुआ छूत के विचार का लगभग अन्त हो गया है तथा अन्तर्जातीय विवाह आज खुले आम हो रहे हैं। इसी प्रकार एक जाति अपने जातीय व्यवसाय अथवा शिल्प के अलावा अन्य व्यवसाय करती हुई दिखाई देती है, जिनसे यह स्पष्ट है कि व्यवसाय एव जाति का प्राचीन काल मे जो सम्बन्ध था वह सम्बन्ध अब टूट गया है। केवल खान-पान एवं विवाह सम्बन्धी बन्धन रह गये हैं, जिसमे भी शिथिलता आती जा रही है।

जाति प्रथा की शिथिलता के लिये आधुनिक महाविद्यालयीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता से सम्पर्क एव उसका प्रभाव, शहरो का विकास, विकसित यातायात के साधन तथा सम्पूर्ण समाज की वैधानिक समता, ये प्रमुख कारण है। इसके अलावा आर्य समाज आदि सुधारक सम्प्रदायो ने छुआ छूत और जाति-पाँति के बन्धन को गहरी चोट पहुँचाई है। राष्ट्रीय आन्दोलनो के कारण जाति-पाँत के बन्धन टूट गये तथा वर्तमान शासन जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने के लिये प्रयत्नशील है।

इतना होते हुए भी जाति पाँति के बन्धनों की शिथिलता हमको केवल शहरी जीवन में ही दिखाई देती है। गाँव मे जातीय बन्धन शिथिल तो अवश्य हुए हैं, परन्तु वहाँ पर अब भी जातीयता का प्रभाव खान-पान, विवाह एव छुआ-छूत मे देखने को मिलता है। कारण, हिन्दू-समाज मे जाति-प्रथा की जड़ें इतनी गहरी जा चुकी है कि उनको सरलता से उखाड फेंकना आसान नही है। यह काम धीरे-धीरे ही पूरा हो सकेगा। इसमे न तो देशव्यापी आन्दोलन ही सफल हो सकता है और न किसी कानून से ही जाति प्रथा का अन्त हो सकता है। अपितु मानसिक विकास के साथ ही यह पूर्ण होगा।

(३) संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली (Joint Family System)—

यह हिन्दू समाज की दूसरी विशेषता है। यह प्रथा अन्य किसी समाज मे बहुत ही कम देखने को मिलती है। सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के अन्तर्गत परिवार के सब व्यक्ति पीढियों तक एक ही कुटुम्ब मे रहते है तथा उनका खान-पान, सम्पत्ति आदि सब कार्य सयुक्त रूप में होते हैं। इस पद्धति मे कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति का अपने निजी परि-

बार में अलग रहना बुरा समझा जाता है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के सदस्यों की समुचित व्यवस्था के लिए कुटुम्ब का कर्त्ता, जो साधारणतः सबसे बुजुर्ग होता है—जिम्मेदार होता है। कुटुम्ब के सदस्य अपनी सम्पूर्ण आय इसी व्यक्ति के पास जमा करते हैं, जो उसका उपयोग कुटुम्ब के व्यय के लिए समुचित रीति से करता है। इस पद्धति में पैतृक सम्पत्ति का पीढ़ियों तक विभाजन नहीं होता तथा शादी आदि संस्कारों को करने की जिम्मेदारी कर्त्ता की ही होती है। इस प्रकार हम संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को हिन्दू कानून का आधार कहें तो अनुचित न होगा। इस प्रकार संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में एक ही प्रकार के धार्मिक विचार रह सकते हैं तथा इसमें मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रथा के उद्गम के सम्बन्ध में मतभेद है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि अपने कुटुम्ब के साथ मनुष्य के सबसे घनिष्ट सम्बन्ध होते हैं, अतएव कुटुम्ब के सभी व्यक्ति एक ही स्थान पर रहें तो अच्छा है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की सफलता सदस्यों की सहकारिता पर निर्भर होती है, क्योंकि कुटुम्ब की भलाई एवं उन्नति के लिए प्रत्येक को ही थोड़ा थोड़ा त्याग तथा 'कुटुम्ब के लिए प्रत्येक एवं प्रत्येक के लिए एक" (कर्त्ता) इस भावना से ही काम करना पड़ता है। इस परस्पर सद्भावना एवं सहायता के कारण कुटुम्ब की एकता बनी रहती है। हमारे विचार से कुटुम्ब प्रणाली का निर्माण कृषि युग में हुआ होगा, जब मनुष्य स्थायी रूप से अपनी कृषि भूमि के आस-पास घर बनाकर रहने लगा। इसमें कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है तथा सारी कमाई कर्त्ता के पास एकत्रित होती है और कर्त्ता कुटुम्ब के अधिकतम हित के लिए उसका विनियोग करता है। इस प्रकार समाज के विभिन्न घटकों के एकीकरण के लिये कुटुम्ब प्रथा का विकास हुआ होगा। इसीलिये यह एक सामाजिक संस्था के रूप में आज भी प्रचलित है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को भारत की तत्कालीन आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति से और भी बल मिला है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के आर्थिक परिणाम—

गुण—(१) *संयुक्त प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ है एकता, क्योंकि एकता* के कारण महान् कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(२) एक कुटुम्ब के सदस्य यदि अपनी पत्नी तथा बच्चों सहित अलग-अलग रहते हैं तो उनकी जीविका का व्यय बढ़ जाता है, परन्तु संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में रहने से सबका व्यय एकत्रित होने में मितव्ययिता आती है। सारांश में, बृहद् परिमाण उत्पादन की भाँति एकत्रित कुटुम्ब पद्धति में भी मितव्ययिता होती है।

(३) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में परिवार के सदस्यों को कर्त्ता के अनुशासन में रहना पड़ता है तथा कुटुम्ब के लिये स्वार्थ त्याग भी करना पड़ता है। इस कारण परिवार के सदस्यों में अनुशासन, स्वार्थ त्याग तथा सहकारिता की उन्नति होती है।

(४) कुटुम्ब के सभी व्यक्तियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है

अध्याय ४

ग्राम संगठन—प्राचीन एवं आधुनिक

(Village Organisation—Ancient and Modern)

"यह प्राचीन ग्राम-समाज मनु के समय से आज तक बराबर चला आया है और अनेक राजवंशों तथा साम्राज्यों के पतन के बाद भी जीवित है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन।
मूढ, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।
भारतमाता ग्रामवासिनी।"

—सुमित्रानन्दन पंत।

भारतीय प्राचीन गांव और आधुनिक गांव में अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन काल में गांव एक पूर्ण इकाई के रूप में था, किन्तु आज उसका वह रूप नहीं रहा, आज प्रत्येक गांव एक बड़ी इकाई का केवल एक भाग है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन गांव अन्य गांवों, कस्बों व शहरों से पूर्ण रूप से पृथक था। अपितु वर्तमान अवस्था के विपरीत प्राचीन काल में भारतीय जीवन अधिक सहयोगी और प्रजातन्त्रात्मक था। हर गांव अपनी अलग स्थिति रखता था और दैनिक आवश्यकताओं के लिए वह बाहरी दुनियां पर निर्भर नहीं था। अपनी उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुएं वह स्वयं पैदा करता था और उपभोग के बाद जो कुछ बचता था उसे विशेष अवसरों के लिए भण्डारों में जमा करता था। खाद्य पदार्थ केवल उसी मात्रा में बाहर भेजे जाते थे जितना सरकारी और अन्य सरकारी कार्यों के लिए आवश्यक होते थे। इसमें से भी अधिकतर भाग सरकारी आज्ञानुसार गांव में ही सरकारी कर्मचारियों में वितरण के लिए जमा रखा जाता था। गांव में भोज्य पदार्थों के अलावा कपास भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती थी। खेतों से कपास चुनने के पश्चात् औरतें घर पर उसकी रुई निकाल लेती थीं और फिर सूत कातती थीं। इसी सूत से गांव के जुलाहे कपड़ा बुनते थे। इस प्रकार कपड़ा तैयार होने पर स्थानीय दर्जी या घर की स्त्रियों द्वारा उसकी साधारण पोशाकें तैयार की जाती थीं। यदि रंगीन कपड़े की आवश्यकता होती तो रंगरेज द्वारा सूत या कपड़ा रंगवा लिया जाता था। यह सही है कि किसानों को जो कपड़ा उस समय मिलता था वह आज की भांति अच्छी किस्म, रंग और डिजाइन का नहीं होता था फिर भी उन्हें आवश्यकता के अनुसार प्रचुर मात्रा में कपड़ा मिल जाता था।

(५) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब के पालन-पोषण के बाद जो शेष रहे वही संचित किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में पूँजी संचय नहीं होने पाती, जिससे बहु परिमाण उद्योगों की स्थापना एवं विकास में बाधा आती है। क्योंकि बहु-परिमाण उद्योगों के लिये अधिक परिमाण में पूँजी की आवश्यकता होती है।

(६) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में स्वार्थ त्याग की भावना होना आवश्यक होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी होता है। इस कारण सम्पूर्ण कुटुम्ब के लिये वह अपना स्वार्थ त्याग नहीं करना चाहता। फलतः आपस में वैमनस्य बढ जाता है तथा कुटुम्ब के सदस्यों का जीवन शान्तिपूर्ण नहीं रहता है।

उक्त दोषों के कारण यह प्रथा आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक होती है। इसके अलावा कुछ ऐसी आधुनिक प्रवृत्तियाँ आ गई हैं जिनसे सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का विघटन हो रहा है तथा प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का सम्पर्क, विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा यातायात की सुविधाओं के कारण सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का आजकल लोप हो रहा है और ऐसे केवल इने-गिने कुटुम्ब ही देखने को मिलते हैं। इसके अलावा आजकल रोजगारी के विभिन्न स्थानों के अवसरों के कारण भी सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है।

(४) उत्तराधिकार-कानून (Laws of Inheritance & Succession)—

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का उत्तराधिकार कानून से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दू समाज में उत्तराधिकार कानून सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि यदि कुटुम्ब की सम्पत्ति सयुक्त हो तो वह कुटुम्ब भी अविभक्त (सयुक्त कुटुम्ब) माना जाता है। इसी प्रकार जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि सम्पत्ति का कानून में बँटवारा हो गया है तब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी सयुक्त समझी जाती है। भारत में दो प्रकार के उत्तराधिकार कानून प्रचलित हैं : मिताक्षरा तथा दयाभाग। दयाभाग उत्तराधिकार कानून केवल बङ्गाल में प्रचलित है तथा शेष भारत में मिताक्षरा कानून हिन्दू समाज की सम्पत्ति के सम्बन्ध में लागू होता है। मिताक्षरा कानून के अनुसार प्रत्येक पुरुष सन्तति (Male child) को जन्म से ही (अर्थात् गर्भ में आने ही) पैतृक सम्पत्ति में भाग लेने का अधिकार मिलता है। किन्तु जब तक ऐसी पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा कानूनन न माँगा जाय तब तक उस सम्पत्ति का स्वामित्व सयुक्त समझा जाता है। पिता की सम्पत्ति का बँटवारा केवल उसके लड़कों में ही समानता से किया जाता है। कोई लड़का चाहे तो पिता के जीवन काल में ही अपना हिस्सा ले सकता है। दयाभाग पद्धति में पुत्र केवल पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उसकी जीवित अवस्था में नहीं। इन दोनों कानूनों में एक अन्तर स्पष्ट है कि जब तक कुटुम्ब का विभाजन नहीं होता तब तक सम्पत्ति के बँटवारे का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता,

अपितु सभी सदस्यों का पैतृक सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है परन्तु कुटुम्ब के सदस्य का अपनी कमाई हुई सम्पत्ति पर अधिकार होता है, जिस पर उसे कानूनी रूप में अधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता है। अन्यथा वह संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति ही मानी जाती है।

इसी प्रकार भारत में मुसलमानों की पैतृक सम्पत्ति मोहॉमेडन लॉ के अनुसार केवल पुरुष सदस्यों में ही विभाजित न होते हुए पुरुष एवं स्त्री सभी सदस्यों में विभाजित की जाती है। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही समाजों में सम्पत्ति का विभाजन होता है, जिसका प्रभाव देश के आर्थिक विकास पर पड़ता है।

उत्तराधिकार नियमों के आर्थिक प्रभाव—

उत्तराधिकार नियमों के अनुसार कुटुम्ब का विभाजन होने पर सम्पत्ति का विभाजन भी कुटुम्ब के सदस्यों में हो जाता है।[1] यद्यपि यह बँटवारा कभी-कभी केवल आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिये होता है तथा वैधानिक दृष्टि से वह सम्पत्ति संयुक्त ही रहती है। परन्तु इससे उसके आर्थिक परिणामों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सम्पत्ति के टुकड़े-टुकड़े हो ही जाते हैं। इङ्गलैंड आदि योरोपीय देशों में प्रचलित उत्तराधिकार नियम के अनुसार सम्पत्ति पर केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही अधिकार मिलता है तथा अन्य छोटे भाइयों को अपनी आजीविका स्वयं ही खोजनी पड़ती है। योरोपीय उत्तराधिकार नियमों के सम्बन्ध में डॉ० जॉनसन ने कहा था : "इस पद्धति में केवल एक ही मूर्ख को कुटुम्ब में सदैव बनाये रखने का गुण है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि हमारे उत्तराधिकार कानून से कुटुम्ब में अनेक मूर्खों का निर्माण होता है और उन्हें स्थिरता मिलती है। इसके विपरीत हम यह कहेंगे कि हमारे उत्तराधिकार कानूनों में सम्पत्ति का विभाजन कुटुम्ब के सदस्यों में समानता से होता है, इसलिए हमारे यहाँ साम्यवाद को बल मिलता है। योरोपीय उत्तराधिकार नियम से पूँजीवाद की प्रवृत्ति बढ़ती है तथा पूँजी का एकत्रीकरण केवल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारे उत्तराधिकार कानूनों के आर्थिक दुष्परिणाम नहीं होते।

गुण—

(१) भारतीय उत्तराधिकार नियमों के अनुसार कुटुम्ब के प्रत्येक पुरुष व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार मिलता है, जिससे उसे अपनी जीवन नौका को संसार सागर में छोड़ने के लिए कुछ न कुछ आधार हो जाता है। इससे उसे अपना जीवन

---

१. देशी राज्यों में और कुछ जमींदारों में सम्पत्ति का बँटवारा न होते हुए वह केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलती है, जैसे—इङ्गलैंड के उत्तराधिकार कानून से होता है।

2. It has the merit of perpetuating only one fool in the family.

आरम्भ करने के साधन मिल जाते हैं, जिनको वह अपने परिश्रम एवं कुशलता से बढा सकता है।

(२) सम्पत्ति का वितरण सभी भाइयों में अथवा सदस्यों में समानता से होने से सम्पत्ति के वितरण में समानता आ जाती है तथा पूँजीवाद की प्रवृत्तियों को कोई स्थान नहीं मिलता।

दोष—

(१) भूमि का विभाजन अनेक टुकडों में कर दिया है, जिससे कृषि योग्य भूमि बिखरी हुई है तथा टुकडों में बँट गई है। इस कारण कृषि का व्यवसाय नहीं हो सकता और न उसमें कोई स्थाई सुधार ही किये जा सकते हैं। भारत में जनता का जीवन-स्तर गिर गया है, कृषि-उद्योग किसी प्रकार लाभकर नहीं रहा है और न कृषि कार्यों के लिये यन्त्रों का उपयोग ही सफलता से किया जा सकता है। फलतः भारत की अधिकतर जन सख्या दरिद्रता एवं ऋणों में फँसी हुई है। डॉ० मुकर्जी ने लिखा है :—"भारत में दरिद्रता भूमि एवं मनुष्य के अनुपात का परिणाम है।"* क्योंकि भारत की कृषि भूमि का विभाजन एक ओर छोटे-छोटे एव बिखरे हुये टुकडों में होता है और दूसरी ओर कृषि पर निर्भर जन-सख्या बढती जाती है। इसी कारण भारत में चकबन्दी का अभाव है।

(२) सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने से पूँजी सग्रह नहीं होने पाती तथा बहु-परिमाण उद्योगों की स्थापना पूँजी के अभाव के कारण रुक जाती है।

(३) पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के लिए आपस में मुकद्दमेबाजी होती है, जिससे धन की फिजूल खर्ची होती है।

(४) सम्पत्ति का बँटवारा होने के कारण मनुष्य को उपजीविका का साधन मिल जाता है, जिससे वह अपनी उपजीविका कमाने के लिये अथवा उपलब्ध साधनों को बढाने के लिये प्रयत्न नहीं करता। परिणामस्वरूप साहस एव प्रारम्भण वृत्ति (Initiative) के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता।

सम्पत्ति पर अधिकार होना न्याय है, परन्तु उसके बँटवारे का अधिकार होना आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है, इसलिये उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन आवश्यक है। विशेषतः इस दृष्टि से कि भूमि का विभाजन कुछ सीमा के बाहर न जाने पावे।

(५) पर्दा एवं बाल-विवाह—

उक्त सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं के अतिरिक्त भारत में पर्दा एवं बाल-विवाह भी प्रचलित हैं, जिससे समाज में अनेक बुराइया आती हैं तथा उसके कारण आर्थिक दुष्परिणाम भी होते हैं। पर्दा प्रथा के कारण भारत में औरतें जीवन-सग्राम में सक्रिय भाग नहीं ले सकती हैं, जिससे पर्दानशीन स्त्रियों की उपलब्ध बुद्धि एव श्रम

---

* "Poverty is a matter of the man-land ratio in India"—Economic Problems of Modern India by Mukerji.

का सम्पूर्ण उपयोग नही होता है। पर्दा पद्धति का अवलम्बन भारत में मुसलमानों के हमलों के कारण ही किया गया था, परन्तु अब परिवर्तनशील परिस्थिति मे इसका अन्त होना ही लाभकर है और वह शिक्षा प्रसार के साथ होता भी जा रहा है। पर्दा प्रथा के कारण पति स्त्रियों को अपने साथ शहरों में नही ले जाते, फलतः वे दुर्गुणों मे फँस जाते हैं। इससे सामाजिक बुराइयाँ तो आती हैं, परन्तु साथ ही उनको आर्थिक शक्ति का भी अपव्यय होता है। पर्दानशीन औरतों को खुली हवा एवं स्वच्छ प्रकाश न मिलने से उनकी सन्तान का मानसिक एवं शारीरिक विकास प्रभावित होता है, जिससे आर्थिक दृष्टि से देश को कार्यक्षम एवं स्वस्थ प्रजा नहीं मिलती।

बाल विवाह दूसरी सामाजिक कुरीति है, जो शारदा-कानून होने पर भी भारत के गाँवो और शहरो में भी प्रचलित है। हिन्दू समाज मे सन्तानहीन व्यक्ति का (स्त्री अथवा पुरुष का) मुँह देखना भी पाप समझा जाता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति योग्यता एव अयोग्यता का विचार न करते हुए विवाह बन्धन मे पड़ जाता है तथा विवाह बचपन मे ही हो जाते हैं। आज भी गावो मे तथा शहरो मे बाल विवाह होते हैं। इससे जन-सख्या बढती है तथा अल्पायु मे होने वाली सन्तान का मानसिक एवं शारीरिक विकास भी ठीक से नही होने पाता। इसी कारण भारत मे प्रसूति-काल मे स्त्रियों की अधिक मृत्यु होती है तथा बाल मृत्यु की सख्या अन्य देशो की अपेक्षा अधिक है। दूसरे, बचपन मे विवाह होने के कारण स्त्रियो का शारीरिक एवं मानसिक ह्रास हो जाता है, जिससे वे कार्यक्षम एव स्वस्थ प्रजनन के लिए अक्षम हो जाती हैं।

यद्यपि शिक्षा-विकास एवं समाज सुधारको ने इन प्रथाओ एव कुरीतियो का अन्त करने के लिए प्रयत्न किए हैं, फिर भी अभी तक वाछनीय सफलता नही मिली है। इन कुरीतियो का अन्त होना देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में समाज की स्थिरता के लिए ये प्रथाएं आवश्यक थी, इसलिए इनका विकास हुआ। परन्तु अब समाज की स्थिरता एव आर्थिक विकास के लिए इन प्रथाओं का उन्मूलन ही आवश्यक है और इसी मे हमारा आर्थिक एवं सामाजिक हित है। इन प्रथाओ के कारण जन संख्या की अधिकता, फिजूल खर्ची, भूमि का टुकडो में विभाजन, आर्थिक साहस एवं विनियोग पूँजी का अभाव, मानसिक एवं शारीरिक अस्वास्थ्य आदि आर्थिक दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं। इसलिए इन बुराइयों से बचने के लिए इनका या तो अन्त ही हो जाना चाहिए अथवा इनमें इस प्रकार आवश्यक सुधार हो, जिससे इन आर्थिक दुष्परिणामों से देश की रक्षा होकर देश का आर्थिक विकास समुचित रीति से हो सके।

भारतीय दर्शन का आर्थिक परिणाम—

कुछ विद्वानों के अनुसार भारत की आर्थिक अवनति का प्रधान कारण यहाँ की दार्शनिकता और सासारिक जीवन के प्रति हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण है। भारतीय दर्शनों ने पारमार्थिक उन्नति एवं पारलौकिक जीवन को महत्व दिया है तथा अधि-

रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण, सेवाश्रम, आदि के प्रभाव से समाज व्यवस्था बहुत परिवर्तित हो गई है। जनता में भौतिक उन्नति के प्रति उत्साह और आर्थिक लाभ की आशा से कार्य करने की प्रवृत्ति बढ रही है। अब किसी व्यवसाय पर किसी जाति विशेष का एकाधिकार नहीं है।

सारांश यह है कि आज का आर्थिक जीवन, धर्म और समाज से प्रभावित न होकर उनके सुधार करने के लिये प्रयत्नशील है, जिससे हमारी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थायें आर्थिक विकास के लिए बाधक न होकर पोषक बनें।

———

द्वितीय खण्ड

भारतीय कृषि

सुख समृद्धि मे सहायक था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय उन्हे बाहरी सहायता की आवश्यकता पडती थी, जो यातायात के साधनो के अभाव मे कठिनाई से पहुँच पाती थी। फलस्वरूप गाँव के बहुत से निवासी काल के गाल मे चले जाते थे। यही कारण था कि एक गाँव से दूसरे गाँव के मूल्य मे बहुत अन्तर रहता था। गाँव वालो की आवश्यकतायें जीवनोपयोगी साधारण वस्तुओ तक ही सीमित थी। इसी से गाँव के शिल्पी भी साधारण कोटि की चीजें ही बनाया करते थे और उनके धन्धो मे श्रम विभाजन का अभाव था। प्राचीन काल मे भारत की जिस शिल्प कला की इतनी प्रशसा की जाती है वह नगरो मे पाई जाती है, गाँव मे नही।

मुद्रा का अभाव—

प्राचीन गाँव सगठन की विशेषता मुद्रा का अभाव थी। स्वावलम्बन के कारण विनिमय बहुत कम होता था। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति या तो स्वय करता था या दूसरो को अन्नादि देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें ले लेता था। अतएव प्रत्यक्ष विनिमय का बाहुल्य था और मुद्रा की आवश्यकता कम पडती थी। मुद्रा की आवश्यकता केवल राज-कर देने मे होती थी, जो प्राचीन काल मे उपज के रूप मे ही लिया जाता था। अँग्रेजी राज्य की स्थापना से जब मुद्रा के रूप में भूमि कर देना अनिवार्य हो गया तब कृषक को अपनी उपज सस्ते दामो मे बेचकर लगान जमा करना पडता था। ऐसे अवसरो पर व्यापारियो की बन आती थी, क्योकि वे मनमाने भाव पर किसान की उपज खरीदते थे और किसान की आवश्यकता उसे सस्ता बेचने को बाध्य करती थी। फिर भी वस्तुओं का भाव *प्रायः परम्परा से निश्चित होता था। प्रतियोगिता का अभाव और रूढ़ि की प्रबलता* थी, श्रम की अगतिशीलता और कूप-मडूकता भी ग्राम-सगठन की विशेषतायें थी।

रूढ़ि और परम्परा का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—

ग्राम्य आर्थिक जीवन मे रूढि और परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतियोगिता के अभाव मे परम्परागत नियमो का पालन होना स्वाभाविक ही था। किसान जो लगान बहुत दिनो से देता आ रहा था उसमे जमीदार वृद्धि नहीं करता था। इसी प्रकार जमीदार जो भेंट बेगारी आदि किसान से लेता था उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। आजकल की भाँति न तो किसान जमीदार के *विरुद्ध आवाज उठाता था और न जमीदार ही लगान बढाने के लालच से एक किसान* से जमीन लेकर दूसरे को देता था। इसका कारण यह भी था कि देश की जन-सख्या कम और भूमि पर्याप्त थी, इसलिए भूमि के लिए किसान उतने उत्सुक नही थे जितने आज है। इस कारण उनमे प्रतियोगिता नही थी। उस अशान्ति और अव्यवस्था के युग मे किसान और जमीदार का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक भी था, क्योकि एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी। किसान की आवश्यकता जमीदार को इसलिए थी कि लडने के लिए सेना की आवश्यकता पडती थी और किसानो मे से ही

अध्याय ४

ग्राम संगठन—प्राचीन एवं आधुनिक

(Village Organisation—Ancient and Modern)

"यह प्राचीन ग्राम-समाज मनु के समय से आज तक बराबर चला आया है और अनेक राजवंशों तथा साम्राज्यों के पतन के बाद भी जीवित है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

"तीस कोटि सन्तान नग्न तन अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन।
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।
भारतमाता ग्रामवासिनी।"

—सुमित्रानन्दन पंत।

भारतीय प्राचीन गाँव और आधुनिक गाँव में अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन काल में गाँव एक पूर्ण इकाई के रूप में था, किन्तु आज उसका वह रूप नहीं रहा, आज प्रत्येक गाँव एक बड़ी इकाई का केवल एक भाग है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन गाँव अन्य गाँवों, कस्बों व शहरों से पूर्ण रूप से पृथक था। अपितु वर्तमान अवस्था के विपरीत प्राचीन काल में भारतीय जीवन अधिक सहयोगी और प्रजातन्त्रात्मक था। हर गाँव अपनी अलग स्थिति रखता था और दैनिक आवश्यकताओं के लिए वह बाहरी दुनियाँ पर निर्भर नहीं था। अपनी उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुएँ वह स्वयं पैदा करता था और उपभोग के बाद जो कुछ बचता था उसे विशेष अवसरों के लिए भण्डारों में जमा करता था। खाद्य पदार्थ केवल उसी मात्रा में बाहर भेजे जाते थे जितना सरकारी और अन्य सरकारी कार्यों के लिए आवश्यक होते थे। इसमें से भी अधिकतर भाग सरकारी आज्ञानुसार गाँव में ही सरकारी कर्मचारियों में वितरण के लिए जमा रखा जाता था। गाँव में भोज्य पदार्थों के अलावा कपास भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती थी। खेतों से कपास चुनने के पश्चात् औरतें घर पर उसकी रुई निकाल लेती थीं और फिर सूत कातती थीं। इसी सूत से गाँव के जुलाहे कपड़ा बुनते थे। इस प्रकार कपड़ा तैयार होने पर स्थानीय दर्जी या घर की स्त्रियों द्वारा उसकी साधारण पोशाकें तैयार की जाती थीं। यदि रंगीन कपड़े की आवश्यकता होती तो रंगरेज द्वारा सूत या कपड़ा रंगवा लिया जाता था। यह सही है कि किसानों को जो कपड़ा उस समय मिलता था वह आज की भाँति अच्छी किस्म, रंग और डिजाइन का नहीं होता था फिर भी उन्हें आवश्यकता के अनुसार प्रचुर मात्रा में कपड़ा मिल जाता था।

भूमि का विभाजन—

उस समय प्रत्येक गाँव की सीमा होती थी और वहाँ की सम्पूर्ण भूमि पर गाँव वालो का सामूहिक अधिकार था, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा न थी। गाँव के बूढे लोग वहाँ रहने वाले परिवारो की आवश्यकतानुसार भूमि का बँटवारा कर देते थे। जमीदारी प्रथा से लोग पूर्ण अनभिज्ञ थे और खेती मे किसी का भी विशेषाधिकार मान्य नहीं था। भूमि गाँव की सामूहिक सम्पत्ति होती थी और उसका वितरण वहाँ के परिवारो मे एक निश्चित अवधि के लिए होता था। पशुओ के चरने के लिये बडे बडे चरागाह रखे जाते थे और उनकी नस्ल पर पूरा ध्यान दिया जाता था। दूध व दूध सम्बन्धी वस्तुएँ बच्चे व बूढे, किशोर व नौजवान, अपग और सहायक आदि प्रत्येक के लिए प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती थी। वनस्पति घी और ऐसे अन्य पदार्थ न तो मिलते ही थे और न बाहर से मगवाये ही जाते थे। दूध देने वाले पशुओ को बाहर शहर मे नही भेजा जाता था, जिससे वे कसाईखाने के शिकार नहीं हो सकते थे। यद्यपि यह सही है कि पशुओ का उस समय बाहर भेजना आसान न था, गमनागमन मे कई दिक्कतें थी। कोई ग्रामवासी उस समय जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता था। अगर कोई व्यक्ति पशुओ का ठीक रीति से पालन नही कर सकता था या नस्ल को खराब कर देता था तो ग्राम समाज उसको सहन नहीं कर सकता था। प्रत्येक गाँव धन-धान्य से पूर्ण था, प्रकृति दयावान थी। उन्हे खेतो को तीन वर्षों मे एक वर्ष से अधिक जोतने की आवश्यकता न थी। यहा यह मान लेना असगत न होगा कि अकाल के समय किसी भी तरह की बाहरी सहायता मिलना सम्भव नही था। दूर के स्थानों से नाज लाना अत्यन्त कठिन था, किन्तु अकाल की जो अवस्थाएँ आज हम देखते हैं वे शायद उन्हे कभी अनुभव ही नही करनी पडी थीं। यदि कभी अनाज की कमी हो भी जाती तो वे लोग इतना अनाज इकट्ठा रखते थे कि आसानी से उस कठिनाई को पार किया जा सके। पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को दिया जाता था और कुछ भाग मन्दिरों, शिक्षा सस्थाओ व सामाजिक अवसरो के लिये रखा जाता था।

गाँव की आवश्यकताएँ—

गाँव की अन्य आवश्यकताएँ बहुत ही साधारण और कम थी, जिनकी पूर्ति स्थानीय वस्तुओ से आसानी से हो जाती थी। उनकी पूर्ति के लिए कभी बाहर नहीं देखना पडता था। कुम्हार तालाब से मिट्टी खोद कर अपने चक्के पर बर्तन बना लेता था, फिर उन्हें आग मे पका कर गाव वालो की पूर्ति कर देता था, किन्तु उसे कभी नक्द पैसा नही मिलता था, क्योंकि वह भी एक गाँव का सदस्य होता था, अतः उसे फसल पर उसके परिवार के पोषण के लिए काफी अनाज दे दिया जाता था। मृत जानवरो की खाल को उतारने का काम चमार करता था और उसका चमडा बना कर जूते व अन्य वस्तुयें तैयार करता था। धोबी अपने साधारण ढङ्ग से गाँव वालों के कपडे साफ कर लाता था। तेली तैल निकाल देता और इस तरह वह भी एक जरूरी आवश्यकता को पूरी कर देता था।

चौकीदार—

चौकीदार गांव का वैतनिक नौकर होता था। वह गांव में शान्ति और व्यवस्था, चोरी व डकैती और हत्या आदि बातों के लिए जिम्मेदार था। यदि गाव में किसी के यहां चोरी हो जाती तो उसके लिये उसे जिम्मेदार होना पड़ता था और जितना भी नुकसान होता उसे स्वयं पूरा करना पडता था। उसे मुखिया की आज्ञा का पालन करना होता था और जब कभी उसे पचायत बुलाने का आदेश दिया जाता, तो वह पचों को बुलाकर इकट्ठा करता था। इन सेवाओं के बदले में उसे कुछ जमीन दी जाती थी, जिस पर कर नही लिया जाता था, बल्कि वह ग्राम कोष से चुकाया जाता था।

पटवारी—

पटवारी या गांव का खजाञ्ची व्यवस्थित रूप से गांव का हिसाव रखने के लिए जिम्मेदार होता था। वह कृषि योग्य भूमि के टुकड़ों तथा खेती करने वाले किसानों आदि का लेखा रखता था। सम्मिलित कोष तथा राजा को दिए जाने वाले कर का हिसाब भी वह रखता था। उसे खेती करने के लिये कुछ भूमि मिलती थी और फसल पर कुछ अनाज दिया जाता था।

वास्तव में गांव का काम चलाने में ये ही व्यक्ति मुख्य होते थे। इनकी नियुक्ति गाव के लोगो द्वारा होती थी, अतः स्वाभाविक रूप से इन्हें गांव के लोगो के प्रति वफादारी के साथ काम करना पडता था। दूसरे रूप में वे प्रजा के सेवक थे, जो प्रजा द्वारा चुने जाते थे और वफादारी के साथ जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाते थे। गांवों मे निम्न प्रकार के व्यवसायी रहते थे, जैसे—कुम्हार, मोची, धोबी, नाई, तेली, लुहार, सुनार, बढ़ई, ग्वाला, वैद्य, संगीतकार इत्यादि।

चौकीदार, मुखिया और पटवारी गांव के मुख्य स्तम्भ होते थे। मुखिया या सर-पंच गांव की सरकार का प्रमुख व्यक्ति होता था। चौकीदार उसके आधीन नौकर होता था और पटवारी उसको गांव का हिसाब तथा अन्य रेकार्ड रखने में सहायता देता था। प्रत्येक गांव में एक पंचायत थी, जिसके आधीन ये तीनों अधिकारी प्रजा के सेवक की भांति काम करते थे।

मुखिया और उसकी नियुक्ति—

मुखिया का एक विशिष्ट स्थान होता था और गांव के लोग यह स्थान उसी को देते थे जो लोकप्रिय होता था। मुखिया का चुनाव सारे गांव की जाति मिल कर करती थी और जब कभी वह लोगों का विश्वास खो देता तो उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति चुन लिया जाता था। लेकिन यह स्थान ऐसा नही था जिसके पीछे लोग मत प्राप्त करने के लिए आज की भांति उचित और अनुचित साधन काम में लाते। यह श्रेय तो केवल उसी को प्राप्त होता था जिसे सब लोग चाहते हों। अधिकांश मत प्राप्त करना कोई महत्त्व नही रखता था। चुनाव की पद्धति तथा उसकी

अनुकूलता को देखने के लिये किसी बाहर के व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती थी। गाँव वाले स्वयं यह भली प्रकार जानते थे कि हमें इस उच्च स्थान के लिए किसे चुनना है?

मुखिया की न्याय-प्रियता हमेशा सदाय से परे होती थी। इस पद के लिये मजिस्ट्रेट की आज्ञा या पुलिस अधिकारी की सिफारिश भी कुछ काम नहीं देती थी। बड़े बड़े आदमियों का पक्ष प्राप्त कर लेना व्यर्थ था। उसका चरित्र ही उसका सबसे बड़ा सहयोगी होता था और इसी से वह हर परिस्थिति में अपने आपको सही मार्ग पर चला पाता था। उसके कर्त्तव्य भी उतने ही विशाल होते थे। छोटे-छोटे मामलों का निपटारा तो वह स्वयं ही बिना किसी कानूनी रूप और कोर्ट फीस के हल कर देता था। उस समय की शासन व्यवस्था की सफलता और सुखी जीवन का कारण यह था कि लोग अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों का अधिक ध्यान रखते थे।

प्राचीन गावों की व्यवस्था के बारे में मुख्य बात यह है कि सभ्यता के उदय में उन दिनों म जब मानव मस्तिष्क का पूर्ण रूप से विकास भी नहीं हो पाया था, भारतीय गाँवों के प्राचीन निवासी अपने गाँव की व्यवस्था इस कलात्मक ढङ्ग से कर लेते थे कि जिसे जान कर आश्चर्य होता था। समस्त झगड़ों का निपटारा, चाहे वे सामाजिक, धार्मिक, दीवानी, फौजदारी और कर सम्बन्धी कैसे भी क्यों न हों, लोग स्वयं बैठ कर कर लेते थे। उन्हें वकीलों व वर्तमान खर्चीली न्याय व्यवस्था की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई।

ग्राम पंचायतें—

ग्राम पचायतें अपना कार्य भिन्न-भिन्न समितियों द्वारा किया करती थी, लेकिन आज हमारे पास उनका कोई विवरण नहीं है। फिर भी चिंगलपुर जिले के एक गाँव के मन्दिर म प्राप्त दो शिला लेखों के विवरण के अनुसार ६ कमेटियाँ होती थी — (१) वार्षिक कमेटी, (२) उपवन कमेटी, (३) तालाब कमेटी, (४) स्वर्ण कमेटी, (५) न्याय कमेटी तथा (६) अन्तिम पचवरा कमेटी। अन्तिम कमेटी का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया, फिर भी उसके दो अर्थ लगाये जाते हैं: (अ) यह ग्राम निरीक्षण के लिए थी और (ब) यह विशेष प्रकार के कर एकत्रित करने के लिए होती था।

इन कमेटियों के सदस्यों का चुनाव साधारण सभा द्वारा किया जाता था, जिसमें बच्चे व बूढ़े सब शामिल होते थे। परन्तु मताधिकार केवल युवक लोगों को ही होता था। इस प्रकार सारी व्यवस्था एक प्रजातन्त्रात्मक ढङ्ग पर आधारित थी। यह हो सकता है कि जो तरीके अपनाये गये थे वे इतने स्पष्ट और निश्चित नहीं थे जैसे आज है। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रजातन्त्र व चुनाव की मुख्य बातें विधान में भली-भाँति विद्यमान थीं। चुनाव का ढङ्ग बहुत ही दिलचस्प होता था, उसके विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में गाँव के लोग

प्रजातन्त्र तथा सरकार के वर्तमान तरीकों से बिल्कुल अनभिज्ञ न थे। "एक गाँव जिसमें १२ गलियाँ होतीं उसे ३० वार्डों में बाँटा जाता था, फिर जो व्यक्ति इन वार्डों में रहते थे वे एक टिकट पर अपना नाम लिखा देते थे। पहले टिकट वार्डों के अनुसार अलग-अलग बण्डल में जमा किये जाते, फिर हर एक बण्डल पर वार्ड का नाम लिख दिया जाता था। फिर बण्डल इकट्ठे कर उन्हें एक घड़े में रख कर ग्राम सभा के सामने रखा जाता था। एक पुरोहित घड़े को लेकर खड़ा हो जाता था, जिससे कि सब लोग उसे देख सकें। वह एक किशोर बालक को उस घड़े में से एक बण्डल निकाल लेने के लिए अपने पास बुलाता था। इस बण्डल में जो भी टिकट होते वे फिर दूसरे घड़े में रख दिए जाते थे। इसके पश्चात् वह लड़का उस घड़े में से एक टिकट निकाल कर एक अधिकारी के हाथ में दे देता था जो अपने हाथ की पाँचों अँगुलियाँ फैलाकर उसे ग्रहण करता था। वह फिर उस टिकट का नाम पढ़ कर सुना देता था। तब पुरोहित सारी सभा में उसकी सूचना कर देता था। इस प्रकार हर एक वार्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले तीस नाम छाँटे जाते थे। तीस में से १२ वार्षिक कमेटी, १२ उद्यान कमेटी और ६ तालाब कमेटी के लिए नियुक्त कर दिये जाते थे।"*

पंचों की योग्यताएँ—

उक्त कमेटियों के लिए गाँव के हर एक व्यक्ति को नहीं चुना जाता था। केवल योग्य व्यक्ति ही इसमें लिए जाते थे। पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए सदस्यता खुली थी। पंचों की योग्यताएँ निम्न प्रकार निश्चित होती थीं:—(१) उसके पास गाँव की एक-चौथाई से भी अधिक भूमि हो, जिसका वह कर देता हो। (२) उसके पास अपने ही मुहल्ले में मकान होना आवश्यक है। (३) उसकी उम्र ७० वर्ष से कम और ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिए। (४) उसे मन्त्रों और ब्राह्मणों के बारे में ज्ञान होना चाहिए। विशेष धार्मिक पुस्तकों का ज्ञान होने पर सम्पत्ति सम्बन्धी कई अयोग्यताएँ दूर हो सकती थीं। (५) उसका व्यापार से परिचित होना जरूरी था। (६) उसका भाग्यशाली होना तथा उसकी आय ईमानदारी की आय होना आवश्यक था। (७) जो व्यक्ति पिछले तीन वर्ष किसी भी कमेटी में न रहा हो। (८) जो पहले सदस्य रह चुका हो, लेकिन उचित हिसाब न रख सका हो, उससे सब सम्बन्ध हटा लिए जायँ। (९) जो व्यक्ति किसी विशेष दोष के अपराधी हों, वे चुनाव में नहीं लिए जा सकते थे।

यहाँ इन कमेटियों के कार्य के बारे में विस्तृत प्रकाश डालना असम्भव होगा, लेकिन इतना तो सही है कि इन कमेटियों की नियुक्ति गाँव की तमाम गति विधियों तथा समस्याओं का समाधान करने के हेतु ही होती थी। उन्हें ही इन छोटे गण राज्यों की व्यवस्था का ध्यान रखना पड़ता था। भिन्न-भिन्न बातों का निर्णय या तो अलग-अलग

* The Villa Government in British India.

कमेटियों द्वारा होता था या पंचायतों द्वारा जो इसी काम के लिए बुलाई जाती थी। अगर किसी काम को पूरा करने में कोई कठिनाई होती थी तो मुखिया द्वारा गाँव के योग्य, अनुभवी व्यक्तियों को बुला लिया जाता और उनकी सलाह से निर्णय दिया जाता था। निर्णय करने का ढङ्ग ऐसा नहीं था जैसा कि आजकल बहुमत द्वारा होता है। बहुमत के विपरीत वे लोग सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे और इसमें प्रायः वे सफल भी होते थे।

पंचायत द्वारा दी गई आज्ञाओं और सजाओं को मूर्त रूप देने के लिए उन दिनों जेलों एवं अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं थी। अपराधी स्वयं अपना दोष स्वीकार कर पंचायत द्वारा दी गई आज्ञाओं का पालन करते थे। यह उस समय के उच्च सामाजिक संगठन का परिणाम है। उस समय एक अपराधी के लिए सबसे बड़ी सजा यही होती थी कि समस्त गाँव का समाज उसका सामूहिक रूप से बहिष्कार करे। जो अपराधी गाँव के समाज का निर्णय नहीं मानता था, उसे 'ग्राम द्रोही' कहा जाता था। इस प्रकार यह सजा उस समय की सबसे बड़ी सजा होती थी। जो व्यक्ति समस्त गाँव के जनमत का निरादर करता था उसे जाति से अलग कर दिया जाता था और कुछ विशेष धार्मिक विधियों पर रोक लगा दी जाती थी। इन सामाजिक बन्धनों और निष्कासन से वह थोड़े ही समय में ऊब जाता था और अन्त में उसे गाँव के अधिकारियों के सामने झुकना पड़ता था। उस समय जातीय कर्त्तव्य और जनमत के प्रति आदर की भावना इतनी उच्च थी कि नियम भङ्ग करना कोई जानता ही न था और पञ्चायत की आज्ञाओं का पालन बिना किसी कठिनाई के हो जाता था।

पंचायत के अन्य कार्य—

पंचायतों का कार्य न्याय सम्बन्धी शासन तथा सामाजिक झगड़ों के निर्णय करने तक ही सीमित नहीं था अपितु वे गाँव की सफाई की ओर भी ध्यान देती थी और व्यापक रोगों को दूर करने में भी कम सहायक न थी। गाँव में स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होती थी और इसीलिए गाँव की गलियों की सफाई तथा कूड़ा करकट को दूर फेंकने के लिये महतरों का उपयोग किया जाता था। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसको जलाया जाता था, क्योंकि आरोग्यता की दृष्टि से यह व्यवस्था ही सबसे उत्तम थी। मुर्दों को जलाने का स्थान गाँव से काफी दूर या नदी के किनारे रखा जाता था। जानवरों की मृत देहों को भी चमार लोग गाँव से दूर ले जाते थे और वे उनका चमड़ा उतार कर जाति के उपयोग के लिए प्रदान करते थे। यद्यपि आज वे सब व्यवस्थायें हैं, किन्तु गाँव का वह सहयोगी जीवन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिये तालाबों को खुदवाना, कुँए बनवाना और गाँव की सब सड़कों को व्यवस्थित रखने का कार्य भी गाँव की जाति द्वारा ही किया जाता था।

यह विवरण पंचायतों के कार्य तथा उनके उद्देश्य प्राप्ति के साधनों की झलक देता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि प्राचीन काल में ऐसी कौनसी शक्ति थी,

जिसने इस सामाजिक संस्था को अक्षुण्ण बनाये रखा और किस प्रकार गाँव के लोग एक सूत्र में बँध कर सहयोगी जीवन बिता सके। उत्तर हम आरम्भ में हो दे चुके हैं कि इस युग के लोगों में एक मूल भावना यह भरी हुई थी कि वे हमेशा अपने व्यक्तिगत लाभ के विपरीत समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर अधिक ध्यान दें। फिर भी एक जाति जो व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति उदार भावना लेकर अपने आपसी कर्त्तव्यों को ईमानदारी के साथ पूरा करने को तत्पर रहे वह क्या नहीं कर सकती। इसी भावना से वे विश्व के इतिहास में आश्चर्यजनक कार्य कर सके हैं।

दूसरी भावना जो ग्राम निवासियों के जीवन को प्रभावित करती थी, वह थी कि ईश्वर ही उनके भाग्य का निर्णय करता है। चूंकि पंचों में ईश्वर की शक्ति निवास करती है, अतः उनके हाथों में अपना भाग्य सुरक्षित है। यही एक कारण है कि आज भी समस्त देश में लोग पंचायत को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं और जब कभी उसके सामने जाते हैं तो पूर्ण सचाई का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा एक और भी कारण है जो पंचायत की सफलता के लिए विशेष था। उस समय की पंचायतें प्रायः एक ही स्थान की जनता द्वारा बनाई जाती थी, अतः सब लोग एक दूसरे से भली प्रकार परिचित होते थे। इसलिये जब कोई भी मामला पंचायतों के सामने आता तो उसकी सचाई वे सरलता से मालूम कर लेते थे और जब एक बार सचाई प्रकट हो जाती है तो फिर न्याय करने में तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती थी।

गाँवों का स्वावलम्बन—

रेल व सड़कें बनने से पहले गांव वालों का बाहर से बहुत कम सम्बन्ध था। उनकी आवश्यकताएं सीमित थीं, जिनकी पूर्ति गाँवों में ही हो जाती थी। कभी-कभी किसी मेले या बाजार से कुछ विलासिता की चीजें या नमक आदि ऐसी वस्तुएं, जो गांव में नहीं मिलती थी, खरीद ली जाती थीं।

आवागमन के साधनों के अभाव में गाँवों का स्वावलम्बन और उनका एकाकीपन अनिवार्य था। १६ वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में आवागमन के मार्गों में केवल गंगा और सिंधु नदियाँ मुख्य थीं। कुछ सड़कें थीं, परन्तु वे कच्ची थीं, जिन पर बरसात में बैलगाड़ियों का आना-जाना बड़ा कठिन था। नदियों पर पुलों का अभाव था, इसलिए बरसात में उन्हें पार करना एक कठिन समस्या थी। सड़कों पर यातायात की कठिनाई इससे और भी बढ़ जाती थी कि वे सुरक्षित नहीं थीं। उन पर प्रायः चोर और डाकुओं के अड्डे हुआ करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी सड़कों के बनाने या उनकी मरम्मत कराने की ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उसका काम तो व्यापार करना और अपने हिस्सेदारों को अधिक से अधिक लाभांश देना था, अतएव आवागमन की कठिनाइयों के कारण आन्तरिक व्यापार की वृद्धि होना कठिन था। इससे हर एक गाँव को स्वावलम्बी होना पड़ता था। साधारणतः गाँव वालों का एकाकीपन उनके

सुख समृद्धि मे सहायक था, परन्तु दुर्भिक्ष के समय उन्हे बाहरी सहायता की आवश्यकता पडती थी, जो यातायात के साधनो के अभाव मे कठिनाई से पहुँच पाती थी। फलस्वरूप गाँव के बहुत से निवासी काल के गाल मे चले जाते थे। यही कारण था कि एक गाँव से दूसरे गाँव के मूल्य मे बहुत अन्तर रहता था। गाँव वालो की आवश्यकतायें जीवनोपयोगी साधारण वस्तुओ तक ही सीमित थी। इसी से गाँव के शिल्पी भी साधारण कोटि की चीजें ही बनाया करते थे और उनके धन्धो मे श्रम विभाजन का अभाव था। प्राचीन काल मे भारत की जिस शिल्प कला की इतनी प्रशसा की जाती है वह नगरो मे पाई जाती है, गाँव मे नही।

मुद्रा का अभाव—

प्राचीन गाँव सगठन की विशेषता मुद्रा का अभाव थी। स्वावलम्बन के कारण विनिमय बहुत कम होता था। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति या तो स्वय करता था या दूसरो को अन्नादि देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुयें ले लेता था। अतएव प्रत्यक्ष विनिमय का बाहुल्य था और मुद्रा की आवश्यकता कम पडती थी। मुद्रा की आवश्यकता केवल राज-कर देने मे होती थी, जो प्राचीन काल मे उपज के रूप मे ही लिया जाता था। अँग्रेजी राज्य की स्थापना से जब मुद्रा के रूप में भूमि कर देना अनिवार्य हो गया तब कृषक को अपनी उपज सस्ते दामो मे बेचकर लगान जमा करना पडता था। ऐसे अवसरो पर व्यापारियो की बन आती थी, क्योकि वे मनमाने भाव पर किसान की उपज खरीदते थे और किसान की आवश्यकता उसे सस्ता बेचने को बाध्य करती थी। फिर भी वस्तुओं का भाव *प्राय: परम्परा से निश्चित होता था। प्रतियोगिता का अभाव और रूढ़ि की प्रबलता* थी, श्रम की अगतिशीलता और कूप-मडूकता भी ग्राम-सगठन की विशेषतायें थी।

रूढ़ि और परम्परा का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—

ग्राम्य आर्थिक जीवन मे रूढि और परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतियोगिता के अभाव मे परम्परागत नियमो का पालन होना स्वाभाविक ही था। किसान जो लगान बहुत दिनो से देता आ रहा था उसमे जमीदार वृद्धि नहीं करता था। इसी प्रकार जमीदार जो भेंट बेगारी आदि किसान से लेता था उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। आजकल की भाँति न तो किसान जमीदार के *विरुद्ध आवाज उठाता था और न जमीदार ही लगान बढाने के लालच से एक किसान* से जमीन लेकर दूसरे को देता था। इसका कारण यह भी था कि देश की जन-सख्या कम और भूमि पर्याप्त थी, इसलिए भूमि के लिए किसान उतने उत्सुक नही थे जितने आज है। इस कारण उनमे प्रतियोगिता नही थी। उस अशान्ति और अव्यवस्था के युग मे किसान और जमीदार का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक भी था, क्योकि एक को दूसरे के सहयोग की आवश्यकता थी। किसान की आवश्यकता जमीदार को इसलिए थी कि लडने के लिए सेना की आवश्यकता पडती थी और किसानो मे से ही

सैनिक आते थे। उधर किसान भी जानता था कि जमींदार ही हमारे जान माल का रक्षक है। उसकी शक्ति और समृद्धि में ही हमारी समृद्धि है। इसी से वह जमींदार की आज्ञा मानने को बाध्य था।

इस प्रकार मजदूरी भी परम्परा से चली आती थी। देहातों में जो मजदूर काम करते थे उन्हें मजदूरी अन्न के रूप में मिलती थी। अन्न की मात्रा निश्चित थी और परम्परा से चली आती थी। भिन्न भिन्न कार्यों के लिए विभिन्न दर थीं, जैसे खेत जोतने, काटने, पानी चलाने आदि के लिए अलग-अलग दर निश्चित थीं। ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ वर्ग के लोगों को, जैसे कुम्हार, लोहार, बढ़ई आदि को फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सेवाओं के लिए भी फसल काटने पर अन्न दिया जाता था, जैसे नाई, धोबी, पानी भरने वाले कहार, चमड़े का सामान देने वाला मोची आदि। बहुत से भागों में अब भी यह प्रथा चली आती है और परम्परागत मजदूरी अन्न के रूप में दी जाती है। इसमें एक सुविधा यह थी कि मुद्रा का मूल्य बढ़ने या गिरने से मजदूर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और मजदूर की ओर से मजदूरी बढ़ाने की माँग भी नहीं होती। वस्तुओं का मूल्य भी परम्परागत था। प्रतियोगिता का अभाव होने के कारण हर एक चीज का निश्चित मूल्य चला आता था। उसमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, क्योंकि मूल्य मुद्रा में नहीं चुकाया जाता था। अन्यत्र विनिमय की प्रधानता थी, इसलिए किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु की निश्चित संख्या या मात्रा दी जाने की प्रणाली थी और उसमें परिवर्तन नहीं होता था। परन्तु मूल्य की यह परम्परा भिन्न-भिन्न स्थानों या प्रान्तों के लिए भिन्न भिन्न थी। सारे देश में एक मूल्य कभी न था, क्योंकि देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की कठिनाई थी। परम्परागत मूल्य में कभी-कभी परिवर्तन भी होता था, परन्तु ऐसा तभी होता था जब दुर्भिक्ष, महामारी या किसी प्रकार की दैवी आपदा के कारण माँग और पूर्ति के अनुपात में अन्तर हो जाता था।

नगर—

जन गणना के अभाव में यह कहना कठिन है कि जन-संख्या का कितना प्रतिशत नगरों में और कितना गाँवों में बसता था, परन्तु १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में अनुमानतः १० प्रतिशत जन-संख्या नगरों में बसती थी। यह ध्यान में रहे कि उन दिनों यहाँ पर उद्योग-धन्धे केवल नगरों में ही केन्द्रित नहीं थे, वरन् गाँवों की जनता में भी शिल्पी थे, जिनकी जीविका उद्योग-धन्धों से चलती थी। खेती पर निर्भर रहने वालों की संख्या ६० प्रतिशत से अधिक नहीं थी।

इन दिनों के प्रमुख नगर या तो तीर्थ स्थानों में, जैसे—काशी, प्रयाग, गया, पुरी इत्यादि या राजधानी में थे, जैसे-दिल्ली, लखनऊ, आगरा, लाहौर, पूना इत्यादि। ये व्यापारिक केन्द्र थे, जैसे—मिर्जापुर, मदुरा, बंगलोर इत्यादि। इनमें से तीर्थ-स्थानों में केवल पण्डे या तीर्थ-यात्रियों की ही बस्ती नहीं थी, वरन् व्यापारी और शिल्पी भी

बहुत थे, जैसे—बनारस में पीतल और तांबे के बर्तन भी बनते थे, जो तीर्थ-यात्रियों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। राजधानियों वाले नगर भी कम महत्वपूर्ण नहीं थे। राजाओं और नवाबों का आश्रय पाकर अनेक शिल्पी वहाँ बसते थे, जो अपनी अपूर्व कला का बराबर प्रदर्शन करते रहते थे। भारतवर्ष की जो प्राचीन कलायें संसार भर में प्रसिद्ध थीं उनके प्रोत्साहन का पूरा श्रेय इन राजाओं और नवाबों को ही था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से ज्यों ज्यों उनका पतन होता गया त्यों-त्यों ये नगर उजड़ते गए। विजयनगर, बीजापुर, मुर्शिदाबाद, देवगिरी, ढाका आदि नगरों का ह्रास इन्हीं कारणों से हुआ।

नगरों का जीवन देहाती जीवन से भिन्न था। नगरों के लोग उद्योग धन्धों और व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे। उनमें शिल्पियों के संघ थे, जिनका संगठन बहुत अच्छा था। प्रत्यक्ष विनिमय कम था और मुद्रा का व्यवहार अधिक होता था। साख-पत्रों में हुन्डी का प्रचार अधिक था। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक रुपये का लेन-देन हुन्डियों से होता था। इससे व्यापार में बड़ी सुविधा थी और महाजनी प्रथा का पर्याप्त विकास हो चुका था,

ग्राम्य जीवन में परिवर्तन के कारण (Village in Transition)—

ग्राम्य जीवन में धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया, जिसके निम्न कारण थे:—

(१) देश के शासन का केन्द्रीयकरण—अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर ग्राम पंचायतों का महत्व जाता रहा। अनेक न्याय सम्बन्धित अधिकार आधुनिक युग की कचहरियों और न्यायालयों ने ले लिये। पुलिस कर्मचारियों ने रक्षा तथा अपराधियों का पता लगाने का काम अपने हाथ में लिया। इस प्रकार मालगुजारी वसूल करने का काम जो गाँव का मुखिया या जमींदार करता था, अब सरकारी कर्मचारी करने लगे। संक्षेप में, पञ्चायतों को किसी प्रकार के अधिकार नहीं रहे अतएव धीरे-धीरे उनका लोप हो गया। यह सच है कि अँगरेजी राज्य की स्थापना के पूर्व देश में शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव था। केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली नहीं थी और आवागमन के साधन भी नहीं थे। इन्हीं कारणों से ग्राम-पञ्चायतों की दृढ़ता और शासन का केन्द्रीयकरण अनिवार्य था।

(२) व्यक्तिवाद की वृद्धि—अँग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व समूह का अधिक प्रचलन था। सम्पत्ति पर अधिकतर सामूहिक अधिकार था। गाँवों में भूमि पर ग्राम-वासियों का सम्पूर्ण संयुक्त अधिकार था। अतएव व्यक्तिवाद का प्रचलन नहीं था। अंग्रेजी राज्य में व्यक्तिगत अधिकार की प्रधानता स्वीकार की गई और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति समूह से पृथक करने की स्वतन्त्रता दी गई। अतएव ग्राम संगठन की नींव हिल गई। सामूहिक सम्पत्ति का लोप हो गया और भाईचारे का सम्बन्ध भी समाप्त हो गया।

(३) आवागमन के साधनों में क्रांति—रेल और सड़कों के निर्माण से

आवागमन की सुविधायें बढ़ गईं, जिससे एक गांव का दूसरे गांव से सम्बन्ध बढ़ने लगा। इतना ही नहीं, गाँवों का सम्बन्ध नगरों से भी बढ़ गया और गांव का जीवन नगर से प्रभावित हुए बिना न रह सका। ग्राम का एकाकीपन नष्ट हो गया और वे बाहरी विश्व के सम्पर्क में अधिकाधिक आने लगे। फलतः प्राचीन ग्राम संगठन अस्तव्यस्त हो गया।

ग्राम्य जीवन में इन कारणों से निम्न परिवर्तन हुए:—

(१) ग्रामों का स्वावलम्बन नष्ट होना—

ग्राम संगठन के टूटने का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि गांव का स्वावलम्बन नष्ट हो गया। अब उसकी आवश्यकता की सभी वस्तुयें बाहर से आती हैं। धीरे-धीरे रहन सहन का ढंग भी परिवर्तित हुआ है और जीवन का स्तर ऊँचा उठता जा रहा है। दूसरी ओर ग्राम केवल अपनी आवश्यकता की ही वस्तुयें नहीं उत्पन्न करता, वरन् बाजार की माँग के अनुसार दूसरों की आवश्यकता के लिए भी चीजें उत्पन्न करता है। ग्राम का एकाकीपन नष्ट होने से दुर्भिक्ष की तीव्रता कम हो गई। अब देश के एक भाग में अन्न की कमी होने पर दूसरे भाग से या विदेश से अन्न मँगा कर उसकी पूर्ति की जाती है, जिससे मनुष्यों की प्राण हानि कम होती है। देश के विभिन्न भागों में जो विभिन्नता रहती थी वह भी अब कम हो गई है। ग्राम संगठन के टूटने से मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग भी होने लगा है। प्रत्यक्ष विनिमय का लोप हो रहा है और परम्परागत मूल्य, मजदूरी आदि के बदले देश के अन्य भागों में समान मूल्य का प्रचलन हो गया है। यातायात के साधनों की वृद्धि से गाँवों की जनता गतिशील हो गई है। अब लोग घर का मोह छोड़ कर जीविका की खोज में दूर-दूर जाने लगे हैं, सम्मिलित कुटुम्ब टूटने लगा है और जाति प्रथा की कट्टरता कम होने लगी है। जो गांव नगरों के समीप हैं वहाँ के निवासी नगर में काम करके आय बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार ग्राम-संगठन के टूटने से लोगों की आर्थिक दशा में सुधार भी हुआ है।

(२) ग्रामीण व्यवसायों और धन्धों में परिवर्तन—

(१) कृषि—ग्रामीण व्यवसायों में सबसे मुख्य कृषि है, अतएव पहले उसी पर विचार करना आवश्यक है। खेती के ढङ्ग में तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं। वही पुराना हल और वही पुराना ढङ्ग अब तक चला आ रहा है। कृषि विभाग और सहकारिता विभाग के प्रयत्नों के फलस्वरूप कुछ नए औजार और बीजों का प्रचार हुआ है। खाद बनाने का ढङ्ग भी कुछ सुधरा है और रसायनिक खादों का उपयोग बढ़ रहा है, परन्तु अभी तक देश के अधिकांश भागों में पुराना ढङ्ग ही प्रचलित है।

भारतीय कृषि में जो परिवर्तन देखने में आ रहे हैं। वे निम्न प्रकार के हैं— (क) कृषि का व्यवसायीकरण, (ख) किसानों की बेदखली और उनकी भूमि का महाजनों के हाथ में जाना, (ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती तथा (घ) मजदूरों की कमी और नगरों की वृद्धि।

(क) कृषि के व्यवसायीकरण का मुख्य कारण यातायात के साधनो की वृद्धि है । स्वेज नहर के बन जाने से इगलैंड से व्यापार अधिक होने लगा है, जिससे यहाँ की उपज अधिकाधिक मात्रा में निर्यात होने लगी । सन् १८६१ के लगभग अमेरिका मे गृह युद्ध छिड जाने से वहाँ की रुई का निर्यात बन्द हो गया, अतएव लङ्काशायर की मिलो को मिश्र और भारत से रुई मँगाना आवश्यक हो गया । रुई का भाव चढ गया और कपास उत्पन्न करने वाले देश सम्पन्न हो गये । तिलहन की माँग भी विदेशो मे बढ रही थी, अतएव विदेशी बाजार की माग की पूर्ति करने में भारत के किसान अधिक तत्पर हुए । उधर पंजाब और उत्तर-प्रदेश आदि मे नहरो का विस्तार होने से खेती की उन्नति होने लगी और अखाद्य पदार्थों की खेती दिन पर दिन बढने लगी । उपज का स्थानीयकरण भी होने लगा । बम्बई और बरार मे रुई, मध्य प्रान्त मे कपास और तिलहन, पजाब मे गेहूँ, उत्तर-प्रदेश मे गन्ना और बंगाल मे पटसन की खेती का अधिक प्रचार होने लगा । संक्षेप में, अब किसान अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रत्यक्ष नही वरन् अप्रत्यक्ष रूप से करता है । अब वह जिसमे लाभ देखता है वही फसल बोता है और नगद दाम पाने पर आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ मोल ले लेता है ।

मुद्रा के अधिकाधिक व्यवहार के फलस्वरूप अब किसान को लगान, कर, सूद, मजदूरी आदि मुद्रा मे ही देना पडता है, जिससे उसे अपनी फसल की उपज बेचने को बाध्य होना पडता है । अतएव अन्न का लेन-देन करने वाले महाजनो और विदेश भेजने वाले व्यापारियो की सख्या भी बहुत बढ गई है । इस प्रकार बहुत से नए व्यवसायी उत्पन्न हुए हैं ।

(ख) किसानो की बेदखली का कारण उनकी ऋणग्रस्तता है । भूमि के बँटवारे और उसके मूल्य मे वृद्धि होने आदि के कारण उन्हे ऋण लेने मे अधिक सुविधा होने लगी है । धीरे-धीरे ऋण बढ जाने पर महाजन कानून की सहायता से किसान को खेत से बेदखल करा देता है ।

(ग) भूमि का बँटवारा और बिखरी खेती दिन पर दिन अधिक होती जा रही है, क्योकि आधुनिक प्रवृत्तियो के कारण सयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त हो गया है तथा वह नाम मात्र के लिए शेष रह गई है ।

(घ) नगरो में नए-नए धन्धो के खुलने से देहाती जनता उधर आकर्षित हो रही है और जीविका के लिए गाँव छोड कर नगरो मे जाने लगी है । जिनके पास भूमि नही है उनके लिए गाँव छोड कर नगर मे मजदूरी करना लाभदायक होता है, अतएव खेती के लिए मजदूरो की कमी का अनुभव होने लगा है । इसके अतिरिक्त जीवन स्तर बढ जाने से कुछ सम्पन्न किसान अब छोटा काम करने में हिचकने लगे हैं । जो काम वे स्वयं कर लेते थे उसके लिए अब मजदूर रखने लगे हैं और मजदूरों का अभाव होता जा रहा है ।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तथा कृषि उपज के मूल्य बढ जाने से किसानो को काफी लाभ हुआ और उनका ऋण प्रभार भी कम हो गया। सन् १९४३ से देश में अन्न धान्यों की कमी के कारण उपज बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनी, जिससे कृषि सुधार के लिए काफी प्रयत्न किए गए और आज भी देश को कच्चे औद्योगिक माल एवं खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। इससे सन् १९३९ के बाद औसत किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि १९ वी शताब्दी के अन्त तक कृषको की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नही थी। किसानो की आर्थिक दशा गिरी हुई होने से तथा देश मे सस्ते दर पर समुचित परिमाण मे साख की सुविधा न होने से कृषि-उद्योग मे पूंजी विनियोग का स्तर नीचा रहा। इससे किसानो को सदैव समुचित सिंचाई के साधनो का अभाव ही रहा तथा वे भूमि पर स्थाई सुधार करने मे असमर्थ रहे। वर्षा की अनिश्चितता से भारत की कुल कृषि भूमि मे केवल १९% सिंचित भूमि होना हमारे कृषि उद्योग में पूंजी विनियोग के निम्न स्तर की ओर संकेत करता है। इसी दोष के कारण कृषि उद्योग एक अनिश्चित व्यवसाय है। पूंजी विनियोग के निम्न स्तर का दूसरा प्रभाव कृषि मे स्थायी सुधारो का अभाव है, जैसे—खेतो की सीमा-बद्धता तथा समुचित खाद का अभाव आदि। भारत की १९ वी शताब्दी की वन नीति का प्रमुख अङ्ग 'जङ्गल सफाई' (Deforestatron) रहा है, जिससे भूमि का कटाव होता है तथा मरुभूमि पैदा होती है। इस अदूरदर्शी नीति के फल आज भी हमको स्पष्ट दिखाई देते है। तीसरे, पूंजी की कमी के कारण ही कृषि कार्यों की पद्धति एव यन्त्रो मे किसी भी प्रकार का सुधार नही हो सका, क्योकि किसान अपने सीमित साधनों से आधुनिक कृषि यन्त्रो को अपनाने मे असमर्थ था। पूंजी की कमी का चौथा प्रभाव हमारी पशु-सम्पत्ति पर हुआ। भारत मे जहां कृषि-शक्ति के लिए पशुओ का अधिक उपयोग होता है वहां उनकी नस्ल (Breed) सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न किसान स्वय नही कर सकता और न सरकार ने ही १९ वी शताब्दी मे ऐसे कोई प्रयत्न किए। इस स्थिति मे किसान को विवश हो कर अपनी जीविका कमाने के लिए काम करना पडा, जिससे वह शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उत्साहहीन एव निराशावादी बन गया। ऐसी स्थितियो में कृषि भूमि मे विस्तार होते हुए भी यदि भारत की प्रति एकड़ उपज कम रही तो आश्चर्य नही, क्योकि यह परिस्थिति का दोष था किसान का नही।

योजना काल—

परन्तु आजकल भारत को राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित हो रही है, उनसे कृषि का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट प्रतीत होता है और हम कह सकते है कि कल का किसान वास्तव मे भारत का भाग्य विधाता होगा।

और पूर्ति के नियमो द्वारा मूल्य निर्धारण होने लगा है। यातायात के साधनो में दिन पर दिन उन्नति होने से मूल्य पर केवल स्थानीय परिस्थितियो का ही नही, बाह्य परिस्थितियो का भी प्रभाव पडता है।

(४) मुद्रा की प्रधानता—अंग्रेजी राज्य की स्थापना होते ही मालगुजारी मुद्रा मे ली जाने लगी। इससे पुरानी रूढि को कुछ धक्का लगा, परन्तु कुछ दिनो के बाद मुद्रा में निश्चित लगान भी रूढिगत हो गया और अब मूल्य के चढने या गिरने का प्रभाव लगान पर नही पडता था, लेकिन जन-संख्या की वृद्धि और भूमि की बढती हुई माँग के फलस्वरूप किसानो मे भी प्रतियोगिता आ गई और लगान मे वृद्धि होने लगी। यह सच है कि लगान मे इतनी तीव्रता से चढाव या उतार नही होता जितना मूल्य मे होता है, फिर भी लगान रूढिगत न होकर प्रतियोगिता से प्रभावित होता है। नगरो मे मकान के किराये मे कभी-कभी प्रतियोगिता का इतना परिणाम देखने मे आता है कि किराया कई गुना बढ जाता है और कानून द्वारा उसे रोकना अनिवार्य हो जाता है। किसानो का लगान भी भिन्न-भिन्न कानूनो द्वारा निश्चित किया गया, जिससे जमीदार किसानो की प्रतियोगिता से लाभ उठा कर मनमाना लगान न बढा सकें।

सन् १७५० के पश्चात् इङ्गलेंड द्वारा भारतीय धन का अपहरण प्रारम्भ हो गया। जैसा कि सन् १७९७ मे मार्किस सैलिसबेरी ने कहा था : "इङ्गलैंड का प्रधान उद्देश्य एशिया के उपनिवेशो से धन प्राप्त करना था, न कि उन्हे लाभ पहुँचाना।"

सन् १८५८ तक भारत के कच्चे माल का निर्यात हो रहा था। भारत से हाथ के बने हुये सामान का निर्यात कम हो रहा था और इङ्गलेंड से कपडे और धातु के बर्तन आदि का आयात बढ रहा था। इङ्गलैंड की औपनिवेशिक नीति और औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओ के मूल्य मे ह्रास न होकर भारत में निर्यात की अपेक्षा आयात की मात्रा बढा दी गई, जिससे हमारे देश का धन इङ्गलैंड जाने लगा। इस समय भारत मे पूँजी नही आ रही थी और देशी उद्योग धन्धो की अवनति की गति इस प्रकार तीव्र थी कि सन् १८७०-७५ के आस पास इस देश की औद्योगिक दशा पतन की सीमा पर पहुँच गई थी।

अतः १९ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रचलित पुरानी अर्थ व्यवस्था, जो गाँव की आत्म निर्भरता पर आधारित थी, विदेशी शक्तियो के सम्पर्क मे आने से बदलने लगी।

अध्याय ५

भारतीय कृषि (सन् १८५७ के पूर्व एवं पश्चात)

(Indian Agriculture Before & After 1857)

"स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक समस्या की कुञ्जी कृषि के मानदण्ड में सुधार और उपज शक्ति बढ़ाने में निहित है, न कि इन्हें छोड़कर बड़े पैमाने पर उद्योग के निर्माण में। कृषकों की क्रय-शक्ति में वृद्धि ही औद्योगिक विकास के लिये एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकेगी।"
—जी० डी० एच० कोल।

"कृषि उद्योग भारत की दलित जातियों और उद्योगों में से एक है।"
— डॉ० बलाउस्टन।

कृषि-उद्योग की प्रधानता भारत की अर्थ व्यवस्था का प्रधान लक्षण है। कृषि-व्यवस्था ही भारत को सम्पूर्ण खाद्य सामग्री तथा हमारे उद्योगों के लिए अधिकतर कच्चा माल देती है। हाँ, गत कुछ वर्षों मे हमारी खाद्य निर्भरता दूसरे देशों के आयात पर निर्भर हो गई, परन्तु क्रमशः भारत स्वय-निर्भरता की ओर अग्रसर होता जा रहा है। कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारत का यह उद्योग गिरी हुई दशा मे है।* कृषि उद्योग की अनेक समस्याएं हैं, जो समुचित सगठन के अभाव की ओर संकेत करती हैं। इन समस्याओं का विवेचन यथास्थान होगा।

इस अध्याय का हेतु सन् १८५७ के पूर्व एवं पश्चात् कृषि-उद्योग की स्थिति कैसी रही, यह देखने का है। इससे पूर्व हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस प्रकार का अध्ययन तात्त्विक दृष्टि से दोषपूर्ण है, क्योंकि भारतीय कृषि को स्पष्टतः दो सामयिक भागों मे नहीं बांटा जा सकता और न सन् १८५७ के पूर्व एव पश्चात् की स्थिति बताने को कोई रेखाबद्ध विभाजन ही किया जा सकता है। यह बात अन्य देशों की अपेक्षा भारत के लिए विशेष रूप मे लागू होती है, क्योंकि प्राचीन काल से भारत का प्रमुख व्यवसाय कृषि ही रहा है, इसलिए यदि हम १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की कृषि की स्थिति का अध्ययन करने के साथ १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृषि उद्योग मे शक्तिशाली घटकों के कारण कौनसे एवं कैसे परिवर्तन हुए, यह देखें तो समुचित होगा।

सन् १८५७ के पूर्व कृषि –

१९ वीं अर्द्ध-शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत की कृषि की स्थिति की विवेचना

---

* Agricultural Commission Report, 1928.

में यातायात एव सम्वादवाहन साधनो का सबसे पहिले विचार करना होगा। क्योकि इन साधनो के विकास एव उन्नति पर ही देश का आर्थिक एवं औद्योगिक कलेवर निर्भर रहता है। प्रो० मॉरिसन ने कहा है :—"*जब जल-यातायात असम्भव हो तथा* स्थलवाहक धीमे एव अविश्वसनीय हो, उस दशा मे विनिमय केवल उन्ही वस्तुओ तक सीमित रहता है जो मनुष्यो द्वारा एव जानवरो द्वारा सुगमता से ले जाये जाते हो।" १६ वी अर्द्ध शताब्दी मे, अर्थात् सन् १९५० के पहिले भारत मे जल-यातायात के थोडे से नैसर्गिक साधन उपलब्ध थे, जैसे—गङ्गा तथा सिन्ध नदी, लेकिन स्थल यातायात दोषपूर्ण था। सडकें यातायात के लिए दोषपूर्ण थी और उनकी वही स्थिति थी, जो इङ्गलैंड की सडको की १८ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे थी।* समुचित सडको का लगभग अभाव था। मुगल शासको द्वारा बनाई गई कुछ सडकें अवश्य थी, परन्तु उनकी स्थिति विशेष सन्तोषप्रद नही थी और उन पर सदैव डाकुओ एव लुटेरो का भय बना रहता था। इस सकीर्ण एव अस्तव्यस्त परिस्थिति के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार नाम मात्र का था, जिसमे बाध्य हो कर ही जन-सख्या छोटे-छोटे असम्बद्ध समुदायो में बँट गई थी तथा वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति अपने समुदाय मे ही कर लेते थे। दूसरे शब्दों में, गाँवो मे आत्मनिर्भरता थी। ऐसी स्थिति मे गाँवो की आत्म-निर्भरता का प्रभाव हमारे कृषि सगठन पर पडे बिना न रह सका, जिसकी निम्न विशेषतायें थी :—

(१) जनता के प्रत्येक समूह मे अथवा गाँव मे एक ही प्रकार की फसलों की उपज होती थी। प्रत्येक गाँव को अपने खाद्यान्न अपने गाँव मे ही उपजाना आवश्यक था। इस कारण भूमि की उर्वरा शक्ति एवं उपयोगिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्येक गाँव की अधिकांश कृषि-भूमि खाद्यान्न की फसलो के लिए काम मे लाई जाती थी, जिससे उपज कम होती थी।

(२) किन्ही भी विशेष स्थानो मे कृषि-उत्पादन का मूल्य वहाँ की माँग एवं पूर्ति की स्थिति पर निर्भर रहने के कारण विभिन्न गावो मे एक ही वस्तु की कीमतों मे आश्चर्यकारी अन्तर था। इतना ही नही, अपितु उसी गाँव मे समयानुसार कीमतों में अन्तर भी बहुत अधिक रहता था। कीमतो के इस अन्तर एव अनिश्चितता के कारण कृषि उद्योग खतरे मे खाली नही था तथा जनता की खाद्य स्थिति मे भी खतरनाक अनिश्चितता थी। इसलिए प्राचीन भारत के इतिहास मे भीषण एव विस्तृत अकालो का होना कोई आश्चर्य नही था, अपितु कृषि *व्यवस्था का एक साधारण लक्षण था।*

(३) गाँवो की आत्म-निर्भरता एव परिस्थिति-वश असम्बद्धता से ग्रामीण उद्योगो की सुरक्षा हुई तथा वे भविष्य मे भी जीवित रह सकें। इस

---

* Indian Economics Vol. 1—Jather & Beri p. 104.

कारण कृषि आय में होने वाले उतार-चढ़ाव एवं अनिश्चितता के परिणामों से ग्रामीणों की रक्षा हुई।

(४) सीमित बाजार क्षेत्र होने से विनिमय माध्यम के लिए धातु मुद्रा की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि मानव समाज का चरम लक्ष्य अपनी आवश्यक माँगों की पूर्ति था। इस कारण खाद्यान्नों ने ही अधिकतर क्रय-विक्रय व्यवहारों में विनिमय माध्यम की सुविधा दी, जिससे वस्तु विनिमय ही उस काल की विशेषता थी। मानव समाज के आर्थिक सम्बन्ध स्थिति एवं परम्परा से ही चलते थे, आज की भाँति प्रतियोगिता एवं अनुबन्धों से नहीं।

(५) १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि उद्योग की उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता राजनैतिक अस्थिरता के कारण कृषि-उद्योग का आर्थिक कलेवर बहुत प्रभावित हुआ, क्योंकि ऋण देने में जनता सशंक थी तथा उनके जीवन एवं धन सम्पत्ति की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं था। ब्याज की दर अधिक होती थी, जिससे कृषि में पूँजी का विनियोग बहुत कम होता था और कृषि उद्योग को आवश्यक पूँजी नहीं मिलती थी। कृषि पर दुर्लभ एवं मँहगी साख सुविधाओं के भयानक परिणामों की हम कल्पना ही नहीं कर सकते।

(६) युद्धों की अधिकता, अकालों की आकस्मिकता एवं अधिकता का गहरा परिणाम हमारे कृषि-उद्योग पर विपरीत दिशा में हुआ। इन नैसर्गिक आपदाओं में जन संख्या की वृद्धि पर लौह नियन्त्रण रहा तथा भारतीय कृषि-कलेवर अस्त-व्यस्त नहीं हुआ। सारांश में, सन् १८५७ के पूर्व भारतीय कृषि की अवस्था स्थिर एवं पिछड़ी हुई दशा की प्रतीक थी।

सन् १८५७ के बाद कृषि—

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक दस वर्षों में अर्थात् लार्ड डलहौजी के समय यातायात एवं संवादवाहन के साधनों में सुधार हुआ। इसका कारण १६ वीं शताब्दी में इङ्गलैंड के सभी क्षेत्रों में—औद्योगिक, कृषि एवं यातायात—क्रान्ति होना था, जिसका प्रसार क्रमशः अन्य देशों में हुआ। सन् १८४८ के पहिले लार्ड बेंटिंक ने अपने शासन-काल में उत्तरी भारत की सड़कों में सुधार किया, परन्तु यातायात एवं संवादवाहन में विशेष परिवर्तन लार्ड डलहौजी के शासन-काल (सन् १८४८ से १८५४) में ही हुए, जिनका प्रभाव कृषि-उद्योग पर भी पड़ा। इस अवधि में केवल सड़कों में ही सुधार एवं विकास नहीं हुआ, बल्कि डाकखानों का भी संगठन किया गया तथा तार व्यवस्था का आरम्भ हुआ। इसी प्रकार सड़कों के विकास एवं सुधार के लिये सार्वजनिक निर्माण विभाग (P. W. D.) भी स्थापित किया गया। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य

युद्ध (जिसको अँग्रेजो ने गदर कहा है) के कारण अँग्रेज शासको को देश में राजनैतिक सत्ता मजबूत रखने के लिए रेल के विस्तृत जाल की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप १६ वी शताब्दी के अन्त तक २५,००० मील रेल-मार्ग तथा १,७३,००० मील स्थल मार्ग बनाए गये, जिसमे ३७,००० मील पक्की सडके तथा १,३६,००० मील कच्ची सडकें थी। इसी प्रकार सन् १८६६ मे स्वेज नहर खुल जाने से भारत मे जहाजो एव बन्दरगाह की सुविधाओ मे भी सुधार हुआ।[1]

१६ वी अर्द्ध शताब्दी मे दूसरा उल्लेखनीय एव महत्वपूर्ण परिवर्तन देश की राजनैतिक सत्ता का ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हाथ मे केन्द्रित होना था। राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण एव यातायात सुविधाओ के सुधार तथा विकास के कारण देश में जनता और सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा हो गई। इन दो बातो के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था मे ऐसे शक्तिशाली घटको का प्रादुर्भाव हुआ, जिनसे हमारे कृषि उद्योग में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये।

यातायात के साधनो के विकास के कारण हमारा विदेशी व्यापार बढ गया। भारतीय कच्चे माल के लिए विदेशो से भी माँग आने लगी। व्यापार की वृद्धि के साथ ही रेल यातायात की सुविधाओ ने बगीचा उद्योग तथा बडे पैमाने के उद्योगो की आधुनिक ढग पर स्थापना होने मे बढावा दिया तथा भारत मे आधुनिक उद्योगो का विकास होने लगा। यातायात सुविधाओ के कारण गाँवो का एकाकीपन नष्ट हो गया, जिससे कृषि उत्पादन के मूल्यो मे होने वाले उतार-चढाव कम हो गये तथा विभिन्न बाजारो के मूल्यो में समानता रहने लगी।[2]

इस परिवर्तन का परिणाम कृषि के व्यवसायीकरण के रूप मे हुआ, क्योंकि यातायात के साधनो मे सुधार एव विकास के साथ भारतीय गाँवो की पृथक्ता नष्ट होकर उनका सम्बन्ध बाहरी विश्व से भी होने लगा। साथ ही व्यापारिक विस्तार के कारण बाजारो का भी विकास होने लगा। फलस्वरूप भारतीय किसान केवल खाद्यान्नो की ही उपज न करते हुए अन्य वस्तुओ की भी उपज करने लगे, जिनकी अन्य बाजारो मे माँग थी। इससे भारतीय कृषि उत्पादन लगभग विश्व के सभी देशो मे जाने लगा। कृषि के व्यवसायीकरण का दूसरा महत्वपूर्ण कारण था अमरीकी गृह युद्ध, जो सन् १८६३-६४ के लगभग हुआ। इस युद्ध से भारतीय किसानो को यह ज्ञात हुआ कि वे पश्चिमी बाजारो के कितने पास थे और इसी कारण उनको विदेशी बाजारो की महत्ता का ज्ञान हुआ।[3] अमरीकी गृह-युद्ध के कारण लकाशायर की कपड-मिलों को रुई मिलना बन्द हो गया, इसलिए वे भारत एव मिश्र पर रुई की पूर्ति के लिए निर्भर हो गई। फलस्वरूप भारत का रुई का निर्यात बढ गया तथा कीमतें ऊँची होने से भारतीय किसानों एव निर्यातकर्त्ताओ ने काफी लाभ कमाये। इस अवधि मे रुई की कीमत भी

1 Economic Development of India—Vera Anstey, p. 179.
2. V.W E Weld : India's Demand for Transportation.
3 D.R Gadgil-Industrial Evolution of India.

२'७ आने प्रति पौंड (सन् १८५६) से ११'५ आने प्रति पौंड (सन् १८६४) हो गई तथा रुई का निर्यात सन् १८५६ मे ५,०६,६६५ गांठो से बढकर सन् १८६४ में १३,६६,५१४ गांठ हो गया। इस परिस्थिति के कारण भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो में भूमि की उर्वरा शक्ति एवं जलवायु के अनुसार कृषि उपज का विशेषीकरण होने लगा, जिसका परिणाम कृषि-उद्योग की समृद्धि मे हुआ।

इसी प्रकार पजाब, उत्तर-प्रदेश तथा अन्य राज्यो मे सिचाई की स्थिति में सुधार होने के कारण कृषि भूमि का भी विस्तार हो गया तथा कृषि फसलो के विशेषीकरण को बढ़ावा मिला। उदाहरणार्थ, बम्बई तथा मध्य-प्रदेश मे रुई, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब मे गेहूँ आदि। इस प्रकार कृषि का विशेषीकरण हुआ तथा खाद्य फसलों के स्थान पर पटसन, गन्ना, तिलहन आदि औद्योगिक फसलो की उपज की खेती को अधिक महत्त्व दिया गया। सिचाई के साधनो की उन्नति के साथ इन फसलो की उपज बढने लगी।

1864

यातायात सुविधाओ के साथ प्रतियोगिता का बोलबाला हुआ। फलस्वरूप जहाँ कृषि उत्पादन एवं उसके वितरण पर अच्छे परिणाम हुए, वहाँ कृषि कलेवर को प्रतियोगिता के कारण गहरी चोट पहुँची, क्योकि प्रतियोगिता के कारण विदेशी (विशेषत: इङ्गलैंड की) यन्त्र निर्मित माल भारत आने लगा, जिससे प्रतियोगिता करने मे भारत के कुटीर-उद्योग असमर्थ थे। फलत: प्रतियोगिता एवं अन्य विदेशी प्रभावो के कारण यहा के कुटीर-उद्योगो की अवनति होने लगी, जिसमे किसानो के सहायक उद्योगो के नष्ट होने के साथ ही कृषि पर जन-सख्या का प्रभार बढने लगा, तथा कृषि सगठन का कलेवर बाधित हुआ। इसके अलावा नैसर्गिक अवरोधों (Positive Checks) की तीव्रता कम हो जाने के कारण जन संख्या में वृद्धि होने लगी। भारत में इस अवधि मे संगठित उद्योगों का विकास होते हुए भी उसमें अतिरिक्त एव विस्थापित जन संख्या को काम नही मिल सकता था। फलस्वरूप कृषि भूमि की तृष्णा बढ़ गई तथा किसान अपनी जीविका कमाने के हेतु कृषि-भूमि को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकने लगे।

भारतीय सरकार की कृषि नीति इस अवधि मे उपेक्षापूर्ण हो रही। हाँ, कृषि कार्यों की देख-रेख के लिए सन् १८७० में एक शाही कृषि विभाग (Imperial Department of Agriculture) खोला गया। यह सन् १८७८ मे बन्द कर दिया गया, जो सरकार की कृषि सम्बन्धी उपेक्षापूर्ण नीति का परिचायक है। इस विभाग को बन्द करने का प्रमुख कारण राज्य सरकारो के उचित सहयोग का अभाव था।

किसानों द्वारा कृषि योग्य भूमि की अनवरत मांग के कारण भूमि की कीमतें बढने लगी तथा जमींदारो की स्थिति मजबूत हो गई, जिन्होने इस परिस्थिति का अच्छा लाभ उठाया। लगान व्यवस्था मे भी शासको द्वारा ऐसे अनेक परिवर्तन किये

गये? जिनसे किसानो को किसी भी प्रकार का लाभ न होते हुए उनसे मध्यस्थ पनपने लगे और किसानों की आर्थिक दशा बिगड़ती गई।

कुटीर-उद्योगो की अवनति एवं अन्य उपरोक्त स्थिति का महत्वपूर्ण प्रभाव कृषि भूमि पर पड़ा, क्योंकि कुटीर-उद्योगों की विस्थापित जन सख्या के लिए कृषि के अलावा दूसरा कोई साधन न था। इसके अलावा भारतीय उत्तराधिकारी कानून भी दोषपूर्ण थे, जिससे कृषि भूमि का विभाजन टुकड़ो मे होता गया, जो इधर-उधर बिखरे हुए होते थे। फलस्वरूप ऐसे छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए खेतो पर खेती करना अनार्थिक हो गया।

अनार्थिक कृषि सगठन के कारण किसानो की निर्भरता साहूकारो पर बढ गई, क्योंकि उनकी उपज गिर गई। इससे कृषि उद्योग मे विशेष लाभ न रहा। फलतः उनको अपने कृषि कार्यों के लिए ही नही, अपितु अन्य कार्यों के लिए भी साहूकारो से ऋण लेने पड़े और साहूकार यह एक ऐसा भूत है, जिसकी छाया से बचना कठिन है। क्योंकि उसका मूलधन ब्याज के साथ बढता जाता है। इस प्रवृत्ति को सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वत्वो की मान्यता से बल मिला, क्योंकि कृषि भूमि का हस्तातरण किसी भी व्यक्ति को अबाधित हो सकता था।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से कृषि के व्यवसायीकरण मे किसानो को लाभ हुआ, यह कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव मे कृषि व्यवसायीकरण से बहुत कम लाभ हुआ, क्योंकि हमारे यहाँ की कृषि उपज की विक्रय प्रथा दोषपूर्ण थी और आज भी है तथा उसमे यातायात की कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि-भूमि का हस्तान्तरण किसानो से साहूकारो को हुआ, जो कृषि से अनभिज्ञ थे।

सन् १८७० से १८८० की अवधि में अनेक राज्य अकाल से पीड़ित रहे, जिससे कृषि व्यवसाय को गहरी चोट पहुँची। इस परिस्थिति की जांच के लिए सन् १८८० की अकाल जाच समिति ने सरकार से अनुरोध किया कि कृषि विभाग का कार्य पुनः प्रारम्भ किया जाय, परन्तु सन् १८८६ तक कृषि के सुधार के लिए कोई उल्लेखनीय सरकारी कार्यवाही नही की गई।[2] हाँ, किसानो की ऋण-ग्रस्तता को दूर करने तथा उनको स्थायी कृषि-सुधार के लिए भू सुधार कानून (Land Improvements Act, 1888) तथा कृषक ऋण-कानून (Agriculturist's Loans Act, 1884) से तकावी ऋणो की सुविधायें दी जाने लगी। परन्तु ऋण देने की ये प्रथायें इतनी दोषपूर्ण थीं कि इनसे किसानो को बहुत कम लाभ हुआ, क्योंकि इन ऋणो के सम्बन्ध में अनेक जिलो के किसानो को तो जानकारी भी नही दी गई थी। इस प्रकार सन् १८९५ तक किसानो की आर्थिक स्थिति में बहुत ही कम परिवर्तन हुए।

1. लगान व्यवस्था का विवेचन आगे किया गया है।
2. Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil.

कृषि परिवर्तन युग—

सन् १८९५ से सन् १९१४ के बीस वर्ष में कृषि अवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कारण इस युग को कृषि परिवर्तन युग (Transition in Agricultue) कहते हैं। इन परिवर्तनों का निश्चित विकास क्रम संक्षेप में देना कठिन है, परन्तु इस युग में निम्न प्रमुख परिवर्तन हुए :—

(१) फसलों को उगाते समय उनके व्यावसायिक महत्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

(२) किसानों को फसलों का व्यावसायिक महत्व अनुभव होते ही उन्होंने कृषि भूमि का खाद्यान्न एवं व्यावसायिक फसलें उगाने में उचित वितरण किया।

(३) किसानों की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ।

(४) यातायात साधनों के विकास के कारण किसानों को कृषि उत्पादन विभिन्न बाजारों में बेचना अधिक सुविधाजनक हो गया।

(५) इस अवधि में जन-संख्या में काफी वृद्धि हुई, परन्तु देश में ऐसे उद्योग-धन्धों की कमी थी, जिनसे इस जन संख्या को काम मिलता। फलतः जन-संख्या का प्रभार कृषि भूमि पर बढ़ गया तथा भूमि का छोटे छोटे एवं बिखरे हुए खेतों में विभाजन हो गया।

(६) कृषि भूमि की माँग बढ़ने के कारण कृषि भूमि की कीमतें बढ़ गईं तथा ऋण-ग्रस्तता के कारण उनका हस्तान्तरण गैर कृषिकों में हो गया। ये लोग इस भूमि को अनेक किसानों में खेती के लिए बाँटते थे, जिससे उन्हें अधिक लगान मिलता था।

(७) भारत प्रमुख रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया, क्योंकि जहाँ पहिले कच्चा माल केवल देशी कुटीर-धन्धों की पूर्ति के लिए ही उगाया जाता था, वहाँ कुटीर-उद्योगों की अवनति से तथा विदेशी सम्पर्क से वह निर्यात के लिए उगाया जाने लगा।

सन् १९१४ से सन् १९३९ तक कृषि की स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए, क्योंकि सन् १९१८-१९ के भीषण अकाल ने किसानों की कमर तोड़ दी और देश में खाद्यान्नों की कमी हो गई। सन् १९२०-२१ में गल्ले की कमी के कारण खाद्यान्नों की कीमतें बढ़ गईं। इसलिए सन् १९२७ तक लगभग कृषि उपज मूल्य ऊँचे ही रहे। सन् १९२७ में विनिमय दर में परिवर्तन से कृषि उपज कीमतें फिर गिरने लगीं तथा सन् १९२९ में आर्थिक मन्दी आ गई, जो सन् १९३१ तक रही। इस मन्दी में किसानों को भयङ्कर सङ्कट का सामना करना पड़ा और उनकी ऋण-ग्रस्तता बढ़ गई। यह स्थिति सन् १९३९ तक रही।

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तथा कृषि उपज के मूल्य बढ जाने से किसानो को काफी लाभ हुआ और उनका ऋण भार भी कम हो गया। सन् १६४३ से देश में अन्न धान्यो की कमी के कारण उपज बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनी, जिससे कृषि सुधार के लिए काफी प्रयत्न किए गए और आज भी देश को कच्चे औद्योगिक माल एवं खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाने के लिए राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। इससे सन् १६३६ के बाद औसत किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि १६ वी शताब्दी के अन्त तक कृषकों की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नही थी। किसानो की आर्थिक दशा गिरी हुई होने से तथा देश मे सस्ते दर पर समुचित परिमाण मे साख की सुविधा न होने से कृषि-उद्योग मे पूंजी विनियोग का स्तर नीचा रहा। इससे किसानो को सदैव समुचित सिंचाई के साधनो का अभाव ही रहा तथा वे भूमि पर स्थाई सुधार करने मे असमर्थ रहे। वर्षा की अनिश्चितता से भारत की कुल कृषि भूमि मे केवल १६% सिंचित भूमि होना हमारे कृषि उद्योग में पूंजी विनियोग के निम्न स्तर की ओर संकेत करता है। इसी दोष के कारण कृषि उद्योग एक अनिश्चित व्यवसाय है। पूंजी विनियोग के निम्न स्तर का दूसरा प्रभाव कृषि मे स्थायी सुधारो का अभाव है, जैसे—खेतो की सीमा-बद्धता तथा समुचित खाद का अभाव आदि। भारत की १६ वी शताब्दी की वन नीति का प्रमुख अङ्ग 'जङ्गल सफाई' (Deforestation) रहा है, *जिससे भूमि का कटाव होता है* तथा मरुभूमि पैदा होती है। इस अदूरदर्शी नीति के फल आज भी हमको स्पष्ट दिखाई देते है। तीसरे, पूंजी की कमी के कारण ही कृषि कार्यों की पद्धति एव यन्त्रो मे किसी भी प्रकार का सुधार नही हो सका, क्योकि किसान अपने सीमित साधनों से आधुनिक कृषि यन्त्रो को अपनाने मे असमर्थ था। पूंजी की कमी का चौथा प्रभाव हमारी पशु-सम्पत्ति पर हुआ। भारत मे जहाँ कृषि-शक्ति के लिए पशुओ का अधिक उपयोग होता है वहाँ उनकी नस्ल (Breed) सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न किसान स्वय नही कर सकता और न सरकार ने ही १६ वी शताब्दी में ऐसे कोई प्रयत्न किए। इस स्थिति मे किसान को विवश हो कर अपनी जीविका कमाने के लिए काम करना पडा, जिससे वह शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उत्साहहीन एव निराशावादी बन गया। ऐसी स्थितियो में कृषि भूमि मे विस्तार होते हुए भी यदि भारत की प्रति एकड़ उपज कम रही तो आश्चर्य नही, क्योकि यह परिस्थिति का दोष था किसान का नही।

योजना काल—

परन्तु आजकल भारत को राष्ट्रीय सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित हो रही है, उनसे कृषि का उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट प्रतीत होता है और हम कह सकते है कि कल का किसान वास्तव मे भारत का भाग्य विधाता होगा।

भारतीय कृषि की वर्तमान दशा—

भारत की ८२·८ प्रतिशत जन-संख्या प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर है, इसी से कृषि का महत्त्व स्पष्ट है। गाँवों में किसानों के अतिरिक्त खेत-मजदूर, बढ़ई, लुहार इत्यादि जो कारीगर हैं, खेती पर निर्भर रहते हैं। संसार में चीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में इतने अधिक मनुष्य खेती पर निर्भर नहीं हैं। यदि किसी वर्ष वर्षा की कमी से अथवा अन्य प्राकृतिक कारणों से फसलें नष्ट हो जाती हैं तो भारत का आर्थिक ढाँचा हिल जाता है। फसलों के नष्ट हो जाने से कृषि निर्यात कम हो जाते हैं। किसान के पास रुपया नहीं होता। इसी कारण वह विदेशों से आने वाला माल तथा भारतीय मिलों में तैयार माल को खरीद नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, भारतवर्ष का व्यापार कम हो जाता है और उद्योग-धन्धे शिथिल पड़ जाते हैं तथा सरकार को पूरी मालगुजारी नहीं मिलती। रेलों को कम माल ढोने के लिए मिलता है तथा किसान मेले और यात्राओं को कम जाते हैं, जिससे घाटा होता है। इससे स्पष्ट है कि देश का सम्पूर्ण ढाँचा खेती पर ही निर्भर है।

जिस उद्योग पर देश की लगभग तीन-चौथाई जन-संख्या निर्भर है, उसकी दशा अत्यन्त गिरी हुई है। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न फसलों की प्रति एकड़ पैदावार अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है।

सन् १६३० की मन्दी के अवसाद के पश्चात् तथा सन् १६३१ के पश्चात् जन-संख्या में वृद्धि के कारण देश में खाद्य-स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई थी। इसके पश्चात् ब्रह्मा के अलग हो जाने से यह समस्या और कठिन हो गई। द्वितीय महायुद्ध ने तो खाद्य-संकट ही उपस्थित कर दिया। फलस्वरूप लगातार १०-१२ साल तक देशवासियों को खाद्य-नियन्त्रण का सामना करना पड़ा और कई स्थानों पर तो दुर्भिक्ष की समस्या उत्पन्न हुई, किन्तु सम्भवतः विपत्तियों का अन्त नहीं हुआ था। देश के विभाजन ने देश की अर्थ-व्यवस्था की टाँग तोड़ दी, क्योंकि पंजाब और सिन्ध के उपजाऊ भाग पाकिस्तान में चले गये और विस्थापितों के कारण देश में खाद्य संकट आ गया। स्वतन्त्र भारत के सम्मुख इस क्षेत्र में एक विषम परिस्थिति थी, किन्तु भारत सरकार ने बड़ी सतर्कता तथा दूरदर्शिता से काम लिया। गत वर्षों में कृषि विकास के लिये निम्न कार्य हुये हैं, जिनका यथास्थान विवेचन होगा।

(१) प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंच-वर्षीय योजना—जिसके अन्तर्गत खाद्य-सामग्री तथा कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष जोर दिया गया है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कृषि के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी, खाद्यान्न एवं कच्चे माल के उत्पादन पर विशेष बल था। इसमें पर्याप्त सफलता मिली। फलस्वरूप भारत सरकार ने कृषि नीति सम्बन्धी नीति की घोषणा की, जो निम्न बातों पर आधारित है :—

(१) कृषि उपज के मूल्यों का समुचित स्तर बनाए रखना।

(२) कृषि उपज के हेतु विक्रय, भण्डार एवं साख सुविधाओं का आयोजन।

(३) भूमि सुधार जिसमे कृषि को अधिक कार्यक्षम बनाने का प्रलोभन एवं सामाजिक न्याय प्रदान करने की दृष्टि से कृषि उद्योग के पुनर्गठन का भी समावेश है।

इन उद्देश्यो को लेकर ही दूसरी योजना मे कृषि नियोजन का निम्न आधार अपनाया गया था :—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।

(२) अल्पकालीन एव दीर्घकालीन उत्पादन लक्ष्यो का निर्धारण।

(३) विकास कार्यक्रम एवं सरकारी सहायता को उत्पादन लक्ष्य एवं भूमि-उपयोग नियोजन के साथ सम्बन्धित करना, तथा

(४) समुचित मूल्य नीति का निर्धारण।

जहाँ प्रथम योजना मे खाद्यान्न एव उत्पादन पर विशेष बल दिया गया था वहाँ दूसरी योजना मे कृषि अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अङ्गो के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया है। इससे कृषि उद्योग सुदृढ आधार पर सगठित होकर बढती हुई जन सख्या एव औद्योगिक विकास के हेतु खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति करने मे सफल हो सकेगा।

(२) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—इस आन्दोलन का श्रीगणेश सन् १९४३ मे किया गया।[1] इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारो की निश्चित योजनाओ को सहायता दी गई। इनमें कुँए, तालाव, छोटे बाँध, नलकूप एव नहरो का निर्माण एवं दुरुस्ती, खाद एवं बीजो के वितरण का समावेश होता है। इसी दृष्टि से केन्द्रीय रसायनिक खाद्य कोष (Central fertilizer Pool) का निर्माण हुआ है, जहा से अमोनियम सल्फेट का समान कीमतो पर कृषकों को वितरण होता है।

(३) चावल उत्पादन का जापानी ढङ्ग—उक्त आन्दोलन के अन्तर्गत सन् १९५३ से चावल के हेतु जापानी पद्धति का उपयोग आरम्भ किया गया। फल-स्वरूप चावल का कृषि क्षेत्र सन् १९५३-५४ के ४'०२ लाख एकड से सन् १९५६-५७ मे २३'०४ लाख एकड तथा चावल प्रति एकड औसत उत्पादन १३'३३ मन से १९'०६ मन हो गया।[2]

(४) भूमि का कृपिकरण एव केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन (Tractorization)—बेकार एव काँसयुक्त भूमि का कृपिकरण करने के लिए केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन स्थापित हुआ, जिसके पास प्रारम्भिक अवस्था मे २०० ट्रैक्टर थे तथा सन् १९५१ मे २४० नए ट्रैक्टर खरीदे गये। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम पच-वर्षीय योजना मे १०'८४ लाख एकड भूमि का केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन द्वारा तथा १७ लाख एकड भूमि

१. देखिए 'खाद्य समस्या' अध्याय।

2. India—1958.

का राज्य ट्रैक्टर संगठनो द्वारा कृषिकरण किया गया। सन् १९५७-५८ के अन्त मे केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन द्वारा कुल १६ लाख एकड भूमि कृषि के अन्तर्गत लाई गई तथा आसाम और मध्य-प्रदेश में क्रमशः २,३८७ और २६,९८८ एकड भूमि जगल की सफाई की गई।

(५) भूदान एवं ग्रामदान आन्दोलन—अनुमान है कि देश में ४५ लाख भूमिहीन कृषि मजदूर हैं, जिनके लिए जमींदारी उन्मूलन के बाद भी कोई आशा किरण नही थी। इस हेतु आचार्य विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन आरम्भ किया और उसी का विस्तृत रूप ग्रामदान आन्दोलन है। इस कार्य मे विनोबाजी को काफी सफलता मिली है तथा इस आन्दोलन को शासकीय एवं राजनैतिक समर्थन भी है। क्योकि इस आन्दोलन मे राजनैतिक अखाडेबाजी के लिए कोई स्थान नही है। "ग्राम आन्दोलन के अन्तर्गत ४,३८० गाँव मिले हैं, जहाँ एक वर्गहीन, सजीव और सक्रिय लोकतन्त्र स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।"[१] इसी प्रकार भूदान आन्दोलन में दिसम्बर सन् १९५७ तक ४३,८१,८७१ एकड भूमि प्राप्त हुई, जिसमे से ६,५४,६४१ एकड भूमि का वितरण किया गया है।[२] इस आन्दोलन की सफलता इसी बात से प्रमाणित होती है कि सरकारी तौर पर ग्रामदान आन्दोलन तथा सामुदायिक विकास आन्दोलन को सम्बन्धित करने की योजना बन चुकी है, जो दूसरी योजना काल मे प्रयोगात्मक रूप मे कार्यान्वित हो रही है।[३]

(६) भूरक्षण (Soil Conservation)—भूमि के कटाव एवं रेगिस्तान के विस्तार की समस्या का हल करने के लिए भारत सरकार ने केन्द्रीय भूरक्षण सभा की स्थापना की है। इस सभा ने सन् १९५३ से भूमि-कटाव रोकने एव मिट्टी के पृथक्करण की समस्या (Soil analysis) के हल का कार्य आरम्भ किया। सभा के अन्तर्गत देहरादून, कोटा, बेल्लरी, उटकमण्ड तथा वसाड मे खोज, परीक्षण एवं प्रयोग केन्द्र हैं। इसके अलावा जोधपुर में रेगिस्तान जगलीकरण (Afforestation) स्टेशन है, जहाँ पर रेगिस्तान का प्रसार रोकने एवं भूमि-कटाव सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन होता है। सन् १९५६-५७ मे इसके अन्तर्गत प्रयोग एवं खोज के हेतु दो उप स्टेशन चण्डीगढ एवं आगरा में स्थापित किये गये हैं।

इन विविध प्रयत्नो से भारत का कृषि उद्योग क्रमशः उन्नति कर रहा है।

१. भूदान-यज्ञ : १८-७-५८, पृष्ठ ३।

२. भूदान-यज्ञ १४-३-५८, पृष्ठ ११।

३. येलवाल ग्रामदान सम्मेलन सितम्बर, १९५७ तथा सामुदायिक विकास सम्मेलन १५-१८ दिसम्बर, दिल्ली।

प्रमुख फसलों का कृषि क्षेत्र तथा उपज[1]

फसल	क्षेत्र हजार एकड	उपज हजार टन	क्षेत्र (हजार एकड)		उपज (हजार टन)	
	१९५८–५९	१९५८–५९	१९५१-५२	१९५६–५७	१९५१-५२	१९५६–५७
चावल	८१६	२९७·२	७३,७१३	७८,१७४	२०,९६४	२८,१४२
ज्वार	४२६	८६·९	३९,३९९	४१,३१४	५,९८१	७,४२७
बाजरा	२७९	३७·९	२३,५२२	२७,५४२	२,३०९	२,९२६
गेहूँ	३१०	९६·९	२३,४०४	३२,८९१	६,०८५	९,०६८
जौ	८२	२६·४	७,८०७	८,५९४	२,३३०	२,७४४
चना	२४८	६८·३	१६,८७६	२३,९९०	३,३३४	५,९३०
अन्य दालें	२४२	५३·८	२३,४७३	२७,६०९	३,१५१	३,४५८
अन्य धान्य	३८३	६७·६	३१,४०५	३२,८२३	७,०२०	८,९९१
कुल खाद्यान्न	२,७८६	७३५·०	२३९,५९९	२७२,९३७	५१,१७५	६८,६८६
रुई	१९८	८·२	१६,२०१	१९,८४३	३,१३३[2]	४,७२३[2]
पटसन	१८	९·२	१,९५१	१,८८३	४,६७८[3]	४,२२१[3]
चाय			७८२	७३८	६४१[4]	१,४७४
कॉफी			२३०	—	५५[4]	—
रबर			१४८	—	३२[4]	—

इस प्रकार कृषि-उत्पादन का सूचनाक जो सन् १९५५-५६ मे ११५·९ था वह सन् १९५६-५७ मे १२३·६ तथा सन् १९५८-५९ में १३१·० हो गया, जो कृषि की प्रगति का परिचायक है।

---

1. India 1958 & Commerce Annual number 1959.
2. In '000 bales of 392 lb. each.
3. In '000 bales of 400 lb. each.
4. In lakh lbs —is the production for the calander year.

भारतीय कृषि की समस्याएँ

(Agricultural Problems in India)

"भारतीय कृषि की समस्याओं का कारण कृषक का अज्ञान और निरक्षरता न होते हुए वे कठिन परिस्थितियाँ हैं जिनमें उसे अपना उद्योग करना पड़ता है। भारतीय कृषकों की कष्टमय स्थिति का कारण-स्वरूप कठिनाइयाँ हैं, मनोवैज्ञानिक नहीं।"

"भारत एक सम्पन्न देश है, जिसमें निर्धनता वास करती है।" यह कहावत भारत पर पूर्णतः लागू होती है। भारत की भूमि उपजाऊ है और जलवायु खेती के लिए अनुकूल होते हुये भी भारत में कृषि उद्योग की दशा अच्छी नहीं है। अन्य देशों की तुलना में यहाँ की प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है :—[1]

	गेहूँ	चावल	गन्ना	मक्का	कपास	तम्बाकू
अमरीका	८१२	२१८५	४७५३४	१५७६	२६६	८८२
जर्मनी	२०१७	—	७०३०२	२८२८	—	२१२७
इटली	१३८३	४५६८	—	२०५६	१७१	११४६
मिश्र	१६२८	२६६८	—	१८६१	५२५	—
जावा	—	—	४३२७०	—	—	—
जापान	१७१३	३४४४	—	१३२६	१५६	१६६५
चीन	९८९	२४३३	११६७०	१२८४	२०४	१२८८
भारत	६६०	२२४०	१४५८८	८०३	८६	९०७

भारत में प्रति एकड़ उपज ही अन्य देशों की तुलना में कम नहीं अपितु विभिन्न राज्यों की प्रति एकड़ उपज में भी भिन्नता है तथा प्रति वर्ष इसमें भिन्नता रहती है।[2]

उपज	मद्रास	बम्बई	मध्य-प्रदेश	बिहार	उत्तर-प्रदेश	बंगाल	पंजाब	भारत का औसत
गेहूँ		३८२	३९९	८२७	७१७	५६५	८०४	६२८
चावल	१०२३	८८७	५९६	६७१	५९२	८३०	५६५	७४८
मक्का	७७५	६३१	९९६	६२६	८७७	७२१	७८०	७२४
ज्वार	५४१	३४१	४९८	५६२	४८१	७०७	१९०	४३८
चना	४३१	३३१	३८५	७१७	६२६	५९४	४३०	५५५

1. Datar Singh—Indian Farming No. XI, 1951, Page 479.
2. Our Economic Problems—Wadia & Marchant, Page 209.

बीच अवसर दूसरे व्यक्तियों के खेत आ जाने से प्राय: लडाई-झगडे होते रहते हैं। कभी-कभी पडौसियों के पशु फसलो को रौंद डालते हैं। इन्ही कारणो मे गरीब किसान अपने खेतो से अच्छी फसल के रूप मे पूरा फायदा नही उठा सकता, अतः खेतो की फसल कम हो जाती है।

(२) कम आय—खेतो के छोटे होने के कारण किसानो की आय भी कम होती है। सेन्ट्रल बैंकिंग जांच कमेटी के अनुसार—"भारतीय किसान की औसत आमदनी लगभग ४२ रुपये प्रति वर्ष है। फलस्वरूप उसे अपनी जमीन और घर वार बेचने के लिए बाध्य होना पडता है। इसी कारण अच्छी फसल होने पर भी किसान ऋण ग्रस्त रहते है।" सरकारी रिपोर्टों के अनुसार सन् १९११ में किसानो पर कुल कर्जा ३०० करोड रुपये, सन् १९२९ में ५३३ करोड रु०, सन् १९३१ मे ९०० करोड रुपये और सन् १९३७ मे यह १,००० करोड रुपये तक बढ गया था। इस प्रकार उसका कर्ज बराबर बढता ही गया। ऋण का बोझ लदा हुआ होने के कारण किसान जब ऋण चुकाने मे असमर्थ हो जाता है तो उसे साहूकार के यहाँ गुलामी की जिन्दगी बितानी पडती है। बम्बई, मद्रास, बिहार, उडीसा और आसाम मे इस तरह की गुलामी प्रथा मौजूद है।

वास्तव मे भारतीय किसान इसलिये खेती नही करता कि उसे कुछ आर्थिक लाभ हो, बल्कि इसलिये कि उसे पेट भर भोजन मिल सके। खेती से मिलने वाली आमदनी प्रति व्यक्ति बहुत कम है। भारतीय किसान की वार्षिक आय सन् १९३१-३२ में ५१), सन् १९३७–३८ में ४७) और सन् १९४२–४३ मे ९१) थी, किन्तु यह आय विदेशी किसानो के मुकाबले मे (जो ९५ पौण्ड = १,४२५ रु०) बिलकुल नगण्य सी प्रतीत होती है। भारतीय किसान प्रति एकड से बहुत ही कम आय प्राप्त करता है। औसत रूप से एक एकड से उसे ३) रु० मिलते हैं, जबकि बेल्जियम, नीदरलैंड, स्विटजरलैंड आदि देशो मे १२ पौंड से १५ पौड, डेनमार्क मे ९ से १२ पौंड, जर्मनी, फ्रास और इङ्गलैंड मे ६ से ९ पौंड तथा रूमानिया, अलबेनिया और यूगोस्लेवेकिया मे ३ पौड आमदनी होती है। इतनी कम आमदनी वाले किसान से यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी खेती में सुधार करने की कोशिश करे। भला जब किसान अपना पेट नही भर सकता तो खेतो को किस प्रकार सवॅरा बना सकता है। इसलिए सबसे पहले उसकी आर्थिक दशा और रहन-सहन के दर्जे को सुधारा जाय तो स्वय ही खेती की दशा सुधर जावेगी।

(३) कृषक की ऋणग्रस्तता—कर्ज बढने का एक मुख्य कारण यह भी है कि भारत के किसानो को खेती के लिए वर्षा पर निर्भर रहना पडता है। कभी अत्यधिक वर्षा के कारण या बाढ आ जाने से खेती नष्ट हो जाती है, तो कभी उसके बैल मर जाते है या अनाज की दर गिर जाने से उसे हानि होती है। कभी-कभी उसे अपने बाल बच्चों की शादी के लिए साहूकार से अधिक ब्याज पर रुपया कर्ज पर लेना पड़ता है। कभी त्योहारो पर या मौत पर अपने पुरखो का श्राद्ध, कथा अथवा अन्य

धार्मिक कार्यों के लिए उसे रुपयों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में उसे अपना खेत गिरवी रख कर कर्ज पर रुपया लेना पड़ता है। इस प्रकार किसान की गाढ़ी कमाई का रुपया जमींदार और साहूकार खा जाते हैं तथा कुछ वकीलों की जेबों में भी पहुँच जाता है। जैसे—जमींदार ८%, वकील आदि १%, साहूकार ५८% रैयत, ३२%।

जहाँ एक बार ऋण लेना शुरू हुआ कि वह पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। सन् १९२६ के कृषि कमीशन के शब्दों में—"भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है और ऋण में ही मरता है तथा ऋण को भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ जाता है। यह ऋण पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही रहता है।" गरीबी और ऋण-ग्रस्तता के कारण किसान अपने खेतों की भली प्रकार सेवा नहीं कर सकता और न वह खेतों की पैदावार बढ़ाने के लिए ही कुछ कर सकता है, जिससे खेतों की पैदावार दिन प्रति दिन कम होती जा रही है।

(४) खेतों को पर्याप्त वनस्पति खाद नहीं मिलती—भारत की भूमि की उर्वरा-शक्ति बिलकुल ही गिर गई है। इसका मुख्य कारण वनस्पति खाद की कमी है। कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिकों का मत है कि यहाँ की भूमि की उत्पादन शक्ति इतनी गिर गई है कि इसमें अधिक अब गिर भी नहीं सकती। जब कोई फसल किसी भूमि में बोई जाती है तो वह उस भूमि से कुछ निश्चित अंश खींच लेती है, जैसे—नाइट्रोजन या लवण आदि। भूमि में इन अंशों की कमी होने से उसकी उर्वरा-शक्ति कम हो जाती है, इसलिए इस क्षति की पूर्ति करने के लिये खाद की आवश्यकता है। जितनी पुरानी भूमि है, उतनी ही उसमें अधिक खाद देना आवश्यक है, जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़े। कभी-कभी तो उत्तम खाद से ५% उत्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। गहरी खेती में तथा एक भूमि में एक ही वर्ष में कई फसलें उत्पन्न करने के लिये खाद देना आवश्यक हो जाता है। भारत के कई स्थानों में तो तीन फसलें उगाई जाती हैं, जहाँ खाद देना आवश्यक होता है।

खाद कई प्रकार की होती है :– गोबर, कम्पोस्ट, मल-मूत्र, खली, रसायनिक एवं हरी खाद। भारत में ये सभी प्रकार की खादें उपलब्ध हैं, परन्तु उनका सदुपयोग नहीं होता। क्योंकि खाद देने का तरीका ठीक नहीं है। साधारणतः खाद का ढेर खेतों में कर दिया जाता है, जिसका ३३%, अंश वर्षा, हवा एवं धूप से नष्ट हो जाता है। फलतः अन्न और धन का अप-व्यय होता है।

गोबर अथवा पशुओं का मल-मूत्र एक मौलिक खाद है, जिसे ईंधन की कमी के कारण जला दिया जाता है। डॉ० वाल्कर के अनुसार—"कुल गोबर का ४०% खाद देने में, ४०% जलाने में तथा २०% अनुचित तरीके से नष्ट होने में काम आता है।" पशुओं का मूत्र तो साधारणतः व्यर्थ ही जाता है, क्योंकि उसके उपयोग के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं होता।

चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन और जापान मे जो किया जाता है वह भारतीय किसानों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। वहाँ खाद की कमी को पूर्ण करने के हेतु—पेड पौधों की पत्तियाँ, उनकी शाखायें, घास, चिथडे, अन्य सडे गले पदार्थ, राख, चूना आदि सभी प्राप्य वस्तुयें खाद बनाने के काम मे लाई जाती है। भारत मे भी इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए कि जो खाद बनाई जावे उसका वितरण म्युनिसपैल्टियो, ग्राम पचायतो और सरकारी समितियो द्वारा हो।

कृषि के लिए उन्नत किस्मो की फसलो को अपनाना चाहिए। उदाहरण के लिए, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियाँ निकाली गई हैं, जो बीमारियों, पशुओ, अनावृष्टि अथवा सर्दी के कोहरे के अन्तर से मुक्त हैं। इस उन्नत जाति के बोने मे वहाँ पिछले ४ वर्षों मे (सन् १६४२-४६) ८,००० लाख टन बुशल की वृद्धि हुई है। सर रसल का कहना है कि उन्नत बीजो द्वारा पैदावार मे कम मे कम ६० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। भारत मे गेहूँ, गन्ना, चावल और कपास की कुछ सुप्रसिद्ध उन्नत जातियो को विस्तृत रूप से सफलतापूर्वक अपनाना भी यह प्रकट करता है कि अन्य फसलो मे भी इस प्रकार के परिवर्तनो की सम्भावनायें हैं।

विशेष जाति का चुनाव करते समय केवल उपज प्राप्ति का ही नही बल्कि रोग, अनावृष्टि तथा बाढ सहन करने की प्रवृत्तियो पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा अनुमान है कि उन्नत जाति के बीजो को बोने से गेहूँ, चावल व जूट की पैदावार मे औसतन २ मन की वृद्धि हुई है। इस प्रकार ज्वार व बाजरा मे १ मन, मूगफली मे १·७५ मन, बिनौला मे ०·५ मन तथा गन्ने मे २०० मन की वृद्धि हुई है।

कीड़ों व पशुओं से फसल का बचाव—

वर्तमान समय मे अनेकानेक कीडों, चिडियो, टिड्डियो, दीमक अथवा पशुओ द्वारा भी हमारी फसल मे कमी हो रही है, अतः इनको रोकने के उपाय होना आवश्यक है। दीमक आदि कीडो को रोकने के लिए खेतो मे फसलो को हेर-फेर के साथ बोया जाय अथवा गहरे हल चला कर व्यर्थ घास-फूस को खेतो से निकाल दिया जाय। पानी के लिए उपयुक्त नालियाँ बनाई जायें और जो पौधे सूख जायें उन्हे शीघ्र ही हटा दिया जाय। फसलो को जगली पशुओ से बचाने के लिए खेत के चारों ओर कटीले तारों की मजबूत बाढ लगाई जावे, परन्तु रात मे फसलो की रखवाली करना भी जरूरी है। फसलों में कब कीडे लगते हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, इसके लिए देख-रेख आन्दोलन चालू किया जाय, जो समय-समय पर किसानों को इससे सूचित करते रहे। इन कार्यों से फसल की सुरक्षा होकर उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी।

आस-पास के लगे हुए खेतो के किसान आपस मे मिलकर सम्मिलित खेती करें तो औजार, पशु आदि के खर्च मे कमी आ जायगी तथा इस बचे हुए धन को भूमि के सुधार मे लगाया जा सकता है।

बरसात का पानी धीरे-धीरे खेतों को काटता रहता है। पश्चिमी बंगाल तथा उत्तर-प्रदेश मे तो लाखो एकड भूमि नदियो के कटाव के कारण नष्ट हो गई है। पानी के बहाव का भी ठीक प्रबन्ध नही होता है और किसी-किसी स्थान पर पानी रुक कर दल दल हो जाती है। खेतो पर इमारतें नही बनाई जाती, जिससे बहुत हानि होती है।

(६) खेती के पुराने तरीके – किसान परम्परागत ढग से खेती करता है और जो नये तरीके है, उनको निर्धनता, अज्ञान के कारण नही अपनाता। खेत जोतने के लिए लकडी के हल का प्रयोग किया जाता है, जिसमे लोहे का फल लगा रहता है। इससे केवल ७''—८'' जमीन खुदती है। खेत बराबर करने के लिए लकडी का पटरा होता है तथा बीज या तो छिडक दिए जाते हैं या जुताई के साथ-साथ डाल दिए जाते हैं। 'सीडड्रिल' या 'सीडहोवम' यन्त्रों का प्रयोग बहुत कम होता है। निराई तथा गुडाई के लिए खुरपी ही काम मे लाई जाती है। काटने मे भी किसी मशीन का प्रयोग नही किया जाता, बल्कि हँसिया से फसल काटी जाती है। पशुओ द्वारा खलिहान माँडा जाता है और हवा मे उडा कर भूसा अलग निकाला जाता है। थ्रेशर्स (Threshers), विनोवर (Winnower) आदि का प्रयोग नही होता। इस प्रकार उसके सब यन्त्र पुराने हैं। नये यन्त्रो के प्रयोग से, जैसे—हल, पानी खींचने के पम्प आदि से कार्य-कुशलता अधिक बढ सकती है।

(७) उत्तम बीजों की कमी—किसान उत्तम बीजो का प्रयोग नही करता और बहुधा उसको मिलता भी नही है। वह गाँवो के बनियो या महाजनो से बीज लेता है, जो अच्छा नही होता, जबकि अच्छी उपज के लिए अच्छा, मोटा तथा स्वस्थ बीज आवश्यक है। परन्तु भारत के कुछ ही राज्यो मे प्रगतिशील बीजो का प्रयोग १५% से अधिक नही है।[1] अच्छे बीजो का उपयोग बढाने के लिए भारत सरकार ने सन् सन् १९५७ ५८ मे २·०३ करोड रु० की आर्थिक सहायता तथा १·२४ करोड रु० का ऋण विभिन्न राज्यो में २५-२५ एकड के १,४१६ बीज फार्मों की स्थापना के लिए स्वीकृत किया। इसके साथ ही संघ-प्रदेशो (Union Territories) मे १२ बीज फार्मों की स्थापना के लिए ३·८० लाख रुपए स्वीकृत किए,[2] जिससे अच्छी किस्म का बीज पर्याप्त मात्रा में वितरण के लिए उपलब्ध हो सके।

भारतीय कृषक बीजो के सम्बन्ध मे भी बेफिकर है और वह अच्छे बीजो को रखने के लिए प्रयत्नशील नही है। वास्तव मे परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पडता है और फिर उसे महाजनो या बनियो से ऊँचे दाम पर अच्छे किस्म का बीज नही मिलता, जिसका परिणाम फसलों पर होता है।

---

1. देखिये Grow More Food Enquiry Committee Report (1952) p. 127.

1. India 1958.

(८) पशुओं की दशा—यद्यपि भारतीय कृषि मे गाय और बैल का बहुत अधिक महत्त्व है। उनके बिना खेतो की जुताई नही हो सकती, कुंओ से सिंचाई नही हो सकती और न फसलों के भण्डार ही भरे जा सकते है और न हमारे भोजन के लिए दूध जैसा पौष्टिक पदार्थ ही मिल सकता है। किन्तु फिर भी हमारे यहाँ पशुओं की दशा अच्छी नही है। समस्त भारत मे २६१ करोड पशु हैं। इनमे से आधे प्रायः गिरी हुई हालत मे हैं, जो खेती को किसी प्रकार की सहायता नही पहुँचा सकते।

पशुओ की खराब अवस्था होने का मुख्य कारण चरागाहो की लापरवाही, दोषपूर्ण जनन (Breeding), किसानो की निर्धनता एव अशिक्षा है। उदाहरणार्थ, उत्तर-प्रदेश मे जगलो को काट कर पहाडियो पर भी खेत बनाये गये है। चरागाहो के ठीक न होने से पशुओ की कमी होती जा रही है। इसके अलावा कृषि भी ऐसी की जाती है जिससे भूसा आदि अधिक नही मिलता, ताकि पशुओ की वृद्धि हो सके। साधारणतया चरागाहो मे ५ महीने पशुओ की चराई हो सकती है। इसी तरह बंगाल मे प्रायः सभी स्थानो पर रास्तो के किनारे, तालाबो के आस पास, खेतो की मेडो पर ही पशु अपनी गुजर कर सकते है। जमीन का कोई भी भाग ऐसा नही है, जो कृषि के उपयोग मे न लाया गया हो। फसल काटने के वक्त कुछ समय के लिए अवश्य उन्हें खाने को मिल जाता है, किन्तु बाकी समय मे उनका कुछ भी प्रबन्ध नही होता। परिणामस्वरूप पशुओ की दशा गिरती जा रही है।

चारे की कमी के कारण पशुओ की नस्ल भी बहुत खराब है, क्योंकि हमारे शहरो व गाँवो मे जो बेकार तथा खराब जाति के साड घूमा करते है, उनसे ही सन्तानोत्पत्ति होती है। फलस्वरूप नई नस्लें बिगड़ती जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें पशुओ की बीमारी भी सहायक होती है। इन्ही कारणो से हमारे पशु खेती के कार्यों के लिए पूर्ण रूप से लाभदायक सिद्ध नही होते। इसीलिए भारत मे पशुओ की प्रति १०० एकड सख्या ६५ है, जबकि हॉलैंड मे यही सख्या ३८, मिश्र मे २५ है।

(९) जन-सख्या मे वृद्धि, और बोई हुई भूमि मे कमी—भारत की जन-सख्या बडे वेग से बढ रही है, अतएव जब तक इस पर रोक थाम न हो, तब तक हिन्दुस्तान की खाद्य-समस्या हल नही हो सकती। सच बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा सभी देशो की जन-सख्या मे काफी वृद्धि हुई है, लेकिन साथ ही उन देशो में खाद्य-सामग्री का उत्पादन भी बढा है। उत्पादन ही क्यो, बल्कि इन देशो मे शक्ति को संचित रखते हुए थोडी मेहनत से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के साधनो मे भी उन्नति हुई है। निम्न आकडो मे स्पष्ट है कि भारत के किसानो के पास जमीन कितनी कम है :—

देश	जन सख्या लाख	फसल का क्षेत्रफल (लाख एकड)	प्रति मनुष्य पीछे भूमि का हिस्सा (एकड)
जापान	६६०·३०	२३०·६०	०·३६
चीन	४,५००·०	२,०६०·०	०·४४

भारतवर्ष	३,५६६·०	३,०२५·१०	१·२
सोवियत रूस	१,६५०·०	७,०००·०	४·२
अमेरिका	१,२५०·०	४,१३०·२०	३·३
कनाडा	१००·३०	३,०००·०	२·८६

किन्तु नीचे की तालिका से स्पष्ट है कि भारत की जन-सख्या की वृद्धि के साथ साथ उत्पादन कम होता गया :—

वर्ष	जन-सख्या (लाख)	क्षेत्रफल (लाख एकड)	प्रति व्यक्ति बोया गया (क्षेत्रफल)	अनाज (लाख टन)
१६११-१२	२,३६०·६	१,५००·५०	०·६	—
१६२१-२२	२,३३०·६	१,५८०·६०	०·८८	५४०·३०
१६३१-३२	२,५६०·८	१,५६०·६०	०·८२	५००·१०
१६४१-४२	२,६५०·८	१,५६०·५०	०·७२	४५०·७०
१६५१*	३,५६८·२	१,२६६·६४	०·३५	५१२·००

यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर तो कुल कृषि भूमि के साथ खाद्यान्न के अन्तर्गत कृषि भूमि का अनुपात तो कम हो रहा है और व्यापारिक फसलो के उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि हो रही है।

(१०) सहायक उद्योग-धन्धों की नितान्त कमी—भारत मे ऐसे व्यक्ति अधिक है, जो बिना जमीन के हैं और जो मेहनत-मजदूरी करके पेट पालते हैं। उन्हे खेतों मे काम साल के कुछ ही महीनो मे, जब फसलें बोई और काटी जाती हैं, मिलता है। बाकी वर्ष के अन्य समय मे वे बिल्कुल बेकार रहते है, क्योंकि कृषि के साथ साथ चलने वाले धन्धो की बडी कमी है। फलतः यह समय वे मजदूर व्यर्थ में खो देते हैं। फसल नष्ट होने या ओले पडने या अकाल होने पर तो इनकी दशा और भी बुरी हो जाती है, क्योंकि खेतो मे पूरे साल भर भी इनको यथेष्ट काम नही मिल सकता। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—"उत्तरी भारत मे केवल २०० दिन के लिए खेतो मे काम मिलता है।" डा० स्लैटर के मतानुसार—"साल भर में केवल ५ महीने ही मद्रासी काश्तकार खेती मे लगे रहते है।" मेजर जैक के कथनानुसार—"बंगाल मे जब किसान जूट नही बोता है तब वह ६ महीने फालतू रहता है, किन्तु अगर वे जूट और चावल बो देते है तो उन्हे जुलाई और अगस्त मे ६ सप्ताह के लिए और कार्य मिल जाता है।" श्री कीटिंग का कहना है—"दक्षिण बम्बई में १८०-१६० रोज के लिए खेतो मे अधिक कार्य रहता है।" पंजाब में श्री कैलवर्ट के अनुसार—"साल भर में सिर्फ १५० दिन का ही काम रहता है।" रॉयल कृषि कमीशन (सन् १६२८) के अनुसार किसानो को साल भर मे ४ महीने तक कोई काम नही रहता।

* सन् १६५१ के पूर्व के अङ्कों में पाकिस्तान के आँकड़े भी सम्मिलित हैं।

वे इस समय को व्यर्थ ही शादियो, झगड़ो और आलस्य मे गवां देते हैं, अतः भूमि पर और भी अधिक भार बढ जाता है।

(११) फसल के रोग और शत्रु—यदि खेत अच्छी तरह से न जोता जाय, अच्छी खाद न डाली जावे या कम खाद डाली जावे, आवश्यकता से अधिक या कम पानी दिया जावे तो फसल निर्बल हो जाती है और उसमे कीडे लग जाते हैं। उदाहरण के लिए, चावल मे फूट रॉट (Foot rot) और ब्लास्ट (Blast) कीडे, गन्ने मे मोसेक (Mosaic) और रेड रॉट (Red rot), मक्ई में स्मट्स (Smuts), मूंगफली मे विल्ट (Wilt) आदि। इन कीडो से फसल को बडा नुकसान होता है। एक जगह फसल मे कीडे लग जाने से अन्य स्थानो की फसल पर भी प्रभाव पडता है। ये कीडे पौधो की जडो से मिलने वाले भोजन को खा जाते हैं, जिससे पौधा अच्छी तरह नही बढ पाता। कई प्रकार के अन्य कीडे, जैसे - टिड्डियाँ, घास टिड्डे (Grass Hoppers), छोटे-छोटे चीटे तथा दीमक आदि भी फसल को समूचा ही नष्ट कर देते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि कीडे समस्त पृथ्वी की दस प्रतिशत फसलो को नष्ट कर देते हैं। केवल भारत मे ऐसी हानि सन् १९२१ मे १३,६०,००,००० पौंड की कूती गई थी।

कहीं-कहीं बन्दर, सूअर, गीदड, चूहे तथा जगली जानवर भी खेतो को बहुत हानि पहुचाते हैं। रॉयल कमीशन के अनुसार बम्बई प्रान्त मे इनसे प्रति वर्ष ७२० लाख रुपये का नुकसान होता है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे यह नुकसान और भी अधिक होता है। परीक्षा से मालूम हुआ है कि एक चूहा साल मे ६ पौंड अनाज नष्ट करता है और भारत में कुल ८० करोड चूहे माने जाते हैं। अतः उनसे एक वर्ष मे २२ करोड रुपये की हानि होती है। फसलो के इन शत्रुओ से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि खेतो मे बाडे लगाई जावें और कीटाणुनाशक द्रव्यो का उपयोग किया जाय।

(१२) प्राकृतिक कारण—भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है, अतः जिस वर्ष मानसून ठीक समय पर नहीं आते तो हमारे कृषि कार्य बिल्कुल रुक जाते हैं और कभी-कभी तो अकाल पड जाता है। अनुमान है कि प्रति पाँच वर्ष मे एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और तीन अनिश्चित वर्ष होते हैं। अतः हमारी फसलें कभी तो अच्छी और कभी औसत से भी कम होती है। कई बार अधिक वर्षा होने, असामयिक वर्षा होने, ओले गिरने या बाढ आने के कारण भी फसलें नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में किसान के लिए अधिक ब्याज पर ऋण लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नही होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमको सन् १९५८ की वर्षा से मिलता है, जिसमे फसलो को अत्यधिक हानि हुई है।

(१३) पर्याप्त सिंचाई सुविधाओं का अभाव—भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर रहती है, अतः मानसून का कृषि कार्यों मे विशेष महत्त्व है। अच्छे वर्ष में पानी

की विशेष आवश्यकता नही होती, किन्तु सूखे समय में सिंचाई आवश्यक हो जाती है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार भारत मे लगभग ५६·३ मिलियन एकड़ भूमि मे ५०% नहरो, से २५% कुओं से, १५% तालाबों से और १०% अन्य साधनो से सिंचाई होती है। यद्यपि भारत मे सिंचाई का क्षेत्रफल ५६३ लाख एकड भूमि है, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस में ८० लाख, जापान मे ७० लाख, मिश्र में ६० लाख, मेक्सिको में ५७ लाख और इटली में ४०·५ लाख एकड़ भूमि है। फिर भी यह मात्रा हमारे लिये पर्याप्त नही है, अतः देश के विभिन्न भागो मे ठीक समय पर फसलो को पानी न मिलने से प्रायः एक न एक फसल नष्ट होकर खाद्यान्नो की कमी हो जाती है।

(१४) क्रय-विक्रय की असुविधायें—साधारणतः खेती की पैदावार देश मे ही खप जाती है, क्योंकि अभी तक हमारे यहाँ खेती व्यावसायिक पैमाने पर नहीं होती। इसके अलावा हमारे यहाँ अन्य देशो की तरह मिश्रित खेती भी नही होती, ताकि कई तरह की पैदावार मिल सकें। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नही कि बड़ी मात्रा मे कृषि उत्पादन विदेशो को भेजे जा सकें। मोटे रूप में हमारे यहाँ पैदा होने वाली चाय और कॉफी का तीन-चौथाई भाग, कपास का दो-तिहाई भाग, जूट का एक-तिहाई भाग, अलसी का आधा भाग और मूँगफली का पाँचवा भाग विदेशों को निर्यात होता है। आम तौर पर किसान अपने खाने के लिए रखकर बाकी पदार्थों को अपने पुराने कर्ज चुकाने, लगान देने तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए बेच देते हैं। यही अतिरिक्त पदार्थ नगर-वासियो का भरण-पोषण करते हैं।

भारत का कृषि उद्योग ऐसे करोडो व्यक्तियो के हाथ मे है, जिन्हें न तो इस बात की शिक्षा ही मिली है कि अच्छे ढग से और सुचारु रूप से विशेष लाभ के लिए किस प्रकार उत्पादन किया जाय और न वे अपनी दरिद्रता के कारण खेती सम्बन्धी वैज्ञानिक तरीको, सूचनाओं तथा वस्तुओं के भाव-ताव सम्बन्धी बातों से ही परिचित होते है। फलतः किसान के अज्ञान का लाभ व्यापारी उठाते हैं। हमारे निर्यात व्यापार मे इतने अधिक दलालो का हाथ रहता है कि वे किसान से मनमाना फायदा उठाते हैं। गरीब किसान अपने खेतों और गिरी हुई आर्थिक अवस्था के कारण इतना अधिक उपज नही कर पाता कि वह बड़ी-बड़ी मण्डियो मे जाकर अच्छे भाव पर बेच सके। दलालो की अधिकता और माल बेचने में कई अस्वस्थ तरीकों का प्रयोग होने से गरीब किसान को अपने एक रुपये की फसल मे से सिर्फ नौ आने ही मिल पाते हैं और बाकी रुपया दलालो, तुलावटियों, धर्मादा, पल्लेदारो, म्यूनिसिपल टैक्स आदि खर्चों में ही समाप्त हो जाता है। विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश व पंजाब मे अधिकतर माल इन दलालो की सहायता से बेचा जाता है। कभी-कभी तो महाजन किसानों को इस शर्त पर रुपया देते है कि फसल पकने पर उनको ही बेची जायेगी।

इस प्रकार के कार्यों मे गरीब किसान को आर्थिक नुकसान बहुत होता है, क्योकि उसे अपनी फसल का पूरा लाभ नही मिलता। इसका मुख्य कारण माल बेचने की पर्याप्त सुविधाओं का न होना है। बाजारों मे कई प्रकार के बाँट काम मे लाये जाते हैं। कभी-कभी तो खरीदने और बेचने के बाँट भी अलग-अलग होते हैं। इसके अलावा किसान से माल खरीदते समय कई प्रकार की कटौतियाँ की जाती हैं, जैसे—तुलाई, बिनाई, पल्लेदारी, धर्मादा, खाता दलाली, आढ़त, करदा आदि। इनके अलावा चौकीदार, भगी, मुनीम, भिश्ती, आदि सभी को इसमें से कुछ न कुछ चुकाना पड़ता है। फलतः किसानो को काफी हानि होती है और उसकी उपज का ४२·३ से ५७·७ प्रतिशत दलालो और आढ़तियो की जेब मे चला जाता है। १ अक्टूबर सन् १६५८ से बाँटो की नई प्रणाली लागू की गई है, इसका सभी क्षेत्रो मे उपयोग होने पर ऐसी आशा है कि नापतोल की सभी असुविधायें दूर हो जावेंगी।

(१५) कृषि पूँजी का अभाव—कृषक के पास कृषि मे विनियोग के लिए पर्याप्त पूँजी नही होती। इस कारण वह खेतो के लिए खाद नही खरीद सकता है और न पशुओ को खिला-पिला ही सकता है। सिंचाई के लिये पानी प्राप्त नही कर सकता है और न अधिक उपयोगी कीमती औजार ही खरीद सकता है। भारतीय किसान विस्तृत खेती करता है। चीन और जापान के किसानो की तरह गहरी खेती नही कर सकता। इन कारणो से भारत मे खेती की औसत उपज कम है।

(१६) भारतीय किसान साधक या बाधक—भारत मे कृषि की अवनत अवस्था के कारण कृषक की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ लोग इसका मुख्य कारण किसान को मानते हैं। भारतीय किसान को मूर्ख, अपने धन्धे के विषय मे कुछ भी न जानने वाला और अत्यन्त रूढ़िवादी कहा जाता है। आरम्भ मे कृषि-विभाग भी समझता था कि भारतीय किसान खेती करना नही जानता, किन्तु सर्वप्रथम कृषि विशेषज्ञ डा० वोयेल्कर ने भारतीय किसान की प्रशसा करते हुए कहा—"भारतीय किसान खेती के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान रखता है और जिन विपरीत परिस्थितियो मे उसे उद्योग चलाना पड रहा है, उनको देखते हुए वह श्रेष्ठ किसान है। भारत का किसान ब्रिटेन के किसान की बराबरी नही करता, किन्तु वह उससे कुछ बातो में बढ जाता है। उनका कहना है कि उन्होने भारत जैसा मेहनती और होशियार किसान नहीं देखा, जो इतनी लगन और सावधानी से खेती करता हो।" क्रमशः अब तो कृषि-विभाग के अधिकारी भी इस बात को मानने लगे हैं कि भारतीय किसान को साधारणतः खेती बारी के सम्बन्ध में कुछ और नही सीखना, परन्तु वैज्ञानिक खेती के लिए उसे कुछ नई आवश्यक बातें अवश्य सीखनी होगी।

उत्तम बीज, खाद, हल, बैल, गहरी जुताई और चकबन्दी के लाभ को वह न जानता हो, यह बात नही है, किन्तु जिस निर्धनता और उपेक्षा के वातावरण मे वह जीवन व्यतीत कर रहा है, उसमे वह खेती की उन्नति नही कर सकता। इन विषम

परिस्थितियों के कारण वह निराशावादी और भाग्यवादी हो जाता है। फिर भी जिस सहनशीलता और लगन का वह परिचय देता है, वह केवल सराहनीय ही नहीं अपितु इस बात की सूचक है कि पूर्ण सुविधाएं होने पर वह अन्य देशों की तुलना में भी सफल हो सकता है।

यह सर्व विदित है कि आज का किसान सर्वथा अपढ़ और अशिक्षित है तथा उसके खेती करने का ढंग अत्यन्त पुराना है। वह सफाई की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। फलस्वरूप वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है तथा उनसे ग्रसित होकर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर लेता है और उसकी कार्यशक्ति में बहुत कमी आ जाती है।

समस्या का हल—

संयुक्त-राष्ट्र-संघ (U.N.O) के कृषि और खाद्य विभाग के (F.A.O.) डाइरेक्टर श्री एन० सी० डॉड ने भारत की कृषि उन्नति के लिए निम्न सुझाव दिये हैं:—जंगलों को काटने की प्रणाली पर कड़ा नियन्त्रण कर भूमि कटाव (Soil Erosion) को रोका जाय। (२) नल-कूपों द्वारा सिंचाई के क्षेत्रों में वृद्धि करना। (३) रसायनिक खाद के उपयोग में वृद्धि करने की अपेक्षा दाल वाली (Clover Crops) फसलों का अधिक उपयोग किया जाय, जिससे उनके द्वारा नाइट्रोजन संग्रह करने तथा पानी को अधिक समय भूमि में रहने की प्रणाली का विकास हो। (४) खेती में मशीन का प्रयोग खेतों के नये टुकड़े तक ही सीमित कर देना। भारत की सम्पूर्ण कृषि में मशीनों का प्रयोग करना एक मूर्खता का कार्य है, क्योंकि इससे भारत में एक लम्बे समय से प्रचलित खेती के उपयोग में बाधा उपस्थित हो सकती है।

इस स्थिति का सामना करने के लिए उचित उपाय तो यही है कि देश में काफी उत्पादन किया जाय और देश को खाद्यान्नों की वृद्धि से आत्म निर्भर बनाया जाय। यह कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है:—

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर।
(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढ़ाकर।
(३) वर्तमान कृषि योग्य भूमि को अनुत्पादक होने से बचाकर।

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर—कृषि के अन्तर्गत भूमि में वृद्धि करने का अर्थ यह होगा कि बेकार भूमि और कृषि-योग्य भूमि पर (जो २१% होती है) कृषि की जाय। निस्सन्देह यह आवश्यक है, अतः इस प्रकार की भूमि पर खेती करने के पहले यह मालूम करना होगा कि किन कारणों से वह बेकार थी। सम्भव है किन्हीं भागों में कम वर्षा, किन्हीं में अधिक और किन्हीं में कीड़े मकोड़े या बीमारियों के अथवा घास-फूंस के कारण खेती न की जा सकी हो। अतः इन कारणों का पता लगाकर कौनसे तरीके काम में लाये जायें, इसको सोचना होगा? इसके अतिरिक्त बेकार जमीन पर खेती करने का उपाय होना जरूरी है। ऐसी भूमि

को जो नदियो, तालाबो और रेल मार्गों के दोनो ओर बेकार पड़ी है, उसका पूरा ब्यौरा मालूम कर किसानों को या ऐसे व्यक्तियो को दे दी जाय जो उस पर शीघ्र से शीघ्र खेती कर सकें अथवा वहा जल्दी उगने वाले वृक्षों को लगा कर बढ़ती हुई ईंधन की समस्या को हल करें। केन्द्रीय सरकार की ट्रैक्टर व्यवस्था कमेटी ने इस सम्बन्ध में काफी सराहनीय कार्य किया है। अब तक तराई, मध्य-भारत और राजस्थान संघों के एक बड़े भाग की भूमि को ट्रैक्टरो द्वारा कृषि-योग्य बना दिया गया है। ऐसा अनुमान है कि यदि बेकार और बजर भूमि के कम से कम चौथाई भाग पर ही खेती की जाय तो हमारी खाद्यान्न उत्पत्ति काफी हद तक बढ़ सकेगी।

कुछ लोगो का अनुमान है कि इस प्रकार की कुल भूमि वास्तव मे देश की जन सख्या की तुलना में बहुत थोडी है, जिसमे अधिकांश की दशा ऐसी है कि उस पर कृषि करने से कोई बचत नही होगी। दूसरे, इस प्रकार की भूमि का उचित रूप से विकास करने के लिए दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाने पड़ेंगे। उनके अनुसार यदि इस प्रकार की सारी प्राप्य भूमि कृषि के अन्तर्गत कर ली जाय तो भी इन पर उत्पन्न होने वाली फसलो से देश के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होगी और न खाद्य समस्या मे ही सुधार होगा।

(२) भूमि की प्रति इकाई से उत्पादन बढ़ा कर—इससे निश्चय ही लाभ होने की सम्भावना है। भारत मे प्रति एकड चावल की उपज सिर्फ ८५० पौंड ही होती है, जबकि थाईलैंड मे इसकी उपज ६५० पौंड, सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में १,६८० पौंड, मिश्र मे २,००० पौंड, जापान में २,१५० पौंड, स्पेन मे ३,५०० पौंड और इटली में ३,००० पौंड एकड है। इसी प्रकार अन्य फसलो की भी यही दशा है। फिर यह प्रश्न उठता है कि दूसरे देशो मे प्रति एकड उत्पादन का स्तर इतना ऊँचा है तो यह भारत मे ही क्यो नही हो सकता। इस प्रश्न पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि फसलो को उगाने की प्रणाली मे ही कोई बड़ा दोष है, जो न्यून उत्पादन के लिये उत्तरदायी है। जब तक इन दोषो को दूर नही किया जा सकता तब तक खाद्य समस्या के हल करने की आशा करना व्यर्थ है।

सभी प्रान्तों मे सिचाई के पर्याप्त साधन प्राप्त नहीं है, अतएव सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि जिन जिन भागो मे वर्षा कम होती है वहा सिंचाई के साधन प्रचुर मात्रा मे प्रस्तुत किये जायँ। उदाहरण के लिये, दक्षिण भारत में भूमि के असमतल होने के कारण पहाड़ियो के बीच बाँध बना कर वर्षा का पानी रोका जा सकता है। पहाड़ी भागों म भी सोतों, नदियो तथा नालो को रोक कर तालाब की आकृति के बाँध बनाये जा सकते है अथवा सरकार अपनी ओर से तकावी देकर ट्यूब-वेल बनाने मे मदद कर सकती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान कुँओं की मरम्मत की जानी चाहिए अथवा उसके निकाले जाने वाले पानी का उपयुक्त उपयोग किया जाय, जिससे सींची हुई भूमि से थोड़े ही समय में दो फसलें मिलने लगेंगी और प्रति एकड उपज मे काफी वृद्धि होगी।

वर्षा की कमी सूखी खेती की प्रणाली (Dry Farming) को अपनाकर भी दूर कर सकते हैं। इस तरह के प्रयोग इण्डियन कौंसिल ग्रॉफ एग्रीकल्चर रिसर्च द्वारा पंजाब मे रोहतक, बम्बई, शोलापुर, बीजापुर, हैदराबाद, रायचुर ग्रौर मद्रास में हजारों केन्द्रों पर किये गये हैं। इस प्रणाली से न सिर्फ ग्रौसत वर्ष में ही उत्पत्ति की जा सकती है, ग्रपितु सूखे वर्षों मे भी कुछ न कुछ पैदा किया जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि ग्रन्य बातो मे सुधार करने से भी इस प्रकार की सफलता मिल सकती है। प्रत्येक फसल के साथ कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनका पूर्व उपयोग फसल की ग्रधिक से ग्रधिक प्राप्ति के लिए ग्रावश्यक होता है, जैसे खाद इसका दूसरा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न कमेटियों ग्रौर विद्वानों ने बार-बार इस ग्रोर संकेत किया है। कि भारतीय मिट्टी में नेत्रजन की कमी है। डा० बर्न ने ग्रनुमान लगाया है कि भारत मे प्रति वर्ष २६ लाख टन नाइट्रोजन की ग्रावश्यकता पड़ती है। यह पूर्ति १३२ टन ग्रमोनियम सल्फेट ग्रथवा ५२·६० लाख टन गोबर की खाद से पूरी की जा सकती है।

डा० ग्राचार्य के ग्रनुसार यदि बबूल, खेजड़ा ग्रादि जल्दी पनपने वाले वृक्षो को लगाकर गोबर को जलाने से बचाया जा सके तो प्रति वर्ष हमको इस ग्रतिरिक्त गोबर की खाद से १०० प्रतिशत नाइट्रोजन मिल सकता है, जिससे खाद्यान्नों में १०० लाख टन की वृद्धि की जा सकती है।

इसके ग्रलावा किसान खाद की कमी ग्रपने खेत ग्रौर पशुग्रों के बाड़े में मैले ग्रौर कूड़े कर्कट से कम्पोस्ट बनाकर स्वयं खाद की पूर्ति कर सकते हैं। डा० सी० एन० ग्राचार्य के ग्रनुसार—"भारत के ५,००० शहरों में लगभग ६ करोड व्यक्ति रहते हैं, यदि उनके मैले को कम्पोस्ट बनाने मे उपयोग किया जाय तो प्रति वर्ष १०० लाख टन उत्तम खाद मिल सकती है, जिससे उत्पादन में १० लाख टन की प्रति वर्ष वृद्धि होगी।"

कम्पोस्ट के ग्रलावा तिलहन की खाद भी काम में लाई जा सकती है। इसके ग्रलावा खेती में हरी खाद, ढेंचा, ग्वार, सनई, नील, सोयाफली ग्रादि का भी प्रयोग किया जा सकता है। विदेशो में खेतों की उर्वरा-शक्ति बढाने के लिए बनावटी खादों का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु भारत में उनका प्रयोग खर्चीला ग्रौर मुश्किल होता है। कई विद्वानों का कहना है कि खेतों को बनावटी खादों से दूर रखा जाय। ग्रमेरिका मे डा० क्लार्क ग्रौर रौलट, इङ्गलैण्ड के कोलमेट ग्रौर मोकरोड तथा भारत में डा० मैकरीसन तथा बी० बी० नाथ का तो कथन है कि खेतों में निरन्तर बनावटी खाद देने से यद्यपि दो फसलें पैदा होती हैं फिर भी उनमें उतने पोषक तत्त्व नहीं होते, जितने गोबर ग्रौर ग्रन्य खादों से तैयार की गई फसलों में होते हैं। फिर भारत के किसान गरीब हैं, उनके लिए इस खाद का उपयोग ग्रसम्भव है। ग्रतः वर्तमान समय में खेतों से ग्रधिक से ग्रधिक उपज प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करने

चाहिए। इस सम्बन्ध में चीन और जापान मे जो किया जाता है वह भारतीय किसानों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। वहाँ खाद की कमी को पूर्ण करने के हेतु—पेड पौधों की पत्तियाँ, उनकी शाखायें, घास, चिथडे, अन्य सडे गले पदार्थ, राख, चूना आदि सभी प्राप्य वस्तुयें खाद बनाने के काम मे लाई जाती हैं। भारत मे भी इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए कि जो खाद बनाई जावे उसका वितरण म्युनिसपैल्टियो, ग्राम पचायतो और सरकारी समितियो द्वारा हो।

कृषि के लिए उन्नत किस्मो की फसलो को अपनाना चाहिएँ। उदाहरण के लिए, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियाँ निकाली गई हैं, जो बीमारियों, पशुओ, अनावृष्टि अथवा सर्दी के कोहरे के अन्तर से मुक्त हैं। इस उन्नत जाति के बोने मे वहाँ पिछले ४ वर्षों मे (सन् १६४२-४६) ८,००० लाख टन बुशल की वृद्धि हुई है। सर रसल का कहना है कि उन्नत बीजो द्वारा पैदावार मे कम मे कम ६० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। भारत में गेहूँ, गन्ना, चावल और कपास की कुछ सुप्रसिद्ध उन्नत जातियो को विस्तृत रूप से सफलतापूर्वक अपनाना भी यह प्रकट करता है कि अन्य फसलो मे भी इस प्रकार के परिवर्तनो की सम्भावनायें हैं।

विशेष जाति का चुनाव करते समय केवल उपज प्राप्ति का ही नही बल्कि रोग, अनावृष्टि तथा बाढ सहन करने की प्रवृत्तियो पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा अनुमान है कि उन्नत जाति के बीजो को बोने से गेहूँ, चावल व जूट की पैदावार मे औसतन २ मन की वृद्धि हुई है। इस प्रकार ज्वार व बाजरा मे १ मन, मूगफली मे १·७५ मन, बिनौला मे ०·५ मन तथा गन्ने मे २०० मन की वृद्धि हुई है।

कीड़ों व पशुओं से फसल का बचाव—

वर्तमान समय मे अनेकानेक कीडों, चिड़ियो, टिड्डियो, दीमक अथवा पशुओ द्वारा भी हमारी फसल में कमी हो रही है, अतः इनको रोकने के उपाय होना आवश्यक है। दीमक आदि कीडो को रोकने के लिए खेतो मे फसलो को हेर-फेर के साथ बोया जाय अथवा गहरे हल चला कर व्यर्थ घास-फूस को खेतो से निकाल दिया जाय। पानी के लिए उपयुक्त नालियाँ बनाई जायेँ और जो पौधे सूख जायेँ उन्हे शीघ्र ही हटा दिया जाय। फसलो को जगली पशुओ से बचाने के लिए खेत के चारों ओर कटीले तारों की मजबूत बाढ लगाई जावे, परन्तु रात मे फसलो की रखवाली करना भी जरूरी है। फसलो में कब कीडे लगते हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, इसके लिए देख-रेख आन्दोलन चालू किया जाय, जो समय-समय पर किसानों को इससे सूचित करते रहे। इन कार्यों से फसल की सुरक्षा होकर उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी।

आस-पास के लगे हुए खेतो के किसान आपस मे मिलकर सम्मिलित खेती करें तो औजार, पशु आदि के खर्च मे कमी आ जायगी तथा इस बचे हुए धन को भूमि के सुधार मे लगाया जा सकता है।

किसान अपने काम में पूरी रुचि ले, इसलिए यह जरूरी है कि जिस जमीन को वह जोतता है उस पर उसका हक हो, तभी वह अपनी खेती समझ कर सुधार कर सकता है। इस तरह खेतों की प्रति एकड़ पैदावार अधिक हो कर हमारी खाद्य-समस्या का हल हो सकेगा तथा विदेशी विनिमय की बचत हो सकेगी।

कृषि व्यवस्था के उत्थान के लिए देश की पंच-वर्षीय योजनाओं में कृषि उद्योग के विकास एवं सुधार को पर्याप्त स्थान दिया गया है। फलस्वरूप कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुई है। तीसरी योजना मे भी कृषि नीति का लक्ष्य यही है कि बढती हुई जन-संख्या को पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध हो सके तथा विकसित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध हो एवं कृषि-पदार्थों का विदेशों को निर्यात सम्भव हो। योजना कालीन कृषि नीति के प्रमुख तत्त्व निम्न हैं :—

(१) भूमि-उपयोग का नियोजन।
(२) दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन लक्ष्यों का निर्धारण।
(३) योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमों, भूमि-उपयोग योजना, खाद का बँटवारा, उत्पादन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सरकारी सहायता को सम्बन्धित करना, तथा
(४) समुचित कृषि मूल्य नीति का निर्धारण।

इस प्रकार कृषि आधार को मजबूत बनाकर उत्पादन वृद्धि के लिए कृषि उद्योग को नया यान्त्रिक मोड़ दिया जा रहा है; जिससे निश्चय ही कृषि उद्योग की समस्याओं का निवारण होकर कृषि उद्योग का सन्तुलित विकास हो सकेगा।

———

परिशिष्ट

भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के सुझाव—

कृषि और पशुपालन मण्डल की "फसल और मिट्टी" का चार-दिवसीय सम्मेलन ११ जून सन् १९६० को रांची में हुआ। इस सम्मेलन ने भूमि की उत्पादकता बढाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की, जिनका प्रभाव दूरगामी सिद्ध होगा। सम्मेलन की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) पानी का अधिक से अधिक उपयोग कर सकने के लिए यह जानकारी एकत्र करना आवश्यक है कि किस स्थान की मिट्टी कैसी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिंचाई आरम्भ होने के पहले और सिंचाई आरम्भ होने के बाद भूमि का सर्वे

किया जाय। पानी जमा होने के सम्बन्ध में यह सुझाव है कि निश्चित भूमि के लिए निश्चित मात्रा में नहरों से पानी छोड़ा जाय तथा किसानों के लिए गूलें बनाना अनिवार्य कर दिया जाय। इसके अलावा नई सिंचाई योजनाओं से जिस प्रदेश में सिंचाई होने लगे उसमें जनता को सही ढङ्ग से बसाने के लिए एक अखिल भारतीय मण्डल संगठित किया जाय।

(२) सम्मेलन की धारणा है कि कृषि को व्यावसायिक धन्धे का रूप दिया जाय। क्योंकि अनुसन्धान के परिणामों का उपयोग न करने का कारण यह भी है कि खेती को उद्योग के रूप में नहीं लिया जाता। अतः उद्योगों के विकास व उनकी सहायता के लिए जो प्रगतिशील नीतियां और प्रोत्साहन के उपाय अपनाये गये हैं, उन्हें खेती के सम्बन्ध में लागू किया जाना चाहिए।

वैज्ञानिक पद्धति से कृषि होने के लिए कुछ बातें आवश्यक हैं, जैसे कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये कृषि-पदार्थों के भाव स्थिर हों, उचित समय पर और काफी परिमाण में ऋण का प्रबन्ध हो आदि। अतः इन बातों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

(३) सम्मेलन की सिफारिश है कि रसायनिक खाद, कीड़े व खरपतवार नाशक दवाओं, औजार और कृषि सम्बन्धी मशीनों के उद्योगों को शीघ्र विकसित किया जाय, जिससे कृषकों की आवश्यकतायें पूरी होने लगें। यह भी आवश्यक है कि कृषि-अनुसन्धानों के परिणामों की उपयोगिता की जाँच जल्द से जल्द की जाया करे, जिससे उसका लाभ अविलम्ब उठाया जा सके।

(४) सम्मेलन की सिफारिश है कि अमेरिका के "सिनर्जी युगल क्लब" के आधार पर भारत में भी किसानों के शक्तिशाली संगठन का विकास किया जाना चाहिए।

(५) रसायनिक खाद की समस्या पर विचार करते समय सम्मेलन ने यह अनुभव किया कि नेत्रजनीय खाद के उत्पादन एवं मांग का अन्तर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है और सरकारी क्षेत्र के कारखाने द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में निर्धारित लक्ष्य पूरा नहीं कर सकेंगे। अतः निजी क्षेत्र को रसायनिक खाद के कारखाने खोलने की छूट देनी चाहिए। खाद्य-उत्पादन को जो उच्च प्राथमिकता दी गई है उसे दृष्टि में रखते हुए रसायनिक खाद-कारखानों की स्थापना को भी उतनी ही उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। अनुमान है कि तीसरी पंच-वर्षीय योजना में अब तक १२·५ लाख टन नेत्रजनीय खाद की आवश्यकता होगी।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की है कि ४,००० जन-संख्या के ऊपर के सब गावों और पंचायतों में कम्पोस्ट खाद का निर्माण अनिवार्य किया जाय। छोटे गाँवों में भी पंचायतों को बिक्री के लिए कम्पोस्ट खाद का प्रोत्साहन दिया जाय। यह भी अनुभव किया गया कि ईंधन प्राप्त करने के लिए यदि बंजर भूमि में वृक्ष आदि लगाये

जायें तो गोबर की बरबादी रोकी जा सकती है। सम्मेलन ने यह सिफारिश की है कि खर-पतवार नष्ट करने के बारे में देश व स्थान के अनुकूल अनुसन्धान किये जायें।

(६) सम्मेलन की धारणा है कि सिंचाई, खाद व अन्य साधनों से अधिकतम लाभ उठाने के लिए फसल प्रणाली शुरू करने की आवश्यकता है। यह काम शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न किया जाय और यदि आवश्यक हों तो कानून भी बनाये जाँय और किसानों को प्रोत्साहन दिया जाय।[1]

इन सिफारिशों के कार्यान्वित होने पर कृषि-उपज की वृद्धि होने में सफलता मिलेगी।

अध्याय ७

भारत में कृषि-जोत

(Units of Holdings in India)

"कृषकों की पूंजी प्रति वर्ष सिकुड़ती जा रही है और वे आहत तथा अचम्भित से खड़े देख रहे हैं।"

—एo जीo स्ट्रीट।

"ग्रामीण भारत का अध्ययन करते समय तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है: जनता, भूमि और उपज।[2]

भारत की भूमि छोटे-छोटे किसानों की भूमि है, जहाँ प्रति व्यक्ति उपयोग में लाई गई भूमि का आकार केवल छोटा ही नहीं, अपितु आर्थिक दृष्टि से अलाभकर भी है। देश के बहुत से भागों में खेत इतने छोटे छोटे पाये जाते हैं कि उनका क्षेत्रफल $\frac{1}{160}$ एकड़ या ३१$\frac{1}{4}$ वर्ग गज है। भारत में खेती की जोत केवल छोटी ही नहीं, परन्तु वह कई टुकड़ों में बँटी हुई भी है। साधारणतया खेतों के उप-विभाजन और बिखरे हुए (Fragmentation) होने के कारण भारतीय कृषि पर बुरा असर पड़ा। इस कारण कृषक का जीवन-स्तर केवल निम्न ही नहीं रहा, अपितु वह अपने खेतों से न तो पूरा उत्पादन ही प्राप्त कर सकता है और न उसकी आय ही बढ़ पाती है। सत्य

1. भारतीय समाचार—१ जुलाई सन् १९६०, पृष्ठ ३६३-३६४।

2. Report of Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, 1954 Vol. II.

तो यह है कि जब तक खेतों का आकार छोटा है और वे बिखरे हुए हैं, तब तक कृषि के उत्पादन और आय मे वृद्धि की आशा करना व्यर्थ है।

सबसे पहले श्री कीटिंग्ज का ध्यान खेतों के उप-विभाजन और अप-खण्डन की ओर आकर्षित हुआ, जिन्होने इस बात की ओर इशारा किया। मोटे रूप में बम्बई प्रान्त में—विशेषकर कोंकण, पश्चिमी तथा दक्षिणी गुजरात के हरे-भरे चावल के खेतों और बगीचो मे जोत के टुकड़े एकदम असह्य सीमा तक पहुँच गये। इन भागो के कुछ क्षेत्रो में खेतो की जोत आधे एकड़ से भी कम पाई गई। श्री कीटिंग्ज के अनुसार भारत के लिए जोत सम्बन्धी दो प्रमुख समस्याएं हैं :—(१) जोत का छोटा होना और (२) जोत की चकबन्दी न होते हुए उनका भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में बिखरे हुए होना।[1] शाही कृषि आयोग सन् १६२६ ने भी इन्ही समस्याओ की ओर ध्यान दिलाया है। इस सम्बन्ध मे सन् १६४६ मे सरैया सहकारी आयोजन समिति ने लिखा था :—"अलाभकर खेत कृषि उत्पादन वृद्धि में सबसे बड़ी बाधा है।" समस्या के दो पक्ष है—खेतो का केवल आकार ही छोटा नही होता बल्कि एक ही किसान के खेत एक चक मे न होकर दूर-दूर फैलते जा रहे हैं।[2]

उप-विभाजन का अर्थ (Meaning of Sub-Division)—

जोत के उप-विभाजन से हमारा आशय खेतो के छोटे-छोटे टुकडों मे बँटे होने से है। उदाहरणार्थ, यदि एक किसान के पास ४० एकड भूमि है और उसके पाँच लड़के हैं, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यह भूमि आठ आठ एकड़ के ५ टुकडो में बँट जायेगी। जबकि अप खण्डन से हमारा आशय जोतों के भिन्न-भिन्न टुकड़ों मे बँटे होने के अतिरिक्त उनका विभिन्न भागो मे बिखरे होने से है। उक्त उदाहरण मे यदि किसान की ४० एकड भूमि पहिले ही से तीन टुकडो मे बँटी हुई है तो उसकी मृत्यु के बाद प्रत्येक भाग की भूमि भिन्न-भिन्न प्रकार की होने के कारण पाँच-पाँच टुकड़ो में बँट जायेगी, जिससे सारी जोत एक क्षेत्र मे न रह कर गाँव के विभिन्न भागों मे होगी।

रॉयल कृषि आयोग सन् १६२६ के अनुसार हम जोत की समस्या का अध्ययन निम्न आधारों पर कर सकते हैं :—[3]

(१) भू-स्वामियों (Right-holders) की जोत का उप-विभाजन।

(२) कृषको की जोत का उप विभाजन।

(१) भू-स्वामियों की जोत—भारत के विभिन्न भागो मे जोत के सम्बन्ध में समय-समय पर हुई जाँच से स्पष्ट है कि देश के सभी भागों मे जोत का आकार समान नही है।

---

1. Keatings : Agricultural Problems in Western India, pp. 61-65.
2. Report of the Co-operative Planning Committee, p. 24.
3. Report of the Royal Commission on Agriculture, pp 132-33.

पंजाब में भू-स्वामियों की जोत—[1]

भू-स्वामी	औसत जोत	कुल जोती गई भूमि का %
१७·९%	१ एकड़ से कम	१ %
४०·२%	१ से ५ एकड़	११ %
२६·२%	५ से १५ एकड़	२६·६%
११·८%	१५ से ५० एकड़	३५·६%
३·७%	५० एकड़ से अधिक	२५·७%

इसी प्रकार सन् १९३९ की जांच के अनुसार ६३·७ भू-स्वामियों के पास ५ एकड़ से कम की जोत थी, जो कृषि भूमि के १२% थी।[2] फलस्वरूप पंजाब में ०·३४ टन प्रति एकड़ उपज थी, जो औसत आकार के खेत में केवल ३ टन थी।

इसी प्रकार सन् १९१७ में बम्बई प्रान्त में डाक्टर मान ने पूना जिले के पिपला सौदागर गांव में जांच की। उनके अनुसार—सन् १७७१ मे प्रति जोत का क्षेत्रफल लगभग ४० एकड़ था, लेकिन सन् १८१८ में वह १७॥ एकड़ रह गया और सन् १९१४ १५ में केवल ७ एकड़ ही रह गया। ७७% जोतें २० एकड़ से कम की थीं और ४८% तो १० एकड़ से भी कम की थीं। डा० मान के अनुसार गत ५०-६० वर्षों में खेतों के आकार में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ।[3] सन् १९३६-३७ में ४९% जोतें ५ एकड़ से कम, २९% ५ से १५ एकड़ तक, ११% १५ से २५ एकड़ तक और १०% २५ से १०० एकड़ तक की थी। इन आँकड़ों के अनुसार औसत जोत ११·७ एकड़ की होती है और प्रति एकड़ पीछे केवल ०·१९ टन अनाज पैदा होता है।[4]

मद्रास प्रान्त में भी खेतों की जोत बहुत ही छोटी है। तिन्नावेली जिले (मद्रास) मे अधिकांश जोत (४८%) तो दो एकड़ से भी कम की थी। परन्तु सन् १९१६ के बाद तो जोतों के आकार में और भी कमी हो गई।[5]

फ्लाउड आयोग के अनुसार बंगाल में जिनके पास २ एकड़ से भी कम भूमि है ऐसे परिवार ४२% हैं तथा जिनके पास २ से ४ एकड़ तक भूमि है, उनका प्रतिशत २१ से भी कम है।[6]

1. श्री कैलवर्ट की जाँच सन् १९२५।
2. Report of the Punjab Board of Economic Enquiry 1939.
3. H. Mann : Land and Labour in a Deccan Village, Vol. 1. p. 43.
4. Nanawati & Anjaria . The Indian Rural Problem, p. 153.
5. Thomas & Ramkrishnan : Some South Indian Village A Resurvey, pp. 71-72.
6. Report of the Bengal Land Revenue Commission. Vol. 1, p. 86.

(२) कृषकों की जोत—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भू-स्वामियों की जोतें बहुत ही अनार्थिक हैं:—

सन् १९२८ में श्री कैलवर्ट ने पंजाब के किसानों की जोत का अध्ययन किया था। इस जाँच के अनुसार:—२२% किसानों के पास १ एकड़ से कम के खेत थे, ३३% के पास १ से ५ एकड़, ३१% के पास ५ से १५ एकड़, १२½% के पास १५ से ५० एकड़ और शेष १% के पास ५० एकड़ से अधिक के खेत थे। पूरे पंजाब का क्षेत्रफल २६ से ३० करोड़ एकड़ था, जोकि २० करोड़ खेतों में बँटा हुआ था।[1]

उत्तर-प्रदेश में खेतों की जोत, ज्यों-ज्यों पश्चिम से पूर्व की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हैं, कम होती जाती है।[2] उत्तर-प्रदेश बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार:—उत्तर-प्रदेश के दक्षिणी जिलों में औसत जोत १०½ से १२ एकड़ थी और उत्तरी जिलों में ६ से ७ एकड़ थी। पश्चिमी भागों में ८ से १०½ एकड़, पूर्वी जिलों में ३½ से ४½ एकड़ और दक्षिणी जिलों में ५ से ५½ एकड़ थी, जबकि सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश के लिए औसत जोत ६ एकड़ मानी गई है।[3] इस अनुमान के आधार पर यह निर्धारित किया गया है कि प्रान्त के अधिकांश खेत २½ एकड़ से ४ एकड़ के बीच में हैं।[4] गोरखपुर जिले में (सन् १९४३ की अकाल जाँच समिति) अधिक उपजाऊ भूमि की इकाई ४·८ एकड़ है, किन्तु भाँसी जिले में, जो कम उपजाऊ है, खेतों का आकार १२ एकड़ है। इस विषय में सन्त समिति का कहना है कि उत्तर-प्रदेश के खेतों का औसत आकार २·६८ एकड़ से ३·३६ एकड़ है। इससे स्पष्ट है कि ६४% किसानों के खेत अनार्थिक हैं, जो सम्पूर्ण खेतों के क्षेत्रफल का ५४·८ एकड़ है। ७७·८% जोतें कुल खेतों के क्षेत्रफल का ६% हैं, जबकि इतनी जोतें १ एकड़ से भी कम ही हैं।[5]

बंगाल के ¾ किसानों की जोत ४ एकड़ से भी कम है। लगभग ४६% किसानों के खेत २ एकड़ से कम, २८% किसानों के खेत २ से ५ एकड़, १७% किसानों के ५ से १० एकड़ और ९% किसानों के १० से अधिक एकड़ के खेत हैं।[6]

बम्बई राज्य के कुछ भागों में भी जोत सम्बन्धी जाँच की गई है:—थाना जिले के भिवण्डी ताल्लुका सन् १९३७ में ६६% जोत ५ एकड़ से कम, २५·५% की ५ से २५ एकड़, ४½% की २५ से १०० एकड़ और १% की १०० से २०० एकड़ की थीं।[7] बम्बई में सन् १९३६–३७ में २% किसानों की जोतें १५ एकड़ से कम

1. H. Calvert : Wealth & Welfare of the Punjab, p. 74.
2. B. Singh : Whither Agriculture in India, p. 66.
3. Report of the U. P. Banking Enquiry Committee.
4. U. P. Agrarian Distress Committee Report 1931, p. 30
5. U. P. Zamindari Abolition Committee Report, p. 24.
6. Bengal Land Revenue Commission Report, vol. II, pp. 114 115.
7. M. G Bhagat : the Farmer, His Wealth & Welfare, p. 93.

थी।[1] मद्रास में भी खेतों की जोत अनार्थिक है, वहाँ ४% खेतों का आकार केवल २·४% ही है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश में खेतों का औसत आकार एकसा नहीं है। सन् १९३१ की जनगणना के आधार पर प्रति किसान पीछे कृषि भूमि और खेत का आकार निम्न था[3] :—

प्रान्त	प्रति किसान कृषि भूमि एकड	खेतों का औसत आकार एकड़
बम्बई	१६·८	११·७
मध्य प्रदेश	१२·०२	८·५
पंजाब	८·८	७·२
मद्रास	५·९९	४·५
बङ्गाल	३·९७	२·४
आसाम	३·४	२
युक्त-प्रान्त	३·३	६·०
बिहार-उडीसा	२·९६	४ और ५ के बीच

जोतों का उप-विभाजन केवल भारत में ही नहीं, किन्तु विदेशों में भी पाया जाता है। उदाहरण के लिये, जापान में खेतों की जोत बहुत ही छोटी है। दो करोड़ किसानों के खेत १½ एकड़ से भी कम हैं और अन्य २ करोड के १½ से २½ एकड़ के खेत हैं। चीन में भी खेतों की जोत बहुत छोटी होती है। फ्रांस में हमारे देश की तरह उप-विभाजन के कारण कभी-कभी तो खेतों का आकार अंगूर की बेल तक छोटा हो जाता है। बाल्कन प्रायद्वीप में दक्षिणी-पूर्वी बल्गेरिया के एक गांव में १२⅓% जोत २ हैक्टर से कम, ४२% के २ से ५ हैक्टर, २२⅓% के ५ से ७½ हैक्टर, ११⅓% के ७½ से १० हैक्टर और १०% के १० से १५ हैक्टर के हैं।

यदि भारत की तुलना अन्य देशों से करें तो ज्ञात होगा कि जोतों के सम्बन्ध में हमारी स्थिति दयनीय है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट होगी :—

देश	जोत (एकड़ में)
अमेरिका	१४५
इङ्गलैंड	२०
डेनमार्क	४०
हालैंड	२६

1. Nanawati & Anjaria : Indian Rural Problem, p. 153.
2. Woodbead Committee Report, p. 156.
3. World Agriculture, p. 27.

स्वीडन	२५
जर्मनी	२१·५
फ्रान्स	२०·६
बेल्जियम	१४·५
भारत	६

जोत के अपखण्डन का अर्थ (Fragmentation of Holdings)—

खेतो के छोटे-छोटे होने के साथ ही उनके एक चक में न होने के दोष को अपखण्डन कहते है। यह देश के सभी कृषि भागो मे है।

भारत मे खेतो के अपखण्डन की कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

भारत में भूमि की जोत (कुटुम्बों का प्रतिशत)

प्रान्त	२ एकड से कम	२ से५ एकड	५ से १० एकड	१० एकड़ से अधिक
आसाम	३८·६	२७·४	२१·१	११·६
पश्चिमी बङ्गाल	३४·७	२८·७	२०·०	१६·६
मध्य-प्रदेश	५१·०	—	२१·०	३०·०
उड़ीसा	५०·०	२७·०	१३·३	१०·०
मद्रास	५१·०	३१·०	७·०	११·०
उत्तर-प्रदेश	५५·८	२५·४	१२·८	६·०
पेप्सू	४५·४	—	१७·६	३७·०
बम्बई (गुजरात जिले)	२७·५	२५·७	२२·३	२४·५
दकन	१९·८	१६·७	१८·८	४४·७
कर्नाटक	१८·२	१९·२	२१·७	४६·९
पञ्जाब (अविभाजित)	२०·० (½ एकड से कम)	१८·० (१ एकड़ से कम)	४०·० (२½ एकड से कम)	२६·० (८¾ एकड)
मैसूर	६६·२	२१·२	—	१२·६

भूमि के अपखण्डन की समस्या भारत मे ही नही, अपितु कई योरोपीय और एशियाई देशो, *विशेषकर फ्रान्स, स्विटज़रलैंड, जर्मनी, बलगेरिया, चीन और जापान* में भी इतनी ही विकट है। उदाहरणार्थ, चीन मे कई किसानो के खेत ५ से ४० टुकडों तक बँटे हुए हैं, जो कि लम्बे-लम्बे टुकडे, जमीन के कोने और कटार, बिना

* Congress Agrarian Reforms Committee Report, p. 14.

बोब के खेत एक मील से अधिक दूरी पर स्थित है।[1] इसी प्रकार जर्मनी और स्विट-जरलैंड मे भी इस समस्या का जटिल रूप है। स्विटजरलैंड की गत् जन-गणना के समय २,११२ एकड के ५३० ऐसे खेत थे, जो ५० से भी अधिक टुकडो मे बँटे हुए थे।[2]

उप-विभाजन और अपखण्डन के कारण—

(१) जन-संख्या मे वृद्धि—यह इस समस्या का मूल कारण समझा जाता है। पिछली अर्द्ध शताब्दी से भारत की जन-संख्या मे काफी वृद्धि हुई है—सन् १६०१ से सन् १६११ मे जन-संख्या में ६·७%, सन् १६११–२१ मे ०·६ %, सन् १६२१-३१ मे १०·७%, सन् १६३१–४१ मे ११% और सन् १६४१-५१ मे १३% की वृद्धि हुई। अधिकांश जन-संख्या कृषि पर निर्भर होने से कृषि पर लगे हुए लोगो की जन-संख्या बढ गई है, लेकिन उसी अनुपात में कृषि भूमि के क्षेत्रफल मे वृद्धि नही हुई। फलतः बोई गई भूमि का वितरण प्रति व्यक्ति कम हो गया। सन् १६११ में प्रति व्यक्ति ०·६० एकड भूमि बोई जाती थी, सन् १६२१ मे यह क्षेत्रफल केवल ०·८८ एकड, सन् १६३१ मे ०·८१ एकड, सन् १६४१ मे ०·७२ एकड और सन् १६५१ में इससे भी कम क्षेत्रफल रह गया। स्पष्ट है कि ज्यो ज्यो कृषि पर निर्भर जन-संख्या में वृद्धि होती गई, त्यो-त्यो भूमि की माँग बढी और पुराने खेतो के टुकडे होते चले गये।

(२) व्यक्तिवाद का विकास—भारत मे आधुनिक-काल में व्यक्तिवाद का इतना अधिक विकास हुआ है कि संयुक्त-पारिवारिक प्रणाली प्रायः नष्ट हो चुकी है। कुटुम्ब विघटन मे पुरुष-व्यक्ति पृथक-पृथक हो जाते हैं और खेत तथा सामूहिक सम्पत्ति का बँटवारा भी करते है, जिससे कृषि भूमि का बँटवारा होता है, क्योकि वही जीवन निर्वाह का एकमात्र साधन होता है। श्री 'क्लो' का कथन है—"जब बँटवारे का निश्चय हो जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि समानाधिकार के कारण सारी सम्पत्ति मे उसको समान रूप से भाग मिले, यहाँ तक कि घर-द्वार, खेत, बगीचे, तालाब और वृक्ष तक बाटे जाते हैं। कभी-कभी तो वृक्ष पर लगे हुए शहद के छत्तो तक का बँटवारा होता है और कई बार तो केवल वृक्ष की टहनियो और फलो पर ही नही बल्कि उसकी छाया का भी बँटवारा करने के उदाहरण पाये जाते हैं।"[3]

(३) कुटीर उद्योगो की अवनति—भारत को अधिकांश जन-संख्या खेती पर निर्भर है, इससे खेती से अधिक आय प्राप्त नही होती। साथ ही, देश में कुटीर-धन्धो की अवनति के कारण बढती हुई जन संख्या के लिए कृषि के अलावा उपजीविका का अन्य साधन न रहा। अतः खेती पर जन-संख्या का भार बढ रहा है, जिससे उपयोग मे लाई जाने वाली भूमि का भी बँटवारा होता जा रहा है।

(४) उत्तराधिकार नियम—भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ो मे बँटे होने का

1. R. H. Tawney : Land & Labour in China, p. 39.
2. Report of the Co-operative Planning Committee, p. 45.
3. Jather & Beri : Indian Economics, Vol. I, p. 186.

मुख्य कारण देश में उत्तराधिकार के नियमों का होना भी है। कानून की दृष्टि से हिन्दुओं मे सब पुत्र अपनी पैतृक सम्पत्ति मे समान रूप से अधिकार रखते हैं। मुसलमानो मे भी पिता के सब पुत्र-पुत्रियाँ सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, अतः पिता की मृत्यु के बाद सब सम्पत्ति और भूमि सारे उत्तराधिकारियों मे बराबर-बराबर बँट जाती है। इससे खेतों का उप विभाजन ही नही, बल्कि उनका अपखण्डन भी होता है। ये नियम शताब्दियो से भारत में प्रचलित हैं, फिर भी उप विभाजन तथा अपखण्डन प्राचीन-काल में नही था, इसलिए आज उत्तराधिकार नियमो को भूमि विभाजन का मुख्य कारण नही माना जा सकता। इस समस्या ने केवल पिछली चार पाँच शताब्दियो से ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। खेतो के विभाजन की प्रवृत्ति को ग्रामीणो की गिरती हुई आर्थिक स्थिति ने प्रोत्साहन दिया है और उत्तराधिकार नियम इस प्रवृत्ति को बल देने मे सहायक हुए हैं।*

(५) भारत में उद्योगों का धीमा विकास—कुटीर उद्योगों की अवनति होने के बाद कृषि जन सख्या को एक तो सहायक उद्योग-धन्धो का अभाव हो गया। फलतः उनकी कृषि आय कम हो गई तथा बेकार समय के लिए कोई सहायक व्यवसाय नही रहा। साथ ही, भारत में आधुनिक सगठित उद्योगो का विकास भी अत्यन्त धीमी गति से हुआ। परिणामस्वरूप कुटीर उद्योगो पर निर्भर रहने वाली जन सख्या का कोई वैकल्पिक व्यवसाय न रहा। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कृषि पर ही जन-सख्या का भार बढता गया।

उप-विभाजन और अपखण्डन से हानियाँ—

भूमि के उप विभाजन और अपखण्डन से केवल कृषि व्यवस्था का सन्तुलन ही नही बिगडा, अपितु सम्पूर्ण कृषि-व्यवसाय अलाभकर हो गया है। खेतो के छोटे छोटे होने से निम्नलिखित हानियाँ हुई है :—

(१) अधिक व्यय—छोटे छोटे खेतो के होने से उत्पादन व्यय बढता है, और प्रति एकड़ उत्पादन व्यय मे कमी नही आती। खेत के आकार छोटे होते हैं तो उत्पादन की प्रति मात्रा पर उत्पादन व्यय बढता जाता है। खेतो के छोटे होने के साथ-साथ किसान के अन्य खर्च, जो उसे अपने परिवार के भरण-पोषण, एक जोडी बैल और कुछ औजार रखने मे होते है, उनमे कमी नहीं आती। यही नही, खेतो में बाढ लगाना तथा बीज और खाद आदि डालने मे भी अधिक व्यय होता है।

(२) समय की हानि—किसान का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसके खेत छोटे-छोटे और एक चक में न होने से उसे बैल, हल और औजार इत्यादि इधर से उधर ले जाने पडते हैं। अनुमान है कि खेतो के ५०० मीटर दूर होने के कारण खेतो को जोतने और मजदूरों से काम लेने पर ५·३% व्यय बढ जाता है, खाद को ढोने में २०% से २५% तक और फसलो के ढोने में १५% से ३२% तक

* Wadia & Merchant : Our Economic Problem, p. 244.

अधिक व्यय होता है। इसलिए खेत जब एक दूसरे से १ मील की दूरी पर हो तो केवल जुताई पर ही ११% से १०% तक व्यय अधिक हो जाता है।*

(३) कृषि भूमि की हानि– खेतों के छोटे-छोटे होने के कारण बाड़ आदि बनाने में केवल खर्चा ही अधिक नही होता, बल्कि ४% तक भूमि का क्षेत्र नष्ट हो जाता है।

(४) स्थायी सुधारों की असम्भवता– कृषि मे स्थायी सुधार नही किये जा सकते, क्योंकि पहिले से ही खेतो का आकार इतना छोटा होता है कि कभी-कभी तो पुराने हल भी भूमि मे घुमाये नही जा सकते। ऐसी अवस्था में आधुनिक ढङ्ग के कृषि औजार, मशीनें, ट्रैक्टर, विनोवर आदि काम मे नही लाये जा सकते।

(५) पर्याप्त सिचाई का अभाव—कभी-कभी तो सिचाई के पर्याप्त साधन होने पर भी खेतो के दूर होने के कारण उनकी सिचाई नही की जा सकती। यदि सिचाई के आधुनिक साधनो के उपयोग के लिए कृषक किसी प्रकार पर्याप्त धन सग्रह कर लें तो भी खेतो के छोटे आकार के कारण कुँओं या नल कूपो का उपयोग नही कर सकता।

(६) वैज्ञानिक खेती का उपयोग न होना—खेत छोटे होने के कारण वह अच्छे बीज, अच्छी खाद और वैज्ञानिक ढगों का पूर्ण उपयोग नही कर सकता, क्योंकि उत्पादन व्यय मे अनुपात से अधिक वृद्धि होने का भी डर रहता है।

(७) खेतो की सीमा नही डाली जा सकती—खेतों के छोटे-छोटे और फैले होने के कारण न तो उनके चारों ओर बाध ही बाधे जा सकते है और न सीमा ही बाँधी जा सकती है। परिणामतः जङ्गली पशु उनके खेतो का नुकसान करते रहते हैं।

(८) मार्ग बनाने में अड़चन—बिखरे हुए खेतो में जाने के लिए मार्ग बनाने पड़ते हैं। इसलिए जुते हुए खेतो मे पगडण्डियां बनानी पड़ती है, जिससे कठिन परिश्रम का एक बहुत बड़ा भाग यो ही नष्ट हो जाता है।

(९) पारस्परिक कलह—किसानो मे पट्टेदारो और पडौस के खेत वालों से सदैव परस्पर कलह होते रहते हैं, जिससे मार-पीट तक की नौबत आ जाती है तथा मुकद्मेबाजी मे बहुत सा धन एव समय नष्ट होता है।

(१०) उचित देख-भाल का अभाव—छोटे-छोटे खेत होने के कारण कृषक खेतो की देख-भाल स्वयं नही कर सकता, इसलिए उसे जितनी सम्हालकर खेती करनी चाहिए उतनी वह नही कर पाता।

(११) गहरी खेती असम्भव—भारतीय कृषक न तो गहरी खेती ही कर

* B. P. Misra : Op. cit.

पाता है और न विस्तृत खेती ही, क्योकि दोनों प्रकार की खेती के लिए पर्याप्त पूंजी आवश्यक होती है। विदेशो मे कृषक अपनी आय बढाने के लिए खेती के साथ-साथ साग भाजी पैदा करने, अण्डे, दूध, मक्खन और शहद के लिए मुर्गियां, पशु और मक्खियां भी पालता है, परन्तु भारतीय किसान अपने छोटे खेतो के कारण पशुओ के लिये चारा तक पैदा नही कर सकता, फिर सहायक उद्योगो की बात ही कैसे की जा सकती है ?

(१२) कम-आय—खेतो के छोटे-छोटे होने के कारण खेती एक अलाभकर व्यवसाय हो जाता है। जैसा कि उत्तर-प्रदेश के कुछ भागो की जाँच से स्पष्ट है :—तीन एकड से कम की जोत पर प्रति वर्ष प्रति एकड ४०) रु० व्यय था और उससे प्राप्त आय केवल ४१ रु० १ आना। अर्थात् प्रति एकड शुद्ध आय केवल १ रु० १ आना ही थी।[1]

उप-विभाजन और अपखण्डन के लाभ—

छोटे-छोटे खेतो से केवल हानि ही नहीं होती, बल्कि इनसे कुछ लाभ भी हैं :—

(१) विभिन्न उर्वरा शक्ति का लाभ—जब खेत छोटे-छोटे और बिखरे हुए होते है तो किसान को भिन्न-भिन्न खेतो की उर्वरा शक्ति और जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओ का पूरा पूरा लाभ मिलता है। कारण, जब गाँव के एक भाग मे एक खेत में वर्षा होती है तो गाँव के दूसरे भाग के खेत मे जुताई आदि करके बीज बोया जा सकता है। इस प्रकार किसान के परिश्रम और पशुओ के श्रम का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है।

(२) कृषि आय का सन्तुलन—डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार 'वर्षा की कमी का सभी खेतो पर एकसा असर नही पडता, क्योकि जब एक खेत की फसल अनावृष्टि या अतिवृष्टि से नष्ट हो जाती है तो दूसरे खेतो की फसल इस आर्थिक हानि को दूर कर सकती है, जिससे कृषक की आय का सन्तुलन हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय किसान अपने छोटे छोटे खेतो पर हेर-फेर के साथ खेती करता है।[2]

(३) माँग और उत्पादन का सन्तुलन—खेतो के छोटे छोटे होने पर उत्पादको और उपभोक्ताओ में परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है। इस कारण उत्पादको को उपभोक्ताओं की आवश्यकताओ का ठीक-ठीक ज्ञात रहता है, जिसके अनुसार कृषि उत्पादन होता है। इससे कृषक को माँग के लिये भटकना नही पडता और न उत्पादनाधिक्य का ही भय रहता है। इतना ही नही, अपितु तेजी और मन्दी के कारण व्यापार मे जो सघर्ष उत्पन्न होते है वे भी नही होने पाते। उत्पादको को अधिक

1. R. K. Mukerjee: Economic Problems of Modern India, Vol. I, p. 111.
2. R K. Mukerjee: Problems of Modern India, Vol. I, p. 111.

लाभ न होने से कुछ व्यक्तियों के हाथ मे धन एकत्रित नही होता और न असमान वितरण की समस्या ही आती है।

(४) उपलब्ध श्रम का पूर्ण उपयोग—छोटे छोटे खेतों के उत्पादन में किसान प्रायः अपने बच्चे और स्त्रियो के श्रम का पूरा उपयोग कर सकता है। दूसरे, उन्हें अपनी इच्छा और सुविधानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) श्रम एवं पूँजी में सहयोग—छोटे-छोटे खेतो के कारण किसान या जमीदारो का अपने मजदूरो से सीधा सम्बन्ध होता है, इसलिए कार्य करने मे सद्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त उनमें परस्पर सहयोग रह कर संघर्ष नही होने पाता।

(६) अनावश्यक देख-भाल—छोटे-छोटे खेतो पर काम करने में श्रमिक को अपनी योग्यता एवं कुशलता के प्रदर्शन तथा उन्नति का यथेष्ठ अवसर मिलता है। इस प्रकार की उत्पत्ति में अधिक देख रेख नही करनी पडती, इसलिए इन पर होने वाले खर्चों मे भी कमी आ जाती है।

यद्यपि उप-विभाजन एवं अपखडन से कुछ लाभ होते हैं, फिर भी उससे होने वाली हानियों को तुलना में यह आवश्यक है कि कृषि के इस महत्त्वपूर्ण दोष का निवारण किया जाय।

आर्थिक जोत
(Economic Holding)

भारत मे अधिकाश जोत अलाभकर एवं अनार्थिक है। अतः कृषि मे उत्पादन बढाने एवं किसान का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए भारतीय जोत का क्षेत्रफल आर्थिक स्तर तक बढाना आवश्यक है। कृषक और उसके परिवार का श्रम, उसके हल एक बैल की जोडी और औजार एक प्रकार से श्रम और पूँजी की अविभाज्य इकाई है। इसलिए एक कृषक के पास इतनी भूमि होनी चाहिए जिससे वह अपने श्रम और पूँजी का उचित प्रयोग कर सके तथा कृषि की लागत को पूरा करने के बाद उसे अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो। यदि भूमि कम हुई तो श्रम और पूँजी का उचित उपयोग न हो सकेगा, जिससे उपज की लागत बढ जायेगी।

भूमि की आर्थिक जोत के सम्बन्ध में अर्थ-शास्त्रियो के भिन्न भिन्न मत हैं। श्री कीटिंग्ज[1] के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह है जो किसी व्यक्ति को आवश्यक लागत को निकाल कर अपना और अपने परिवार का उचित आराम के साथ निर्वाह कर सके इसका अवसर दे।" उनके अनुसार ४० से ५० एकड़ की जोत आर्थिक होगी। डा० मैन के अनुसार—"जोत की आर्थिक इकाई वह होती है, जो एक औसत कुटुम्ब के लिए सन्तोषजनक न्यूनतम स्तर प्रदान कर सके।" इनके अनुसार दक्षिणी भारत के गाँवो के लिए २० एकड पर्याप्त होगे।[2] स्टेनले जैवन्स के अनुसार—

1. Keatings : Rural Economy in Bombay Deccan, p. 52-53.
2. H. Mann : Op. Cit., p. 43.

"आर्थिक इकाई वही है जो एक कृपक को न्यूनतम-स्तर प्रदान करके एक ऊँचे जीवन-स्तर को सम्भव बना सके।" इनके अनुसार उत्तर-प्रदेश के लिए ३० एकड़ भूमि आर्थिक जोत होगी।[1]

उत्तर-प्रदेश कांग्रेस कृषि समिति के अनुसार—"न्यून कीमतो के समय जोत की इकाई १५ से १० एकड़ तक होनी चाहिए, किन्तु यदि कृषि वस्तुओं का मूल्य काफी ऊँचा, लगान कम तथा सिंचाई और कृषि के साधन उपलब्ध हो तो जोत का क्षेत्रफल कुछ कम भी किया जा सकता है।"[2]

श्री डार्लिंग के अनुसार—"पंजाब में एक किसान को न्यूनतम स्तर प्रदान करने के लिये कम से कम ८ से १० एकड भूमि चाहिए, यदि उसके पास आय के अन्य साधन न हो। अनुमान है कि पंजाब में जो कृपक बँटाई प्रथा के अनुसार खेती करता है ऐसे औसत दर्जे के एक परिवार के लिए कम से कम १० से १२ एकड भूमि आवश्यक होती है।"[3]

फ्लाउड कमीशन के अनुसार "बङ्गाल मे औसत जीवन-स्तर के ग्रामीण कुटुम्ब के लिए ५ एकड भूमि आवश्यक है। किन्तु जिन भागो मे भूमि पर दो फसलें पैदा की जाती हैं वहाँ २½ एकड भूमि आर्थिक जोत हो सकती है तथा जिन भागो मे भूमि की कम उर्वरा शक्ति के कारण केवल एक फसल पैदा होती है वहाँ कम से कम १० एकड भूमि होनी चाहिए।"[4]

मध्य-प्रदेश के लिये कुमारप्पा उद्योग जाच समिति ने २० एकड वाले खेत को लाभकर जोत माना है, क्योंकि इस आकार वाले क्षेत्र से किसान का साधारण जीवन-निर्वाह हो सकता है और उसको पूरा रोजगार मिलकर उसकी एक जोड़ी बैल का भी पूरा उपयोग हो सकता है।[5]

सर टी० विजयराघवाचारी के अनुसार "मद्रास मे भूमि की आर्थिक जोत कम से कम ४ से ६ एकड होनी चाहिए।"[6]

राजस्थान के पश्चिमी भागो के लिये जहाँ भूमि रेतीली, कम उपजाऊ और कम वर्षा वाली है, एक किसान को कम से कम १५ से २० एकड भूमि आवश्यक होगी, किन्तु पूर्वी भागो मे यह जोत १२ एकड तक भी हो सकती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जो जोत देश के एक भाग मे आर्थिक हो सकती है वही अन्य स्थानो मे अनार्थिक भी हो सकती है। इसलिये आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित करने मे निम्न बातो पर ध्यान देना आवश्यक है—

---

1. C B. Mamoria Agricultural Problems of India, p. 123
2. Quoted in Agricultural Problems of India. p 123.
3. Darling : Punjab Peasants in Prosperity & Debt.
4. Floud Commission Report.
5. Congress Agrarian Reforms Committee Report, p 36-37.
6. Kumarappa C. P. Industrial Enquiry Committee Report.

का परीक्षण हो रहा है तथा इस हेतु वैधानिक एवं प्रशासकीय औपचारिक कार्य पूर्णता की ओर है। सन् १९५८-५९ में इस हेतु १०.१६ लाख रु० का आयोजन था, जिसमें से केवल ३.८० लाख रु० व्यय हुआ।

महाकौशल क्षेत्र की चकबन्दी योजनाओं के लिए पंच-वर्षीय योजना का कुल आयोजन ३१.५० लाख रु० था, जिसमें से प्रथम तीन वर्ष में केवल ७.७८ लाख रु० व्यय हुआ। इसी प्रकार सन् १९५८-५९ में ८.२० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी प्रस्तावित थी, परन्तु केवल २.१४ लाख एकड़ भूमि की ही चकबन्दी हुई है तथा ०.५६ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही हो चुकी है।*

उपसंहार—

उक्त तथ्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक किसान उत्पादन के लिए अपनी भूमि का उपयोग स्वेच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र हो। इसलिये जब तक वह भूमि के एक टुकड़े को जोतता रहे तब तक भूमि पर उसका अधिकार स्वामित्व के समान ही स्थायी रूप से बना रहे। उसका यह अधिकार चाहे कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार भू-स्वामित्व अधिकार खरीदने की स्वतन्त्रता हो। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित किया जाय तथा कृषि भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित की जाय। आर्थिक जोत का क्षेत्र न्यूनतम १० एकड़ हो और किसी भी दशा में आर्थिक जोत से कम भूमि का उप-विभाजन न हो। इस सम्बन्ध में यद्यपि विभिन्न राज्यों में अधिनियम लागू हो गये हैं, फिर भी उनमें कड़ाई से पालन होने की आवश्यकता है। आर्थिक जोत रखने वाले कृषक अपने उत्तराधिकारियों की वयस्कता तक उनके भरण पोषण के लिए जिम्मेवार हों। इस हेतु उत्तराधिकार नियमों में आवश्यक संशोधन किये जायें। गाँव की बेकार भूमि को कृषि योग्य बना कर उसका वितरण अनार्थिक जोत वाले कृषकों एवं भूमि हीन कृषकों को किया जाय। वर्तमान समय में भारत में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल ०.३६ एकड़ है, जो इस सम्बन्ध में शोचनीय अवस्था की सूचक है, अतः भूमि विहीन एवं अनार्थिक जोत वाले कृषकों के आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाय।

कृषि की मूल समस्या अनार्थिक जोत की है और पूर्ण चकबन्दी के अभाव में स्थाई एवं वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः चकबन्दी को प्राथमिकता देनी होगी है। ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि उद्योग के इस सर्वव्यापी दोष को दूर करना होगा। अर्थात् उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन करना होगा, जिससे "प्रत्येक उत्तराधिकारी को सभी खेतों में बराबर-बराबर भाग मिलता

* Progress Report of 2nd Plan for 1958-59, page 68 of Madhya Pradesh Government.

सफल प्रयास किये गये हैं। फ्रान्स, डेनमार्क, स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी और जापान देशों के अनुभव से स्पष्ट हो गया है कि कृषक स्वेच्छा से अपने खेतों की चकबन्दी करने के लिये तैयार नहीं होते। इसलिए प्रायः सभी देशों में कानून के द्वारा चकबन्दी और भविष्य में उपविभाजन तथा अपखण्डन को रोकने के लिये कानूनी प्रयास किये गये हैं। कीटिंग्ज के अनुसार ये प्रयास निम्न थे :—*

(१) वर्तमान कृषकों की भूमि अनिवार्यतः अपने अधिकार में ले लेना।
(२) कुछ भू स्वामियों के तैयार होने पर अन्य भू स्वामियों के लिये खेतों की चकबन्दी अनिवार्य करना।
(३) चकबन्दी किये हुये खेतों के भविष्य में अपखण्डन के विरुद्ध आयोजन करना।
(४) चकबन्दी किये हुये खेतों को रहन से बचाना।
(५) चकबन्दी किये हुये खेतों को दूसरे खेतों से न मिलने देना।

आर्थिक जोतों का संरक्षण—

भविष्य में जोत का उप-विभाजन एवं अपखण्डन रोकने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान जोतों को छोटे छोटे होने से रोका जाय और बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी कर दी जाय। इस दशा में सबसे पहिले उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन होगा, जिससे परिवार का सबसे बड़ा पुत्र ही अचल सम्पत्ति का अधिकारी हो सके। यदि इस प्रकार की व्यवस्था हो गई तो कृषि पर जन संख्या का भार भी कम हो जायगा और अन्य उद्योग-धन्धों के विकास के साथ कुछ व्यक्ति उनमें लग जावेंगे।

भूमि बँटते-बँटते एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाय तो उसका विभाजन रोक दिया जाय और जब एक किसान को आर्थिक जोत के अधिकार प्राप्त हो जायें तो उनका विभाजन होना कानून द्वारा प्रबंध कर दिया जाय।

जोतों का विभाजन एवं अपखण्डन रोकने के लिए प्रथम पच-वर्षीय योजना के पहिले ही बम्बई, दिल्ली, पंजाब और पेप्सू में आवश्यक अधिनियम लागू किये गये हैं। प्रथम योजना काल में एक निश्चित न्यूनतम् सीमा से कृषि भूमि कम न होने देने से रोकने के लिए बिहार, हैदराबाद, उड़ीसा, राजस्थान एवं सौराष्ट्र में भूमि के विभाजन एवं हस्तान्तरण का नियमन करने के लिए अधिनियम बनाए गये हैं। मध्य-प्रदेश में मध्य-भारत और भोपाल क्षेत्र की कृषि भूमि की न्यूनतम सीमा १५ एकड़ नियत की गई है। इसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश की कृषि भूमि के लिए सिंचित भूमि का ५ एकड़ और सिंचित भूमि का १० एकड़ न्यूनतम सीमा है। आन्ध्र राज्य के हैदराबाद क्षेत्र की कृषि भूमि के लिए २ से २४ एकड़, उत्तर-प्रदेश में ६¼ एकड़ तथा दिल्ली के लिए ८ प्रमाप एकड़ न्यूनतम सीमा है। भूमि के उप-विभाजन या हस्तान्तरण से यदि भूमि का क्षेत्र इस सीमा से कम होता हो तो उस पर कानूनी रोक रहेगी। उप-विभाजन एवं

* Keatings : Op. cit.

अपखण्डन रोकने के लिए कानून का कड़ाई से पालन होना आवश्यक है, तभी वांछित परिणाम होंगे।

(१) स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी—इस समस्या को हल करने के लिए सबसे अच्छा उपाय किसानों द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपने भूमि की चकबन्दी और सरकार द्वारा अनिवार्य चकबन्दी है। स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी की दो कठिनाइयाँ हैं :—

(अ) स्वेच्छापूर्वक काम करने मे काफी देर लगती है और चकबन्दी का कार्य शीघ्रता से नही हो सकता। इसके अतिरिक्त जमीदार या महाजन भी चकबन्दी के कार्य मे रुकावट डालते हैं।

(ब) किसानो को यह समझाना बहुत कठिन है कि चकबन्दी से उनको लाभ होगा। किसान चाहेगा कि उसके बदले में मिलने वाली भूमि की किस्म पहले वाली किस्म से भिन्न न हो। वह नही चाहता कि नई भूमि कम उपजाऊ अथवा सिंचाई के साधनो से रहित हो। हर एक किसान अपनी पैतृक भूमि को बदलने के लिये तैयार नही होता, क्योंकि वह इसे पूर्वजो की धरोहर समझता है। कभी-कभी उसे यह भी डर रहता है कि चकबन्दी के कारण भूमि पर उसका अधिकार नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त गांव का पटवारी चकबन्दी के मार्ग में रोड़ा अटकाता है। इस कारण स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी के प्रयोग सफल नहीं होते।

"व्यक्तिगत प्रयत्नो से चकबन्दी करने की पद्धति जर्मनी, फ्रास, डेन्मार्क तथा जापान आदि देशों में असफल रही है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे देश के लिए—जहाँ किसानो मे घोर अज्ञान है—यह आशा करना कि वे उदारता एवं बुद्धिमानी से व्यक्तिगत रूप से अपनी जड़ता छोड़कर चकबन्दी के हेतु तैयार होंगे, यह केवल हठ है"—कौटिंग्ज। संक्षेप में इस मार्ग में निम्न बाधाएँ हैं :—

(१) कृषक की अशिक्षा एवं अज्ञान,
(२) पैतृक भूमि के प्रति प्रेम,
(३) सिंचाई के साधनो की तुलनात्मक अनुकूलता,
(४) भूमि सम्बन्धी अधिकारो की विभिन्नता एवं उनके छिन जाने की आशंका।

(२) कानून द्वारा चकबन्दी—कुछ राज्यो ने कानून द्वारा चकबन्दी अनिवार्य की है। सबसे पहिले मध्य-प्रदेश ने सन् १९२८ में चकबन्दी अधिनियम स्वीकृत किया। इस कानून के अनुसार कोई भी दो या इससे अधिक भू स्वामी कृषक, जिनके पास गाँव की ⅓ से कम भूमि न हो, चकबन्दी के लिए आवेदन दे सकते हैं। आवेदन की स्वीकृति पर भूमि की चकबन्दी योजना गाँव के शेष लोगों पर भी अनिवार्य रूप से लागू होती हैं। इस अधिनियम के अनुसार २५ लाख एकड़ कृषि भूमि की चकबन्दी मार्च सन् १९५५ तक हो चुकी है। उत्तर-प्रदेश में चकबन्दी कानून सन् १९३९ में,

बम्बई में सन् १९४७ मे, पंजाब मे सन् १९३६ एवं १९४८ में, दिल्ली मे सन् १९३६ और १९४८ मे तथा जम्मू एव कश्मीर राज्य मे भी स्वीकृत किए गए है, जिनके अनुसार चकबन्दी कार्य हो रहा है।

प्रथम एव द्वितीय पच-वर्षीय योजनाओं मे भूमि की चकबन्दी के महत्त्व की ओर संकेत किया गया है। योजना आयोग की यह सिफारिश है कि सामुदायिक विकास के अन्तर्गत कृषि कार्यक्रम में भूमि की चकबन्दी का प्राथमिक कार्य होना चाहिये। इस दृष्टि से सामुदायिक विकास अधिकारियों ने इस सम्बन्ध की उपलब्ध पद्धतियों का अध्ययन पूर्ण किया है, जिससे इस समस्या के हल के लिये उपलब्ध अच्छे अनुभव की प्राप्ति हो सके।

प्रथम योजना की अवधि मे बम्बई मे २१ लाख एकड, मध्यप्रदेश मे २० लाख एकड, पजाब और पेप्सू मे क्रमशः ४८ और १३ लाख एकड़ तथा उत्तर-प्रदेश मे ४४ लाख एकड भूमि की चकबन्दी की गई है। द्वितीय योजना काल मे विभिन्न राज्यो मे ४५० लाख एकड भूमि की चकबन्दी का कार्य-क्रम था। निम्न तालिका से इस सम्बन्ध मे प्रगति की कल्पना होगी :—

कृषि जोतों की चकबन्दी[1]

राज्य	१९५६–६१ के लिये आयोजन लाख रुपये	१९५६–६१ का लक्ष्य लाख रुपये	३१-१२-५७ को पूर्ण एकड	३१-१२ ५७ को चालू काम एकड
आन्ध्र	२०·५३	५·००	—	१,९२,३४१
असम	१४·२५	१३·८२	—	—
बिहार	१८·९७	१८·००	—	२,५५,८८५
बम्बई	७९·३९	७२·८१	१३,६५,२७५	११,७९,५४२
मध्य-प्रदेश	५४·२५	१६·२५	२१,९५४,३५	२,१९ ६४२
मद्रास	११·५०	N.F.	—	—
मैसूर	१४·५१	१५·०४	३,८८,३३४	४,५१,११०
उडीसा	५·००	N.F.	७३	—
पजाब	१७२·००	१५७·७२	८५,८०,८७४	५६,१७,४३८
राजस्थान	३२·५	१०·००	२१,०००	३,६२,११९
उत्तर-प्रदेश	D	५०·००	१३,९८,५९२	३७,३५,१२९
बंगाल	१४·२५	N.A.	—	—
दिल्ली	२·८५	०·५९	२,०१,८३४	—
हिमालय प्रदेश	९·५०	११८	२१,७६२	२६,१०४
मनीपुर	०·२९	E	—	—
पाडचेरी	०.२०	—	—	—
योग	४४९·९९	३६०·४१	१,४८,७३,१७९	१,२०,३९,३१०

1. India : 1959.

D. Consolidation scheme was outside the plan, nor it is being included in annual plans.

N. F. Not fixed.

N. A. Not available.

E. Froposed to be taken up after survey is finished.

(३) सहकारी प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी—चकबन्दी का काम सन् १६२० में सहकारी विभाग के अन्तर्गत पंजाब में शुरू हुआ। इस काम की प्रगति बहुत ही धीरे-धीरे थी। सन् १६४८ तक ७ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी तब हो सकी, जबकि सन् १६४८ का अन्तिम पंजाब अराजी (चकबन्दी राब टुक्करा रोक) अधिनियम पास किया गया। सहकारी विभाग के प्रचार से किसानों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और सन् १६४७ ४८ के अन्त तक राज्य में ६,५७३ चकबन्दी समितियाँ थीं, जिनकी सदस्यता २ लाख से अधिक थी। इन समितियों द्वारा की गई चकबन्दी के कारण खेतों की संख्या १८·२४ लाख से घट कर २·८६ लाख रह गई। सन् १६५१ में गाँवों में चकबन्दी की माँग बहुत बढ़ गई, अतः सरकार ने चकबन्दी योजना में परिवर्तन का निर्णय किया। नई योजना अप्रैल सन् १६५१ से लागू हुई, जिसके अनुसार प्रत्येक जिले में चकबन्दी के लिए एक तहसील चुनी गई। नई योजना के अन्तर्गत अगस्त सन् १६५७ तक कुल ४७ तहसीलों में से ४० तहसीलों में चकबन्दी करने का निश्चय किया गया है और बाकी ७ तहसीलों में सन् १६५६ तक चकबन्दी करने की योजना है। पुरानी योजना के अनुसार आज ४४ तहसीलों में चकबन्दी होनी थी और बाकी ३ में सन् १६६१ तक चकबन्दी समाप्त करने का इरादा था। तात्पर्य यह है कि चकबन्दी कार्य का अधिकतर भाग पुरानी योजना की तुलना में अब ४ वर्ष पहिले पूर्ण हो जायगा और बाकी तहसीलों में भी पहिले से दो साल पूर्व चकबन्दी समाप्त हो जायगी।

चकबन्दी करने में कठिनाइयाँ थीं, जो कुछ हद तक मानसिक और कुछ हद तक टेक्नीकल थीं। औसत भारतीय कृषक की मानसिक प्रवृत्ति के कारण उसमें अपनी भूमि से अलग होने के विचार से घृणा हो गई है। चकबन्दी के लाभ किसानों के सामने व्यवहारिक रूप में रखकर इस प्रवृत्ति में परिवर्तन किया जा रहा है। दूसरी बात, जिस पर इस कार्य की सफलता आधारित है, वह यह है कि कर्मचारी विचारपूर्ण, स्पष्ट और अपने काम में दिलचस्पी रखने वाले, शिक्षित, योग्य और इससे भी अधिक ईमानदार होने चाहिये। अधिकतर कठिनाइयाँ उस समय होती हैं, जब भूमि का अधिकार दिया जाता है या घटिया भूमि प्राप्त करने वाले को उसकी घटिया भूमि के बदले मुआवजा देने का प्रश्न आता है। कभी-कभी यह दोष भी लगाया जाता है कि कुछ गुटों और व्यक्तियों की तरफदारी की गई है। यह कहा जा सकता है कि न तो स्वेच्छापूर्वक सहयोग से ही और न कानून द्वारा ही चकबन्दी की समस्या सुलझाई जा सकी है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि ग्रामीण लोगों में शिक्षा का अभाव है, अतः जब तक उनमें शिक्षा का प्रचलन नहीं होगा तब तक समस्या ठीक प्रकार से हल नहीं हो सकेगी।

(४) संयुक्त ग्राम व्यवस्था—उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया जाता है कि गाँवों में संयुक्त ग्राम व्यवस्था लागू की जाय। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक भूमि-स्वामी के भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार को माना जाता है, परन्तु प्रबन्ध के लिए भू-स्वामी अपनी-अपनी भूमि

को देते हैं और इस सम्मिलित भूमि पर गाँव वाले आपस में मिल कर खेती करते हैं। भूमि में प्राप्त होने वाली आय को दो भागों में विभाजित किया जाता है :—एक तो, वह आय जो काम करने के कारण होती है और दूसरी, जो भूमि स्वामित्व के कारण होती है। विभाजन नकद या जिन्स में किया जाता है, लेकिन प्रतियोगिता के आधार पर भी यह विभाजन हो सकता है, किन्तु साधारणतः यह *व्यवस्था रिवाजी होती है*। खेत की सम्पूर्ण आय काम करने वालों में बँट जाती है तथा शेष आय में लगान आदि चुका दिये जाते हैं और जो कुछ बचता है, वह भू-स्वामियों में बाँट दिया जाता है। वास्तव में संयुक्त ग्राम व्यवस्था का सुझाव बहुत अच्छा है, किन्तु उसके अपनाने के पूर्व सरकार और कृषक के बीच में सम्पर्क स्थापित करने वाले समस्त मध्यस्थों का अन्त होना जरूरी है।

(५) सामूहिक कृषि—कुछ व्यक्तियों का कहना है कि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सारी भूमि को बड़े-बड़े टुकड़ों में विभाजित करके आधुनिक पद्धति से उन पर खेती की जाय। इसमें काम करने वाले व्यक्तियों को उनकी आवश्यकता के अनुसार आय का भाग देना चाहिए। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था क्रान्तिकारी होगी, क्योंकि इसमें खेती करने वाला व्यक्ति भूमि का स्वामी नहीं, अपितु एक मजदूर होगा। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रजातन्त्रात्मक भावना नहीं है और व्यक्तिगत विकास की सम्भावना भी कम है। साथ ही, इसमें बहुत से खेतिहर मजदूर बेकार हो जावेंगे, क्योंकि वैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा कृषि की जायगी। इसमें सबसे बड़ी असुविधा यह भी होगी कि प्रत्येक किसान, जिसके पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हैं, वे सामूहिक खेती के लिए शीघ्र तैयार न होंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनके अधिकार वाली भूमि का पृथक अस्तित्व ही मिट जाता है। वे सोचते हैं कि ऐसा करने पर भविष्य के बन्दोबस्त में उनकी भूमि उनके स्वामित्व में न रहकर समिति की हो जायगी। अतः भविष्य में कुछ समय तक सामूहिक खेती भारतीय कृषि क्षेत्र में अपनाना सम्भव नहीं है।

(६) सहकारी कृषि—जोत के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिए यह भी सुझाव है कि किसान सहकारी प्रणाली द्वारा कृषि करें। इस प्रकार की खेती में सभी मालिक किसान अपने छोटे-छोटे खेतों को एक बड़ी इकाई में मिला देते हैं और वे अपनी भूमि, पूँजी तथा पशुओं को एकत्रित करके इन बड़ी इकाइयों पर सहकारी प्रणाली द्वारा खेती करते हैं। प्रत्येक किसान का इस इकाई में व्यक्तिगत अधिकार रहता है और इसके लिए उन्हें लाभ का एक अंश मिल जाता है। इसके अतिरिक्त खेतों में काम करने वाले व्यक्तियों को काम के लिए मजदूरी के रूप में शेष लाभ का अंश बाँट दिया जाता है। इस प्रकार की खेती करने से किसानों को कई लाभ होते हैं, जैसे:—बड़े पैमाने पर रुपया उधार लेने की, कच्चे माल

खरीदने तथा उपज को बेचने की सुविधा आदि। इस प्रकार की खेती के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है, किन्तु भारतीय कृषक इतने दरिद्र हैं कि वे किसी बाहरी सहायता बिना अपना काम नहीं चला सकते।

सहकारी खेती को अपनाने में कई कठिनाइयाँ भी हैं :—

(१) किसान को भूमि से बहुत प्रेम होता है, अतः वह इन्हें किसी भी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में और विशेषकर जब गाँव में अन्ध-विश्वास हो और शिक्षा का अभाव हो, सहकारी खेती सफलतापूर्वक नहीं चलाई जा सकती।

(२) यदि किसी प्रकार छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़ी इकाइयाँ बना भी ली जायें तो उन्हें सुचारु रूप से रखने के लिए योग्यता और व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होगी, जिसका मिलना भारतीय ग्रामीणों में असम्भव है।

इन उपरोक्त कठिनाइयों को परिश्रम से दूर किया जा सकता है। गाँव के कुशल व्यक्तियों को खेती की देखभाल करने के लिये शिक्षा दी जा सकती है। सरकार देश के विभिन्न भागों में बेकार पड़ी हुई भूमि को आधुनिक साधनों द्वारा खेती के योग्य बनाकर ग्रामीणों को सहकारी खेती के लिए दे सकती है। सरकार किसानों में सहकारी खेती के प्रति रुचि पैदा करने के लिए अपने खेतों में प्रदर्शन आदि के द्वारा इस प्रणाली के लाभों को किसानों को प्रत्यक्ष रूप में समझा सकती है। आरम्भ में एक गाँव से यह प्रयोग आरम्भ किया जा सकता है और किसानों के तैयार हो हो जाने पर प्रदर्शन द्वारा यन्त्रों, वैज्ञानिक खादों, अच्छे बीजों को सस्ती बिक्री द्वारा सहकारी खेतों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इस प्रणाली के द्वारा किसानों की जोतें अलाभकारी न रह कर आर्थिक इकाइयों में बदल जायेंगी।

भविष्य में भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने और कृषकों के आर्थिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम खेतों के संगठन पर विचार करें। परन्तु इस बात पर निश्चय करने से पहिले हमें देश की निम्न परिस्थितियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) हम एक प्रजातन्त्रात्मक विधान में विश्वास करते हैं, इसलिए हमारा विश्वास विकास में है, क्रान्ति में नहीं।

(२) प्रत्येक प्रकार की भूमि में सुधार करते समय हमें यथाशक्ति अधिक से अधिक व्यक्तियों को काम देना है। क्योंकि भूमि सीमित है और काम करने वाले लोगों की संख्या अधिक।

(३) भारतीय किसान परम्परा से भूमि के व्यक्तिगत उपयोग के अधिकार को अपने प्राणों से भी अधिक समझता है।

(४) कांग्रेस कृषि सुधार समिति के अनुसार हर भूमि सुधार में तीन बातों

का समावेश होना आवश्यक है—(अ) प्रति एकड़ उत्पादन वृद्धि, (ब) कृपक का व्यक्तिगत विकास, (स) किसान के वर्तमान सामाजिक स्तर मे उन्नति ।

(५) सहकारी कृषि की सफलता के लिए श्री आर० के० पाटिल के द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन के अनुसार दो प्रमुख बातें आवश्यक हैं—

(अ) सहकारी कृषि को अपनाने में कृपक को पूर्ण स्वतन्त्रता हो, अर्थात् उस पर उसको सहकारी कृषि के हेतु वैधानिक अनिवार्यता न हो ।

(आ) सहकारी कृषि की सदस्यता छोड़ने के लिये कृपक स्वतन्त्र हो, परन्तु इस स्वतन्त्रता का उपयोग वह केवल फसल की कटाई के बाद ही कर सके, ऐसा बन्धन हो ।[1]

फिर भी दूसरी पंच-वर्षीय योजना मे कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए सहकारी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । प्रथम पच-वर्षीय योजना काल मे ही लगभग सभी राज्यों मे सहकारी कृषि समितियों के सगठन के लिए नियम एव उपनियम बनाये गये । दूसरी योजना की अवधि मे राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर सन् १९५७ मे निर्णय किया कि दूसरी योजना की अवधि मे प्रयोगात्मक तौर पर ३,००० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना की जाय । इस निर्णय के अनुसार दिसम्बर सन् १९५८ तक २,०२० सहकारी कृषि फार्मों की स्थापना हुई है ,जो निम्न हैं :—

सहकारी कृषि समितियाँ[2]

राज्य	समितियों की संख्या
आन्ध्र	३१
आसाम	१७०
बिहार	२७
बम्बई	४०२
दिल्ली	२२
जम्मू-काश्मीर	७
केरल	५५
मध्य प्रदेश	१४०
मद्रास	३७
मनीपुर	३
मैसूर	१००
उड़ीसा	२८

1. Report on Cooperative farming in China by R K. Patil. (June 1957)

2. India-1959.

पंजाब	४७८
राजस्थान	१०५
त्रिपुरा	१२
उत्तर-प्रदेश	२५५
प० बंगाल	१४८
योग	२,०२०

द्वितीय योजनाकारों के अनुसार "द्वितीय पंच वर्षीय योजना की अवधि का मुख्य कार्य आवश्यक उपकरणों द्वारा सहकारी कृषि के विकास के लिए सुदृढ़ नींव बनाना है, जिससे लगभग १० वर्षों में देश के अधिकांश क्षेत्रों में सहकारी सिद्धान्तों पर कृषि होने लगे।"

अब चूँकि कांग्रेस ने बंगलोर अधिवेशन में सहकारी कृषि का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है इसलिये सहकारी कृषि भारतीय कृषि-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग हो गई है। इसको सफलता से कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त "कार्यकारी दल" ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है, जो सारांश में निम्न है :—

सहकारी कृषि समिति "यह कृषकों का स्वेच्छा संगठन है, जिसका उद्देश्य भूमि, श्रम और कृषि साधनों का उपज बटान एवं लोगों को काम देने के लिए अच्छी तरह उपयोग करना है और जिसके अधिकांश सदस्य स्वयं कृषि-कार्य करें।"* स्वेच्छापूर्ण सहकारी कृषि को प्रोत्साहन देने के लिये दल का सुझाव है कि जिन प्रदेशों में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार बहुमत यदि चाहे तो सहकारी कृषि संगठन में सम्मिलित होने को बाध्य किया जा सकता है। ऐसे कानूनों को रद्द कर देना चाहिये।

चुने हुये सामुदायिक विकास क्षेत्रों में जहां सहकारिता का काम अच्छा है, अगले चार वर्ष में प्रत्येक चार जिलों में एक के दर से ३२० मॉडेल सहकारी कृषि योजनायें आरम्भ की जायें। चालू वर्ष में ४० योजनायें आरम्भ की जायें, प्रत्येक योजना में १० सहकारी समितियाँ बनाई जायें। इस प्रकार सन् १९६३-६४ के अन्त तक ३,२०० समितियाँ काम करने लगेंगी। इनकी सफलता से यह आशा है कि अन्य क्षेत्रों में भी २०,००० सहकारी कृषि-समितियाँ और बन सकेंगी।

निम्न महत्त्वपूर्ण कदम शीघ्र ही उठाने चाहिये :—

(१) सहकारी कृषि समिति के सदस्य ही इस काम में अगुआ हों,
(२) समिति के सदस्यों के हितों या स्वार्थों में संघर्ष न हो।
(३) सदस्यों की संख्या या समिति का आकार इतना ही होना चाहिये कि लोग एक दूसरे को जानते हों।
(४) प्रत्येक सदस्य को प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार हो।

* Report of the Working Team on Cooperative Farming : सम्पदा १९६० अप्रैल से।

स्वामित्व एवं सदस्यता—

सहकारी कृषि मे जो भूमि शामिल हो वह साधारणत: ५ वर्ष के लिए हो। भूमि पर सदस्यो का अक्षुण्ण अधिकार रहे और पृथक होने वाले सदस्य को यदि वह भूमि न दी जा सके तो उतनी ही पैदावार की जमीन उसे वापिस दी जाय।

समिति मे ऐसे सदस्यो को सम्मिलित नही करना चाहिए जो स्वय कृषि न करें। इनकी भूमि का सहकारी कृषि मे समावेश करने के स्थान पर उसे पट्टे पर लिया जाय। सदस्यों को अपने एवज में काम करने के लिए दूसरे व्यक्ति को देने की अनुमति न दी जाय। सहकारी कृषि समितियो को ऐसे कुटीर एवं ग्रामीण धन्धे भी आरम्भ करना चाहिए जिनमे सदस्यो को काम मिल कर उनकी पूरी श्रम शक्ति का उपयोग हो।

सफलता—

सहकारी कृषि की सफलता इस बात से आकी जानी चाहिए कि उसके सदस्यों की सम्मिलित या कुल आय कितनी हुई, न कि दैनिक मजदूरी से। योग्य और परिश्रमी कार्यकर्त्ताओ को अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। सहकारी कृषि के लाभ से कृषि के विकास, सुरक्षित कोष, भोजन कोष आदि के लिए यथोचित धन रखकर बाकी रकम सदस्यो मे उनके काम के अनुसार बोनस के रूप मे बॉटना चाहिए। बोनस भूमि के हिसाब से भी दिया जा सकता है। ऐसी मशीनो को काम में लिया जाय जिनसे बेकारी न बढे, जैसे सिचाई के लिये पम्प आदि।

सहकारी कृषि की सफलता के लिए कृषको, सहकारी मत्रियो, शिक्षकों, विशेष अधिकारियो, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ एव सम्बन्धित कर्मचारियो को नई ट्रेनिंग देने तथा अनुसधान करने के लिए सहकारी कृषि की राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय।

आर्थिक सहायता—

बैको आदि द्वारा सहकारी कृषि का महत्त्व न समझने, सहकारी कृषि समिति द्वारा जमीन आदि की जमानत देने मे असमर्थता के कारण इन समितियो को काफी कठिनाई हुई है। इसलिए सरकार को चाहिये कि प्रत्येक समिति को उपज के कार्यक्रमो के अनुसार अधिकतम ४,००० रु० तक का काम देना चाहिए। जो ऋण अल्प, काल में ही चुकाया जाने वाला हो उसे सरकार की गारन्टी बिना ही केन्द्रीय सहकारी बैंको से सीधे मिलना चाहिए।

भूमिपतियो की सामर्थ्य बढाने के लिए प्रत्येक सोसाइटी से अधिकतम २,००० रु० के शेअर ले। ये शेअर समिति की शक्ति बढाने के लिये है उन पर नियन्त्रण करने के लिए नही।

सहकारी खेती के कार्यक्रम पर लगभग ३५·२६ करोड रु० व्यय होगा, जिसमें से २८·६५ करोड कृषि समितियो की सहायता के लिये, ४·२४ करोड ट्रेनिंग और शिक्षा के लिए तथा २·३७ करोड़ रु० कारीगरो पर व्यय किया जाय।

(६) भूमि का ग्रामीणीकरण—श्री विनोबा जी के प्रवर्तन में चलाया गया भू-दान आन्दोलन का स्वरूप क्रमशः ग्राम-दान या भूमि के ग्रामीणीकरण में दिनांक २३ मई सन् १९५२ को किया गया है, जिस दिन मंगरोठ (उत्तर-प्रदेश) का पहिला गाँव ग्राम-दान में मिला। इस आन्दोलन के कारण ३१ अगस्त सन् १९५८ तक ४,४४० ग्राम ग्राम-दान में मिले हैं। इस सम्बन्ध में मैसूर (एलवाल) में सब पक्षों व राजकीय नेताओं की परिषद् में ग्रामदान को भारत की भूमि समस्या का सही हल प्रस्तुत करने वाला प्राथमिक स्थान माना गया। फलस्वरूप नये राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड और सामुदायिक विकास योजनायें ग्राम दान क्षेत्रों में ही प्रारम्भ होंगी। क्योंकि इन गाँवों में विकास कार्य की सफलता हेतु जो जन-सहयोग एवं स्वामित्व का त्याग, आदि प्राथमिक बातों की आवश्यकता होती है, वे पूर्ण हो गई हैं।

इन ग्रामदानी क्षेत्रों में गाँव की पूर्ण बेकारी दूर करने के लिए व सरकारी व्यवस्था के अनुरूप सामूहिक, सहकारी व व्यक्तिगत व्यवस्था में कृषि की व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रयोग परिस्थिति के अनुसार किये जायेंगे। इन क्षेत्रों में भू स्वामित्व के विसर्जन के कारण भूमि का हस्तान्तरण ऋण व बिक्री की दृष्टि से न हो सकेगा, परन्तु भूमि पर कार्य न करने अथवा उसका समुचित उपयोग न करने पर भूमि-व्यवस्था में हेर-फेर हो सकेगा। इस प्रकार भारत के गरीब व अशिक्षित कृषकों के लिए यह ग्रामीणीकरण गतिशील एवं प्रजातन्त्रीय योजना का भाग होने के साथ ही उसमें व्यक्तिगत विकास के लिए लाभकर होगा।

इस पद्धति के निम्न लाभ हैं :—

(अ) गाँव की ग्राम सभा या पंचायत या सहकारी संस्था की ऋण लेने एवं भुगतान करने की तथा सहकारी सहयोग प्राप्त करने की शक्ति में वृद्धि होगी, जो ग्रामीण उन्नति की आधार शिला है।

(ब) कृषक को उसकी उपज का उचित मूल्य मिलेगा, क्योंकि विक्रय की जिम्मेदारी ग्राम सभा आदि की होगी।

(स) इस प्रकार की व्यवस्था में फसलों का योजनाकरण सम्भव होगा, जिससे खाद्यान्न समस्या को प्राथमिकता मिलेगी।

(द) सभी कृषि कार्य सामूहिक ढङ्ग पर होने के कारण उत्पादन व्यय में कमी और प्रति एकड़ उपज में वृद्धि होगी।*

ग्राम-दान आन्दोलन के व्यय के हेतु भारत सरकार ने सन् १९५६-५७ में ११·६२ लाख रु० तथा सन् १९५७-५८ में १० लाख रु० का आयोजन किया था।

मध्य-प्रदेश में चकबन्दी—

गत वर्षों की भांति मध्य-प्रदेश के केवल महाकौशल क्षेत्र में ही चकबन्दी योजना कार्यान्वित हो रही है। इस योजना को अन्य क्षेत्रों में लागू करने के प्रस्तावों

* भूदान यज्ञ साप्ताहिक से।

का परीक्षण हो रहा है तथा इस हेतु वैधानिक एवं प्रशासकीय औपचारिक कार्य पूर्णता की ओर है। सन् १९५८-५९ में इस हेतु १०·१६ लाख रु० का आयोजन था, जिसमें से केवल ३·८० लाख रु० व्यय हुआ।

महाकौशल क्षेत्र की चकबन्दी योजनाओं के लिए पंच-वर्षीय योजना का कुल आयोजन ३१·५० लाख रु० था, जिसमें से प्रथम तीन वर्ष में केवल ७·७८ लाख रु० व्यय हुआ। इसी प्रकार सन् १९५८-५९ में ८·२० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी प्रस्तावित थी, परन्तु केवल २·१४ लाख एकड़ भूमि की ही चकबन्दी हुई है तथा ०·५६ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही हो चुकी है।*

उपसंहार—

उक्त तथ्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक किसान उत्पादन के लिए अपनी भूमि का उपयोग स्वेच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र हो। इसलिये जब तक वह भूमि के एक टुकड़े को जोतता रहे तब तक भूमि पर उसका अधिकार स्वामित्व के समान ही स्थायी रूप से बना रहे। उसका यह अधिकार चाहे कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार भू-स्वामित्व अधिकार खरीदने की स्वतन्त्रता हो। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्रफल निर्धारित किया जाय तथा कृषि भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकतम सीमा (Ceiling) निश्चित की जाय। आर्थिक जोत का क्षेत्र न्यूनतम १० एकड़ हो और किसी भी दशा में आर्थिक जोत से कम भूमि का उप-विभाजन न हो। इस सम्बन्ध में यद्यपि विभिन्न राज्यों में अधिनियम लागू हो गये हैं, फिर भी उनमें कड़ाई से पालन होने की आवश्यकता है। आर्थिक जोत रखने वाले कृषक अपने उत्तराधिकारियों की वयस्कता तक उनके भरण पोषण के लिए जिम्मेवार हों। इस हेतु उत्तराधिकार नियमों में आवश्यक संशोधन किये जायें। गाँव की बेकार भूमि को कृषि योग्य बना कर उसका वितरण अनार्थिक जोत वाले कृषकों एवं भूमि हीन कृषकों को किया जाय। वर्तमान समय में भारत में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि केवल ०·३६ एकड़ है, जो इस सम्बन्ध में शोचनीय अवस्था की सूचक है, अतः भूमि विहीन एवं अनार्थिक जोत वाले कृषकों के आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाय।

कृषि की मूल समस्या अनार्थिक जोत की है और पूर्ण चकबन्दी के अभाव में स्थाई एवं वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः चकबन्दी को प्राथमिकता देनी होगी। ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि उद्योग के इस सर्वव्यापी दोष को दूर करना होगा। अर्थात् उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन करना होगा, जिससे "प्रत्येक उत्तराधिकारी को सभी खेतों में बराबर-बराबर भाग मिलता

* Progress Report of 2nd Plan for 1958-59, page 68 of Madhya Pradesh Government.

है।"[1] तभी हम कृषि भूमि को उप-विभाजन एवं अपखण्डन रूपी 'आर्थिक भूकम्पों'[2] के दुष्परिणामों से बचा सकेंगे।

परिशिष्ट

भूमि के चकबन्दी की प्रगति[3]

प्रदेश	१९५६-६१ के लिए आयोजन (लाख रु०)	१९५६-६१ लक्ष्य (लाख एकड)	३०-६-५९ चकबन्दी कार्य की पूर्ति (लाख एकड)	चकबन्दी चालू है (लाख एकड़)
आन्ध्र	२०·५३	५·००[४]	—	२·३६
असम	१४·२५	१३·८२	—	आरम्भ नही
बिहार	१८·९७	९·५०	—	०·७२
बम्बई	७९·२६	७२·८१	१८·१२	१८·१५
जम्मू-कश्मीर	—	—	—	आरम्भ नही
केरल	—	—	—	"
मध्य-प्रदेश	५४·२५	१६·२८[५]	३३·३९	२·६०
मद्रास	१४·२०	—	—	आरम्भ नही
मैसूर	१४·५१	१५·०४[६]	७·४६	४·०१
उड़ीसा	५·००	—	—	आरम्भ नही
पंजाब	९५·००	१५१·७२	९५·५५	४२·८३
राजस्थान	३१·५०	१०·००	३·९७	७·१६
उत्तर-प्रदेश	*	५०·००	३०·७०	२६·४५
पश्चिमी बंगाल	१०·२५	—	—	आरम्भ नही
दिल्ली	२·८५	०·५९	२·०२	३१-८-५५ से काम बन्द है
हिमाचल-प्रदेश	९·५०	१·१८	०·६३	०·२०
मणीपुर	०·२९	—	—	आरम्भ नही
योग	३०५·४९	३५१·९१	१९१·८७	१०५·२८

1. Consolidation of agricultural holdings—C. F. Strickland, page. 3.

2. Economic Development of Overseas Empire, Vol.—I C.A. Knowles.

3. India—1960 Table 143.

४. केवल तेलंगाना जिले में।

५. महाकौशल क्षेत्र में ही।

६. पहिले के बम्बई राज्य के ४ जिलों में।

* योजना में समाविष्ट नहीं।

अध्याय ८

भारत में सिंचाई

(Irrigation in India)

"भारतवर्ष मे सिचाई ही सब कुछ है। पानी भूमि से मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है तो उपज शक्ति में कम से कम छः गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि भी उपजाऊ हो जाती है, जो बन्जर थी, अत: भारत मे सिचाई ही सब कुछ है।"

—सर चार्ल्स ट्रेवीलियन

"भारतवर्ष के सिचाई के साधनों से विशाल साधन किसी अन्य देश में नहीं हैं और इससे पवित्र निर्माण कार्य संसार में कभी नहीं किया गया है।"

—सर जे० स्ट्रैची।

भारत की कृषि प्रमुख रूप से वर्षा पर ही निर्भर है। भारत के अनेक भाग ऐसे है, जहाँ पर केवल नाम मात्र की ही वर्षा होती है, जैसे—राजपूताना, दक्षिणी-पश्चिमी पजाब। इसलिए ऐसे क्षेत्रो मे जब तक सिचाई के स्रोत उपलब्ध नही है, तब तक कृषि व्यवसाय होना असम्भव हो जाता है। भारतीय जलवायु की विशेषता है कि कई भागो मे वर्षा देर से होने के कारण या बिलकुल न होने के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं, जैसे—चावल, गन्ना आदि। कुछ फसलें ऐसी भी होती हैं, जिनके लिए पानी का अधिक परिमाण मे होना आवश्यक है। डॉ० वॉयल्कर के शब्दो मे—"पानी और खाद ये दोनो ही कृषको की प्रमुख आवश्यकताएँ होती है।"* इसी दृष्टि से वर्षा की पर्याप्तता के अभाव मे भूमि की सिचाई के लिये नदियो का तथा वर्षा से उपलब्ध पानी के उचित उपयोग के लिए कृत्रिम साधनो का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय वर्षा की अनिश्चितता, वर्षा का असमान वितरण अवर्षा अथवा अति वर्षा आदि के कारण सिचाई के कृत्रिम साधनो का अस्तित्व एवं उनकी पर्याप्तता कृषि उद्योग की सफलता के लिए आवश्यक है।

अर्थ—

सिंचाई से अभिप्राय है कि जिन प्रदेशो मे प्राकृतिक साधनो से कृषि के लिए पानी की व्यवस्था नही है वहाँ नदी, तालाब, नहरो आदि कृत्रिम साधनो से पानी पहुँचाने की व्यवस्था करना। अथवा "जहाँ कृषि योग्य भूमि पर होने वाली फसलों के

* Water and manure together represent in brief the ryot's main wants—Dr. Voelker.

लिए वर्षा से होने वाला पानी का प्रदाय कम है, वहाँ कृत्रिम साधनों द्वारा पानी के नियन्त्रित प्रयोग को सिंचाई कहते हैं।"

सिंचाई का महत्त्व—

भारत जैसे देश में जहाँ पर मरु-भूमि तथा अर्द्ध मरु-भूमि क्षेत्र कुल भूमि के अनुपात से अधिक है, वहाँ पर्याप्त खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल के प्रदाय एवं राष्ट्रीय समृद्धि के दृष्टिकोण से सिंचाई के पर्याप्त साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में थी० नोलम का कथन है—"सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योंकि भूमि की उपज, उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय में वृद्धि हुई है। इस कारण दुर्भिक्ष के समय में इस सहायता की आवश्यकता पडती है। अतः ये सम्पूर्ण क्षेत्र को सम्य बनाने में सहायक हुए हैं।......जिन्होंने दुर्भिक्ष देखा है, उन्हें सिंचाई के विषय में यह बात स्पष्ट है कि इनसे सुरक्षा और हित में वृद्धि हुई। जो सुरक्षा का प्रभाव समझ सकते हैं—योग्य व्यक्तियों की सहायतार्थ कार्यों में रोजगारी, स्त्रियों का मिट्टी ढोना, बच्चों का दुर्बल और क्षीणकाय होना, पशुओं का मरना और खेतों का तृण रहित होना—वे सिंचित क्षेत्र में जाते ही अन्तर अनुभव कर सकते हैं क्योंकि वहाँ हरी-भरी फसलें, अन्न का आधिक्य और गुराम्बद्ध कुटुम्ब दिखाई देते हैं तथा बच्चों में इधर-उधर खेलने की शक्ति होती है, इसलिए इन दो परिस्थितियों में प्रसन्नता का अन्तर मुद्रा के मापदण्ड से नहीं आंका जा सकता।"

सिंचाई से केवल कृषि और कृषक की ही उन्नति नहीं होती है, बल्कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विकास, व्यापार में उन्नति, उत्पादन में वृद्धि, उद्योगों का विस्तार, क्रय-शक्ति में वृद्धि, सरकारी आय में वृद्धि, दुर्भिक्ष-सहायता व्यय में कमी तथा जन संख्या के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होती है। सिंचाई साधनों के निर्माण से बेकारी कम होती है। संक्षेप में, देश में आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता का साम्राज्य छा जाता है।

सिंचाई के साधनों से सरकार और कृषक दोनों को ही लाभ होता है, क्योंकि इसमें दोनों की ही आय बढ़ती है। सन् १६५०-५१ में सरकार को १४ करोड़ रुपये की आय केवल सिंचाई के साधनों से हुई थी। वर्नार्ड डार्ले के शब्दों में—"भारत की वृद्धिगत जन-संख्या की खाद्यान्न पूर्ति होना अत्यावश्यक है। वह समय दूर नहीं जब प्रत्येक भू-भाग पर कृषि करना अनिवार्य होगा तथा जनता की खाद्यान्न पूर्ति के लिए और भी अधिक भूमि की आवश्यकता होगी।" इसलिए सिंचाई की महत्ता अत्यधिक है।

भारत में सिंचाई का क्षेत्र—

भारत के कुल कृषि-क्षेत्र में से लगभग १८% कृषि क्षेत्र को सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध हैं। सन् १६५५-५६ में समाप्त होने वाले ७ वर्षों के सिंचित क्षेत्र में ६६ लाख एकड़ भूमि की वृद्धि हो गई है :—*

* India—1958.

(लाख एकड में)

सिंचाई का साधन	१९४७-४८	१९५५-५६	कुल वृद्धि या कमी
नहरें	१९८	२३२	+ ३४
तालाब	८०	१०५	+ २५
कुँए	१२५	१६८	+ ४३
अन्य	६४	५८	− ६
योग	४६७	५६३	+ ९६

भारत मे कुल कृषि योग्य भूमि ७१'८३ करोड एकड है, जिसमे से ३०'२४ करोड एकड भूमि पर प्रति वर्ष खेती होती है। इस भूमि मे ५६३ एकड भूमि अथवा लगभग १/५ भाग को ही सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध है, जो विश्व के किसी भी देश के सिंचित क्षेत्र से अधिक है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे २०० लाख एकड, रूस मे ८० लाख एकड, जापान मे ७० लाख एकड, मिश्र मे ६० लाख एकड, मैक्सिको मे ५७ लाख एकड तथा इटली मे ४५ लाख एकड भूमि मे सिंचाई होती है। भारत में सिंचाई का महत्वपूर्ण साधन 'नहरें' हैं, जिनमे १२५ करोड रु० से अधिक पूंजी लगी हुई है। इसी कारण भारत 'नहरो का देश' माना जाता है।

भारत मे सिंचित क्षेत्र विश्व के सभी देशो से अधिक होने के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) नहरो को खोदने के लिये सबसे अच्छे मार्ग उत्तरी भारत मे गङ्गा-यमुना के मैदान और दक्षिणी भारत मे पूर्वी किनारे की नदियों के डेल्टा हैं, जो समतल हैं। इन भागो मे भूमि का ढाल इतना धीमा है कि नदियो के ऊपरी हिस्सो से निकलती हुई नहरो का पानी सारे मैदान मे सरलता से फैल जाता है।

(२) उत्तरी भारत का गगा-यमुना का मैदान और दक्षिण भारत के पूर्वी किनारो की नदियो के डेल्टाओ की भूमि नदियो द्वारा लाई गई मिट्टी के बने हुए है, जो बहुत ही उपजाऊ हैं। अतः सिंचाई होने पर उत्तम फसलें पैदा होती है।

(३) इन भागो मे चट्टानें बहुत कम और मिट्टी मुलायम है। इसलिए नहरें खोदने मे बडी आसानी होती है तथा खर्च भी अधिक नही होता।

(४) उत्तरी भारत के मैदान में हिमालय पर्वत की बर्फ से ढकी चोटियो से निकलती हुई बडी-बडी नदियाँ साल भर पानी से भरी बहती हैं, जिनमे अथाह पानी रहता है।

(५) देश की अधिकाश जन-सख्या खेती मे सलग्न है, अतः खेती के लिये सिंचाई की अधिक माँग है।

सिंचाई के विभिन्न साधन—

भारत में सिंचाई के लिये भिन्न भिन्न साधन काम में लाए जाते हैं। कारण, देश के विभिन्न भागो मे प्राकृतिक दशा की विभिन्नता है, जैसे—उत्तरी भारत मे विशेषकर नहरो और कुंओ से तथा दक्षिण के पठारो मे तालाबो से सिंचाई की जाती है। कुल सिंचित भूमि की ४१ प्रतिशत नहरो, ३० प्रतिशत कुंओ, १९ प्रतिशत तालाबो और *अन्य साधनो द्वारा* सिंचाई होती है।*

* Hindusthan Year Book 1959.

सिंचित क्षेत्र[1]

सिंचाई के साधन	१९४७–४८ (लाख एकड़)	%	१९५२–५३ (हजार एकड़)	%	१९५४–५५ (लाख एकड)	%	१९५५–५६ (लाख एकड)	%
(१) नहरें :								
सरकारी	१५३	३२	१८,९१८	३७	२२३·००	४१	२३२	४१
प्राइवेट	४५	१०	३,२३९	६				
(२) तालाब	८०	१७	७,८७२	१५	९८	१८	१०५	१९
(३) कुँए	१२५	२७	१६,०१४	३१	१६४	३०	१६८	३०
(४) अन्य स्रोत	६४	१४	५,७१७	११	५९	११	५८	१०
(५) कुल क्षेत्र	४६७	१००	५१,७५१	१००	५४४	१००	५६७	१००
कुल बोया गया क्षेत्र			३,०२,४७२		३,१४९		३,१९८	

इस तालिका से स्पष्ट है कि कुल सिंचित क्षेत्र मे वृद्धि होते हुए भी नहरो द्वारा अधिक सिंचाई होती है। इन विभिन्न साधनों की उपयोगिता अब हम देखेंगे :—

नहरें (Canals)—

यह भारत का एक प्रमुख सिंचाई का साधन है, जिसकी कुल लम्बाई ६७,००० मील है।[2] नहरें भारत मे बहने वाली नदियों अथवा बड़े-बड़े सग्राहकों (तालाबों) से पानी लेकर खेतो तक पहुँचाती हैं। नहरें ज्यादातर उत्तरी भारत मे ही बनाई गई हैं, कारण यहाँ की नदियाँ साल भर बहती हैं, इसलिए नहरों में भी प्रायः साल भर पानी रह सकता है। सग्राहको से पानी लेने वाली नहरें दक्षिण, मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड (मध्य-प्रदेश) में बनाई गई हैं। कारण, इन प्रदेशो मे बहने वाली नदियाँ साल भर नही बहती, जिससे नहरों को वर्ष

1. India—1956, 1957 and 1958.
2. Hindustan year Book 1958.

यह विशेष तौर से कार्य की शीघ्रता के सम्बन्ध मे होना चाहिए, अतः ऐसे कार्य मे पूँजी अधिक लग सकती है और बाढ आदि के समय पूरे तौर से प्राप्ति न हो तो ध्यान दिया जा सकता है। इस प्रकार यह गवेषणापूर्ण कार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई के कार्य का कितना ही महत्त्व हो, जिसे हम उत्पादक श्रेणी मे पाते है, वह प्रत्यक्ष आय से कम होता जायगा, अतः उन क्षेत्रो मे जो अकालग्रस्त हैं, सिंचाई कार्य पूरा महत्त्व रखते है।''

इन सुझावो मे हम आधुनिक शताब्दी की सिंचाई नीति का जन्म मानते हैं। इस युग मे जो उत्पादन कार्य हाथ मे लिया गया, वह त्रिवेणी नहर का था। अन्य उत्पादन कार्य जो मध्य प्रदेश मे हाथ मे ले लिए गये थे वे महानदी, वैनगगा, टुण्डला और रमेतक नहरो का कार्य था। बम्बई मे भी इस प्रकार का कार्य हाथ मे ले लिया गया था, जिसमे प्रवीरा और नीरा नहरो का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

युद्धोत्तर सिंचाई निर्माण कार्य में प्रगति—

सन् १९१९ के पश्चात् सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, इसलिए प्रान्तीय सरकारें अब नहरो के निर्माण मे उत्साह ले रही हैं, लेकिन ५० लाख रुपये से अधिक की योजना आरम्भ करने पर भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। उत्पादक व अन्य कार्यों के लिए ऋण लिया जा सकता है। इसके अलावा प्रान्तीय आय दुर्भिक्ष संरक्षण एव सहायता कार्य मे भी खर्च की जा सकती है। महायुद्ध के पश्चात् कई सिंचाई कार्यो का विकास हुआ है, जैसे—सतलज घाटी बांध, जो कि २१ करोड की लागत से सन् १९३२-३३ में बनाया गया, जिसमे राजस्थान के बीकानेर डिवीजन की ५० लाख एकड भूमि पर सिंचाई होने लगी। दूसरा कार्य सक्कर बांध का था, जोकि आज पाकिस्तान मे है। इस पर ४० करोड रुपये खर्च हुए और ७५ लाख एकड भूमि की सिंचाई की जाने लगी।

योजना काल में सिंचाई कार्यक्रम—

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् सिंचाई कार्यक्रम में तेजी से विकास हुआ है, विशेषतः अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत और सन् १९५१ के बाद पञ्च-वर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना मे ७२० करोड रु० लागत की सिंचाई योजनाओ का समावेश किया गया था, जिसमे १५० योजनाएँ तो ऐसी थीं जिनकी लागत १० लाख रु० से अधिक की थी और २०० योजनाएँ दुर्लभ क्षेत्रो के स्थायी सुधार के सम्बन्ध मे थी। इन २०० योजनाओ में १३ बहुमुखी एवं सिंचाई योजनाएँ थी, जिनकी प्रत्येक की लागत १० करोड रु० से अधिक थी। इन योजनाओ मे कुछ तो ऐसी थी जिन पर योजना के आरम्भ के पूर्व ही ८० करोड रु० व्यय किया गया था।*

* Economic Weekly, Aug. 2, 1958.

अनुत्पादक दो भाग रखे गए हैं तथा सभी प्रकार की योजनाओं के लिए ऋण लिया जाता है।

गत ६७ वर्षों से सिंचाई में स्थिर रूप से विकास हो रहा है—सन् १८७८ में सिंचाई के अन्तर्गत १०·५ मिलि० एकड़ क्षेत्र था। सन् १९१९-२० में २८·१ मिलि० एकड़ सन् १९२२-२३ में ३३ मिलि० एकड़, सन् १९२६-२७ में ३१·६ मिलि० एकड़, सन् १९२९-३० में ३२·५ मिलि० एकड़, सन् १९३६-३७ में ४८·२ मिलि० एकड़, सन् १९४५-४६ तथा सन् १९४७-४८ में ८८·६२ मिलि० एकड़ तथा सन् १९५०-५१ में लगभग ५१·५ मिलि० एकड़ था।

गत वर्षों में नवीन योजनाओं से सारे देश में सिंचाई और विद्युत शक्ति की दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ है। थोड़ा बहुत प्राथमिक गवेषणा के बाद कई नवीन योजनाओं पर निर्माण कार्य प्रारम्भ हो चुका है। कुछ का निर्माणोद्देश्य सिर्फ सिंचाई है तथा इनसे विद्युत प्राप्ति भी की जायगी, जो बहुमुखी योजनायें होंगी। आज १३५ भिन्न-भिन्न योजनायें, जिनकी कुल लागत ५९० करोड़ रुपया है, देश के भिन्न-भिन्न भागों में चालू हैं।

नई योजनाओं के समाप्त हो जाने पर न केवल जल-विद्युत शक्ति के उत्पादन में ही वृद्धि होगी, बल्कि इनसे सिंचाई के क्षेत्रफल और परिणामतः अन्न उत्पादन में भी निम्न प्रकार से वृद्धि होगी—

वर्ष	सिंचित क्षेत्रफल (००० एकड़)	अतिरिक्त खाद्यान्न (१० लाख टन में)
१९५१–५२	६४७	०·२
१९५२–५३	१,११४	०·४
१९५३–५४	१,१९७	०·७
१९५४–५५	४,३१५	१·४
१९५५–५६	५,४९९	१·८
१९५६–५७	६,६८५	२·२
१९५७–५८	७,५०२	२·५
१९५८–५९	८,५२७	२·८
१९५९–६०	९,१९०	३·१
अन्तिम वर्ष	१२,९४९	४·३

कुँयें (Wells)—

भारत में कुँओं द्वारा सिंचाई प्राचीन काल से होती रही है गरीब किसानों के लिए कुँए ही सिंचाई के उपयुक्त साधन हैं, क्योंकि इनके खेत छोटे-छोटे और बिखरे

हुए होने हैं तथा पर्याप्त मात्रा मे वे खाद भी दे नही सकते। कुँए दो प्रकार के होते हैं—कच्चे और पक्के। कच्चे कुँए बहुत थोड़े व्यय मे बनाए जाते हैं और पक्के कुँओं मे अपेक्षाकृत अधिक निर्माण व्यय होता है।

कुँओ द्वारा उन्ही भागो मे सिचाई लाभकर होती है जहाँ पानी धरातल के निकट हो। इसलिए गङ्गा का मैदान कुँओ द्वारा सिचाई के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि यहा सभी भागो मे भूमि की धरातल से थोड़ी गहराई पर जल मिल जाता है। दूसरे, जिन भागो मे अधिक वर्षा होती है वहाँ भी थोडी गहराई पर ही जल मिल जाता है, परन्तु जिन क्षेत्रो में वर्षा कम होती है वहाँ अधिक गहराई पर कुँओ मे जल मिलता है। इसी कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश मे १०-१५ फीट गहराई पर जल मिल जाता है, जबकि पश्चिमी उत्तर-प्रदेश मे ५०-६० फीट पर तथा पश्चिमी राजस्थान मे २००-३०० फीट गहराई पर जल मिलता है। उथले कुँए छिछले होते हैं, किन्तु गहरे कुँओ में सदैव जल मिलता है। वर्षा के दिनों में तो दोनो ही प्रकार के कुओ में पर्याप्त जल मिलता है, किन्तु शुष्क ऋतु मे उथले कुँए शीघ्र ही सूख जाते हैं। सिचाई की दृष्टि मे कुँओ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग पूर्वी पञ्जाब से बिहार तक का गङ्गा सिंधु का मैदान है।

कुँओ द्वारा सिचाई के लिये पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी बंगाल, मध्य-प्रदेश, बम्बई और मद्रास अधिक प्रसिद्ध हैं। कुँओं द्वारा उत्तर प्रदेश मे ११·५% पूर्वी पजाब मे २५·४%, मद्रास मे १७·८% और बम्बई में १४% सिचाई होती है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में तो कुँए ही सिचाई के मुख्य साधन हैं। कारण, यहाँ पर जल भूमि के निकट ही मिल जाता है, अतः फसलों को पानी की आवश्यकता कम रहती है, इसलिए इन भागो मे अधिकांशतः कच्चे कुँए ही अधिक बनाये जाते है। पश्चिमी बगाल में अधिक वर्षा होते हुए भी सिचाई को कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है। कुँओ से सिंचाई पाने के लिए मद्रास प्रान्त का दक्षिणी भाग, नीलगिरि और इलाइची की पहाड़ियो का पूर्वी भाग मुख्य है, जो गन्तूर से कोयम्बटूर होता हुआ टिनेवेली तक फैला हुआ है। बम्बई के दक्षिणी पठार से लगा कर पश्चिमी घाट के पूर्वी भागों तक कुँओ द्वारा सिचाई की जाती है।

कुँओं से सिचाई के लिए जल कई प्रकार से ऊपर उठाया जाता है। पूर्वी भागो के अधिक वर्षा वाले स्थानो में कुँओ से पानी ऊपर लाने के लिए प्रायः हल्के पानी उठाने के साधन (मनुष्य, ढेंकली आदि) काम में लाए जाते हैं, किन्तु पश्चिमी भागो मे चरस, रहट आदि के अलावा यान्त्रिक साधनो का भी प्रयोग किया जाता है।

कुँओ से सिंचाई मे कई दोष हैं :—

(१) यदि लगातार अधिक समय तक कुँओं से पानी निकाला जाता है तो

वे शीघ्र ही सूख जाते है अथवा जिस वर्ष वर्षा कम होती है, उस वर्ष तो पानी और भी कम हो जाता है।

(२) कुंओं द्वारा सिंचाई करने में व्यय और परिश्रम दोनों ही अधिक होते हैं।

(३) कुंओं मे केवल सीमित क्षेत्रो मे ही सिंचाई हो सकती है, इसलिए कच्चा कुंआ अधिक से अधिक तीन एकड और पक्का कुंआ १५ से ५० एकड भूमि तक ही सींच सकता है।

(४) बहुत से कुंओं का पानी खारा होता है, जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नही होता।

(५) कुंओ के जल मे खनिज मिश्रण का अभाव रहता है, क्योंकि वह एक स्थान से निकलता है।

भारत मे कुंओ द्वारा सिंचाई को और भी अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। रॉयल कृषि आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि सरकारी संस्थाएं कुंओं को बनाने मे मदद करें। इसके अलावा सरकार को भी कुंओ को खुदवाने के लिए किसानो को तकावी ऋण आदि उदारतापूर्वक देना चाहिए। कुंओ से सिंचाई करने वाले किसानों पर सिंचाई का भार अधिक न पडे, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में कुंओ द्वारा सिंचाई बढने की अधिक सम्भावना है, जिससे जन-साधारण पर आधा भार, जो जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ बढ रहा है, कम हो जावेगा।

सन् १६०३ के प्रथम भारतीय सिंचाई आयोग का मत था कि देश में कोई भी ऐसा सिंचाई का साधन नहीं हैं जो कुंओं द्वारा सिंचाई से होने वाले लाभों की तुलना मे खड़ा रह सके। वास्तव मे कुंओ की सिंचाई नहरो की सिंचाई से उत्तम है। इस कारण अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत कुंओं के निर्माण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। सन् १६४४ के दुर्भिक्ष आयोग ने राज्यो में कुंओं की वृद्धि के लिए निम्न सिफारिशें की थी:—(अ) भूमि से पानी की प्राप्ति का पूरा अनुसन्धान करना; (आ) ऐसे सुव्यवस्थित कर्मचारियो के समुदाय की, जो प्रान्तीय जनता को कुंओ को खोदने को मदद एवं सलाह दें। (इ) तकावी ऋण आदि दिये जावें। (ई) पानी निकालने के उत्तम तरीके की सुविधा (विशेषत: उन क्षेत्रों में जहां पर पानी की सतह काफी गहरी है) दी जावे।

नल-कूप—

कुछ ही वर्षों से सिंचाई के लिए विद्युत शक्ति द्वारा चालित कुंओ से अभ्यान्तरिक जल उपलब्ध किया जाने लगा है। नल-कूप की योजना चालू करने का सबसे पहिला प्रयास श्री विलियम स्टैम्प ने किया था। नल-कूपों द्वारा सबसे अधिक

सिंचित क्षेत्र उत्तर-प्रदेश में पाया जाता है, जहाँ पर २,३०० नलकूप हैं।* इसके निम्न कारण हैं :—

(१) यहाँ के अधिकांश कुँओं में पानी का स्रोत पृथ्वी की ऊपरी सतह से ३० फीट से भी कम गहराई पर मिलता है। इन कुओं में केन्द्रो-पसारी पम्प लगाये जाते हैं, जो एक यूनिट बिजली से २,५०० से ४,५०० गैलन तक तक पानी खींच लेते हैं।

(२) यहाँ पर पूरे ही वर्ष सिंचाई की आवश्यकता रहती है। कारण, खरीफ में गन्ना, चरी, कपास आदि तथा रबी में गेहूँ, चना, चारा आदि की फसलों के लिए पानी की अधिक आवश्यकता होती है।

उत्तर-प्रदेश के नल-कूप क्षेत्र दो भागों में विभक्त हैं:—(१) गङ्गा नदी के पश्चिम की ओर के वे भाग जिनमें सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ सम्मिलित हैं जहा वर्षा कम होती है; लेकिन पानी का स्रोत भूमि के धरातल से २५-३० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। (२) गंगा नदी के पूर्व की ओर के वे भाग जिनमें बिजनौर, मुरादाबाद और बदायूँ के जिले सम्मिलित हैं, जहाँ जल स्रोत भूमि से १५-२० फीट की गहराई पर ही मिल जाता है। गंगा की नहरों से उत्पादित सस्ती बिजली इन कुँओं को चलाने के लिए उपलब्ध है, जिससे प्रत्येक कुँए से १½ वर्ग मील भूमि की सिंचाई की जाती है।

नल-कूपों द्वारा सिंचाई करने से कई लाभ हैं:—

(१) नल कूपों में केवल एक बार ही व्यय करना पड़ता है तथा इसके प्रबन्ध का व्यय भी बहुत कम होता है।

(२) प्रत्येक नल-कूप पर एक कर्मचारी नियुक्त होता है, जो कृषक को आवश्यकतानुसार जल नाप कर देता है। इसलिए कृषकों को नहरों के पानी की तरह प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती और न खेतों में व्यर्थ पानी ही बहता है।

(३) कुँओं का जल नहरों के जल की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है।

नल-कूप योजना की प्रारम्भिक दशा में यह भय था कि अभ्यान्तरिक जल को अधिक मात्रा में प्राप्त करने से कहीं उसका जलस्रोत इतना नीचा न हो जाय कि साधारण कुँए भी सूख जाएँ और कृषि को नुकसान हो। परन्तु विशेषज्ञों का विचार है कि इसके द्वारा जितना जल प्राप्त किया जावेगा, उससे कहीं अधिक जल वर्षा द्वारा भूमि में रिस कर अभ्यान्तरिक जल स्रोत को प्राप्त होता रहेगा। भारत में नल कूप अभी हाल ही में अधिक परिमाण में फैले हैं, इसलिए सरकार द्वारा इस कार्य के लिये अधिक सलाह व सहायता की आवश्यकता है तथा कुछ ऋण आदि की भी सुविधा मिलनी चाहिए।

साधारणतया ट्यूबवैल योजना को सफल बनाने के लिए चार बातें आवश्यक

* Second Five Year Plan.

है:—(१) वह पानी जो भूमि पर बहा कर लाया जाता है, धरातल के लिए पर्याप्त हो, जिससे वह स्थायी रूप से पानी की माँग को पूरा कर सके। (२) पानी का धरातल ५० फीट से अधिक गहरा न हो तथा उसका तल साधारण तल से नीचा हो। (३) सिंचाई की माँग औसत रूप से साल भर में ३,००० घन्टे हो। (४) विद्युत शक्ति की सुविधा हो, जिसका मूल्य दो पैसे प्रति इकाई से अधिक न हो।

भारत अमेरिका टेक्निकल सहयोग कार्यक्रम तथा अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत प्रथम योजना में क्रमशः २,६५० और ७०० तथा राज्य सरकारों की योजनाओं के अन्तर्गत २,४०० नल कूपों का निर्माण उत्तर-प्रदेश, पेप्सू और बिहार में होना था। इसका वितरण एवं प्रगति नवम्बर सन् १९५७ तक इस सम्बन्ध में निम्नवत् थी :—

	उ० प्र०	बिहार	पंजाब	पेप्सू
(१) भारत अमेरिका तांत्रिक सहयोग कार्यक्रम	आवंटित १,२७५ निर्मित १,२७५	३८५ ३८५	५३० ५३०	४६० ४६०
(२) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन	आवंटित ४२० निर्मित ९३[1]		१५० —	१३० —
(३) राज्य की योजनाएँ	आवंटित १,४०० निर्मित १,१६५[1]	४२४ ४७४[1]	२५६ २५६[1]	— —

बम्बई राज्य की प्रथम योजना में ४०० नल कूपों के निर्माण का लक्ष्य था, जिसमें से दिसम्बर सन् १९५५ तक १९८ नल कूपों का निर्माण हो चुका है।[1] इसके अलावा नवम्बर सन् १९५७ तक पंजाब, उत्तर-प्रदेश, उत्तरी गुजरात में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत १,००९ नल कूप खोदे गये हैं। इसी प्रकार दूसरी योजना के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश और असम में ३९९ नल कूप खोदे गए हैं। फलस्वरूप नलकूप और लघु-सिंचाई योजनाओं से सन् १९५७-५८ में लगभग २२ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हो जावेंगी।* दूसरी योजना में विभिन्न राज्यों में १० करोड़ की लागत से ३,५८१ नल कूपों के निर्माण का लक्ष्य है, जिसमें लगभग ९१६ हजार एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ सकेगी।

तालाब—

भारत में तालाबों से १६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है और ये तालाब दक्षिणी भारत की विशेषता के परिचायक हैं।

तालाब दक्षिण की विशेष परिस्थिति के द्योतक हैं। क्योंकि,

(१) दक्षिण की नदियाँ वर्फीली नहीं हैं, इसलिए वे सिर्फ वर्षा के पानी पर ही निर्भर हो कर बहती हैं। दक्षिण में ऐसे बहुत से झरने प्रख्यात हैं, जो वर्षा के वेग से प्रभावित हो कर बहते हैं, परन्तु वर्षा के बाद सूख जाते हैं।

1. Second Five Year Plan, p. 329.
2. दिसम्बर सन् १९५५ तक।
* India—1958.

(२) इस प्रकार नदियों व जल प्रपातों की अस्थायी दशा तथा दक्षिण का पहाड़ी धरातल, दोनों स्थितियाँ इस बात के लिए एक बड़ी भारी बाधा उपस्थित करती हैं कि वहाँ नहरों का निर्माण कैसे हो।

(३) इसके अलावा वहाँ की दृढ़ चट्टानें भी पानी को सोख नहीं सकती, इसलिए कुँओं का निर्माण होना असम्भव है। परन्तु बड़े बड़े जलाशयों और जल भण्डारों का जल आसानी से बाँध बना कर, तालाबों का निर्माण करके खेतों को निरन्तर पानी पहुँचाया जा सकता है।

(४) साथ ही वहाँ की जन संख्या बिखरी हुई है, इसलिए वह स्वयं बाँध की योजना के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती है। अतः यही एक सुव्यवस्थित और सुविधाजनक उपाय है, जिससे वर्षा का पानी संग्रह द्वारा सिंचाई के प्रयोग में लाया जा सकता है, अन्यथा वह यों ही बह कर बेकार चला जावेगा। बाँध निर्माण योजना, विशेषतः मद्रास में अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है।

बाँध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। यह बम्बई की फाइफ झील और विटिंग से लेकर पेरियर झील तक बड़े हो सकते हैं। एक छोटे ग्राम में छोटे बाँध द्वारा ५ एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकती है। बड़े बड़े बाँध बहुत कम हैं, क्योंकि उनमें चतुर इञ्जीनियरों, वैज्ञानिक यन्त्रों और धन की आवश्यकता होती है, इसलिए केवल सरकार ही इतने बड़े कार्यों का सम्पादन कर सकती है। परन्तु जिस प्रकार देश के छोटे छोटे क्षेत्रों को समुचित रूप में रखना कठिन कार्य है, उसी प्रकार सरकार छोटे छोटे बाँधों के कार्य को कठिन समझती है। यद्यपि विशेषज्ञों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि लम्बे समय में ये बाँध मूल्यवान् सिद्ध होंगे, भार रूप नहीं। इसलिए इनके निर्माण का भार ग्राम की जनता पर ही छोड़ा जा सकता है, जो अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित कर सकती है। इसके लिए एक बोर्ड बनाने और एक ऐसी निर्धारित नीति द्वारा सचालन की आवश्यकता है, जिससे यह कार्य सरल हो।

भारत सरकार की सिंचाई नीति (Irrigation Policy of the Government of India)—

भारत में सिंचाई बहुत प्राचीन युग से होती आ रही है, जिसका प्रमाण पुराने कुँओं और बाँधों के अस्तित्व से मिलता है। उदाहरण के लिए, मद्रास के चिंगलपुर जिले में दो बाँध हैं, जो कि ८/९ वीं शताब्दी के बतलाये जाते हैं, और अभी भी एक बहुत बड़े भू भाग की सिंचाई करते हैं। प्राचीन-काल में जो बाँध आदि बनाये जाते थे, वे छोटे पैमाने पर ही बनाये जाते थे, इसलिए आर्थिक दृष्टि से समाज के अनुकूल भी होते थे, परन्तु बड़े बड़े बाँधों का अभाव था। नहरें भी बनवाई जाती थीं, जैसे—पश्चिमी यमुना नहर १४ वीं सदी में बनवाई गई थी। पूर्वी यमुना नहर मुगल बादशाहों द्वारा बनवाई गई थी। कावेरी नदी के डेल्टा में सिंचाई की नहरें दूसरी शताब्दी की बनी हुई हैं, जोकि कुलियों द्वारा बनवाई गई थी, लेकिन मुगल साम्राज्य

के पतन के पश्चात् सन् १८०० के ग्रास-पास नहरों की मरम्मत बन्द सी हो गई। डा० वीरा एन्सटी के अनुसार—"पूँजी एवं इञ्जीनियरिङ्ग योग्यता का अभाव, सरकार की अस्थिरता और बाह्य व विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रवों ने सिचाई के विस्तार को रोक दिया।" अतः १८ वीं सदी में यमुना नहर की हालत बिगड़ गई और जंगलों से ढँक सी गई। रमेशचन्द्रदत्त के अनुसार रेलवे में धन का अपव्यय जितनी बड़ी बेवकूफी थी, उतनी ही बड़ी बेवकूफी सिचाई में कंजूसी करना था।*

(६) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सिंचाई कार्य—

(क) पुरानी नहरों आदि का सुधार—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना समस्त ध्यान सिंचाई सुधार की ओर केन्द्रित किया तथा उसने अपनी धन राशि का एक बड़ा भाग मरम्मत और सुधार कार्य पर व्यय किया। वे महत्त्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं :—

(१) सन् १८२० में पश्चिमी यमुना नहर को सुधारा गया। निर्माण कार्य बहुत जल्दी में किया गया था, इसलिए इसके आस-पास के भागों में दलदल बन गये। बरनार्ड डार्ले के अनुसार—"दोषपूर्ण एवं शीघ्र निर्माण के कारण पानी का उपयोग ठीक से नहीं हुआ, जिससे देश के अधिकांश भागों में दलदल बन गये, जिसका स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।" सन् १८७३ में इस नहर का पुनः निर्माण किया गया तथा नालियाँ खोदी गई और उसका कार्य ठीक रूप से पूर्ण किया गया।

(२) सन् १८३० में पूर्वी यमुना नहर का सुधार किया गया, लेकिन दोषपूर्ण निर्माण कार्य में इसमें भी जल वितरण सम्बन्धी हानि हुई, इसलिए इस नहर का भी पुनः निर्माण किया गया।

(३) सन् १८३६ में सर आर्थर कॉटन ने कावेरी ग्राड एनीकट बांध बनाने के कार्य को अपने हाथ में लिया। यह बाँध २,४६२ फीट लम्बा और ५ से ७½ फीट ऊँचा था। नीचे कुँओं का भी निर्माण किया गया, जिसमें २२ छोटे मार्ग बनाये गये, ताकि समय पर मिट्टी बाहर निकाली जा सके। सन् १८४३-४४ में यह अधिक विस्तृत किया गया तथा कावेरी का बाँध बनाया गया। यह बाँध सन् १८९९-१९०२ में पुनः निर्माण कार्य द्वारा पूरा किया गया था।

(ख) नवीन सिंचाई योजना का निर्माण—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नवीन सिंचाई कार्यों का भी निर्माण किया :—

(१) पुरानी नहरों की मरम्मत आदि करने से इञ्जीनियरों को जो सफलता प्राप्त हुई, उससे उत्साहित होकर उन्होंने भिन्न भिन्न प्रान्तों में कई नवीन योजनाओं को बनाने का निश्चय किया, जिससे अकाल की छाया दूर हो। परिणामस्वरूप ऊपरी गंगा नहर का निर्माण हो सका, जो सर प्रोबी केन्टले द्वारा सन् १८४०-१८५० में

* R. Dutt, "The Economic History of India under the early British Rule. p. 550.

बनाई गई थी। इस नहर ने अकाल क्षेत्र को एक धनी एवं समृद्ध भू भाग मे परिणित कर दिया।

(२) दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो कम्पनी द्वारा किया गया, वह ऊपरी बारी दोआब नहर की योजना थी। उसमे हँसली नहर का कार्य सन् १८४७-१८५४ में समाप्त हुआ।

(३) सन् १८४६ मे गोदावरी नहर का निर्माण किया गया। नदी के बाये किनारे पर पूर्वी डेल्टा का सिर था, जिसमे आवागमन बन्द था तथा छोटे-छोटे मार्ग बने हुए थे। दो बाधो (ढोलेस्वरम ४,६४० फुट लम्बा तथा राली बाध २,८५७ फुट लम्बा) ने गोमती व गोदावरी नदी को सुव्यवस्थित रूप से अपने महान् कार्य मे नियोजित कर दिया। उनका केन्द्रीय कार्यालय ११,६४५ फुट ऊँचा तथा डेढ मील के घेर वाला बना, जिनमें ३ नहरें व बांध योजनायें सम्मिलित थी। यद्यपि यह एक महान् सफलता थी, फिर भी पुराने पदार्थों व यन्त्रो के कारण यह कार्य दोषपूर्ण ही रहा। अतः सन् १८६० में दो नहरो की व तीन मुख्य बाधो की दीवालें बनाकर इसके स्तर मे सुधार किया गया। इससे प्राप्त सिंचाई की सुविधा ने गोदावरी के डेल्टा का ग्राम्य-जीवन ही सुखी बना दिया। अतः उस प्रदेश मे जहाँ कि अकाल की छाया रहती थी, एक समृद्धशाली भाग बन गया है।

(४) कृष्णा नदी बांध योजना का कार्य सन् १८५२ मे आरम्भ किया गया, जो सन् १८५५ मे समाप्त हो गया। इसके अलावा कई छोटे मोटे और कार्य भी सुधारे गये। कम्पनी ने पजाब की नहरो को भी सुधारने मे सहायता पहुँचाई, जिसमे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बेगारी नहर और फुलेली नहर का था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रेलो के अभ्युदय से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों को अपने हाथ में लिया, जिसका प्रमुख ध्येय दुर्भिक्ष का सामना करना था। इङ्गलेड मे, जहाँ नहरो का निर्माण आवागमन के लिए किया गया, वहाँ भारत में सिंचाई के उद्देश्य से किया गया।

(२) प्राइवेट कम्पनियो द्वारा निर्माण कार्य—इस प्रकार नहरो की सफलता देख कुछ प्राइवेट कम्पनियो को भी उत्साह हुआ कि वे इस कार्य में सफलता प्राप्त करें, लेकिन उनके कार्य असफल ही रहे। ये उपर्युक्त नहर निर्माण कार्य कम्पनी की आय से किये गये थे, अतः उसकी आर्थिक स्थिति पर इनका प्रभाव पडना अनिवार्य था। इसलिए सन् १८५७ मे कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने यह प्रस्ताव रखा कि नहर निर्माण कार्य प्राइवेट कम्पनियाँ ही करें। सर आर्थर कॉटन ने उत्साहवर्द्धक योजनायें प्रस्तुत की। उसने कई नहरों के निर्माण का प्रस्ताव किया, जो तुङ्गभद्रा और कृष्णा नदी के बीच वाले क्षेत्र को जोडने वाली थी। इस योजना के अनुसार ४ बाँध तुङ्गभद्रा व कृष्णा नदी पर बाँधे गये, जिनके द्वारा ५ नहरो के पानी का वितरण कार्य हो सकता था। इसके साथ ही ६०० मील नहर मार्ग या नदी-मार्ग सुधार कर यातायात

योग्य बनाये जाने की भी योजना प्रस्तुत की गई और एक तटीय नहर द्वारा कृष्णा नदी का डेल्टा मद्रास से जोड़ दिया गया। इसके अलावा ६०० मील का कार्य पूना और बंगलोर के मध्य में भी हुआ, जिसका खर्च २० लाख पौंड था। एक दूसरी योजना संथाल पहाड़ियों से ढाका तक सिंचाई कार्य की थी, जो कानपुर के समीप गंगा की नहर से अलग ५५० मील लम्बी नहर द्वारा जोड़ी जाय। इसके अलावा २०० मील लम्बी एक नहर गंगा और सतलज को जोड़ने वाली थी, जिससे उत्तर-प्रदेश, पंजाब और बंगाल में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सके। उड़ीसा नहर द्वारा करांची से कलकत्ता और मद्रास के बीच ४,००० मील लम्बा जल मार्ग प्रस्तुत करने की योजना बनाई गई।

दो कम्पनियों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। पहली, सन् १८५८ में स्थापित ईस्ट इण्डिया सिंचाई नहर कम्पनी, जिसने अपना कार्य सन् १८६३ में चालू किया। इसने उड़ीसा व मिदनापुर में नहरें बनाई, परन्तु सन् १८६६ तक इसकी पूँजी समाप्त हो गई, जबकि एक बहुत बड़ा कार्य अभी पूरा नहीं हुआ था। लेकिन उसे अतिरिक्त पूँजी प्राप्त न हो सकी, अतः सरकार ने ९,००,००० पौंड देकर इस कार्य को अपने हाथ में लिया। यह सिंचाई योजना कृषक जनता के लिए लाभदायक प्रमाणित हुई और इनमें नावें चलाने की सुविधा भी प्राप्त हो सकी। परन्तु आर्थिक दृष्टि से यह कार्य सफल नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि जिस समय यह योजना बनाई गई उस समय इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि यहाँ वर्षा ६०″ होती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इसी नहर के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया, परन्तु पूँजी की कमी के कारण कार्य अधूरा ही रह गया। इसलिए सरकार द्वारा यह कार्य पूरा किया गया। दूसरी कम्पनी सन् १८६२ में मद्रास सिंचाई कम्पनी के नाम से बनी, जिसकी पूँजी १० लाख पौंड थी। इस कम्पनी ने करनूल कड़प्पा नहर का कार्य अपने हाथ में लिया। इसका अनुमानित व्यय ५,५०००० पौंड था, परन्तु जब निर्माण कार्य चालू हुआ तो सारी पूँजी समाप्त हो गई। इसलिए कम्पनी ने सरकार से ६,००,००० पौंड ऋण लेकर इस कार्य को पूरा किया और बाद में सरकार ने ही इस कम्पनी को ११,८५,५०० पौंड में खरीद लिया। स्पष्ट रूप से इन कम्पनियों की असफलता आदि का कारण कम्पनियों की तात्कालिक लाभ की इच्छा तथा अनुभव का अभाव एवं स्थानीय दशा थी।

सरकारी ऋणों द्वारा सिंचाई निर्माण कार्य—

सन् १८६६ के अकाल के फलस्वरूप जो हानि हुई, उसको ध्यान में रखते हुए यह अनुभव किया गया कि सिंचाई कार्यों को जल्दी ही महत्ता प्रदान की जानी चाहिए, अतः भारत सरकार के मन्त्री ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेकर भी कार्यों को किया जाना चाहिए। इस नवीन नीति के परिणामस्वरूप ५ महत्त्वपूर्ण नहरों का निर्माण उत्तर-प्रदेश, बम्बई, सीमाप्रान्त, पंजाब

में किया गया:—(१) सरहिन्द नहर (पूर्वी पंजाब) (२) निचली गङ्गा नहर (उत्तर-प्रदेश), (३) स्वात की निचली नहर (सिन्ध सीमा-प्रान्त), (४) रेगिस्तान की नहर, (५) मुथा नहर (बम्बई)। इस प्रकार यह एक महत्वपूर्ण कार्य था, जिससे पानी के वितरण का कार्य सुगम हुआ तथा अकाल से ये क्षेत्र बचे।

पंजाब के नहर उपनिवेश तथा अन्य स्थानों में रक्षात्मक नहरों का निर्माण—

इसी समय सरकार अनुभव करने लगी कि अकाल घोषित क्षेत्रों को सहायता दी जाय। सन् १८८० की दुर्भिक्ष आयोग की प्रकाशित विज्ञप्ति के बाद रक्षात्मक नहर निर्माण कार्य में पर्याप्त प्रगति हुई। सन् १८१८ से ही सरकार ने दुर्भिक्ष फंड आदि के लिये १½ करोड़ रुपया अलग से निश्चित किया था, जिसमें से ७५ लाख रु० रक्षात्मक रेल्वे और सिंचाई कार्य पर व्यय होता था। पहिला रक्षात्मक कार्य बेतवा नहर के निर्माण से चालू हुआ, जो उत्तर प्रदेश में है। इसके अलावा म्हसिरवा बांध (जिसमें बाँध, नहर, जल भण्डार है), नीरा नहर (बम्बई प्रान्त में) और परियार नदी (मद्रास प्रान्त में) का निर्माण कार्य हाथ में लिया। सिन्ध में दो महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिए गये—जमराव नहर, जो पूर्वी नारा और सिन्ध के बीच में है तथा पश्चिमी नारा नहर।

इस प्रकार के रक्षात्मक कार्य के अलावा नहरों का निर्माण कार्य पंजाब में आरम्भ किया गया। इस योजना ने वृक्षों से रहित रेगिस्तान और उजड़े हुए भू भागों को हरे-भरे रूप में परिणित कर दिया। झेलम और सतलज नदी के बीच के भाग में ५″ से १५″ तक वर्षा होती थी तथा ग्वाले और घसियारे लोग रहा करते थे, अतः अन्य स्थानों की सरकार ने नहर निर्माण की एक नवीन योजना आरम्भ की। प्राथमिक गवेषणा कार्य कठिनाइयों से भरा था। मलेरिया के क्षेत्र में किया जाने वाला कार्य और भी असुविधाजनक था। कारण, पूरा कर्मचारी दल बीमारी का शिकार हो जाता था, जिससे श्रम करना मुश्किल हो जाता था। उस समय केवल श्रम की ही बाधा उपस्थित न होती थी, वरन् ईंटें बनाने तथा चूना पकाने के लिए ईंधन आदि की बाधा उपस्थित होती थी।

पहली उपनिवेश नहर के रूप में सोहाग नहर का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है तथा इसके साथ ही सिधनई नहर मुलतान जिले में खोदी गई। पहली नहर को बाद में सतलज की नहरों से मिला दिया गया। इन नहरों द्वारा पूँजी लागत पर ४०% लाभ हुआ। परिणामस्वरूप उत्पादन में काफी वृद्धि हुई और सरकार ने उत्साहित होकर निचली चिनाब नहर निकाली। झेलम और सतलज के बीच का भाग ठीक रूप से कार्य में न ला सकने से इन नहरों द्वारा उसका महत्व और भी बढ़ गया। प्रति परिवार पीछे कृषकों को भूमि दी गई। इस प्रकार पंजाब में चिनाब उपनिवेश की सन् १८९३ में, झेलम उपनिवेश की सन् १९०१ में, जमराव उपनिवेश की सन् १८९८ में सिन्ध में स्थापना हुई।

सिंचाई आयोग के बाद निर्माण कार्य—

सन् १८९९-१९०१ के दुर्भिक्षों के परिणामस्वरूप सरकार ने सिंचाई आयोग की स्थापना की। उत्पादक कार्यों के सम्बन्ध में आयोग का विचार था:—"चुनाव, अर्थ और निर्माण कार्य के अनुसार हर एक उत्पादक कार्य रक्षात्मक है। उनके द्वारा जो प्रत्यक्ष आय होती है, वह एक सम्पदा है। विशेषतः उन अकालों व बाढ़ों के समय जब अन्य दिशा में तनाव होता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि यह राष्ट्र की सम्पदा को बढ़ाने का एक महान् साधन है, जिसके व्यय का बहुत बड़ा भाग पुनः सरकार को प्राप्त हो जाता है। घनी आबादी वाले भागों की जन-संख्या इस ओर आकर्षित होती है इसके साथ ही अकाल के समय भागे हुए व्यक्ति शरण पाते हैं। यह नवीन क्षेत्र कृषि कार्य के उपयोग में आते हैं, जिससे कृषि का विकास होगा, जन जीवन की सुरक्षा में वृद्धि होगी व रेलवे किराया आदि सस्ते होंगे तथा देश के अन्य भागों में उत्पादन आसानी से पहुँचाया जा सकेगा। इन्हीं कारणों से यह सुझाव रखा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादक कार्य को महत्त्व दिया जाना चाहिए। नए बाँधों के निर्माण के बदले आबादी व बस्ती के अनुसार बाँधों व नहरों का निर्माण होना चाहिए। यदि उस पर भी अधिक आवश्यकता हो व कोष की कमी हो तो उसमें सहकारिता के आधार पर व्यवस्था की जा सकती है।" इस प्रकार सिंचाई आयोग की सिफारिशें बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई तथा व्यय व कार्य पहले से दूना हो गया। इसी नीति के अनुसार नवीन कार्यों का श्रीगणेश हुआ।

सर्व प्रथम जो कार्य हाथ में लिया गया, वह त्रिसंघ योजना (ट्रिपल प्रोजेक्ट) थी, जिसमें ऊपरी झेलम नहर (१९१५), ऊपरी चिनाव नहर (१९१२) तथा नीचे की बारी दोआब नहर (१९१५) शामिल थीं। इसी समय निचली झेलम नहर का भी निर्माण हुआ और ऊपरी स्वात नहर का निर्माण उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में हुआ। दुर्भिक्ष आयोग की इस दिशा में रुकावट की कोई इच्छा न थी। उसका मन्तव्य इस प्रकार है:—"हमारी यह धारणा नहीं है कि हम किसी दुर्भिक्ष से पीड़ित क्षेत्र की उत्पादक सुरक्षा को खतरा पहुँचायें, अतः उन क्षेत्रों में जहाँ इस प्रकार की सुरक्षा नहीं है, वहाँ उनके लिये आवश्यक माँग की जा सकती है, परन्तु अन्य के लिए यह सोचा जा सकता है कि उत्पादक भागों की तुलना में बाह्य आय कम होगी। दूसरे शब्दों में, पूरी व्यय सम्पत्ति की खालिस आय २० गुनी से अधिक नहीं है, इसलिये उनके मूल्य के बारे में हमें सम्यक् विचार करना चाहिए तथा जो भाग उत्पादक ढङ्ग से असुरक्षित है, वहाँ यह धन राशि व्यय की जानी चाहिए, जो लगान से २० गुनी से अधिक न हो अथवा लागत पूँजी पर ३% के रूप में वर्ष भर में प्राप्त होती रहे। इसके अलावा अप्रत्यक्ष आय व अन्य उत्पादक कार्य इस बात की स्वीकृति दिलवाते हैं कि आशा को गई पूँजी से कम प्राप्त होता है तो हमें उस पर ध्यान देना चाहिए।

यह विशेष तौर से कार्य की शीघ्रता के सम्बन्ध मे होना चाहिए, अतः ऐसे कार्य मे पूँजी अधिक लग सकती है और बाढ आदि के समय पूरे तौर से प्राप्ति न हो तो ध्यान दिया जा सकता है। इस प्रकार यह गवेषणापूर्ण कार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई के कार्य का कितना ही महत्त्व हो, जिसे हम उत्पादक श्रेणी मे पाते है, वह प्रत्यक्ष आय से कम होता जायगा, अतः उन क्षेत्रो मे जो अकालग्रस्त हैं, सिंचाई कार्य पूरा महत्त्व रखते है।''

इन सुझावो मे हम आधुनिक शताब्दी की सिंचाई नीति का जन्म मानते हैं। इस युग मे जो उत्पादन कार्य हाथ मे लिया गया, वह त्रिवेणी नहर का था। अन्य उत्पादन कार्य जो मध्य प्रदेश मे हाथ मे ले लिए गये थे वे महानदी, वैनगंगा, टुण्डला और रमेतक नहरो का कार्य था। बम्बई मे भी इस प्रकार का कार्य हाथ मे ले लिया गया था, जिसमे प्रवीरा और नीरा नहरो का कार्य महत्वपूर्ण है।

युद्धोत्तर सिंचाई निर्माण कार्य में प्रगति—

सन् १६१६ के पश्चात् सिंचाई प्रान्तीय विषय बन गया, इसलिए प्रान्तीय सरकारें अब नहरो के निर्माण मे उत्साह ले रही हैं, लेकिन ५० लाख रुपये से अधिक की योजना आरम्भ करने पर भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। उत्पादक व अन्य कार्यों के लिए ऋण लिया जा सकता है। इसके अलावा प्रान्तीय आय दुर्भिक्ष संरक्षण एव सहायता कार्य मे भी खर्च की जा सकती है। महायुद्ध के पश्चात् कई सिंचाई कार्यों का विकास हुआ है, जैसे—सतलज घाटी बांध, जो कि २१ करोड की लागत से सन् १६३२-३३ में बनाया गया, जिसमे राजस्थान के बीकानेर डिवीजन की ५० लाख एकड भूमि पर सिंचाई होने लगी। दूसरा कार्य सक्कर बांध का था, जोकि आज पाकिस्तान मे है। इस पर ४० करोड रुपये खर्च हुए और ७५ लाख एकड भूमि की सिंचाई की जाने लगी।

योजना काल में सिंचाई कार्यक्रम—

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् सिंचाई कार्यक्रम में तेजी से विकास हुआ है, विशेषतः अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत और सन् १६५१ के बाद पञ्च-वर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना मे ७२० करोड रु० लागत की सिंचाई योजनाओ का समावेश किया गया था, जिसमे १५० योजनाएँ तो ऐसी थीं जिनकी लागत १० लाख रु० से अधिक की थी और २०० योजनाएँ दुर्लभ क्षेत्रो के स्थायी सुधार के सम्बन्ध मे थी। इन २०० योजनाओ में १३ बहुमुखी एवं सिंचाई योजनाएँ थी, जिनकी प्रत्येक की लागत १० करोड रु० से अधिक थी। इन योजनाओ मे कुछ तो ऐसी थी जिन पर योजना के आरम्भ के पूर्व ही ८० करोड रु० व्यय किया गया था।*

* Economic Weekly, Aug. 2, 1958.

प्रथम योजनाओं में इन योजनाओं पर ३८० करोड़ रु० व्यय किए गए तथा शेष राशि दूसरी योजना की अवधि में व्यय होगी। प्रथम योजना काल में २२० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई सुविधायें बढ़ाने का लक्ष्य था, परन्तु योजना काल में १६३ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत बढ़ाया गया, जिसमें १००लाख एकड़ सिंचाई की लघु योजनाओं तथा शेष ६३ लाख एकड़ वृहत योजनाओं की पूर्ति से बढ़ा।[1]

दूसरी योजना में प्रथम योजना की अधूरी योजनाओं को पूर्ण करने तथा नई योजनाओं की पूर्ति के लिए ३८० करोड़ रु० का आयोजन है। इस राशि में से २२२ करोड़ प्रथम योजनाओं की पूर्ति के लिए व्यय होगा और शेष दूसरी योजना काल में समाविष्ट १९५ नई योजनाओं पर व्यय किया जायगा।[2]

अनुमानित लागत	योजनाओं की संख्या	कुल अनुमानित लागत (करोड़ रु०)	भूमि पर अनुमानित सिंचाई लाभ (लाख एकड़)
१० से ३० करोड़ रु०	१०	१६१	८४
५ से १० करोड़ रु०	७	५४	१५
१ से ५ करोड़ रु०	३५	८५	३४
१ करोड़ रु० से कम	१४३	४६	१५
योग	७९५	३५६	१४८

स्पष्ट है कि दूसरी योजना में मध्यम सिंचाई योजनाओं को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें ३५ करोड़ रु० का आयोजन सिन्ध नदी से भारत को मिलने वाले पानी के हिस्से के उपयोग के लिए व्यय होगा। इन योजनाओं के फलस्वरूप दूसरी योजना की पूर्ति पर २१० लाख एकड़ से सिंचाई का क्षेत्र बढ़ेगा, जिसमें से १२० लाख एकड़ वृहत मध्यम सिंचाई योजना से तथा शेष ९० लाख एकड़ लघु-सिंचाई योजनाओं से लाभान्वित होगा। फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में सिंचाई सुविधाओं के विकास से ४·२ मि० टन से बढ़ेगा, ऐसा अनुमान है।[2]

सिंचाई से होने वाली हानियाँ—

सिंचाई से भूमि के उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही काफी हानियाँ भी हुई हैं। नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र में भूमि इतनी सख्त हो जाती है कि उसमें हर समय पानी भरा रहता है तथा दलदल हो जाता है, जिससे मच्छर आदि पैदा हो जाते हैं। अधिक सिंचाई के कारण भूमि का क्षार फैल जाता है, जिससे भूमि कृषि के अयोग्य हो जाती है। पंजाब प्रान्त में ११,२५,००० एकड़ और बम्बई में नीरा घाटी में

1. Hindustan Year Book, 1958.

2. Second Five Year Plan.

५१,००० एकड भूमि जल रेखा के ऊँचे हो जाने तथा भूमि पर क्षार फैल जाने से खेती के अयोग्य हो गई है।

प्रोफेसर बृजनारायण ने इस खतरे की सूचना देने वाली मुख्य बातें इस प्रकार बतलाई हैं :—(१) एक या दो वर्ष तक 'बारनी' की फसलें असाधारण रूप में अच्छी रहती हैं। (२) तीसरे वर्ष इस दोष में भूमि के ऊपर 'कालर' के धब्बे दिखाई देते हैं, जिससे बीज नही उगते। (३) धीरे-धीरे उत्पादन कम होने लगता है और वह धब्बा सारे खेत मे फैल जाता है। (४) नहर के पास के गड्ढो का पानी मुर्चैले रग का हो जाता है। (५) धीरे-धीरे पानी ऊपर की ओर बढता जाता है। (६) सोते के पानी वाला स्तर धीरे-धीरे सतह की ओर बढता जाता है। (७) उस क्षेत्र के पीने का पानी स्वाद रहित हो जाता है और उस सारे वातावरण मे एक प्रकार की दुर्गन्ध फैलने लगती है।

वास्तव मे बात यह होती है कि मिट्टी मे जो नमक या क्षार का अश होता है वह पानी की सतह की मिट्टी के साथ साथ ऊपर की ओर बढ आता है। नहरो द्वारा बाढ या वर्षा का जल रुक जाता है। दूसरे, नहरो का भी जल बढता है। इसका प्रभाव मिट्टी पर बुरा पडता है और धीरे-धीरे जमीन के नीचे के क्षार पदार्थ ऊपर की ओर बढने लगते हैं। इस प्रकार मिट्टी की उर्वरा शक्ति जाती रहती है।

इस दोष से बचने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिये :—(१) ट्यूबवैल तथा नालियो आदि के द्वारा पानी को बाहर निकाल देना। (२) वह भूमि जिस पर नहरें बढती है उसको कक्रीट से भर देना, परन्तु इस व्यवस्था से अन्य नालो की स्थिति में कोई सुधार न होगा। (३) रुकी हुई नालियो को खोल देना। (४) नहरो द्वारा सिंचाई को रोकना। सिंचाई की वर्तमान व्यवस्था मे कभी-कभी अत्यधिक सिंचाई हो सकती है। अतः उक्त उपायो द्वारा हम इस दोष से मुक्त हो सकेंगे।

परिशिष्ट

तृतीय पंचवर्षीय योजना और सिंचाई सुविधाएँ—

योजना आयोग की राय मे कृषि अर्थतन्त्र के पुनर्निर्माण और औद्योगीकरण का पथ तेजी से प्रशस्त करने के लिए सिंचाई और बिजली साधनों का तेजी से विकास करना बहुत जरूरी है।*

* नवभारत टाइम्स अगस्त १२, १९६०

देश मे प्राप्त नदी जल साधनों के एक अंश का ही उपयोग हो रहा है। सन् १६५० में इन साधनो का अनुमान १ अरब ३५ करोड़ ६० लाख एकड फुट लगाया गया था। प्राकृतिक कारणों से सिर्फ ४५ करोड एकड फुट जल साधनों का ही सिंचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है।

द्वितीय योजना के अन्त तक नदियों में बहने वाले ११ करोड ६० लाख एकड़ फुट पानी का ही उपयोग हो सकेगा, जो उपयोग में आ सकने वाले जल साधनों के २६ प्रतिशत भाग के बराबर है। तृतीय योजनाकाल मे उपयोगी पानी का प्रतिशत बढ करके ३६ प्रतिशत हो जायगा।

पहली योजना के आरम्भ में सिर्फ ५ करोड १५ लाख एकड भूमि की सिंचाई होती थी। सन् १६६०-६१ तक ७ करोड एकड भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तीसरी योजना के अन्त में ६ करोड एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी।* अनुमान है कि पाँचवी योजना के अन्त तक साड़े आठ से नौ करोड एकड़ तक भूमि की सिंचाई होने लगेगी। तृतीय योजना में इस दीर्घकालीन लक्ष्य को सामने रखा गया है।

पहली और दूसरी योजना मे सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की योजनाओं पर १४ अरब रुपये का अनुमानित व्यय होगा। इन योजनाओं का जब पूरा-पूरा विकास हो जायगा तब ३ करोड़ ८० लाख एकड भूमि पर सिंचाई हो सकेगी।

पहली और दूसरी योजना अवधि मे जो परिकल्पनाएं शुरू की गयी उनको पूरा करने के लिए ६ अरब २० करोड रुपये की आवश्यकता होगी। इन परिकल्पनाओं पर ४ अरब ७० करोड़ रुपया तो तृतीय योजना काल मे तथा शेष चौथी योजना काल में खर्च किया जायेगा।

आयोग का कहना है कि देश के कुछ भागो मे जैसे पंजाब मे पनसाट की समस्या गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। तृतीय योजना काल मे इस समस्या को हल करने के लिए बड़े पैमाने पर कार्यवाई करने का विचार है। इसी प्रकार केरल जैसे राज्यों मे जहाँ समुद्री लहरो से भूमि का कटाव होता है, इस समस्या को हल करने के लिए ध्यान दिया जाना चाहिए।

तृतीय योजना में बाढ नियन्त्रण, पानी की निकासी, पनसाट और जमीन के कटाव को रोकने के कार्यक्रमों पर ६० करोड रुपया खर्च करने का विचार है। यह रकम सिंचाई की मदद से ली जायगी। सिंचाई के लिये तृतीय योजना मे साडे छः अरब रुपया रखा गया है।

घाटे पर—

योजना आयोग ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हाल के वर्षों मे सिंचाई के लिए जो व्यवस्थायें की गयी वे प्रायः सभी राज्यो मे घाटे पर चल रही हैं और

---

* सम्पदा—अगस्त १६६०

विभिन्न कारणों से उनसे पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है। आयोग ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करके निम्न बातें सुझायी।

(१) सिंचाई योजनाओं द्वारा सिंचाई की जिन सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है उनका तेजी से उपयोग हो।

(२) आबपाशी की दर मे फेर-बदल की जाय और जल उपकर लगाया जाय।

(३) खुशहाली कर वसूल किया जाय।

यह भी जरूरी है कि किसी क्षेत्र के लिए सिंचाई की योजना मंजूर होते ही उस समूचे क्षेत्र मे यथाशीघ्र विकास खड स्थापित कर दिये जायें।

जल उप-कर—

आयोग का यह भी सुझाव है कि जिन इलाको के लिये सिंचाई की व्यवस्था की गई है, परन्तु जहाँ इस सुविधा से लाभ उठाना या न उठाना किसान की इच्छा पर निर्भर है, वहाँ समूचे इलाके की जनता पर अनिवार्य जल उप कर लगाया जाय। इस उप-कर की अदायगी के लिये यह जरूरी नही कि कोई किसान सिंचाई सुविधा का उपयोग करता है अथवा नही। यह सभी को देना होगा।

———

अध्याय ६

बहुमुखी नदी घाटी योजनाएँ

(Multi purpose River-Valley Projects)

"बहुमुखी नदी योजनायें आदि वस्तुतः देश के नए तीर्थ हैं, जिन्हें भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी यात्री आश्चर्य के साथ देखते हैं।

—श्री नेहरू

"बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने का ढंग है जो वास्तव में एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।"

—लुई मम्फर्ड

बहुमुखी-योजनायें

(Multi-purpose Projects)

भारत में खाद्य पदार्थों की कमी को पूरा करने के लिये सिंचाई की सुविधाओं में और अधिक वृद्धि करने की तत्कालीन आवश्यकता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में सिंचाई के लिये जितना पानी उपलब्ध हो सकता है उसका केवल ६% ही अब तक कार्य में लाया गया है। शेष पानी व्यर्थ ही समुद्र में बह जाता है और प्रति वर्ष अनियन्त्रित बाढ़ों से इतनी धन और जन की हानि होती है, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है।

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा जल शक्ति और सिंचाई की वृद्धि के लिये कई योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओं की पूर्ति पर न केवल देश में सिंचाई के साधनों में वृद्धि होगी, वरन् जल-शक्ति में वृद्धि, बाढ़ नियन्त्रण, जल-मार्ग, आमोद-प्रमोद और मछली पकड़ने आदि, सभी कार्यों में सहयोग प्राप्त होगा। ये सभी बहुमुखी योजनायें कहलाती हैं।

'बहुमुखी योजना उन कई उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने का ढंग है जो वास्तव में एक ही समस्या के विभिन्न रूप हैं।" इस प्रकार हम न तो किसी पक्ष की उपेक्षा ही करते हैं और न हमारा दृष्टिकोण एकांगी रह पाता है। उस क्षेत्र की सभी आवश्यकताओं और सभी साधनों को ध्यान में रखते हुये बहुमुखी योजना विकास कार्य करती है। किसी नदी का सम्पूर्ण अध्ययन इसी ढंग के अन्तर्गत सम्भव है। नदी की स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक अर्थव्यवस्था तथा साधनों में अनावश्यक उलट-फेर न कर उनका इस प्रकार विकास किया जाता है कि समाज को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो

विद्युत केन्द्र को प्राप्त हो गई। इस केन्द्र की पूर्ण क्षमता ६०,००० किलोवाट तक बढ़ाई जा सकती है।

पचेट हिल पर बांध बनाने का कार्य चालू है, जिसका प्रमुख उद्देश्य बाढ़ नियन्त्रण है। यहाँ पर १,३६१ एकड़ फीट पानी संग्रह होगा तथा इसकी सहायता से ४०,००० किलोवाट बिजली का उत्पादन हो सकेगा। इसकी कुल लागत १८·२५ करोड़ रु० होगी तथा सन् १९५६ में पूर्ण होने की आशा थी।

दुर्गापुर बराज आसनसोल से २५ मील और दुर्गापुर रेल्वे स्टेशन से १ मील पर है। इसकी लम्बाई एवं ऊँचाई क्रमशः २,२७१ और २८ फीट है। इस बांध की नहर पद्धति से १०·२६ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधायें उपलब्ध हो गई हैं। इसका उद्घाटन सन् १९५५ में किया गया। इसके अलावा कलकत्ता से कोयले की खानों तक हुगली नदी से जल यातायात की सुविधायें भी वहाँ की नहर पद्धति से उपलब्ध हो गई। इसकी कुल लागत २२·६८ करोड़ रु० है। जल यातायात की सुविधायें सन् १९५६ तक उपलब्ध हो सकेंगी, जिनसे २० लाख टन माल का यातायात हो सकेगा।

बोकारो थर्मल स्टेशन बिहार स्थित कोनार बांध की निचली धारा पर १२ मील दूरी पर है। इसमें ५०,००० किलोवाट विद्युत उत्पादक तीन इकाइयां हैं तथा ७५,००० किलोवाट की चौथी इकाई की शीघ्र ही स्थापना होनी है। इस केन्द्र से जमशेदपुर और बर्नपुर के लोह उद्योग, घाटशिला की तांबे की खानों, बिहार और बंगाल की कोयले की खानों, सिन्द्री एवं कलकत्ता तथा आसनसोल के आसपास के सीमेंट और इञ्जीनियरिंग कारखानों को बिजली का प्रदाय होगा। इस केन्द्र का उद्घाटन फरवरी सन् १९५३ में हुआ।

(३) कोसी योजना—

यह बिहार की महत्त्वपूर्ण योजना है, जो सिंचाई, विद्युत, जलमार्ग, बाढ़ नियन्त्रण, मिट्टी के कटाव से सुरक्षा, मलेरिया नियन्त्रण, मत्स्य उद्योग और मनोरंजन की सुविधायें प्रदान करेगी। इस योजना के अनुसार हनुमाननगर (नेपाल) से तीन मील दूरी पर कोसी नदी पर एक बराज बनेगा। दूसरे, कोसी नदी के दोनों तटों पर १५० मील लम्बी दीवारें बनाई जावेंगी। तीसरे, हनुमाननगर बराज से पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा, जो लगभग १३·६५ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधायें देगी। इस प्रमुख नहर की मुर्लीगंज, प्रतापगंज, पूर्णिया और अररिया, ये चार शाखायें होंगी। ये सभी कार्य चालू अवस्था में हैं और १५० मील की तटबन्दी का कार्य पूर्णता पर है। इस योजना की लागत ४४·६ करोड़ रु० है।

(४) हीराकुण्ड योजना—

हीराकुण्ड योजना के अन्तर्गत महानदी के पानी का उपयोग सम्बलपुर और बोलांगिर जिले के ६·७ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएं देने के लिए किया

जायगा। हीराकुण्ड बांध संभलपुर रेल्वे स्टेशन से ६ मील दूरी पर होगा। इसकी लम्बाई एवं ऊँचाई क्रमशः १५,७४८ और २०० फीट होगी तथा इसमें ६'६० मि० एकड़ फीट पानी रहेगा। इससे निकलने वाली नहर एवं उसकी शाखाएँ ६१'५ लाख मील तथा इसकी सहायक नहरें ४६० मील लम्बी होंगी और जलमार्ग (Water Courses) की लम्बाई ६,५०० मील होगी। इस योजना की लागत ७०'७८ करोड़ रु० है।

इस योजना का कार्य सन् १९४८ में प्रारम्भ हुआ तथा हीराकुण्ड का प्रमुख बांध और उसके अवरोध सन् १९५७ में पूर्ण किए गए। यहां पर एक विद्युत गृह भी बनाया गया है, जिसमें ४०,००० किलोवाट उत्पादन क्षमता की दो इकाइयाँ (Generating units) हैं, जहां से हीराकुण्ड अल्यूमिनियम फैक्ट्री, झरसुगुडा, राजगगपुर, रूरकेला, जोडा, तालचर, चौद्वार और बारगढ आदि स्थानों पर बिजली के प्रदाय की व्यवस्था पूर्ण हो गई है तथा दिसम्बर सन् १९५६ से शक्ति का प्रदाय आरम्भ किया गया। प्रमुख नहर और सहायक नहरों की खुदाई का कार्य पूर्ण हो गया है, जहां से सिंचाई की सुविधायें सितम्बर सन् १९५६ से दी जाने लगी हैं। फलस्वरूप इस योजना से नवम्बर सन् १९५७ तक लगभग १'४५ लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ गई।

डेल्टा सिंचाई की एक १४'९२ करोड़ रु० की योजना स्वीकृत की गई है, जो सन् १९६० में पूर्ण होने पर कटक और पुरी जिलों की १९७ लाख एकड़ भूमि को स्थायी सिंचाई सुविधाएँ देगी। इसी प्रकार विद्युत-शक्ति की अधिक मांग की पूर्ति करने की दृष्टि से विद्युत-गृह के विकास की योजना भी स्वीकृत की गई है, जिससे विद्युत गृह की विद्युत उत्पादन-क्षमता २,३२,५०० किलोवाट हो जायगी।

इस योजना की पूर्ति पर दामोदर घाटी का प्रदेश भारत के अत्यन्त समृद्ध भागों में गिना जायगा, क्योंकि यह प्रदेश खनिज पदार्थों से सम्पन्न है।

(५) तुङ्गभद्रा योजना—

यह योजना आन्ध्र और मैसूर राज्य द्वारा आरम्भ की गई है तथा दक्षिण भारत की सबसे बड़ी बहुमुखी योजना है। इस योजना के अनुसार तुङ्गभद्रा नदी पर ७,९४२ फीट लम्बा और १६२ फीट चौड़ा बांध बनेगा, जहां से नहरें निकाली जायेंगी तथा बांध के दोनों ओर जल-विद्युत केन्द्र होंगे। यह बांध द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद आरम्भ होकर जुलाई सन् १९५३ में पूरा हो गया तथा इसमें ३० लाख एकड़ फीट पानी की संग्रहण क्षमता है। इसके दोनों ओर से नहरें निकाली जायेंगी जो १'३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना में तीन विद्युत केन्द्र बनाए जायेंगे, जिनकी उत्पादन क्षमता ६६,००० किलोवाट होगी। बांध पर स्थित विद्युत-गृह में ९,००० किलोवाट उत्पादन-क्षमता वाली दो बिजली उत्पादक

इकाइयाँ आ गई हैं तथा तीनों विद्युत गृह सन् १९६७ तक पूर्ण होने की आशा है। इस योजना की कुल लागत ६० करोड रु० है।

(६) रिहंड योजना—

यह पूर्वी उत्तर प्रदेश की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। यह बाँध मिरजापुर जिले में पिपरी के पास रिहड नदी पर बनाया जायगा, जिसकी ऊँचाई एवं लम्बाई क्रमशः २९४·५ एव ३,०६५ फीट तथा तथा पानी सग्रहण क्षमता ८६ लाख एकड फीट होगी। इसी बांध पर प्रारम्भिक अवस्था में ९·५ लाख किलोवाट का विद्युत केन्द्र बनेगा, जिसकी अन्तिम विद्युत उत्पादन क्षमता ३ लाख किलोवाट होगी। इस योजना से उत्तर-प्रदेश में १४ लाख एकड और बिहार मे ५ लाख एकड भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इसकी अनुमानित लागत ४५·२६ करोड रु० है और सन् १९६१-६२ में पूर्ण होने का अनुमान है।

इस योजना से सोन नदी की घाटी का अज्ञात प्रदेश गगा मे सम्बन्धित हो जायगा तथा बड़े-बडे जहाज हुगली से रिहड तक चल सकेंगे तथा खनिज पदार्थों के घनी प्रदेशो का औद्योगीकरण किया जा सकेगा। यह योजना पूर्वी रेल्वे के कुछ भागो को बिजली की पूर्ति करेगी, जिससे २०,००० डिब्बे कोयले की वार्षिक बचत हो सकेगी।

(७) चम्बल योजना—

चम्बल योजना की प्रथम सीढी पर राजस्थान और मध्य-प्रदेश शासन सयुक्त रूप से कार्य कर रहे है। इस योजना के अनुसार तीन बाँधो मे से प्रत्येक पर एक विद्युत केन्द्र, कोटा के पास बराज (Barrage) एव इसके दोनो ओर नहरें बनाई जावेंगी। पहिली सीढी में गान्धीसागर बाँध बनेगा, जो भालाबाद स्टेशन से लगभग ५ मील दूरी पर होगा। इसकी ऊँचाई, लम्बाई एव पानी सग्रहण शक्ति क्रमशः २१२ व १,६८० फीट एव ५७·३ लाख एकड फीट होगी। गांधी सागर विद्युत केन्द्र पर २३,००० किलोवाट वाली चार विद्युत उत्पादक इकाइयाँ होगी। "इस योजना का अनुमानित व्यय ४९·४९ करोड रु० होगा तथा इसकी पूर्ति पर यह राजस्थान की १४ लाख एकड और मध्य-प्रदेश की १२ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करेगी। इसका आरम्भ जनवरी सन् १९५४ मे हुआ तथा प्रथम सीढी जून सन् १९५९ में पूर्ण होने का अनुमान है।"*

(८) कोयना-योजना (बम्बई)—

उत्तरी सतारा जिले के देशमुखबाडी के पास कोयना नदी पर २,२०० फीट लम्बा एवं २०७·५ फीट ऊँचा बांध बनाया जायगा। इसमे पानी सग्रहण शक्ति ३६,०४५ मि० घन फीट होगी। इसी बांध पर एक विद्युत केन्द्र होगा, जिसमें

* साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २८ सितम्बर, १९५८।

में से कुछ राशि देहातों में भेजी है, परन्तु इन सबके विरुद्ध दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—छोटे किसान लगान और ऋण चुकाने के लिए अपनी फसल का थोड़ा भाग ही बेचते हैं और दूसरी ओर उपभोग पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस वर्ग के किसानों के ऋण में कोई विशेष कमी नहीं हुई।"[१] गाडगिल कृषि अर्थ उपसमिति का इसी प्रकार का मत मशो में निम्न है[२]:—

(१) सन् १९४४ में ऋण की राशि सन् १९३९ की अपेक्षा कम हो गई, परन्तु इसके पश्चात् ऐसी प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो गयीं जिससे इस राशि में फिर वृद्धि हुई।

(२) कृषि पदार्थों की मूल्य वृद्धि कुछ रुक गई थी और उत्पादन व्यय की वृद्धि लगभग कृषि मूल्य वृद्धि के बराबर हो चली थी।

(३) बड़े-बड़े जमींदारों और काश्तकारों को इस मूल्य वृद्धि से अवश्य लाभ हुआ, परन्तु छोटे छोटे अलाभकारी खेतों वाले किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

(४) बढ़ी हुई आय का ऋण चुकाने में उपयोग किया गया हो अथवा इसको उपभोग्य पदार्थों पर खर्च न किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य में किसानों को इतना लाभ होने वाला नहीं है, सम्भवतः उन्हें कठिन समय का सामना करना पड़े।

ऋण का प्रभार—

केन्द्रीय बैंक जाँच समिति ने ऋण-ग्रस्त कृषक पर ऋण के भार का अनुमान इस प्रकार लगाया है—उत्तर-प्रदेश में प्रति कृषक औसत ऋण १७२ रु० पाया गया। मद्रास प्रान्त में लगान के प्रति १ रु० के पीछे लगभग १९ रु० ऋण था। मध्य-भारत में प्रति एकड़ ९ रु० ५ आने ऋण आँका गया और प्रति परिवार पर औसत ऋण २२७ रु० था। बिहार और उड़ीसा में भी प्रति परिवार २१७ रु० से ३०७ रु० तक ऋण पाया गया। बंगाल में प्रति व्यक्ति औसत ऋण लगभग १४७ रु० और १५२ रु० के बीच था। बम्बई प्रान्त में प्रति परिवार पर ११५ रु० से २२५ रु० ऋण था। ऋण से मुक्त कृषकों की भी जाँच की गई, संयुक्त प्रान्त में लगभग ६१ प्रतिशत कृषक ऋणी नहीं थे। मध्य प्रान्त में लगभग ४० प्रतिशत ऋण मुक्त थे और बम्बई में १३ प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश की बैंक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—छोटे-छोटे किसान, जिनके पास कुछ खेत हैं, अधिक ऋणी थे, क्योंकि उन्हें अपनी जमीन बेचने की सुविधा प्राप्त थी।

१. "रिपोर्ट ऑफ फेमिन इन्क्वायरी कमीशन" (Final), पृष्ठ ३००।
२. गाडगिल कृषि-अर्थ उपसमिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

इस योजना की लागत ८६'३३ करोड रु० है तथा सन् १९६३-६४ में पूर्ण हो जायगा।

(१२) भद्रा-संघ योजना—

यह मैसूर सरकार की बहुमुखी योजना है, जिससे शिमोगा, चिकमगलूर, चितलदुर्ग तथा बेलारी जिले की २'३४ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। साथ ही, ३३,२०० किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन कम हो सकेगा। बाध की ऊँचाई एव लम्बाई १०६ एव १,४०० फीट होगी, जिसमें ३६,०३५ मि० घन फीट पानी रह सकेगा। इसके दोनो ओर २१२ मील लम्बाई की दो नहरें निकाली जावेंगी। *इस योजना का कार्य* सन् १९४७-४८ में आरम्भ हुआ था तथा सन् १९६१ तक पूर्ण होने की आशा है। योजना की लागत २४'४२ करोड रु० है।

(१३) मचकुण्ड योजना—

यह आन्ध्र और उडीसा राज्य की सयुक्त योजना है, जिससे इन प्रदेशों की सीमा पर मचकुण्ड नदी पर १७६ फीट ऊँचा और १,३४५ *फीट लम्बा एक बाध* बनाया गया है। इसमे २७,२०० मि० घन फीट पानी सग्रहण-क्षमता है। इस बाध पर जो विद्युत-गृह बनाया गया है उसमे १७,००० किलोवाट वाली तीन बिजली उत्पादक इकाइयाँ हैं। २३,००० किलोवाट वाली तीन और इकाईयाँ बढ़ाई जावेंगी, जिससे इसकी विद्युत उत्पादन क्षमता १,२०,००० किलोवाट हो जायगी।

इन योजनाओ के अलावा निम्न योजनाएँ भी है :—

नाम योजना	लागत (करोड रु०)	सिंचाई सुविधा (एकड)	विद्युत शक्ति (किलोवाट)	पूर्णता
मलपुभाह (करल)	—	३५,०००	—	१९५५
अनीमुयार (मद्रास)	३'०५	—	—	—
पेरियर (त्रिवाकुर)	१०'४८	—	७,०५,०००	—
लोवर भवानी (मद्रास)	६'५१	२,०७,०००	—	१९५६
कगसावती (प०बङ्गाल)	२५'९६	९'५ लाख	—	१९५७
कुन्दाह (मद्रास)	३३'४४	—	१८,०००	—
गरावती विद्युत योजना (मैसूर)	२२'९९	—	१,७१,०००	१९६१
तवा (मध्य-प्रदेश)	१८'३४	५,८५,६७२	—	—

उक्त *योजनाओ के अलावा अनेक छोटी-मोटी योजनाएँ देश में कार्यान्वित* हो रही हैं। फलस्वरूप दूसरी योजना की समाप्ति पर सिंचाई के अन्तर्गत १'२ करोड एकड भूमि में वृद्धि होगी। प्रथम योजना की चालू योजनाओ की पूर्ति होने पर ६० लाख तथा दूसरी योजना की नवीन योजनाओ की पूर्ति से ३० लाख एकड भूमि

सिंचाई के अन्तर्गत बढ़ेगी। फलस्वरूप सन् १९६१ तक भारत को सिंचित भूमि ८·९८ करोड़ हो जायगी। इस प्रकार पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् सन् १९७५-७६ तक लगभग १८-१९ करोड़ एकड़ भूमि के लिए सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हो जावेंगी।[1]

इस प्रकार प्रथम योजना के प्रारम्भ में भारत की विद्युत उत्पादन शक्ति २३ लाख किलोवाट थी, जो योजना को समाप्ति पर ३४ लाख किलोवाट हो गई। दूसरी *योजना के अन्त मे यही ६९ लाख किलोवाट हो जायगी और तीसरी योजना की* समाप्ति पर १·६ करोड़ किलोवाट होगी।[2] इस विकास से जन गणना कमिश्नर सन् १९५१ की याद आती है कि—"विश्वास नही होता है, किन्तु फिर भी सत्य है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत उल्लिखित सिंचाई के नये साधनो द्वारा सींची जाने वाली कुल भूमि अंग्रेजी राज्य के सौ वर्षों मे निर्मित साधनो द्वारा सिंचित भूमि से अधिक होगी। इसका कारण यह है कि पुराने दिनों मे सिंचाई के साधनो का आर्थिक दृष्टिकोण से लाभप्रद होना साधारणतः अनिवार्य था, किन्तु आज यह बन्धन नही रह गया है।"

सिंचाई व्यवस्था के मार्ग में कठिनाइयाँ—

सिंचाई की बहुमुखी योजनाओं को पूरा करने के लिये भारतवर्ष मे संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और इङ्गलेंड की भाँति कुशल कम्पनियो और विशेषज्ञो का अभाव है। इससे इनके निर्माण मे बाधा पड़ती है। आधुनिक जल नियन्त्रण योजनाओ के निर्माण मे *समय का मूल्य सबसे अधिक है, अतः निर्माण की शीघ्रतम विधियो को कार्यान्वित* करना उचित होगा। यदि निर्माण काल अधिक हो गया तो व्यय भी निश्चित ही बढ़ेगा। ऐसा अनुमान किया गया है कि एक वर्ष की देर हो जाने से कुल व्यय मे १०% की वृद्धि आसानी से हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह क्षेत्र उतने समय तक सभी सुविधाओ से वंचित रहता है।

भारत मे सिंचाई की व्यवस्था का विकास करने में निम्न कठिनाइयाँ हैं:—

(१) वित्त की समस्या—सिंचाई योजनाओ को लागू करने मे सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है, जिसके लिए बहुत अधिक रुपयो की आवश्यकता पड़ती है। *पंच-वर्षीय योजना के अनुसार बड़ी सिंचाई योजनाओ के लिए ३८१ करोड़ तथा ४२७* करोड़ रु० की बिजली के लिए आवश्यकता पड़ेगी। इसके साथ ही कुँओ तथा तालाबो का निर्माण करने के लिए व्यक्तियो और सहकारी समितियो को कुछ अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी। इस धन को प्राप्त करने के लिए पंच-वर्षीय योजना में ऋण लेने, राजस्व की आय से सहायता लेने, विशेष अनुदानों, जल पूर्ति कर और लगान मे वृद्धि

१. भारतीय समाचार १५-६ १९६०
2. India.

करने और सिंचाई तथा विकास कर (Betterment Levy) लागू करने की व्यवस्था की गई है।

(२) टेक्नीकल ज्ञान का अभाव—धन की कमी के साथ ही योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक टेक्नीकल कर्मचारियों का भी अभाव है। प्रायः सभी बड़ी योजनाओं में विदेशी टेक्निशियनों को नियुक्त किया गया है, जिस पर अनावश्यक रूप में अधिक व्यय होता है, इसलिए यह जरूरी है कि देश में भारतियों को शिक्षित करने के लिए अनुसन्धान और ट्रेनिंग केन्द्र खोले जायें।

(३) आवश्यक सामान की कमी—भारत में इन योजनाओं के लिए इस्पात और सीमेंट की कमी है, इसलिए यह जरूरी है कि इनका उत्पादन बढ़ाया जाय और जो कुछ सामान उपलब्ध हो सके उसको सबसे पहिले सिंचाई के निर्माण कार्य में लगाया जाय।

(४) पानी का अनुचित उपयोग और बरबादी—भारतीय किसान पानी का उचित उपयोग नहीं करता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक पानी की मात्रा अलग-अलग होती है, परन्तु भारतीय किसान बिना सोचे-समझे पानी का उपयोग करता है। पानी की अधिकता खेती के लिए उतनी ही हानिकारक है जितनी कि उसकी न्यूनता। एक समय में अधिक पानी देने की अपेक्षा बार-बार पानी देना अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। पानी की इस बर्बादी को कुछ हद तक नहरों को पक्का बनाने और काम में लाए गए पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लागू करने में रोका जा सकता है।

(५) पानी का गलत बँटवारा—भारतीय किसान अपने खेत को सींचने के लिए बहुत समय तक वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा करता है और जब वर्षा में देर हो जाती है तब सिंचाई के लिए नहरों और नल-कूपों से पानी लेने के लिए भागता है, परन्तु सब किसानों को एक ही समय में नहरों और नल कूपों से आवश्यक पानी मिलना सम्भव नहीं है, क्योंकि भारत में नहरों और नल कूपों का पानी किसान की औसत आवश्यकता से कम है। इस प्रकार की भाग-दौड़ से सिंचाई की व्यवस्था पर बहुत भार पड़ता है, जिसको कम करने के लिए किसानों को अपनी आवश्यकताएँ पहिले से ही दर्ज करानी चाहिए, लेकिन रजिस्ट्री के क्रमानुसार ही उन्हें पानी मिलना चाहिये।

ये कठिनाइयाँ असाध्य नहीं है, इसलिए उचित प्रयत्नों से इनको हल किया जा सकता है। यदि किसान सहयोग दें और पानी को उचित रूप में व्यवहार में लाने की आवश्यकता को समझें तथा बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं के साथ साथ फलीभूत होने वाली योजनाओं पर जोर दिया जाय तो देश की सिंचाई व्यवस्था में अवश्य ही सुधार होगा।

बाढ़ नियन्त्रण—

कृषि उद्योग की सफलता एवं विकास के लिए जितनी अवर्षा से रक्षा होने के लिए सिंचाई साधनों की आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता फसलों की बाढ़ से रक्षा करने की है, परन्तु इस ओर सन् १९५४ तक कोई ध्यान नहीं दिया गया था। सन् १९५४ यह एक ऐसा वर्ष था जिसमे अप्रत्याशित बाढे आने से देश की असीमित हानि हुई। फलस्वरूप भारत सरकार ने सितम्बर सन् १९५४ में बाढ नियन्त्रण कार्यक्रम बनाया, जिसके तीन खण्ड हैं :—तत्कालीन, अल्पकालीन और दीर्घकालीन।

तत्कालीन खण्ड की अवधि २ वर्ष है, जिसमे बाढ सम्बन्धी गहन खोज और आँकड़ो के एकत्रीकरण का समावेश था। दूसरे खण्ड की अवधि अगले ५ वर्ष की थी, जिसमें बाढ सुरक्षा साधनों को कार्यान्वित करना था, जैसे—तटबन्दी और नहरों मे सुधार। तीसरे रूप में कुछ नदियों की सहायक नदियों पर जलग्राही-तालाब तथा आवश्यक अतिरिक्त तटबन्दी का निर्माण होना था।

इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए एक केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा तथा १२ राज्यो मे बाढ नियन्त्रण सभाएँ बनाई गई हैं। इन सभाओं को तान्त्रिक मामलों में सहायता देने के लिए सलाहकार समितियाँ भी हैं। इसके अलावा केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा की सहायता के लिए चार नदी आयोग (बाढ) [River Commission (Floods)] भी हैं। केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण सभा ने २४·०६ करोड़ रु० लागत की ५४ योजनाएँ स्वीकृत की है। इनमे से प्रत्येक की लागत १० लाख रु० से अधिक है। इसके अलावा ४०·६२ करोड रु० लागत की ६४ योजनाएँ विचाराधीन हैं। विभिन्न राज्यो एव संघीय प्रदेशो (Union Territories) मे ६·६५ करोड रु० की ४७७ अन्य योजनाएँ स्वीकृत की गई हैं।

अभी तक बाढ-नियन्त्रण का जो कार्य हुआ है उसमें उत्तर-प्रदेश के ३,२०० गाँवों का धरातल ऊँचा किया गया, कोसी नदी पर १२५ मील की तटबन्दी तथा १,६०० मील की अन्य तटबन्दियाँ की गई है। इसके अलावा जो अन्य कार्य इस दिशा में हुए उन्होंने सन् १९५७ की बाढो मे अपनी सफलता का परिचय दिया।[1] इसके अलावा ४६,८०० वर्ग मील क्षेत्र के चित्र विमान द्वारा लिए गए और ३५,५०० वर्ग मील भूमि को समतल किया गया।[2]

उच्च-स्तरीय समिति—

उपलब्ध जानकारी के आधार पर बाढ नियन्त्रण की समस्या का विचार कर रक्षात्मक साधनो पर सलाह देने के लिए एक उच्च-स्तरीय समिति सन् १९५७-५८ वर्ष में बनाई गई, जिसने अपनी प्रतिवेदना भारत सरकार को प्रस्तुत कर दी है।

---

1. India 1958.
2. Indian Information, June 1, 1958.

समिति ने बाढ की रोक-थाम के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—*

भारत मे बाढ की समस्या के तीन रूप हैं—(१) जमीन का पानी में डूब जाना, (२) नदियो के किनारो को काटना और (३) नदियो की दिशा या धारा बदलना। स्थिति के अनुसार इनके लिए विशेष उपाय करना होगा।

चार क्षेत्र—

समिति ने बाढ नियन्त्रण के लिए पूरे देश को चार क्षेत्रों में बाँटा है :—(१) उत्तर पश्चिम की नदियो का क्षेत्र, (२) गंगा नदी क्षेत्र, (३) ब्रह्मपुत्र नदी क्षेत्र और (४) दक्षिण की नदियो का क्षेत्र। कश्मीर मे बाढ का मुख्य कारण यह है कि झेलम का पाट और मुहाना चौडा न होने के कारण उसका पानी चारो ओर फैल जाता है। पजाब मे जल की निकासी ठीक से नही होती। गंगा की घाटी मे भी मुख्य समस्या है कि पानी चारो ओर भर जाता है और गाव डूब जाते हैं। कही-कहीं किनारो के कटाव से और पानी की निकासी ठीक न होने के कारण भी क्षति होती है। कोसी नदी की धारा बदलती रहती है और इसमे बहुत नुकसान होता है। सुन्दरबन के क्षेत्र में बाढ के साथ ज्वार आने के कारण किनारे धसक जाते हैं। ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियो की बाढ से किनारे बहुत कटते हैं और कभी-कभी भूमि पानी में डूब जाती है। दक्षिण में मुख्य समस्या नदियो के मुहानो के आस-पास के क्षेत्र का जलमग्न होना है।

समिति ने बाढ से होने वाली क्षति का अनुमान लगा कर बताया कि यदि बाढ न आए तो देश की राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष एक अरब रुपये बढ सकती है। सबसे अधिक क्षति असम में होती है। सन् १६५० से अब तक बाढ से सबसे अधिक क्षति गगा के मैदान मे हुई, इसके बाद ब्रह्मपुत्र की घाटी मे।

क्षति में वृद्धि नहीं—

रिपोर्ट मे कहा गया है कि क्षति के आंकडो से यह प्रकट नही होता कि इधर कुछ वर्षों मे बाढ से होने वाली क्षति मे वृद्धि हुई है। सबसे अधिक क्षति फसलो को और उसके बाद गांवो और शहरों को सम्पत्ति को पहुँची। इसके बाद सार्वजनिक इमारतों, सड़को, पुलो आदि का नम्बर आता है। क्षति के आंकडे भी अभी ठीक से इकट्ठे नही किये जाते। समिति ने इसके लिए विधि बताई है, जिससे क्षति का ठीक अनुमान लग सके।

समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि क्षेत्र विशेष के लिए अलग-अलग बाढ-नियन्त्रण योजनाएँ बनाई जानी चाहिए और जहां तक सम्भव हो, इन योजनाओं का सिंचाई और बिजली योजनाओं से मेल बैठना चाहिए। बहुमुखी योजनाओं पर विचार के समय उनके बाढ रोकने के पहलू पर भी विचार होना चाहिए और इसके लिए एक साथ धन स्वीकार किया जाना चाहिए।

---

* भारतीय समाचार दिनाक जून १५, १६५८—पृष्ठ ३२०।

तटबन्धों की उपयोगिता—

समिति इस नतीजे पर पहुँची है कि बाढ़-नियन्त्रण के लिए तटबन्ध बहुत उपयोगी हो सकते हैं, यदि उन्हें ठीक तरीके से बनाया जाये, उनकी डिजाइन सही हो और वे उपयुक्त स्थानों पर बनाये जायें। किन्तु तटबन्धों के साथ-साथ बाढ़ का पानी इकट्ठा करने के लिए जलाशय आदि भी बनाए जाने चाहिए। इनकी मरम्मत भी अवश्य होती रहनी चाहिए। इन कामों में काफी लागत पड़ सकती है और नदियों के बहाव और मार्ग के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होना चाहिए। समिति ने बाढ़-नियन्त्रण के दूसरे उपायों पर भी विचार किया है, जिन्हें दो वर्गों में बाँट दिया गया है—(१) *बाढ़ रोकने के उपाय* और (२) *क्षति कम करने के उपाय*। बाढ़ रोकने के कई उपाय हैं, जैसे—बाढ़ का पानी जमा करने के लिए जलाशय बनाना, धारा पर नियन्त्रण, गाँवों, बस्तियों आदि को ऊँचाई पर बसाना और पानी के बहाव का ठीक प्रबन्ध करना।

क्षति घटाने के भी कई उपाय है, जैसे—लोगों को बाढ़ क्षेत्रों से हटाकर दूसरी जगहों में बसाना, बाढ़ की पहले से सूचना देना और बाढ़ का बीमा करना। समिति ने विभिन्न राज्यों में बाढ़-नियन्त्रण के इन उपायों की सफलता और त्रुटियों पर विचार किया है।

भू-संरक्षण—

समिति ने इस बात पर भी जोर दिया है कि बाढ़-नियन्त्रण के लिए नदी के तल में बालू, मिट्टी न जमने दी जाए। इसलिए भू-संरक्षण बहुत आवश्यक है। जमीन का कटाव रोकने से धारा में मिट्टी कम बह कर जाती है और इससे बाढ़ की कुछ रोक होती है।

जमीन का कटाव रोकने के तरीकों में मेंढ़बन्दी, भरकों या कटी जमीन को भरना और उन पर पेड़ लगाना, सीढ़ीनुमा खेत बनाना आदि हैं। ये काम बहुमुखी बाँधों के क्षेत्र में, हिमालय की तराई में, गंगा के मैदान में और दक्षिण की पठारी भूमि में होने चाहिए। काम शीघ्रता से और उपरोक्त क्रम से होना चाहिए। राज्य सरकारों को जमीन का कटाव रोकने के काम कराने के लिए विभाग या मण्डल बनाने चाहिए और उन्हें समुचित अधिकार देना चाहिए।

समिति ने राय दी है कि जिन राज्यों में बहुत बाढ़ें आती हैं, उन्हें इसके *रोकने की योजनाएं बनाने के लिए विशेष टुकड़ी बनानी चाहिए।*

जहाँ बाढ़ से खतरा बहुत हो, उसके लिए तात्कालिक उपाय किये जायें। इसके बाद ऐसे उपायों और कामों को हाथ में लेना चाहिए, जिनसे आगे चल कर बाढ़ रुकने और अन्न की पैदावार बढ़ने में मदद मिले।

बाढ़ रोकने की योजनाओं की जाँच के लिए राज्यों को ऋण—*

भारत सरकार ने राज्यों को बाढ़ रोकने की योजनाओं की जाँच करने के

* भारतीय समाचार १-६-५८, पृ० २६२-२६३।

लिए उन्ही शर्तों पर ऋण देने का निर्णय किया है, जिन शर्तों पर उन्हें योजनाओं के लिए ऋण दिया जाता है।

बाढ रोकने की योजनाओं के लिए दूसरे आयोजन में ६० करोड रुपया रखा गया है। इसमे से पड़ताल, कोसी और दामोदर घाटी निगम की बाढ नियन्त्रण योजनाओं और केन्द्र शासित राज्यो की बाढ नियन्त्रण योजनाओ के लिए १६ करोड ६१ लाख रुपया रखा गया है। बाकी ४३ करोड ६ लाख रुपया राज्यो को बाढ नियन्त्रण योजनाएँ चलाने के लिए दिया जायेगा। राज्य सरकारो को सन् १६५६-५७ मे ८ करोड ३६ लाख रुपया और सन् १६५७-५८ मे ८ करोड १६ लाख रुपये का ऋण देना स्वीकार किया गया था। सन् १६५८-५६ मे ८ करोड रुपया ऋण दिया गया।

योजना के सीमित साधनो को ध्यान मे रख कर राष्ट्रीय विकास परिषद् ने हाल ही मे कुछ निर्णय किए हैं। अब उन्ही निर्णयो के अनुसार मण्डल को बाढ-नियन्त्रण योजनाओ पर होने वाले खर्च पर फिर से विचार करना होगा।

इन विविध प्रयत्नो के फलस्वरूप बाढो से होने वाली हानि से भारत की रक्षा हो सकेगी तथा कृषक को अपने विकास के लिए निश्चितता एव निश्चयता का वातावरण हो उत्पन्न सकेगा, ऐसी आशा है।

अध्याय १०

ग्रामीण ऋण एवं ऋण सन्नियम

(Rural Debt & Debt Legislation)

'ग्रामीण ऋण संकट का सूचक है, जबकि औद्योगिक ऋण सामान्य है।"
—बंगाल बैंकिंग जाच समिति की रिपोर्ट।

ग्रामीण ऋण भारतीय कृषि की महत्त्वपूर्ण समस्याओं मे से एक है। भारत की समृद्धि कृषि पर निर्भर है और तीन-चौथाई से अधिक जन-सख्या अपना उदर पोषण इसी पर करती है। परन्तु भारी ऋण के कारण आज भारतीय किसान पिछड़ा हुआ है और कृषि की दशा दयनीय है। इसमे सन्देह नहीं कि ग्रामीण ऋण की समस्या का कोई भी प्रभावशाली हल हमारे आर्थिक कार्य-क्रम का पहिला कदम होगा। ऋण कृषक को अनुत्पादक बना देता है, जिसका भार पीढ़ी दर पीढ़ी बढता चला जाता है। इस प्रकार

भारतीय कृषकों का ऋण कृषि के सर्वनाश का कारण है। वुल्फ के अनुसार :—"देश महाजनों के चंगुल में है, इसलिए कृषि की असफलता का कारण ऋण ही है।"

ग्रामीण ऋण का अनुमान—

समय-समय पर भारतीय कृषकों की ऋण-ग्रस्तता का अनुमान लगाया गया है। सन् १८७५ में डेक्कन रॉयट्स कमीशन के अनुसार ब्रिटिश भारत के कृषकों में से ⅓ ऋणी हैं, जिनका औसत ऋण ३७१ रु० है। सन् १८८० और सन् १९०१ के दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार कम से कम ⅔ कृषक ऋण ग्रस्त थे और उनके खेत तेजी से महाजनों के पास जा रहे थे। सन् १९११ में सर एडवर्ड मैक्लेगन के अनुसार ब्रिटिश भारत का कुल ऋण ३०० करोड़ रुपया था और सन् १९२४ में सर डार्लिंग के अनुसार कुल ६०० करोड़ रुपया था। प्रान्तीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी और भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने उक्त अनुमानों के आधार पर खोज करके सन् १९३४ में भारतीय ऋण का पूरा लेखा ६०० करोड़ रुपये का बताया। बीच के इस समय में कृषक की आमदनी तो घट कर आधी हो गई, परन्तु सन् १९३५ में डा० पी० जे० थॉमस ने १२,०० करोड़ रुपये ऋण का अनुमान लगाया था। उस समय का रुख व्यापार की मन्दी की ओर था और जैसे-जैसे कच्चे माल की कीमतें कम होने लगी, ऋण का वास्तविक भार बढ़ता गया। सर थॉमस ने इस बात को सोचा कि वास्तविक ऋण तो २,२०० करोड़ रुपया है। कीमतों की इस गिरावट ने एक साधारण कृषक के लिये मूल का भुगतान भी असम्भव कर दिया। मन्दी के कठोर प्रहार के कारण ऋण भविष्य के लिए बढ़ता जा रहा था। कृषि साख विभाग की सन् १९३७ की खोज के अनुसार सन् १९२९ से सन् १९३२ की कृषि उपज की कीमतों में मन्दी के कारण ऋण का भार वास्तव में कृषक को रुपये की तुलना में कई गुना अधिक कष्टदायक है। उन्होंने इसको १,८०० करोड़ रुपया आंका था। इस रकम पर वार्षिक ब्याज यदि सबसे नीची दर पर भी लगाया जाय, तो १०० करोड़ रु० से अधिक होगा।

प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियों के अनुसार विभिन्न प्रान्तों के ऋण के आँकड़े १९२९ में निम्न थे—*

प्रान्त	करोड़ रु०
मद्रास	१५०
बंगाल	१००
पंजाब	१३५
उत्तर-प्रदेश	१२४
मध्य-प्रदेश, बरार	३६½
बिहार, उड़ीसा	१५५
असम	२२

* Reports of Provincial Banikng Enquiry Committies.

गाडगिल कृषि उप समिति के अनुसार ऋण के ये आँकड़े विश्वसनीय नहीं है। परन्तु फिर भी उनमें साधारण प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। ग्रामीण साख सर्वे समिति की रिपोर्ट के अनुसार मन्दी के पश्चात् की अवधि में सन् १९२९-३० की अपेक्षा ऋण की मात्रा में वृद्धि ही हुई है।[1]

सन् १९२९ की मन्दी का प्रभाव—

सन् १९२९ में बाजार भाव गिरने के साथ-साथ कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत कम हो गये, परन्तु लगान और अन्य मदों में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। फलतः किसान की आय कम और व्यय अधिक हुआ। मन्दी का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि ऋण का मौद्रिक भार ही नहीं, बल्कि वास्तविक भार भी बहुत अधिक बढ़ गया।[2]

सन् १९२९ की मन्दी के पश्चात् जो सर्वे हुए उनमें इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[3] उत्तर-प्रदेश की ऋण निवारण समिति (सन् १९३८) के अनुसार "मन्दी के काल में सारे राज्य में ब्याज या ऋण चुकाना स्थगित हो गया था। नए ऋण पर ब्याज की दर बढ़ गई थी, लेकिन राज्य के समस्त ऋण में वृद्धि अवश्य हुई।" इसी प्रकार बङ्गाल के आर्थिक आपरीक्षण बोर्ड (१९३५) के अनुसार—"बंगाल के प्रायः सभी जिलों में कृषि ऋण में वृद्धि हुई, फलस्वरूप किसानों के पास कुछ भी नहीं बच पाता था।" सन् १९३५ में श्री सत्यनाथ ने मद्रास की जो जाँच की थी, उसमें भी स्पष्ट है कि मन्दी के समय किसानों पर ऋण बहुत अधिक बढ़ गया था। रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग ने भी अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य की पुष्टि की है। ऋण का यदि पदार्थों में मूल्यांकन किया जाये तो निश्चित रूप से अब यह सन् १९२९ की मन्दी के बाद पहिले से दुगुना हो गया है।[4] श्री एम० एल० डार्लिंग ने भी पंजाब में मन्दी के बुरे प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है :—सन् १९२१ में मेरा कृषि ऋण का अनुमान ९० करोड़ रुपए था, परन्तु ९ वर्ष पश्चात् सन् १९३० में मेरा अनुमान १४० करोड़ रुपयों का है।[5]

जहाँ तक कृषि ऋण का प्रश्न है, मन्दी का दूसरा पक्ष भी है। कुछ विद्वानों का मत है कि मन्दी से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण ऋण वृद्धि की गति धीमी हुई। मन्दी से किसानों की कठिनाई निःसन्देह बढ़ी, परन्तु साथ ही उसने ऋण चुकाना भी स्थगित कर दिया था। इससे साहूकार का ऋण देने का सामर्थ्य कम हो गया और ऋण राशि भी घटी। इस समय भूस्वत्व का हस्तान्तरण भी बहुत अधिक हुआ, जिससे ऋण में कमी हुई। अतः साहूकार भी वसूली कठिनता से कर पाते थे, इसलिए उन्होंने

1. Vol. 1. Pt.1, page 225-26.
2. गाडगिल कृषि अर्थ उप-समिति की रिपोर्ट, पृ० ५।
३. डा० कृष्णकुमार शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड रूरल क्रेडिट, पृ० १३।
४. प्रेलिमनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक) सन् १९३६, अनुच्छेद १३।
5. Darling : Punjab Peasants in Prosperity and Debt, p. 17

अधिक छूट देकर ऋण राशि में कमी की। कृषि अलाभकार होने के कारण कम ऋण लिये गये और ऋण भी उतनी सरलता से नहीं मिलते थे। उक्त युक्तियों में सत्य का कुछ अंश हो सकता है, परन्तु इन सब बातों ने मन्दी के प्रभावों को रोका हो, ऐसी कोई बात वस्तुस्थिति से सिद्ध नहीं होती। कृषि पदार्थों के मूल्य जो इस काल में गिरे उससे ग्रामीण अर्थ अवस्था में जो उथल-पुथल मची वह सर्व विदित है।

युद्ध-काल सन् (१९३९–१९४५) में कृषि मूल्य, विशेषकर खाद्यान्न और तम्बाकू के मूल्य कच्चे माल तथा औद्योगिक पदार्थों के मूल्य की तुलना में बहुत कम बढ़े। परन्तु पक्के माल की कीमतें बढ़ती ही जा रही थी। इसलिये कृषक के उत्पादन व्यय में वृद्धि हुई। यद्यपि लगान और सिंचाई की दरें स्थिर थीं, फिर भी परिव्यय के अन्य मदों में वृद्धि होती जा रही थी। अतः यह निर्विवाद है कि कृषक की क्रय-शक्ति में कमी हुई, क्योंकि कृषि मूल्यों की अपेक्षा औद्योगिक मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई। फलतः कृषक वर्ग, विशेषकर खेतिहर मजदूरों और छोटे कृषकों की आय में कमी हुई।

कृषि मूल्यों की इस असाधारण वृद्धि के जो लाभकारी प्रभाव कुछ क्षेत्रों और किसानों के कुछ वर्गों पर हुए, उनके कारण कुछ विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं :—युद्ध-काल में कृषि ऋण की राशि में कमी हुई है, इस मत की पुष्टि के लिये सामान्यतः निम्न तथ्य दिये जाते हैं :—

(१) भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) तथा कृषि ऋण अधिनियम (Agricultural Loans Act) के अन्तर्गत दिये गये ऋण युद्ध-काल में अधिक चुकाये गये हैं और अप्राप्त (Out Standing) ऋण की राशि भी कम हुई।[1]

(२) सहकारी समितियों के आँकड़ों से पता लगता है कि उनकी कालातीत ऋण राशि जो सन् १९४०-४१ में १०½ करोड़ रुपया थी, वह सन् १९४२-४३ में ६ करोड़ रुपये रह गई।[2] समितियों को पहले की अपेक्षा ऋण भी कम देने पड़े।

(३) कृषि भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के कारण मद्रास प्रान्त में किसानों ने भूमि बन्धक बैंकों के ऋण समय से पूर्व ही चुका दिये तथा बम्बई प्रान्त से भी इसी प्रकार की सूचनायें प्राप्त हुई हैं।

रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सरकारों और अन्य संस्थाओं की सहायता से जो युद्धकालीन कृषि परिस्थिति की जानकारी प्राप्त की है, उससे पता चलता है कि सामान्यतः किसानों ने सहकारी समिति का, साहूकार का एवं सरकार का ऋण चुकाने का प्रयत्न किया है।

1. गाडगिल समिति की रिपोर्ट, पृ० ७।
2. डा० शर्मा रिजर्व बैंक एण्ड रूरल क्रेडिट, पृ० १४।

अतः कुछ विद्वानों ने इन तथ्यों से निष्कर्ष निकाला कि युद्ध-काल में किसानों ने अपना ऋण चुकाया, इसलिये ऋण की राशि कम हो गई है, परन्तु इस मत को स्वीकार करने से पहिले उल्लिखित तथ्यों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

भूमि सुधार ऋण विधान और कृषि ऋण विधान के अन्तर्गत दिये गये ऋणों की अदायगी समस्त कृषक वर्ग की आर्थिक उन्नति की द्योतक नहीं मानी जा सकती। "इन विधानों के अन्तर्गत ऋण बड़ी राशि में कभी नहीं दिया गया, अतः वे कृषि अर्थ व्यवस्था के सम्पूर्ण अङ्ग नहीं माने जा सकते।"[1] इस प्रकार का ऋण अधिकतर किसान अकाल या अन्न सकट के समय ही लेता है, अतः किसी भी वर्ष सारे भारत में उसकी राशि ३५ लाख से अधिक नहीं हुई, जबकि कृषि की वार्षिक आर्थिक आवश्यकता ४०० करोड रुपये आंकी गई।[2] जब किसान सरकारी ऋण लेता है तो उसकी वसूली कडाई के साथ की जाती है, अतः किसान उसे चुकाने के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रकार के ऋण की अदायगी किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार की द्योतक नहीं, बल्कि सरकारी ऋण से मुक्त होने की चिन्ता की द्योतक है।

भूमि बन्धक बैंकों के ऋण समय से पूर्व चुकाये जाने की बात पर भी ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। निस्सन्देह जमींदारों और बडे-बडे किसानों को कृषि मूल्य वृद्धि से लाभ हुआ है और उन्होंने अपने ऋण में कमी भी की है, परन्तु हमारे देश में मद्रास प्रान्त को छोड कर भूमि बन्धक बैंकों को संख्या कितनी है ? और जहाँ इस प्रकार के बैंक है भी, उनसे लाभ उठाने की स्थिति में कितने प्रतिशत किसान है ? बडे किसानों को भी जो लाभ आरम्भ मे हुआ, उसमें अब कमी आरम्भ हो गई है। कृषि उत्पादन व्यय और कृषि मूल्यों की वृद्धि में अब विशेष अन्तर नहीं है, अतः जिस लाभ के कारण सन् १९४१–४४ में कमी हुई, वह कम होता जा रहा है। मद्रास की भूमि बन्धक बैंकों से अब कृषक फिर ऋण लेने लगे हैं।[3]

रिजर्व बैंक की रिपोर्टों और प्रान्तीय सरकारों के विवरण मे कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि युद्ध मे ऋण चुकाने की प्रवृत्ति बढी है, इसलिये ऋण की राशि में कमी हुई। निस्सदेह सन् १९४३ के पश्चात् कृषि मूल्यों मे वृद्धि विशेषकर खाद्यान्नों के मूल्यों मे सामान्य स्तर से कहीं अधिक हुई है। इसका लाभ कृषकों को अवश्य हुआ है, परन्तु यह मत समस्त ग्रामीण जनता के सम्बन्ध मे स्वीकार करने से पूर्व समस्त स्थिति का विश्लेषण करना आवश्यक है। असाधारण कृषि मूल्य वृद्धि से केवल वे कृषक ही लाभ उठा सके हैं, जो अतिरिक्त उत्पादन करने की स्थिति मे थे। ऐसे किसान जो अपनी खेती से अपने अनाज का खर्च निकाल कर बाजारों मे अनाज बेच सकते थे उनको ही बाजार के बढते हुए मूल्यों से लाभ हुआ है, परन्तु छोटे-छोटे

1. The Indian Rural Problem—Nanavati & Anjaria, P 188.
२. केन्द्रीय बैंक जाँच समिति सन् १९२९।
३. गाडगिल समिति रिपोर्ट 1946 : Page 8

किसान जिनके पास छोटे-छोटे खेत थे और जो खेती से जैसे तैसे अपने लिए अनाज और लगान का काम चलाते थे, उनके पास बाजार में बेचने के लिये बहुत कम अनाज था। इसलिए उनको बाजार के बढ़ते हुए भावों से क्या लाभ हो सकता था? अकाल जाँच कमीशन ने प्रान्तीय सरकारों से इस सम्बन्ध में जो मत प्राप्त किए हैं, उनसे उक्त बात सिद्ध होती है कि छोटे किसान कृषि मूल्य वृद्धि से लाभ उठाने की स्थिति में थे ही नहीं।*

सुप्रसिद्ध कृषि अर्थशास्त्री श्री मनीलाल नानावटी के अनुसार "बड़े-बड़े जमींदारों और साहूकारों को लाभ हुआ, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ग्रामीण जनता को विशेष लाभ नहीं हुआ।" खेतिहर मजदूरों तथा छोटे किसानों की आर्थिक परिस्थिति में युद्ध के कारण जो परिवर्तन हुए, उनके सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हुए, अतः इस विषय पर हम केवल विशेषज्ञों और जाँच समिति के मत पर ही निर्भर रहते हैं।

कुमारप्पा कृषकीय सुधार समिति ने इस विषय को वैज्ञानिक ढङ्ग से विवेचना की है। समिति ने डा० नायडू से सहमत होते हुए ऋण के प्रभावों के सम्बन्ध में लिखा है :—

(१) कृषि मूल्य वृद्धि की अपेक्षा कृषक के निर्वाह व्यय और उत्पादन व्यय में अधिक वृद्धि हुई।

(२) कृषक अपनी आवश्यकता के सारे पदार्थ सीमित भूमि होने के कारण स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः युद्धकालीन मूल्य वृद्धि से लाभ के बजाय अधिकांश में हानि ही हुई।

(३) खेतिहर मजदूरों को केवल अनाज में जब मजदूरी मिलती है तो उसे छोड़कर मजदूरी की दरों में वृद्धि का कोई लाभ नहीं हुआ।

(४) सहकारी समितियों में ऋण की अदायगी और ऋण में कमी होने पर कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली थी कि ऋण मात्रा में काफी कमी हो गई है। परन्तु यह धारणा बहुत कुछ गलत थी, क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में ऐसे किसान ऋण ग्रस्त थे, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक न होने से सहकारी समितियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

अकाल जाँच समिति भी (जो कुमारप्पा समिति से पहिले नियुक्त हुई थी) उक्त मत की ही थी:—"विभिन्न प्रान्तों द्वारा भेजे हुए विवरणों से ऐसा लगता है कि छोटे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि कृषि भूमि का मूल्य बढ़ा है। मजदूरी की दरों और रोजगार में वृद्धि होने के कारण ऐसे किसानों की आय में भी जो सहायक धन्धे करते हैं, कुछ वृद्धि हुई है। सिपाहियों ने भी अपने वेतन

* वुडहैड कमीशन रिपोर्ट (फाइनल), पृ० ४६७-६१।

में से कुछ राशि देहातों में भेजी है, परन्तु इन सबके विरुद्ध दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—छोटे किसान लगान और ऋण चुकाने के लिए अपनी फसल का थोड़ा भाग ही बेचते है और दूसरी ओर उपभोग पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि इस वर्ग के किसानों के ऋण में कोई विशेष कमी नहीं हुई।"[1] गाडगिल कृषि अर्थ उपसमिति का इसी प्रकार का मत भी निम्न है[2]:—

(१) सन् १९४४ में ऋण की राशि सन् १९३९ की अपेक्षा कम हो गई, परन्तु इसके पश्चात् ऐसी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो गयीं जिससे इस राशि में फिर वृद्धि हुई।

(२) कृषि पदार्थों की मूल्य वृद्धि कुछ रुक गई थी और उत्पादन व्यय की वृद्धि लगभग कृषि मूल्य वृद्धि के बराबर हो चली थी।

(३) बड़े-बड़े जमींदारों और काश्तकारों को इस मूल्य वृद्धि से अवश्य लाभ हुआ, परन्तु छोटे छोटे अलाभकारी खेतों वाले किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ।

(४) बढ़ी हुई आय का ऋण चुकाने में उपयोग किया गया हो अथवा इसको उपभोग्य पदार्थों पर खर्च न किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भविष्य में किसानों को इतना लाभ होने वाला नहीं है, सम्भवतः उन्हें कठिन समय का सामना करना पड़े।

ऋण का भार—

केन्द्रीय बैंक जाँच समिति ने ऋण-ग्रस्त कृषक पर ऋण के भार का अनुमान इस प्रकार लगाया है—उत्तर-प्रदेश में प्रति कृषक औसत ऋण १७२ रु० पाया गया। मद्रास प्रान्त में लगान के प्रति १ रु० के पीछे लगभग १९ रु० ऋण था। मध्य-भारत में प्रति एकड़ ६ रु० ५ आने ऋण आँका गया और प्रति परिवार पर औसत ऋण २२७ रु० था। बिहार और उड़ीसा में भी प्रति परिवार २१७ रु० से ३०७ रु० तक ऋण पाया गया। बंगाल में प्रति व्यक्ति औसत ऋण लगभग १४७ रु० और १५२ रु० के बीच था। बम्बई प्रान्त में प्रति परिवार पर ११५ रु० से २२५ रु० ऋण था। ऋण से मुक्त कृषकों की भी जाँच की गई, संयुक्त प्रान्त में लगभग ६१ प्रतिशत कृषक ऋणी नहीं थे। मध्य प्रान्त में लगभग ४० प्रतिशत ऋण मुक्त थे और बम्बई में १३ प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश की बैंक जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—छोटे-छोटे किसान, जिनके पास कुछ खेत है, अधिक ऋणी थे, क्योंकि उन्हें अपनी जमीन बेचने की सुविधा प्राप्त थी।

१. "रिपोर्ट ऑफ फेमिन इन्क्वायरी कमीशन" (Final), पृष्ठ ३००।
२. गाडगिल कृषि-अर्थ उपसमिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

सन् १९४२ के पूर्व एवंपश्चात् के खेतिहर मजदूरों के ऋण समाप्त किये जायें या उनकी भुगतान शक्ति के अनुसार उसे घटा दिया जाय। कर्ज अनुरक्षक बोर्ड की सिफारिश है कि देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक कमी की जाय।

रुपया उधार देने का कार्य निम्न प्रकार से किया जाय :—

महाजन को लाइसेंस आदि की प्राप्ति—

मध्य-प्रदेशीय (केन्द्रीय) महाजन सुधार कानून सन् १९३६ के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया कि प्रत्येक महाजन अपने आपको रजिस्टर्ड कराकर प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। जो इस प्रकार रजिस्ट्री न कराएगा, वह कानून की दृष्टि से अपराधी माना जाकर ५०) रु० जुर्माना देगा और यदि बाद में भी यह क्रम जारी रहा तो १००) रु० जुर्माना देना होगा। पंजाब महाजन रजिस्ट्रेशन कानून १९३८ के द्वारा लाइसेंन्स न लेने वालों के साथ किसी प्रकार की रियायत न की जायगी। बिहार तृतीय महाजन कानून सन् १९३८ के द्वारा पंजाब कानून की नकल की गई। सन् १९३८ के बंगाल कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंन्स पर जोर दिया गया। जो व्यक्ति रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्र नहीं रखता, उनका अदालत में मुकद्दमा चलाने का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है तथा लाइसेंस न लेने पर १५) जुर्माना किया जाएगा। उत्तर-प्रदेश का महाजन कानून (सन् १९३९) भी पंजाब कानून की भाँति प्रभावशाली है, परन्तु उसमें अदालत में निर्धारित रुपया जमा कराने पर मुकद्दमे का अधिकार दिया गया है। बम्बई (सन् १९३८) कानून में भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस लेना आवश्यक हो गया है, अन्यथा वह जुर्म समझा जायगा।

हिसाब सम्बन्धी कानून—

महाजनों की चालाकियों और बेईमानियों को रोकने के लिए हिसाब रखना जरूरी कर दिया गया। पंजाब हिसाब कानून के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया कि महाजन लोग सालाना हिसाब रखें और भुगतान की रसीद आदि कृषकों को पहुँचावें। इसकी अनुपस्थिति में न्यायालयों को यह अधिकार होगा कि वे उस धन व ब्याज को गैर कानूनी करार दें। मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई, बंगाल, आसाम और उत्तर-प्रदेश में भी इसी प्रकार के कानून बने। इस प्रकार इन सबमें पंजाब हिसाब कानून (सन् १९३०) का अनुकरण था।

कर्ज मुक्ति कानून में अत्यधिक सुधार की आशा से ब्याज की दर घटाने का प्रस्ताव रखा गया। सन् १९३९ के बंगाल महाजन कानून में यह धारा रखी गई कि प्रत्यक्ष कर्ज से ज्यादा आमदनी ब्याज से नहीं चुकाई जायगी, यदि यह ली गई तो एक अपराध के रूप में मानी जायगी, जिसकी सजा ६ माह जेल अथवा १,००० रुपये जुर्माना होगा। सन् १९३९ के उत्तर-प्रदेश के कानून में भी यही धाराएँ सम्मिलित की गई हैं। महाजन के चंगुल से कर्ज लेने वाले कृषक को बचाने सम्बन्धी आधार में

हमारा कृषि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए बहुत बडी मात्रा मे लिया गया है। देश के प्रत्येक भाग मे विवाह इत्यादि के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत काफी ऊँचा है। यह ऋण कृषक की आय मे किसी प्रकार की वृद्धि नही करता, इसलिए उसका सबसे बुरा प्रभाव होता है और कृषक को ऋण मुक्त नही होने देता। (३) कृषक के परिवार की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अधिक राशि मे ऋण लिया गया है। इससे कृषि अलाभकारी बन गई है, विशेषकर छोटे किसान के लिए। उसके कारण वह अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने का भी प्रबन्ध नही कर सकता। (४) भूमि या कृषि सुधार के हेतु लिए गये ऋण का प्रतिशत बहुत ही कम है। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषक का विकास योजनाओं की सफलता मे उतना विश्वास नही है कि वह कृषि सुधार के लिये पूँजी उधार ले। अर्थात् कृषि मे एक प्रकार का स्थायित्व और निष्क्रियता आ गई है।

ऋण के कारण (Causes of Debts)—

(१) पैतृक ऋण—सबसे महत्त्वपूर्ण और मुख्य कारण पिछला ऋण है, जो पिता मरते समय अपने पुत्र को सौंप जाता है। किसान शायद इस नियम से परिचित नही होता है कि अपने पूर्वज के छोड़े हुए कर्ज को चुकाने का उत्तरदायित्व उस पर केवल उतना ही होता है कि जितने मूल्य की वह सम्पत्ति छोड गया था और यदि वह कोई सम्पत्ति नही छोड गया तो ऋण चुकाने की जिम्मेदारी बिल्कुल ही नही रहती। यदि यह नियम समझा भी दिया जाय तो सामाजिक प्रथायें ऐसी उलझी हुई हैं जो उन्हें ऋण अदा करने को दैवी या पवित्र कार्य मानने को बाध्य कर देती है।[1] इस प्रकार किसान के सामने ऋण अदा करने का एक ही मार्ग है, जो "एक महाजन का कर्जा चुकाने के लिए दूसरों से कर्जा लिया जाय।" इस प्रकार कर्जे का बोझ और भी बढता है। शाही कृषि कमीशन ने बतलाया है:—"भारतीय किसान ऋण मे पैदा होता है और ऋण मे जीवित रहता है तथा ऋण मे ही मरता है।"[2]

(२) खेतों का बँटवारा—जब भू सम्पत्ति कम होती है, कृषि लाभकारी नही रहती और किसान व उसके परिवार के लिये भी खेत की उपज अपर्याप्त रहती है। फलस्वरूप या तो किसान ऋणी हो जाता है या कठोर परिश्रमी या फिर वह अपनी आय का और कोई प्रबन्ध करता है। इस सम्बन्ध मे डार्लिङ्ग का यह वक्तव्य मनोरंजक है: - कुछ एकड जमीन द्वारा अपने परिवार को चलाने और ऋणी न होने के लिए कौशल के प्रति अत्यन्त प्रेम, उद्योग और मितव्ययिता की आवश्यकता है। निस्सन्देह यह ठीक इसी प्रकार का होगा कि जैसे एक छोटी खेई जाने वाली नाव अटलान्टिक सागर के तूफान का सामना करे। लेकिन इसके लिए अच्छे खेने वाले और अच्छे बनाने वाले दोनो ही जरूरी हैं, नहीं तो वह निश्चय ही डूब जाएगी। भारत मे कभी खेत

1 Central Banking Enquiry Committee Report, p 61.
2 Royal Commission Report on Agriculture, p 365.

एक का रहता है तो कभी दूसरे का और प्रकृति भी भूमि पर उतनी ही नाशकारी सिद्ध हो सकती है, जितनी समुद्र पर।"* खेत इतने छोटे होते है और रक्षा के साधन इतने सीमित होते है कि थोड़ा सा दुर्भाग्य ही उसको ऋण-ग्रस्त बनाने के लिए पर्याप्त होता है, जिससे वह फिर जीवन पर्यन्त छुटकारा नही पा सकता।

(३) जलवायु की अनिश्चितता—भारत में यदि वर्षा ठीक समय पर न हो तो उसका अनिवार्य फल दुर्भिक्ष है, जो किसान को उत्कट भाग्यवादी और सरकार के बजट को जुए का दाँव बना देता है। फसल के नष्ट होने के कारण मुख्यतः बाढ़, तूफान, आग, अनिश्चित टिड्डी दल आदि हैं। कृषि पर यह अत्याचार गरीब किसान से बदला लेना है, जो उसकी स्थायी विपत्तियों का द्वार खोल देते है। इन-दुर्भाग्यों से बचने के लिए उसके पास पहिले का कोई सुरक्षित धन नही होता, फलस्वरूप उसे महाजनो के पास जाना पड़ता है, जो उसे इच्छानुसार नचाते है। केवल साधारण किसान ही अच्छे साल मे बिना उधार लिए गुजारा कर सकता है, लेकिन बुरे साल में तो उसको भी अपनी आवश्यकता की सब चीजें उधार लेनी पड़ती हैं, जैसे—बीज, पशु, कपड़े और यहाँ तक कि भोज्य पदार्थ भी। कृषक के लिए पशुओं की बीमारी सबसे बड़ी मुसीबत होती है। पशु कृषक के पास सबसे खर्चीली पूँजी है और यह नुकसान उसको सबसे मँहगा पड़ता है, इसलिए उसको उधार लेना आवश्यक हो जाता है।

(४) कृषकों का अज्ञान और अशिक्षा—कृषकों की दशा और भी खराब बनाने के लिए अशिक्षा और अज्ञान मिल कर जन-संख्या को बढ़ाती जा रही है, जबकि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन मे उतनी वृद्धि नही हो रही है। अपने सीधेपन और अज्ञानता के कारण वे क्रूर और चतुर महाजन के चंगुल मे आसानी से फँस जाते है। महाजन उधार देने मे समर्थ होता है तथा मुकद्दमा लड़ने के लिए उसके पास वकील होता है। लेकिन कृषक के पास इसके विपरीत कोई उपाय नहीं, अतः वह पराजित हो जाता है।

(५) सहायक धन्धों का अभाव—भारत में ग्रामीण उद्योगो का अभाव और वर्ष में कुछ समय के लिए कृषकों का बेकार रहना, ऋणी होने का कारण है, अर्थात् जन संख्या का भार अब केवल भूमि को ही वहन करना पड़ता है। फल यह होता है कि उदर पोषण के लिए उनको पर्याप्त आय नही मिल पाती और किसान को विवश होकर महाजन की खर्चीली सहायता प्राप्त करनी पड़ती है। क्योंकि उसे आय बढ़ाने के वैकल्पिक साधन नही मिलते।

(६) कृषक की शारीरिक अयोग्यता और दरिद्रता—भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुसारः—भारतीय कृषक की वार्षिक आय अधिक से अधिक ४५ रु० से कुछ कम या ३ पौंड से कुछ कम होती है, जबकि इङ्गलैंड में यही आय ८५

---

* M. L. Darling : Pumjab Peasants in Prosperity and Debt, p. 262.

पौंड है। भारतीय कृषक कभी कभी तो आवश्यक खाद्य-पदार्थों का एक-चौथाई ही प्राप्त कर पाते हैं। खाने के लिए उनके पास पूरा भोजन नहीं होता, पहनने को पूरे वस्त्र नहीं होते, इसलिए परिश्रम करने के लिए उनमें पर्याप्त शारीरिक योग्यता का अभाव रहता है। कृषकों की एक बड़ी संख्या अत्यन्त निर्धनता से अपना जीवन व्यतीत करती है। शारीरिक निर्बलता के कारण वे आसानी से बीमार हो जाते हैं, जिससे और भी कमजोर हो जाते हैं। इसलिए उन्हें बाध्य हो कर ऋण लेना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक बन्धन और पारिवारिक स्नेह के कारण निर्धन व्यक्ति भी बड़ी ऊँची भावनाओं वाला होता है, लेकिन सीमा का अतिक्रमण कर जाने वाली निर्धनता के कारण वह उनको कार्य में परिणित नहीं कर सकता। फलतः इसका ऋण भार बढ़ता जाता है।

(७) महाजन और उसको उधार देने का तरीका—कृषि के लिए अधिकतर पूँजी महाजन या साहूकार से ही प्राप्त की जाती है।[1] कभी कभी तो महाजन बहुत ऊँची दर से सूद लगाता है और ब्याज लेने के बहाने प्रति वर्ष फसल का एक निश्चित भाग बाजार भाव से कम कीमत पर ले लेता है। निर्धन किसान की सूखी हड्डियों से नोच कर मांस की अन्तिम मात्रा तक लेने में साहूकारों को कोई हिचक नहीं होती और वे कृषक को निर्धनता तथा गुलामी का जीवन बिताने को बाध्य कर देते हैं। फलस्वरूप कृषक की क्रिया शक्ति पंगु हो जाती है, जिससे वह घोर भाग्यवादी बन जाता है। आशा और उत्साह उसके जीवन से सदैव के लिए विदा हो जाते हैं और वह निष्क्रिय सा जीवन व्यतीत करता रहता है तथा उसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता।[2] बहुत से कृषक फसल बोने के समय महाजन से अन्न का ऋण लेते हैं, जिसको वह बाजार भाव से एक सेर कम देता है। जब कृषक पर बुरे दिन आते हैं तो साहूकार उनकी ओर से लगान देकर उन्हें बेदखली से बचाता है। इसके अलावा किसानों को शादी-ब्याह, अन्य आवश्यक खर्चों और मुकद्दमा लड़ने के लिए भी रुपया देता है। अमल में साहूकार सदैव धन प्राप्त करने का एक साधन मात्र है, जिसके पास गरीब किसान राहत पाने को जाता है, लेकिन वह महाजन के चंगुल में ऐसा फंस जाता है कि फिर कभी नहीं लौट पाता।

---

१. नीचे तीन प्रान्तों में विभिन्न एजेन्सियों द्वारा दिये जाने वाले ऋण का प्रतिशत बतलाया गया है :—

(१) यू० पी०—शहरी महाजन २८·३%, गाँव का बौहरा ५·१%, जमींदार २५·६%, किरायेदार १२·७%, सहकारी समितियाँ ५·३% और सरकार २·६%।

(२) मध्य-प्रदेश—महाजन ८२·७१%, जमींदार ११·८%, सहकारी समितियाँ २·८१% और सरकार २·६%।

(३) मद्रास—महाजन ३१%, रय्यत ४७%, सहकारी समितियाँ १७% और सरकार ३%।

(C. B. Mamoria: "Agricultural Problems of India" pp. 523-524)

2. Wolf: "Co operation in India," p. 3

ऋण की अधिकता, कृषक की तुरन्त आवश्यकता, साख का अभाव और आर्थिक दुर्व्यवस्था कृषक को पूर्णतया साहूकार की मर्जी पर छोड़ देते हैं। महाजन कृषक को असहाय और अकेला देख कर अपने अधिकार और प्रभाव के जरिये उससे पूरा लाभ उठाता है।

(८) ब्याज की ऊँची दर—ब्याज की ऊंची दर भी किसान को उधार लेने को बाध्य करती है। ब्याज की दरें प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न होती हैं और कृषक की आर्थिक दुरावस्था के कारण ब्याज प्रति वर्ष जमा होता जाता है।

प्रान्तीय बैंकिंग समितियों की जाँच के अनुसार अनेक प्रान्तों में महाजन १२ से ३७½% सूद पर ऋण देते हैं। यह सूद की दर कई बातों पर निर्भर रहती है :—

(१) गिरवी या रहन रखने वाली वस्तु की मात्रा और अवस्था।

(२) ऋण की मात्रा और ऋण देने वालों की संख्या। जब आभूषण गिरवी रखकर ऋण दिया जाता है तो सूद की दर कम होती है और बिना गिरवी रखे जब ऋण दिया जाता है तो ऋण की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक रहती है, जो कभी-कभी ३००% तक हो जाती है। सूद की दर इतनी अधिक ऊँची होने के निम्न मुख्य कारण होते हैं :—

(अ) अनेक गाँवों में किसानों को ऋण देने के लिए महाजन के सिवाय अन्य कोई दूसरा नहीं होता, इसलिए ऐसी अवस्था में वे अपने एकाधिकार का लाभ उठाते हैं।

(आ) बहुत से ऐसे गाँव होते हैं, जिनमें निकट के कई गाँवों में भी कोई महाजन नहीं होता, ताकि किसान अपनी आवश्यकता के समय धन उधार ले सकें। ऐसी अवस्था में वे पास के गाँवों जहाँ महाजन होता है, वहाँ से रुपये प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन महाजन उन किसानों से अपरिचित होता है, अतः वह जोखिम की दरों को पूरा करने के लिए सूद की दर को बढ़ा देता है।

(इ) किसानों की माँग के अनुसार ऋण देने की व्यवस्था नहीं होती, अर्थात् ऋण देने वाले महाजनों की संख्या तथा उनके पास धन की मात्रा इतनी नहीं होती कि वे सबकी आवश्यकताएँ समयानुकूल पूरी कर सकें, अतः सूद की दर अधिक ली जाती है।

(ई) अज्ञानता, अन्ध-विश्वास और ऋण प्राप्त करने के लिए गिरवी रखने के लिए उचित माल के अभाव में भी सूद की दर अधिक हो जाती है।

स्पष्ट है कि ऋण चाहे भोजन या बीज किसी के लिए भी दिया गया हो, सवाया या ड्योढ़ा हो जाता है और यदि दुर्भाग्यवश फसल खराब हो जाती है तो किसान को भूखों मरना पड़ता है, क्योंकि महाजन तो हर हालत में पहिले का तय किया हुआ भाग ले लेता है, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता है तो ब्याज चक्रवर्ती से बढ़ता जाता है, जो पीढ़ियों तक चलता रहता है।

(९) फिजूल खर्ची और सामाजिक कुरीतियाँ—कृषक की अपव्ययिता उसके ऋणी होने का प्रमुख कारण है। भारतीय किसान अपने धन को खर्च करने का तरीका नहीं जानता और अत्यन्त अव्यवस्थित ढंग से खर्च करता है। वह उसका अनुत्पादक रूप से उपभोग करता है, जैसे—शादी ब्याह में, जेवर बनवाने में और अपने पूर्वजों आदि का श्राद्ध करने में, यद्यपि इतना खर्चा उसकी शक्ति से बाहर होता है। समय-समय पर लम्बे भोज, धार्मिक उत्सव, जैसे कथा आदि और यहाँ तक कि परिवार के खुशी के किसी मौके पर जाति भोज के नाम पर भी ये लोग फिजूल खर्ची करते हैं। आत्मनिर्भरता और मितव्ययिता के अभाव में ये लोग फसल पकने तक बहुत सा रुपया इधर-उधर के कामों में खर्च कर देते हैं, जो किसान के ऋणी बनने में बहुत सहायक होते हैं।

"एक अच्छे साल में कृषक अपने अज्ञान के कारण शादी और अन्य उत्सवों पर अपनी सब बचत खर्च कर देता है और अपनी फिजूल खर्ची के कारण उसे अच्छे वर्षों में महाजन के पास जाना पड़ता है। अपने बच्चों की शादी या जन्म उत्सवों में किसी भी कृषक की प्रकृति अपने साथियों से अधिक खर्च करने से रोकने की नहीं होती।"[1] मेजर जैक के अनुसार "ऋणी मनुष्यों की एक बड़ी संख्या ने घर के खर्चों के कारण ऋण लिए और खास तौर से वे शादी के कारण इन उत्सवों पर पूरे अथवा अथवा आधे वर्ष की आय खर्च कर देना कोई बड़ी बात नहीं समझते।"[2] दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार शादी और जन्म उत्सव ऋण के मुख्य कारण हैं।

(१०) ब्रिटिश शासन की स्थापना—शक्तिशाली नियमों की स्थापना, व्यापार की उन्नति, आवगमन के साधनों का विकास और शहरों का विकास आदि कारणों से कृषि की वस्तुओं के दाम बढ़ गये। इसलिए कृषकों की उधार लेने की शक्ति बढ़ गई, जिससे ऋण लेने में तेजी से वृद्धि हुई। किसान उत्पादक और अनुत्पादक खर्चों के लिए शक्ति से अधिक ऋण लेने लगे। फलतः अधिकतर कृषक भूमि रहित हो गये, क्योंकि उनकी जमीन साहूकार ने न्याय की रक्षा के लिए बिकवा ली। कृषि भूमि का बहुत बड़ा क्षेत्र गत ३० वर्षों में ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया, जो स्वयं खेती नहीं करते थे। उदाहरणार्थ, पंजाब में सन् १८३३ और सन् १८७४ के बीच कृषकों ने प्रति वर्ष लगभग ८८,००० एकड़ जमीन बेची, किन्तु इसके आगे के ४० वर्षों में प्रति वर्ष ९२,०००, १६,००० और ३,३८,००० एकड़ भूमि बेची गई।[3]

कृषकों की गरीबी के कारण उतना ऋण नहीं बढ़ा, जितना कृषि योग्य भूमि की कीमत बढ़ जाने के कारण, क्योंकि अब जमींदार ऋण के लिए अधिक मूल्य की चीज रहन रख सकता है। पहिले नियम के अनुसार कृषक को अपनी सब बचत दे देनी पड़ती थी और उस पर ऐसी कोई चीज नहीं रह जाती थी, जिसके आधार पर

1 Indian Famine Commission Report (1880), Vol. II, p 133.
2 Jack : Economic Life in Bengal Village. p. 120.
3. Central Banking Committee Report p. 59.

वह उधार ले सके। लेकिन लगान के रुपयों के निश्चित हो जाने, सड़क और रेल का विकास हो जाने, नई मण्डियों के खुलने और कीमतों के बढ़ जाने से अपने सब खर्चों को निबटा कर भी उसके पास इतनी साख रहती है कि साहूकार खुशी से उधार देने को तैयार हो जाता है। केवल पंजाब में ही ऐसा नहीं हुआ, वरन् मध्य-प्रदेश के इन दो प्रदेशों—नागपुर और जबलपुर में भूमि के मूल्य की वृद्धि के कारण सारा देश व्यापारिक मार्गों से सम्बन्धित हो गया, लेकिन शादी आदि के अवसरों पर फिजूल खर्ची का ठिकाना न रहा। इसलिए बहुत अच्छे वर्षों में भी वहन करना भूमि की शक्ति के बाहर हो गया। दक्षिण में यह फिजूल खर्ची रुई के दामों में वृद्धि के कारण हुई। अमेरिकन युद्ध के कारण और बिना सोचे-समझे ऋण लिया जाने लगा। हाल ही में बड़ौदा और उड़ीसा में भी भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के कारण ऋण बढ़ने लगा था। वर्मा में चाय के मूल्य तेजी से बढ़ने के कारण स्वभावतः फिजूल खर्ची और ऋण बढ़ गये थे।

(११) मुकद्दमे बाजी—जहां पर फसल प्रति वर्ष अच्छी बुरी होती रहती है, वहाँ हर वकील यह भी जानता है कि किसान की आय फसल पर निर्भर है और जब कृषक की जेब में पैसा होता है तो वह अपने को अदालत में लड़ने से नहीं रोक सकता। मि० कालवर्ट ने अनुमान लगाया है कि २½ लाख व्यक्ति प्रति वर्ष अदालत में या तो गवाही देने के लिए या वादी प्रतिवादी बन कर आते हैं† और इस सम्बन्ध में न केवल वकील की फीस और स्टाम्प वगैरह के दाम जाते हैं, वरन् बहुत से अफसरों की अच्छी आय हो जाती है।

(१२) भूमि और सिंचाई के भारी कर—कृषकों को ऋणी बनाने के लिए सरकार की लगान नीति भी दोषी है। सन् १६०१ के दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार—"लगान-प्रबन्ध की कठोरता किसानों को उधार लेने को बाध्य करती है और उनकी कीमती सम्पत्ति उन्हें उधार लेने में सहायता देती है।" अपने प्रसिद्ध पत्र में श्री आर० सी० दत्त बताते है—"भारत एक कृषि प्रधान देश है, जिस पर बहुत अधिक लगान लगाया जाता है, जिसमें कृषकों की आय कम हो जाती है।" अनेक दुर्भिक्षों में प्रति एकड़ उपज में कमी होते हुए भी लगान में वृद्धि की गई है, इसलिए विपत्ति के समय के लिए वे कोई रकम नहीं बचा पाते और शक्ति के बाहर शर्तों पर उन्हें उधार लेना पड़ता है। श्री डार्लिङ्ग के अनुसार—ब्रिटिश शासन में लगान कम तो किया गया, परन्तु विशेष नहीं। सन् १६३६ के पश्चात् बाजार भावों के गिरने पर लगान का भार बढ़ गया, जिसको अदा करने के लिए अनेक बार रुपया उधार लेना पड़ा।

(१३) बिक्री सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—बाजार में ऊँची कीमतों के होने के कारण किसान एक संकीर्ण बाजार में सस्ते दाम पर अपनी सब फसलों को

† H. Calvert : Wealth & Welfare of the Punjab, p. 206

बेच देना है, किन्तु आवश्यकता के समय उसको ऊँचे भाव पर अनाज खरीदना पड़ता है। असमय में लगान की वसूली और फसल के समय महाजन द्वारा अपनी पूरी फसल बेचने के लिए बाध्य होने के कारण कृषक अपना सर्वनाश करने के लिए बाध्य है।

ऋण से होने वाली बुराइयाँ—

(१) निम्न जीवन स्तर—ऋण ने किसानों को बहुत बुरी दशा में पहुँचा दिया है। उनकी बहुत सी बुराइयाँ, जिनमें वे कष्ट उठाते हैं, ऋण का ही परिणाम हैं। कृषकों की गरीबी, उनका अज्ञान और निम्न जीवन-स्तर तथा आय ऋण के कारण है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी लिखती है—"अच्छी फसल के दिनों में भी ऋण निम्न जीवन स्तर तथा कृषकों की उन्नति में बाधा डालने वाले कारणों में प्रमुख है। यह कम आय और गरीबी, खेतों में काफी पूँजी लगाने में बाधा डालती है और समाज के नैतिक स्तर को गिराने के प्रमुख कारणों में है। यह कृषकों को शारीरिक व मानसिक रूप से निर्बल करती है। ये सब कारण कृषि में अयोग्यता उत्पन्न करते हैं और ऋण इन कारणों के मूल में रह कर इन्हें बढ़ाता है।

(२) कृषि उपज की विक्रय में असुविधा—कृषि की उत्पादित वस्तुओं के ठीक-ठीक विक्रय में भी ऋण बाधा डालता है। एक छोटे से प्रतियोगिता रहित बाजार में ऋणी कृषक को अपनी सब फसल उस महाजन को बेच देनी पड़ती है, जो निश्चय ही बाजार भाव से कम मूल्य चुकाता है।

(३) राष्ट्रीय आय के लिए हानिकर—जब लम्बी रकम पूँजी लगाने या पुराना ऋण चुकाने के लिए ली जाती है तो उसको वापिस करने का समय अधिक नहीं दिया जाता। मध्य-प्रदेश में यह समय साधारणतया ३ साल का होता है। इसका फल यह होता है कि कृषक की अधिकतर आय ऋण चुकाने में ही चली जाती है, जिससे जीवन-निर्वाह के लिए बहुत थोड़े पैसे बचते हैं। राष्ट्रीय आय के लिए यह बहुत हानिकारक होता है और इस प्रकार अनुत्पादक कृषि शुरू हो जाती है।

(४) कृषि-उन्नति में बाधा—ऋण के कारण सम्पत्ति का नाश होता है और भूमि कृषक के पास से खेती न करने वालों के पास चली जाती है। मारवाड़ी बनिये और इसी तरह की अन्य जातियाँ कृषकों से उनकी भूमि तेजी से छीन रही हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कृषि की उन्नति में बाधा डालती है तथा भूमि रहित किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे अकुशलता में वृद्धि होती है। महाजन इतने अधिक लगान पर भूमि को उठाता है कि उसको देने के बाद कृषक के पास अच्छी फसल उगाने के लिए कुछ भी पूँजी नहीं बचती। इस अकुशलता के कारण कृषक न तो पूँजी लगा सकता है और न अच्छी फसलें ही पैदा कर सकता है।

(५) कृषक की समता—इसका सबसे बुरा सामाजिक और नैतिक प्रभाव यह होता है कि यह ऋणी को महाजन का गुलाम बना देता है। यदि महाजन एक

चावल और गेहूँ आदि फसलो मे कंकड़-मिट्टी आदि मिला दी जाती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की कृषि वस्तुओ को मूल्य कम मिलता है।

(५) यातायात की अपूर्णता एवं असुविधायें—फसल को गांव से मंडी ले जाने के लिए उत्तम सड़कें नहीं हैं, अतः कृषि उत्पादन के यातायात में बहुत सी असुविधायें होती हैं। वर्षा मे सड़कों की अवस्था और भी शोचनीय हो जाती है। सड़कों की असुविधा के कारण एक तो पशुओ को काफी कष्ट उठाना पड़ता है और मण्डी तक माल ले जाने मे व्यय भी अधिक होता है। अनुमान है कि माल ढोने का खर्चा किसान को मिले मूल्य का २०% तक होता है। उपज की उचित बिक्री के लिए अच्छी सड़कें अत्यावश्यक है। भारतवर्ष के गावो मे ऐसे मार्गों का नितान्त अभाव है, जिन्हे सड़क कहा जा सके। भारत में औसतन ०·२२ मील सड़कें प्रति वर्ग मील हैं। यह औसत अमेरिका के मरुस्थल औसत (०·३० मील) से भी कम है।*

इसके अतिरिक्त जानवर और बैलगाडी बहुत ही मन्द गति से चलते है तथा एक फेरी मे अधिक माल नही ले जा सकते।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं की दुर्लभता—भारतीय किसानो को भिन्न भिन्न वस्तुओ के भावो की दरें पूर्णतया ज्ञात नही रहती, जबकि महाजनो और मण्डी के व्यापारियो को बड़े-बड़े बाजारो की दरें समय-समय पर ज्ञात होती रहती हैं। ऐसी दशा मे किसानों को सदैव महाजनो द्वारा बताई गई दरो पर विश्वास करना पड़ता है। कई बार तो वास्तविक भाव मालूम होने पर भी भिन्न-भिन्न बाजारों के दरों की तुलना नही की जा सकती, क्योंकि सभी क्षेत्रों मे कृषि उपज के लिए कोई एक निश्चित श्रेणी नियत नही है। साथ ही, जो भाव स्थानीय सरकारी सस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जाते है वे विश्वसनीय नही होते और राजकीय पत्रों में प्रकाशित होने वाले भाव समझना अशिक्षित कृषक के लिए सम्भव नही होता, अतः महाजन किसानो के अज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

(७) फसल को सुरक्षित रखने के साधनों का अभाव—गाँवो में फसल को सग्रह करने के लिए भूमि मे गड्ढे या मिट्टी की कोठियाँ (खत्तियाँ) काम मे लाई जाती हैं। इसलिए सील अथवा कीडे मकोड़ो से बहुत सी फसल नष्ट हो जाती है। अनुमान है कि सील अथवा कीड़ो द्वारा भारत मे प्रति वर्ष ३ लाख टन गेहूँ गाँव मे ही नष्ट हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण गाँवो अथवा मण्डियों में अनाज भरने के लिए गोदामों की कमी है।

(८) अन्य कारण—अन्य कारणों मे कृषक की अशिक्षा, निर्धनता, ऋणग्रस्तता, विवशता, अनार्थिक जोतें आदि कारणो का समावेश होता है, जो कृषि के दोषपूर्ण सगठन के परिचायक है।

* Report of the Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, Vol. II 1954.

कृषि उपज की विक्रय प्रणाली में सुधार की दशा—

स्पष्ट है कि भारतीय किसानो को अपनी फसल की बिक्री से उचित मूल्य नही मिलता। श्री वाडिया और मर्चेन्ट के अनुसार किसानों को फसल की १ रुपये की बिक्री मे अलसी मे १० आने, गेहूँ मे ६। आने, चावल में ८। आने, आलू मे ८ आने और मूंगफली मे केवल ७॥ आने मिलते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कृषि पदार्थों की बिक्री की पद्धति मे सुधार हो। इस हेतु निम्न दिशा मे सुधार आवश्यक हैं—

(१) नियन्त्रित मण्डियो की स्थापना—भारत मे नियन्त्रित मण्डियो की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि भारतीय कृषक सभी जगह व्यापारियो द्वारा ठगे जाते हैं। नियन्त्रित बाजारो की स्थापना सबसे पहले सन् १८६७ मे बरार में की गई थी। किन्तु इसकी कार्य-प्रणाली मे बहुत से दोष आ गये। बरार के बाद मध्य-प्रदेश में सन् १६३२ मे, मद्रास मे सन् १६३३ मे और हैदराबाद मे सन् १६३६ मे तथा मैसूर, बड़ौदा आदि राज्यो मे भी नियमित मण्डियो की स्थापना की गई है।

मध्य-प्रदेश में रुई के लिए नियन्त्रित मण्डियाँ पाई जाती हैं। सन् १६४८ में रुई की ३६ और अन्य कृषि वस्तुओ की नियन्त्रित मण्डियाँ ६ थी। ये मण्डिया मध्य-प्रदेश म्युनिसिपिल विधान और मध्य-प्रदेश रुई मण्डी विधान सन् १६३२ (C. P. Cotton Market Act) द्वारा सचालित होती है। पहिले प्रकार की मण्डियाँ मुख्यतः रायपुर, दुर्ग और नागपुर मे है। यहाँ कृषि पदार्थों के सग्रह और सरक्षण का भी प्रबन्ध होता है। प्रत्येक मध्यस्थ को लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। तोलने का व्यय, चुङ्गी की दर तथा बाजार की अन्य दरें मण्डी समिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

बरार में रुई की मण्डियां, सी० पी० कॉटन मार्केट एक्ट सन् १६३२ से नियन्त्रित होती है, जिनमे कपास का ही व्यापार होता है। अमरावती और अकोला मे इस प्रकार की मण्डियाँ है, जिनका प्रबन्ध इस विधान के अन्तर्गत स्थापित की गई मण्डी समितियो द्वारा होता है। ये समितियाँ आपसी झगड़े मिटाने, खेतों का निरीक्षण तथा तौल और नाप का प्रबन्ध करने का कार्य करती है। यहाँ भी सभी प्रकार के व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती हैं।

बम्बई मे सन् १६२७ में, बम्बई रुई मण्डी विधान (Bombay Cotton Market Act) लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत मण्डी समिति मण्डियों का प्रबन्ध करती है। यहाँ भी व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है। मद्रास राज्य मे मद्रास-व्यापारिक फसल बिक्री विधान सन् १६३३ द्वारा, रुई (त्रिपुर, अदोनी और नन्दलाल), मूंगफली (कडालोर) तथा तम्बाकू (गन्टूर जिला) के बाजारों का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस समय पूर्वी पंजाब में ५६, हैदराबाद मे ३२ और ग्वालियर मे ३६ नियन्त्रित मण्डियाँ हैं। इन सभी मंडियों की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:—

जायगी, जिसमे उसे कुछ भी देने को बाध्य न होना पडेगा। पंजाब कानून के अन्तर्गत कृषक उन्ही लोगो को भूमि बेच सकता है जो सरकार की ओर से कृषक मान लिए गये हैं। इस प्रकार का कार्य इस बात को ध्यान मे रखते हुए किया गया था कि महाजन वर्ग अधिक न बढे, परन्तु इसका प्रत्यक्ष कारण ग्रामो की दरिद्रता व ऋण पर प्रतिबन्ध लगाना था। लेकिन उनका खास उद्देश्य तो वहाँ असफल होता था जहाँ महाजन भूमिपति थे। कुछ समय जरूर उन्हे बाधित किया जाता था कि वे कृषक बनें। दूसरे प्रकार का कार्य जो ये महाजन करते थे वह था कि वे बेनामी रुक्के लिखवा लेते थे, जिससे कभी भी ऋणी कृषक की जमीन लेकर वे दूसरे कृषक को दे देते थे, ताकि या तो उससे लगान आदि वसूल कर लें या उत्पादन ही पूरा कर लें।

आधुनिक ऋण सन्नियम—

सन् १९३० की आर्थिक मन्दी देश मे (विशेष तौर से कृषको मे) एक असन्तोष पैदा करने वाली घटना हुई। इसके कारण भुगतान शक्ति बढ गई और फसलों का भाव गिर गया, फलतः किसानो पर ऋण की रकम बढ गई। महाजनों ने न्यायालय की मदद चाही, ताकि किसानो पर दबाव डाल कर ऋण वसूल कर सकें। इस प्रकार भूमि हीन कृषक की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। अतः प्रान्तीय सरकारों ने इस प्रकार के आधार व उपाय खोज निकाले जिनसे कृषको का ऋण भार कम हो गया और कुछ अंशो मे तो बिल्कुल ही हट गया।

प्रान्तीय ऋण मुक्ति कानून के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं:—

(अ) वर्तमान ऋण की मात्रा घटा दी जाय।

(ब) ऋण देने की सुविधा के लिए ग्रामीण आर्थिक सहायता देने वाली शाखाओं की स्थापना की जाय।

(स) महाजनों की अनुचित शोषण रीति से कृषको को बचाने के लिए कुछ आवश्यक साधन अपनाये जायें।

अल्प-कालीन कर्ज कानून—

कृषको को शीघ्र ही राहत पहुँचाने के लिए तीन प्रकार के कानून बनाये गये—

(अ) मोरेटोरियम कानून।

(ब) ऐसे उपायो का अवलम्बन, जिनके द्वारा ब्याज का भार हटा दिया जाय।

(स) मूलधन मे कमी करने और उसके भुगतान के सुगम उपाय।

(अ) मोरेटोरियम कानून—कीमतो का अत्यधिक गिरना कृषक की स्थिति को डावाडोल कर देता था, इसलिए वह इस स्थिति मे न था कि अपने ऋण का भुगतान कर सके। महाजन न्यायालय की शरण ले रहे थे, ताकि उन्हे उनका ऋण पूर्ण रूप से मिल जाय। यह खतरा बढता ही जा रहा था कि जमीनें देनदारो (महाजनो)

को बेच दी जायँगी। जमीनें न बेची जायँ और साथ ही कृषकों को ऋण भुगतान में सुगमता हो, इस कारण मोरेटोरियम कानून कई प्रान्तों में लागू किये गये।

उत्तर-प्रदेश का सन् १९३४ का स्थायी कानून इसलिए बनाया गया था कि जिससे कृषकों को ब्याज आदि की सुगमता हो। उसमें यह भी कहा गया कि कर्ज का भुगतान किश्तों में हो और वह भी सन् १९३७ में। साथ ही, कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने उन व्यक्तियों के कर्ज का भुगतान आगे के लिये बढ़ा दिया जो १०,०००) रुपया लगान देते थे और जो आय कर से मुक्त थे। वे व्यक्ति जो २५०) रुपया से अधिक लगान देते थे, उसका ½ हिस्सा जमा करा कर लिये गये कर्ज को डिक्री ठहरा सकते थे। इस प्रकार कानून से दूसरा लाभ यह हुआ कि वे कृषक जो कर्ज के भुगतान न करने पर जेल में डाल दिये जाते थे, मुक्त किये गये।

मद्रास सरकार ने इस बिल को स्वीकृत करने के लिए सन् १९३७ में प्रयत्न किया, परन्तु कर्ज मुक्ति बिल की वजह से वह स्थगित कर दिया गया। बम्बई में छोटे कृषकों के भुगतान सम्बन्धी कानून से वे कृषक, जिनके पास ६ एकड़ सिंचाई भूमि व १९ एकड़ बिना सिंचाई की भूमि थी, सुरक्षित रहे। मध्य-प्रदेश में भी इसी प्रकार का *कानून बनाया गया।*

(ब) ब्याज की दर कम करने के उपाय—कर्ज के परिणामस्वरूप कृषक को भूमि न बेचनी पड़े, इस सम्बन्ध में जब कानून बन गये तब सरकार ने उसके ब्याज सम्बन्धी उत्तरदायित्व पर ध्यान दिया। लगभग सभी प्रान्तों ने सन् १९१८ के अधिक ब्याज लेने वाले कानून में आवश्यक संशोधन का कार्य-भार उठाया।

उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बम्बई और मद्रास प्रान्तों ने आर्थिक मन्दी के पूर्व के कर्ज को ध्यान में रखते हुए विशेष ब्याज दर निर्धारित की। उत्तर प्रदेश के कृषि मुक्ति कानून (सन् १९३४) के अन्तर्गत १ जनवरी सन् १९३० से जो तारीख स्थानीय सरकार नियत करे, उसमें ब्याज दर उस वस्तुस्थिति पर आधारित होगी, जिस दर पर वह केन्द्रीय सरकार से कर्ज लेती है। इसके पश्चात् सन् १९३९ में उत्तर-प्रदेश सरकार ने कृषि कर्ज भुगतान सम्बन्धी बिल के अन्तर्गत यह निर्णय किया कि अदालतें सुरक्षित कर्ज के लिए ४½% ब्याज दर और ६% असुरक्षित कर्ज के लिये निर्धारित करें।

बंगाल महाजन कानून (Bengal Money-lender Act)—

सन् १९३८ के अनुसार सुरक्षित कर्जों के लिए १०% और असुरक्षित के लिए १२% ब्याज दर निश्चित हुई। मध्य-प्रदेश में कर्ज मुक्ति कानून के अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि १२ साल से पूर्व के कर्जों पर पुनः विचार किया जायगा। सन् १९३२ की १ जनवरी से ब्याज की दर निम्नलिखित होगी :—चक्रवर्ती ब्याज की दर ५%, साधारण ब्याज की दर ७% सुरक्षित कर्ज पर और साधारण ब्याज की दर १०% असुरक्षित कर्ज पर।

बम्बई कृषि सहायक कानून (Bombay Agricultural Debtor's Relief Act)—

सन् १९३९ मे निम्नलिखित तीन प्रकार से ब्याज की दर घटाने का निश्चय किया गया :—

(१) कर्ज मुक्ति बोर्डों को यह अधिकार है कि वे १ जनवरी सन् १९३६ से पूर्व के कर्जों पर १२% साधारण ब्याज की दर से निर्णय दें।

(२) जिस ब्याज का सन् १९३९ मे भुगतान होगा और अगर कर्ज का इकरार नामा सन् १९३६ की जनवरी के पहिले का है तो ४% कम कर दिया जायगा, नही तो ३०% देना होगा।

(३) कर्ज के भुगतान की तारीख से सन् १९३२ की १ जनवरी तक ९% या अन्य निर्धारित ब्याज दर (जो भी इन दोनो मे से कम हो) लिया जाय।

मद्रास कृषि मुक्ति कानून—

मद्रास कृषि मुक्ति कानून ने, जो कि सन् १९३८ मे स्वीकृत हुआ, निम्नलिखित उपाय बतलाये :—

(१) १ अक्टूबर सन् १९३७ से पूर्व के बिना भुगतान किये गये कर्ज रद्द कर दिये जायें।

(२) पहिले के कर्जों मे ५% ब्याज दर लगाई जाय, जो कि १ अक्टूबर सन् १९३७ के कानून के अन्तर्गत आते हो। इनके अलावा अन्य रकम मूलधन के चुकाने के काम मे लाई जाय।

(३) कानून बन जाने के पश्चात् किये गये सम्पूर्ण इकरारनामों पर अदालतें व न्यायालय ६½% साधारण ब्याज निर्धारित करें।

इसके अलावा प्रान्तीय सरकारो ने ब्याज के भार को हलका करने के लिए दामदुपत का सिद्धान्त अपनाया। इसके अनुसार तब तक कोई अदालत उस कर्ज पर डिग्री नही कर सकती, जब तक कि ब्याज मूलधन के बराबर नही हो जाय। बंगाल (सन् १९३३), उत्तर-प्रदेश (सन् १९३४), मद्रास और बिहार (सन् १९३८), बम्बई और सिन्ध (सन् १९३८) ने इस सिद्धान्त को अपनाया। मद्रास मे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्ज देने वाले को यदि उसने मूलधन का दुगुना चुका दिया है तो कुछ भी देने की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार अन्य प्रान्तो ने भी मूलधन से अधिक ब्याज की रकम चुकाना निषेध कर दिया है।

(स) कर्ज की रकम मे कमी करना—*कर्ज शान्त करने वाला कर्ज अनुरक्षक कानून* (Debt Conciliation Act) पाँच प्रान्तो मे स्वीकार हुआ :— आसाम, मध्य-प्रदेश, मद्रास, बगाल और बम्बई। इस कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय सर-

कारो को अधिकार था कि अनुरक्षक बोर्ड स्थापित करें, जिसकी सदस्य संख्या ३ से कम और १२ से अधिक न हो। ये बोर्ड कर्ज लेने वालो की सम्पूर्ण जायदाद व उसके कर्ज का अनुमान लगाने के बाद उसके भुगतान का २०-२० किश्तो मे प्रयत्न करें।

जो बोर्ड के निर्णय को नही मानते, उन्हे कानून की दृष्टि से अयोग्य करार कर दिया जाता था। इस प्रकार के मामलो मे लेनदार को अदालत से एक प्रमाण पत्र मिलता है, जिसमे अदालत ब्याज दर (जो कि ६% से अधिक न हो) तय कर देती थी। इसके साथ ही जो महाजन बोर्ड के निर्णयो को स्वीकार कर लेते थे, उनके कर्ज को चुकाने मे प्राथमिकता दी जाती थी। यह कार्य इसलिए किया जाता था जिससे लोग बोर्ड के निर्णय को मानें।

पंजाब कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३४, बंगाल कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३५, आसाम कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३५, मद्रास कर्ज अनुरक्षक कानून सन् १६३६, सिन्ध अनुरक्षक कानून सन् १६३५ ने इन्ही उपायो का प्रयोग किया।

ऋण अनुरक्षक बोर्डों की कुछ प्रान्तो मे सफल कार्यवाही हुई :—मध्य-प्रदेश और बरार मे कुल ऋण १५·६ करोड रुपया था, जो कि घटकर ७·७ करोड रुपया रह गया, अर्थात् ५०% कम हो गया। बंगाल मे मार्च सन् १६४४ तक कुल ५ करोड रुपया कर्ज था, जो कि घटकर १·८ करोड रुपया रह गया, अर्थात् लगभग ६४% कम हुआ। इसी प्रकार मद्रास प्रान्त मे भी ५ करोड रुपयो का २·६५ करोड रुपया रह गया। सन् १६४० तक के आँकडों के आधार पर यह अनुमान लगाया कि पंजाब मे १ वर्ष के अन्तर्गत अर्थात् ३१ दिसम्बर सन् १६४० तक ६१·४५ लाख रुपये के ५५·६ लाख रुपये ही रह गये।* दूसरी बात यह है कि ऋण अनुरक्षक बोर्ड नकद पैसे न होने से ऋण चुकाने मे समर्थ न हो सका, अतः यह आवश्यकता अनुभव की गई कि भूमि बन्धक बैंक स्थापित की जायें, जो भुगतान का उत्तरदायित्व लें। तीसरी बात, मध्य प्रदेशीय भूमि विभाग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा कि ऋण अनुरक्षक बोर्डों मे कृषक अपने को नये ऋण लेने की स्थिति मे नही पाता। वह तब तक परावलम्बी रहता है जब तक पुराने ऋण का भुगतान किश्तो द्वारा न कर दे, अतः ऋण अनुरक्षक बोर्ड को यह देखना चाहिये कि कृषक अपने परिवार की आवश्यकताओ और भूमि-कर आदि के अलावा कितनी रकम रखता है, तदनुसार उसकी ऋण भुगतान विधि नियुक्त करें।

मूलधन घटाने के उपाय—

यद्यपि ऋण घटाने का कार्य बहुत कुछ अशों मे ऋण अनुरक्षक बोर्ड ने पूरा कर लिया, परन्तु मूलधन घटाने का एक अन्य कानून बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश मे बनाया गया। इसका उद्देश्य कीमतो के गिरने के आधार पर मूलधन की राशि घटा देना था।

---

* Agricultural Finance Sub Committee Report p. 23.

विविध उपाय—

(अ) गिरवी रखी भूमि को पुनः लौटाने का सिद्धान्त मुख्यतः पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बंगाल में प्रयोग लाया गया। इसके अनुसार गिरवी रखने वाले की भूमि १५ या २० साल के बाद पुनः उसे लौटा दी जाय, चाहे वह कर्ज का भुगतान करे या न करे।

(ब) कुछ प्रान्तों की अदालतों को यह विशेषाधिकार दिया गया कि वे उन भू भागों का मूल्य ठीक से निर्धारित करें, जो डिग्री के कारण बेची जा रही हैं। उत्तर-प्रदेश के बचाव-कानून सन् १६३४ और कर्ज भुगतान कानून सन् १६३६ व बिहार महाजन कानून सन् १६३८ द्वारा ये अधिकार दिये गये।

(स) प्रान्तीय दिवालिया कानून (सन् १६२०) में कृषकों के लाभ को ध्यान में रखते हुए कुछ आवश्यक संशोधन भी किए गये। बंगाल कृषक लेन-दार कानून के अन्तर्गत सन् १६३५ में यह घोषित कर दिया गया कि वे कृषक दिवालिये घोषित किए जायें, जो बीस किश्तों में भी अपना कर्ज न चुका सकें, लेकिन दिवालिये खेतिहर की जायदाद और रहने का मकान आदि को छोड़कर उसकी शेष सम्पत्ति बेच दी जाय। बम्बई खेतिहर कर्ज मुक्ति कानून के अन्तर्गत उस खेतिहर को दिवालिया करार दे दिया जाय, जो कि २५ साल में अपने कर्ज का भुगतान न कर सके, लेकिन कर्ज पेटे में उसकी आधी जायदाद बेची जा सकती है।

ऋण सम्पत्ति के नवीन उपाय—

गाडगिल कमेटी ने यह सिफारिश की कि खेतिहरों के कर्ज की अच्छी तरह से अध्ययन व जाँच होनी चाहिए तथा इसके पूर्व की उनकी आर्थिक दशा भी ज्ञात होनी चाहिए। यही सिफारिशें एग्रेरियन कमेटी ने भी कीं। गाडगिल कमेटी की सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण निम्न है :—

(१) कृषकों के ऋण का पूर्णरूपेण निर्धारण अनिवार्य हो।

(२) अनुमान करने का कार्य एक विशेष समय की अवधि में (अधिकतम २ साल) हो जाना चाहिए। कारण, इस कार्य में देर होने से निश्चित परिणाम पर पहुँचना कठिन हो जाता है।

(३) ऋण देने वालों (अर्थात् महाजनों) को अपने ऋण को रजिस्टर्ड करवाना चाहिए तथा अपनी पूँजी आदि का विवरण निश्चित समय में सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए।

(४) कृषक से उचित रुपया मिलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में मुक्ति कानून और दक्षिणी भारत कृषक मुक्ति कानून में दी गई धाराओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(५) इसके साथ ही दामदुपट सिद्धान्त को भी लागू करना चाहिए कि कही मूलधन से ब्याज दूना न हो जाय और उसका पूँजी के रूप मे परिवर्तन न हो जाय।

(६) बोर्ड द्वारा निश्चित की गई रकम (जो कृषक को चुकानी है) इतनी होनी चाहिए कि वह २० वर्ष मे ४ प्रतिशत ब्याज की दर से अथवा अचल सम्पत्ति की ५० प्रतिशत हो, चुकाई जा सके; किन्तुः—

(अ) सुरक्षित कर्ज की रकम जिस जायदाद के रहन पर दी गई है, ५० प्रतिशत से कम नही करना चाहिए।

(ब) सुरक्षित कर्ज का अनुपात असुरक्षित कर्ज के अनुपात से बढाना न चाहिए।

(७) यह निश्चित की गई कर्ज राशि भूमि बंधक बैंक से या इसी प्रकार की अन्य एजेन्सी से लेकर चुका देनी चाहिए।

(८) बैंक अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से २० किश्तो मे वसूल करें।

(९) यदि कृषक या लेनदार को अपनी भूमि को हस्तान्तरित करने का हक नही है और उसका ऋण भुगतान शक्ति से अधिक है तो बोर्ड को उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए।

(१०) यदि खेतिहर को अपनी भूमि पर हक प्राप्त है, परन्तु फिर भी कर्ज उसकी शक्ति से ज्यादा है तो बोर्ड को कानून के अन्तर्गत आवश्यक सुधार कर उसे दिवालिया करार कर देना चाहिए और उसे कर्ज मुक्त कर देना चाहिए।

किश्तो मे चुकाने के बारे मे गॉडगिल कमेटी ने २० साल का समय निर्धारित किया है, जबकि बम्बई खेतिहर मुक्ति कानून ने यह अवधि १२ साल की मानी है। लेकिन एग्रेरियन कमेटी कम किश्त दर मे विश्वास करती है। एग्रेरियन कमेटी ने किसान द्वारा कर्ज चुकाये जाने मे इस प्रकार की प्राथमिकता निर्धारित की है :—

(१) वह कर्ज जो कि सरकार से मकान आदि की रहन पर लिया गया है।

(२) स्थानीय सरकारो का कर्ज, जो खेतिहर ने अपनी स्थायी जायदाद पर लिया है।

(३) विकास समितियो का दिया हुआ ऋण।

(४) सुरक्षित कर्ज।

(५) सरकार, अन्य सरकारी संस्थायें और सहकारी समितियो से लिया हुआ ऋण।

(६) सहकारी समितियो का अन्य कर्ज।

(७) सुरक्षित कर्ज।

सन् १६४२ के पूर्व एवंपश्चात् के खेतिहर मजदूरो के ऋण समाप्त किये जायें या उनकी भुगतान शक्ति के अनुसार उसे घटा दिया जाय। कर्ज अनुरञ्जक बोर्ड की सिफारिश है कि देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक कमी की जाय।

रुपया उधार देने का कार्य निम्न प्रकार से किया जाय :—

महाजन को लाइसेंस आदि की प्राप्ति—

मध्य-प्रदेशीय (केन्द्रीय) महाजन सुधार कानून सन् १६३६ के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया कि प्रत्येक महाजन अपने आपको रजिस्टर्ड कराकर प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। जो इस प्रकार रजिस्ट्री न कराएगा, वह कानून की दृष्टि मे अपराधी माना जाकर ५०) रु० जुर्माना देगा और यदि बाद मे भी यह क्रम जारी रहा तो १००) रु० जुर्माना देना होगा। पजाब महाजन रजिस्ट्रेशन कानून १६३८ के द्वारा लाइसेंस न लेने वालों के साथ किसी प्रकार की रियायत न की जायगी। बिहार तृतीय महाजन कानून सन् १६३८ के द्वारा पजाब कानून की नकल की गई। सन् १६३८ के बंगाल कानून मे भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस पर जोर दिया गया। जो व्यक्ति रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्र नही रखता, उनका अदालत मे मुकद्दमा चलाने का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है तथा लाइसेंस न लेने पर १५) जुर्माना किया जाएगा। उत्तर-प्रदेश का महाजन कानून (सन् १६३६) भी पजाब कानून की भाँति प्रभावशाली है, परन्तु उसमें अदालत मे निर्धारित रुपया जमा कराने पर मुकद्दमे का अधिकार दिया गया है। बम्बई (सन् १६३८) कानून मे भी रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस लेना आवश्यक हो गया है, अन्यथा वह जुर्म समझा जायगा।

हिसाब सम्बन्धी कानून—

महाजनों की चालाकियो और बेईमानियो को रोकने के लिए हिसाब रखना जरूरी कर दिया गया। पंजाब हिसाब कानून के अन्तर्गत यह आवश्यक समझा गया कि महाजन लोग सालाना हिसाब रखें और भुगतान की रसीद आदि कृषकों को पहुँचावें। इसकी अनुपस्थिति मे न्यायालयो को यह अधिकार होगा कि वे उस धन व ब्याज को गैर कानूनी करार दें। मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई, बगाल, आसाम और उत्तर-प्रदेश में भी इसी प्रकार के कानून बने। इस प्रकार इन सबमे पजाब हिसाब कानून (सन् १६३०) का अनुकरण था।

कर्ज मुक्ति कानून में अत्यधिक सुधार की आशा से ब्याज की दर घटाने का प्रस्ताव रखा गया। सन् १६३६ के बगाल महाजन कानून मे यह धारा रखी गई कि प्रत्यक्ष कर्ज से ज्यादा आमदनी ब्याज से नही चुकाई जायगी, यदि यह ली गई तो एक अपराध के रूप मे मानी जायगी, जिसकी सजा ६ माह जेल अथवा १,००० रुपये जुर्माना होगा। सन् १६३६ के उत्तर-प्रदेश के कानून में भी यही धाराएं सम्मिलित की गई हैं। महाजन के चगुल से कर्ज लेने वाले कृषक को बचाने सम्बन्धी आधार ये

हैं :—(१) दिये हुये जायदाद के भाग से कृषक का छुटकारा, अर्थात् उसकी जायदाद आदि कोई बेचे नही। (२) किसान को डर या धमकी और कष्ट से छुटकारा दिलाना।

सन् १९३७ के मध्य प्रदेशीय कृषक संरक्षण कानून, सन् १९३९ के बम्बई महाजन कानून और सन् १९३९ के उत्तर-प्रदेश महाजन कानून मे यह धारा थी कि महाजन को ३ माह की सजा और ५० रु० जुर्माना किया जाय, यदि वह कृषक को दुख दे। बगाल महाजन कानून सन् १९३९ मे ६ माह की जेल यातना और १,००० रु० जुर्माने का निर्धारण है। सन् १९३५ के पजाब संरक्षण कृषक कानून, सन् १९३६ के बगाल सरक्षण कानून और सन् १९३९ के बम्बई महाजन कानून मे कृषको के संरक्षण के लिए व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष—

परन्तु यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार कृषको के हित से सम्बन्धित प्रान्तीय कानून कृषको की दशा को सुधारने मे असफल रहेगे, जब तक कृषि उत्पादन के ढग में परिवर्तन न किया जाय। अतः कृषको का कर्ज एक महान् रोग है। हमने ऊपर जिन साधनो का वर्णन किया है वे तो घाव के खून को रोकने और ,जख्मो की मरहम पट्टी करने के तुल्य है, जो रोग की जड तक नही पहुँच पाया है। कर्ज की मात्रा का निर्धारण और महाजनो के शोषण से छुटकारा कृषक की दशा मे सुधार न ला सकेंगे और न ब्याज की दर निश्चित होने आदि से ही सुधार होगा। साथ ही, ऋण सन्नियमो के सम्बन्ध मे कृषक सुधार समिति का मत है कि "हम यह निसकोच कह सकते हैं कि महाजनो को प्रतिबन्धित करने के सन्नियम पूर्णतः असफल रहे हैं।" कृषि साख सर्वे समिति के अनुसार "यह विश्वास करने के लिये कारण हैं कि अधिकांश भाग का ऋण प्रदाय बिना लाइसेंस के हो रहा है, यद्यपि वहाँ लाइसेंस लेना अनिवार्य।" इसके सिवा "आधुनिक ऋण सन्नियमो मे आयोजित अनिवार्य ऋण की कमी से साहूकारो का विश्वास बहुताश मे डिग गया है।"* इसलिये जब तक कि प्रत्येक ग्राम में सहकारिता आन्दोलन का प्रचार न होगा, कृषक की वर्तमान दशा मे आमूल परिवर्तन नही हो सकता।

दूसरे, भूमि बदलाव के नियमो के बढने से कृषि ही नही अपितु महाजन भी खेती आदि का समुचित लाभ पा लेते हैं। जहाँ यह अधिकार महाजन के हाथों मे चला जाता है, वहाँ कृषक मजदूर के रूप मे अपने ही खेत पर महाजन के आधीन कार्य करता है। इसलिए वह न तो खेती की दशा मे सुधार कर सकता है और न महाजन उसे ऐसे साधन ही सुलभ करता है, जिससे वह खेती मे पूर्ण रूप से सुधार कर सके।

*Reorganisation of Agricultural Credit : Dr. G. D. Gadgil, p. 128

इस प्रकार हमारा देश इतनी महान् कृषि भूमि होने पर भी *गरीबी और निर्भरता का* शिकार है।

तीसरे, कृषक की ऋण-बद्धता उसके आर्थिक विकास की समस्या से सम्बन्धित है। गरीबी, निरक्षरता, उद्योगों का अभाव, स्थायी समाज व्यवस्था, गहरे धार्मिक *विचार, सामाजिक एवं धार्मिक प्रथायें, मूल्यों की अनिश्चितता, ऋण-बद्धता* और कम उत्पादन ही कृषक की अवनत अवस्था के कारण हैं, अतः जब तक एक सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण को लेकर कोई योजना कार्यान्वित नहीं होती, तब तक कृषक की उपर्युक्त आपत्तियों से निवारण होना तथा कृषि उन्नति होना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, इसलिए देश में आज खेती एवं ग्रामीण आर्थिक विकास चहुँमुखी करने के लिए ही भारत सरकार ने सामूहिक विकास योजनाएँ कार्यान्वित की हैं, जिनकी पूर्ति से यह निसन्देह है कि ग्रामीण आर्थिक जीवन एवं कृषि की उन्नति हो कर देश के आर्थिक कलेवर का प्रमुख भाग सुदृढ़ नींव पर आधारित होगा।

अध्याय ११

कृषि उपज की बिक्री

(Marketing of Agricultural Produce)

"कृषक अपने उत्पादन के वितरक और उपभोक्ता के सामने एक उपेक्षणीय इकाई है।"
—रॉयल कृषि कमीशन प्रतिवेदन।

भारतीय कृषक की आर्थिक दशा उन्नत करने के लिए जितनी आवश्यकता कृषि का उत्पादन बढ़ाने की है उससे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि कृषि उपज के बिक्री की समुचित व्यवस्था द्वारा उसे उसकी उपज का समुचित मूल्य मिले। रॉयल कृषि कमीशन के अनुसारः—"जब तक कृषि उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया जाता तब तक कृषि समस्या का हल अधूरा ही है।" इसलिए देश की लगभग ७२% जन-संख्या को उपजीविका प्रदान करने वाली कृषि के विकास, उत्पादन वृद्धि करने और खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए कृषि उपज के विक्रय की उचित व्यवस्था होना नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान विक्रय संगठन—

(१) गावों में बिक्री—कृषक अपनी उपज को गाँव के महाजन या बनिए को बेच देता है। इस बिक्री को 'ग्रामीण बिक्री' कहते हैं। गाँव के महाजन और बनिये कृषक को उसकी कृषि सम्बन्धी या अन्य आवश्यकताओं के लिए ऋण देते हैं। इस ऋण के साथ यह शर्त होती है कि कृषक अपनी फसल निश्चित भाव पर उसे बेच देगा। यह निश्चित भाव बाजार भाव से काफी कम होता है। कभी-कभी बनिये किसान को खेती के लिए बीज ड्योढे पर देते हैं। इस समय बीज की कीमत अधिक होती है। बीज का यही मूल्य बही में दर्ज किया जाता है तथा वापसी के समय उस रकम का अनाज ले लेते हैं। ध्यान रहे कि इस समय अनाज काफी सस्ता रहता है। इस प्रकार किसान को बहुत सस्ते दामों पर अपना अनाज गाँव में ही बेच देना पड़ता है। किसान एक छोटा उत्पादक होता है, जो अपनी उपज का आधे से अधिक अपने उपयोग के लिए रख लेता है और शेष उपज, जो बहुत थोड़ी होती है, दूर के बाजारों में ले जाना लाभदायक नहीं होता। साथ ही, लगान साहूकार का ऋण चुकाने, शादी आदि के समय धन की आवश्यकता होने के कारण लाचारी की अवस्था में वह अपनी फसल गाँव में ही साहूकार, बनिये, जमींदार व व्यापारी अथवा बाजार के बड़े व्यापारियों के दलालों को बेच देता है।

अनुमान है कि भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न परिमाण में कृषक अपनी पैदावार को गाँव में ही बेच देते हैं। उदाहरण के लिए, पंजाब में गेहूँ की ७०%, कपास की ३५% और तिलहन की ७०% बिक्री गाँव में ही होती है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में गेहूँ की ८०%, कपास की ४०% और तिलहन की ७५%, बिहार और बंगाल में तिलहन की ८५% तथा जूट की ६०% पैदावार किसान को गाँव में ही बेचनी पड़ती है।

गाँव में ही बिक्री होने के कारण कृषकों को अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि :—(१) उन्हें परिस्थितिवश असमय पर तथा अलाभकर शर्तों पर अपनी फसल महाजनों को बेचनी पड़ती है। अतः उनको बिक्री का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह मूल्य महाजनों द्वारा निर्धारित किया जाता है। निर्धन किसानों के पास, जो ऋणी भी होते हैं, इन मूल्यों को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता। (२) बाँटों और तराजुओं में काफी अन्तर रहता है, क्योंकि खरीदने के बाँट अलग होते हैं और बेचने के बाँट अलग। (३) अनियन्त्रित मण्डियों की भाँति गाँवों में किसानों को कई प्रकार की दस्तूरी आदि चुकानी पड़ती है। (४) बहुधा बिक्री की वस्तुओं का परिमाण थोड़ा होता है, जिसे मण्डियों तक ले जाने में आवागमन के साधनों की असुविधाओं के कारण काफी व्यय पड़ जाता है। अनुमान है कि यातायात के साधनों की असुविधा के कारण माल ले जाने और ढोने का खर्च किसान को मिले मूल्य का २०% होता है। इस अनावश्यक व्यय से बचने के लिए किसान अपनी फसल गाँव में बेचने में ही हित समझता है।

(२) मण्डियों में बिक्री—कृषक अपनी उपज को गाड़ियों में भर कर कच्चे आढ़तियों या थोक खरीदारों के दलालों के पास ले जाता है। ये आढ़तिये उसके ग्राहकों से मिलते हैं। साधारणतः खरीदने वाले या तो पक्के आढ़तिये होते है या थोक खरीदार, जो अन्य मण्डियों के व्यापारियों के लिए दलालों का काम करते हैं। वे अपने आप भी खरीद सकते है और जब उपयुक्त कीमत मिले तो उसे अन्य स्थानों पर बेच भी देते है। व्यापारी अपने आपको अन्य स्थानों के भावो से तार, टेलीफोन आदि द्वारा परिचित रखते हैं और मूल्यों के अन्तर के अनुसार वे वस्तुओं के क्रय-विक्रय के सौदे करते रहते है। खरीदने वाले नमूने देख कर आढ़तियों के साथ मूल्य निश्चित करके सौदा करते हैं। कई बार नीलाम द्वारा बिक्री होती है, किन्तु विक्रेता अपना अधिकार सुरक्षित रखता है, जिससे यदि भाव उचित न हो तो वह सौदा करने से इन्कार कर सकता है। अनेक बार दलाल भी बिक्री का सौदा कराने मे सहायता देते हैं। सौदा निश्चित हो जाने पर आढ़तिया विक्रेता को अपनी छूट और अन्य खर्चे काट कर मूल्य दे देता है। इसके पश्चात् थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों को माल बेचता है और इन्हीं फुटकर व्यापारियों से माल अन्त मे उपभोक्ताओं के पास पहुँचता है।

मण्डियाँ प्रायः दो प्रकार की होती है:—(अ) सगठित, जिनमे क्रय-विक्रय के लिए नियम होते हैं और इन्ही नियमों द्वारा क्रेता और विक्रेता अपनी उपज का मूल्य निश्चित करते हैं। (ब) असगठित, जिनमें प्राचीन व्यवस्था के अनुसार प्रायः क्रय-विक्रय होता है। भारत मे गेहूँ, कपास, गन्ना और जूट आदि की सगठित मण्डियाँ पाई जाती हैं।

असगठित मण्डियों में माल बेचने पर किसान को कई प्रकार से आर्थिक हानि होती है :—

(अ) चूँकि सौदा तय करने वाले दलाल बहुधा आढ़तियों और थोक व्यापारियों के अपने आदमी होते हैं, इसलिए उनकी सद्भावना किसानों की ओर नहीं रहती। ये दलाल खरीदारों से मिलकर उपज का मूल्य निर्धारित करते हैं। इस मूल्य निर्धारण मे ये लोग आढ़तियों का ही अधिक ध्यान रखते है।

(ब) चूँकि दलालों को आय आढ़तियो से प्राप्त होती है, इसलिए उनका अधिक लाभ किसानों को ठग कर कम मूल्य पर ही सौदा करने में होता है।

(स) अधिकतर किसान अपढ़ और सीधे-साधे होते हैं, जबकि दलाल और आढ़तिये धूर्त और चालाक होते है। इसलिए बिक्री के अधिकाश खर्चे ये लोग व्यापारियों से वसूल न करके किसानों से ही वसूल करते हैं। इस प्रकार किसानों को न केवल आढ़तियों का ही पारिश्रमिक देना पड़ता है, किन्तु धर्मादाय, गद्दी खर्चा, गोशाला, पाठशाला, मन्दिर

प्याऊ, पल्लेदारी, तुलाई, बोराबन्दी, कर्दा, पिंजरपोल, महतर, ब्राह्मण आदि को भी थोडा-बहुत पैसा चुकाना पडता है। इस प्रकार साधारणतया १०० रुपये की उपज पर कृषकों को २१·५१% और खुर्दाफरोशों को २२% राशि मिलती है और शेष अन्य खर्चों मे चला जाता है।

(द) वस्तुओं के मूल्य प्रायः दलाल और आढतिये अपने हाथों पर कपड़ा डालकर एक दूसरे की उँगली छूकर गुप्त रूप से तय करते हैं। भाव निश्चित होने पर माल गोदाम मे भर दिया जाता है, किन्तु मूल्य चुकाते समय पैदावार को घटिया बताकर उसके मूल्य मे कमी कर देते हैं।

(य) कृषकों मे संगठन का अभाव होता है। प्रायः जूट, कपास, तिलहन आदि उत्पन्न करने वाले कृषक संगठित होते है, किन्तु भोज्य पदार्थ उत्पन्न करने वाले कृषकों का न केवल उत्पादन ही छोटी मात्रा मे होता है, बल्कि वे सम्पूर्ण क्षेत्र में बिखरे हुए होते हैं, अतः उनके स्वार्थों की रक्षा करने वाला कोई उचित संगठन नहीं होता। इसके विपरीत व्यापारियों के संगठन बडे मजबूत होते है, जिन्हें सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

(३) व्यापारियों के प्रतिनिधि—शहरों के व्यापारी भी अपने प्रतिनिधियों को फसल कटने के समय गांवों में भेजते हैं। ये अपनी बैलगाडी, तराजू और बांट भी अपने साथ ले जाते है तथा प्रत्येक गाँव मे जाकर सम्पूर्ण उपज उसके सामने ही तोल कर खरीद लेते है तथा उसे गाडी मे भर कर नगरों मे थोक व्यापारियों अथवा आढत वालों को बेच देते हैं। इस प्रकार की बिक्री मे व्यापारियों को बडा लाभ होता है। फसल तैयार होने के समय उपज का भाव बहुत गिर जाता है, अतः वे सस्ते भावों पर माल खरीद लेते है। इसके साथ ही व्यापारी बाजार भावों से परिचित होने के कारण किसान को झूठे भाव बताकर सस्ते भाव में माल खरीदते है और यही माल नगरों मे ऊँचे भाव पर थोक खरीदारों को बेच देते है। इस प्रकार व्यापारी किसान तथा खरीदारों के बीच में अच्छी रकम कमा लेते हैं। नगर के व्यापारी बडे चतुर होते है। वे भली भाँति जानते है कि किस स्थान पर कौन सी वस्तु प्राप्त हो सकती है और इसकी खपत कहां होगी। अतः वे गांवों मे पहुँच जाते है तथा किसानों को गाँव मे ही रुपया चुका देते हैं।

कृषि उपज की बिक्री प्रणाली के दोष—

कृषि वस्तुओं की विक्रय पद्धति मे निम्न दोष प्रमुख है :—

(१) मध्यस्थों की अधिकता—कृषक अपनी पैदावार का अतिरिक्त माल गाँव मे बेच देते है, किन्तु कई बार उसे अपना माल निकट की मण्डियों में बेचने की

आवश्यकता होती है। कृषक को इन मण्डियों मे बिक्री के लिए दलाल, आढ़तिये, महाजन, साहूकार आदि अनेक मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्यस्थों की यह बाढ़ कृषक को मिलने वाली आय मे काफी कमी कर देती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचों से स्पष्ट होता है कि गेहूँ की बिक्री में एक रुपए के मूल्य में से कृषक को केवल ८¾ आने और चावल की बिक्री मे से केवल ६¾ आने मिलते हैं। निम्न तालिका से भिन्न भिन्न वस्तुओं की बिक्री मे कृषक के भाग का पता चलता है :— 200

माल	कृषक का भाग (%)	किराया (%)	मिश्रित व्यय (%)	थोक व्यापारी का भाग (%)	खुदरा व्यापारी का भाग (%)
१. शक्कर	१५·१७	१०·७१	९·१८	५·३६	६·५८
२. चावल	६६·८०	५·५६	१७·२०	३·११	६·२५
३. गेहूँ	६८·५०	१६·००	९·३०	१·६	३·३०
४. अलसी	७६·३६	८·४०	९·३५	१·६	—
५. मूँगफली	७४·७०	८·५३	१६·७७	—	—
६. तम्बाकू	४२·१८	६·६६	३४·४६	१६·७०	—
७. आलू	५६·१३	११·९०	६·८०	५·४	१८·६
८. अंगूर	२६·४०	९·६५	११·५५	—	१४·९०
९. नारंगी	३२·४८	१६·३०	२६·५४	—	२४·६८
१०. कॉफी	६४·७७	—	१४·७०	९·९०	९·४०
११. अंडे	—	—	—	—	—
१२. दूध	६४·७५	—	—	१४·७५	२०·५०

औद्योगिक आयोग (सन् १९१८) ने इन मध्यस्थों की बढ़ती हुई शृंखला के विषय में असन्तोष प्रकट किया है। आयोग का कथन था—"गाँव की फसलों का जो निर्यात होता है, उनकी बिक्री में बहुत से अनावश्यक मध्यस्थों का समावेश रहता है, जो किसानों के अधिकांश लाभ को स्वयं ही हड़प जाते हैं। क्योंकि किसानों के निधन और अशिक्षित होने के कारण वे अपनी फसल को मण्डी में ले जाकर बेचने में असमर्थ होते हैं। यह शोचनीय अवस्था मुख्यतः बंगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश में पाई जाती है।

(२) मण्डी की लागत और अनियन्त्रित कर—मण्डियों में उपज की बिक्री के लिए किसान को कच्चे आढ़तिये अथवा दलाल को नियुक्त करना पड़ता है। इन व्यक्तियों को उनके पारिश्रमिक के रूप में आढ़त और दलाली देनी पड़ती है, किन्तु इनके अतिरिक्त किसान को और भी बहुत से व्यय चुकाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, तुलावटिये को तुलाई, बोरे आदि खोलने या भरने वाले मजदूरों को बोराबन्दी,

अन्य मजदूरो को अनाज की गाड़ी खाली करने, बोरो को भरने आदि के लिए पल्लेदारी, उपज मे अशुद्धता के कारण गर्दा चुकाने, माल के वजन मे कमी के लिए दालता या दाना आदि भी चुकाना पडता है। इन खर्चों के अतिरिक्त मण्डी में और भी बहुत से व्यक्ति और संस्थाएं होती है, जिन्हे किसान अपनी उपज का थोडा-थोडा अंश देता है। उदाहरणार्थ, व्यापारियो के यहाँ कार्य सीखने वाले शागिर्दों, चौकीदार, भंगी, ब्राह्मण, मुनीम तथा भिश्ती आदि को भी अनाज या नकद देना पडता है। धर्मादा के नाम पर मन्दिर, गौशाला, प्याऊ तथा पाठशाला आदि के लिए भी किसान को कुछ न कुछ देना पडता है। इस सम्बन्ध मे मुख्य विशेषता तो यह है कि ये खर्च प्रत्येक मण्डी मे अलग-अलग होते हैं। साधारणतया उन किसानो से जो बहुधा मंडियो में माल बेचने आया करते है, उन किसानो की अपेक्षा जो कभी-कभी ही आया करते है, अधिक लागतें वसूल की जाती है। इसके अतिरिक्त व्यापारियो से कम और किसानो से अधिक लागतें वसूल की जाती है। कई बार बानगी के रूप में नमूना लेकर उसका मूल्य भी नही चुकाया जाता। शाही कृषि आयोग (१६२८) के अनुसार खानदेश मे कपास की बिक्री के समय प्रति गाडी के पीछे ५ सेर से ८ सेर तक रुई नमूने के रूप मे ले ली जाती है। इसका प्रमुख कारण असंगठित मण्डियां होना है।

(३) तौल व बाँटों की विभिन्नता—भारत मे तौल और बाँटो की बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। शाही कृषि आयोग के अनुसार पूर्वी खानदेश के १६ जिलो मे से १३ जिलों में १ मन की तौल २१॥ से लगा कर ८० सेर तक की थी। इसी प्रकार भारतीय कपास समिति का कहना है कि बम्बई राज्य के अधिकांश भागो मे रुई की बिक्री ७८४ पौंड की १ खदी के रूप में होती है, किन्तु यह खदी १६० पौंड से लगाकर २५० पौंड तक की है। कानपुर में कपास के लिए १०३ पौंड का मन पाया गया है। यही नही, ये बाँट लकडो, पत्थर, लोहे आदि के टुकडो के होते हैं। इसके अतिरिक्त एक सेर की तौल ३१ तोले से लगाकर १०२ तोले तक की तथा १ पसरी ५ सेर से लगाकर ६ सेर तक और एक मन ४० सेर से लगाकर ५४ सेर तक का पाया गया है। बाटो क इस प्रकार गलत होने के साथ-साथ यह भी पाया जाता है कि व्यापारी खरीदने और बेचने के लिए अलग अलग बाँटो का प्रयोग करते है। इससे कृषक को काफी हानि उठानी पडती है।

(४) श्रेणी विभाजन (Grading) का अभाव—भारतीय मण्डियों मे फसल बोने से लेकर बेचने तक फसल की शुद्धता और श्रेणीयन (Grading) का बिल्कुल ध्यान नही रखा जाता। यहाँ पर अच्छी और बुरी फसल दोनो को ही धारा पद्धति के अनुसार ढेरो मे बेचा जाता है। इससे शुद्ध व अशुद्ध उपज वाले किसानो को एकसा मूल्य चुकाया जाता है। अतः अच्छी फसल वाले कृषक को अपनी उत्तम फसल के लिए विशेष लाभ नही होता। बाजार में वस्तुओ के श्रेणीयन के अभाव मे किसानो को हानि उठानी पडती है। आज भी रुई मे कई प्रकार की अशुद्धताएं, मिलावट तथा पानी के छींटे लगाकर कपास को गीला किया जाता है। इसी प्रकार मूंगफली, इमली,

चावल और गेहूं आदि फसलो मे कंकड़-मिट्टी आदि मिला दी जाती है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की कृषि वस्तुओ को मूल्य कम मिलता है।

(५) यातायात की अपूर्णता एवं असुविधायें—फसल को गांव से मंडी ले जाने के लिए उत्तम सडकें नही हैं, अतः कृषि उत्पादन के यातायात में बहुत सी असुविधायें होती हैं। वर्षा मे सडकों की अवस्था और भी शोचनीय हो जाती है। सडकों की असुविधा के कारण एक तो पशुओ को काफी कष्ट उठाना पड़ता है और मण्डी तक माल ले जाने मे व्यय भी अधिक होता है। अनुमान है कि माल ढोने का खर्चा किसान को मिले मूल्य का २०% तक होता है। उपज की उचित बिक्री के लिए अच्छी सडकें अत्यावश्यक है। भारतवर्ष के गावो मे ऐसे मार्गों का नितान्त अभाव है, जिन्हे सडक कहा जा सके। भारत में औसतन ०·२२ मील सडकें प्रति वर्ग मील हैं। यह औसत अमेरिका के मरुस्थल औसत (०·३० मील) से भी कम है।*

इसके अतिरिक्त जानवर और बैलगाडी बहुत ही मन्द गति से चलते है तथा एक फेरी मे अधिक माल नही ले जा सकते।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं की दुर्लभता—भारतीय किसानो को भिन्न भिन्न वस्तुओ के भावो की दरें पूर्णतया ज्ञात नही रहती, जबकि महाजनो और मण्डी के व्यापारियो को बडे-बडे बाजारो की दरें समय-समय पर ज्ञात होती रहती हैं। ऐसी दशा मे किसानों को सदैव महाजनो द्वारा बताई गई दरो पर विश्वास करना पड़ता है। कई बार तो वास्तविक भाव मालूम होने पर भी भिन्न-भिन्न बाजारों के दरों की तुलना नही की जा सकती, क्योंकि सभी क्षेत्रों मे कृषि उपज के लिए कोई एक निश्चित श्रेणी नियत नही है। साथ ही, जो भाव स्थानीय सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जाते है वे विश्वसनीय नही होते और राजकीय पत्रों में प्रकाशित होने वाले भाव समझना अशिक्षित कृषक के लिए सम्भव नही होता, अतः महाजन किसानो के अज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं।

(७) फसल को सुरक्षित रखने के साधनों का अभाव—गाँवो में फसल को संग्रह करने के लिए भूमि मे गड्ढे या मिट्टी की कोठियाँ (खत्तियाँ) काम मे लाई जाती हैं। इसलिए सील अथवा कीडे मकोड़ो से बहुत सी फसल नष्ट हो जाती है। अनुमान है कि सील अथवा कोड़ो द्वारा भारत मे प्रति वर्ष ३ लाख टन गेहूँ गाँव मे ही नष्ट हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण गाँवो अथवा मण्डियों में अनाज भरने के लिए गोदामों की कमी है।

(८) अन्य कारण—अन्य कारणों मे कृषक की अशिक्षा, निर्धनता, ऋणग्रस्तता, विवशता, अनार्थिक जोतें आदि कारणो का समावेश होता है, जो कृषि के दोषपूर्ण सगठन के परिचायक है।

---

* Report of the Committee of Direction of the All India Rural Credit Survey, Vol. II 1954.

कृषि उपज की विक्रय प्रणाली में सुधार की दशा—

स्पष्ट है कि भारतीय किसानो को अपनी फसल की बिक्री से उचित मूल्य नही मिलता। श्री वाडिया और मर्चेन्ट के अनुसार किसानों को फसल की १ रुपये की बिक्री मे अलसी मे १० आने, गेहूँ मे ६। आने, चावल में ८। आने, आलू मे ८ आने और मूँगफली मे केवल ७॥ आने मिलते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कृषि पदार्थों की बिक्री की पद्धति मे सुधार हो। इस हेतु निम्न दिशा मे सुधार आवश्यक हैं—

(१) नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना—भारत मे नियन्त्रित मण्डियों की बहुत आवश्यकता है, क्योकि भारतीय कृषक सभी जगह व्यापारियो द्वारा ठगे जाते हैं। नियन्त्रित बाजारो की स्थापना सबसे पहले सन् १८६७ मे बरार में की गई थी। किन्तु इसकी कार्य-प्रणाली मे बहुत से दोष आ गये। बरार के बाद मध्य-प्रदेश में सन् १६३२ मे, मद्रास में सन् १६३३ मे और हैदराबाद मे सन् १६३६ मे तथा मैसूर, बड़ौदा आदि राज्यो मे भी नियमित मण्डियो की स्थापना की गई है।

मध्य-प्रदेश में रुई के लिए नियन्त्रित मण्डियाँ पाई जाती हैं। सन् १६४८ में रुई की ३६ और अन्य कृषि वस्तुओ की नियन्त्रित मण्डियाँ ६ थी। ये मण्डियां मध्य-प्रदेश म्युनिसिपिल विधान और मध्य-प्रदेश रुई मण्डी विधान सन् १६३२ (C. P. Cotton Market Act) द्वारा सचालित होती हैं। पहिले प्रकार की मण्डियाँ मुख्यतः रायपुर, दुर्ग और नागपुर मे हैं। यहाँ कृषि पदार्थों के सग्रह और सरक्षण का भी प्रबन्ध होता है। प्रत्येक मध्यस्थ को लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है। तोलने का व्यय, चुङ्गी की दर तथा बाजार की अन्य दरें मण्डी समिति द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

बरार में रुई की मण्डियां, सी० पी० कॉटन मार्केट एक्ट सन् १६३२ से नियन्त्रित होती हैं, जिनमे कपास का ही व्यापार होता है। अमरावती और अकोला मे इस प्रकार की मण्डियाँ हैं, जिनका प्रबन्ध इस विधान के अन्तर्गत स्थापित की गई मण्डी समितियों द्वारा होता है। ये समितियाँ आपसी झगड़े मिटाने, खेतों का निरीक्षण तथा तौल और नाप का प्रबन्ध करने का कार्य करती हैं। यहाँ भी सभी प्रकार के व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती हैं।

बम्बई मे सन् १६२७ में, बम्बई रुई मण्डी विधान (Bombay Cotton Market Act) लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत मण्डी समिति मण्डियों का प्रबन्ध करती है। यहाँ भी व्यय की दरें समिति द्वारा निश्चित की जाती है। मद्रास राज्य मे मद्रास-व्यापारिक फसल बिक्री विधान सन् १६३३ द्वारा, रुई (त्रिपुर, अदोनी और नन्दलाल), मूँगफली (कडालोर) तथा तम्बाकू (गन्तूर जिला) के बाजारों का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इस समय पूर्वी पंजाब में ५६, हैदराबाद मे ३२ और ग्वालियर मे ३६ नियन्त्रित मण्डियाँ हैं। इन सभी मंडियों की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:—

(म) प्रत्येक मण्डी मे क्रेता और विक्रेताओ के प्रतिनिधियो की एक समिति होती है, जिसका कार्य बाजार मे वस्तुओं के विक्रय का इस प्रकार सतत् निरीक्षण करना होता है, ताकि किसी प्रकार की, बेईमानी न हो सके। इसी हेतु ये समितियाँ तौल, माप तथा कटौतियों पर कड़ी दृष्टि रखती है और कृषको को सभी प्रकार की सुविधायें देकर दलालों से बचाती हैं।

(व) प्रत्येक मण्डी मे कार्य करने वाले दलालो, तुलावटियों तथा अन्य मध्यस्थो को समिति द्वारा अपना पजीयन (Registration) कराना आवश्यक होता है, ताकि उन्हें उनकी किसी प्रकार की अनुचित कार्यवाही पर दण्ड दिया जा सके।

(स) समिति क्रेता और विक्रेता के बीच होने वाले सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा करती है।

राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न मंडियो एवं बाजारों के नियमन का आयोजन है। इस अधिनियम के अनुसार मडियों एवं बाजारो का नियमन मंडी समितियों द्वारा होता है, जिसमें कृषि उत्पादक, व्यापारी, स्थानीय संस्थायें तथा राज्य सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये इस प्रकार के नियमन भी बाजार अथवा मण्डी दरें समिति निश्चित करती हैं। इसके अलावा अनाधिकृत कटौती, जैसे—नमूना, धर्मादा आदि काटने की अनुमति नही है। यह अधिनियम इस समय आन्ध्र, बम्बई, दिल्ली, केरल, मद्रास, उडीसा, पंजाब और मध्य-प्रदेश मे लागू है और शेष राज्यो मे विधेयक बनाये जा रहे हैं।[1] मण्डियो की व्यवस्था में ये नये परिवर्तन हैं, जिससे कृषको को अनेक लाभ होते हैं। इस समय देश के सब राज्यो मे ५५० नियमित मण्डियों की स्थापना हो चुकी है।[2]

किन्तु अभी तक भारत मे नियन्त्रित मण्डियो से पूरा पूरा लाभ प्राप्त नही हो सका। क्योंकि जहाँ-जहाँ मण्डियो के नियमन करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ बड़े-बड़े व्यापारियो और मध्यस्थो ने प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करने के प्रयत्न किये। इसके अतिरिक्त विधेयक समिति के सिफारिश करने पर भी राज्य और जनता ने अभी तक नियन्त्रित मण्डियो की आवश्यकता और उपयोगिता को नही समझा है।

(२) तौल और बाँटों में सुधार करना—अभी तक किसानों को शुद्ध सही बाँटो का पूरा लाभ नही मिल पाया है। अस्तु इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि मण्डियों में उपयुक्त होने वाले बाँटों के वजन मे समानता हो। इसलिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय और राजकीय सरकारें कानून द्वारा प्रमाणित

1. India 1958, pp 264
2. India 1959,

(Standard) तोलों का उपयोग अनिवार्य करें। इसके साथ ही एक ऐसी संस्था भी स्थापित की जाय, जो समय-समय पर मण्डियों में प्रयुक्त बाँटों का निरीक्षण करती रहे। मण्डियों में भारतीय पद्धति के बाट, अर्थात् मन, सेर, छटाँक आदि ही काम में लाये जायें। इन्हीं बातों की पूर्ति के लिये भारत सरकार ने सन् १६३६ में प्रमाणित तोल विधान (Standards Weight Act) स्वीकृत किया। यह विधान १ जुलाई सन् १६४२ से सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया तथा बम्बई के मिन्ट मास्टर द्वारा प्रमाणित तोल के बाँट सभी राज्य सरकारों को दिए गए। बम्बई, बिहार, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और पटियाला राज्य में कानून द्वारा प्रमाणित तोलों का उपयोग अनिवार्य कर दिया गया। योजना आयोग का सुझाव है कि शेष सभी राज्यों में इस दिशा में उचित कार्यवाही होनी चाहिए।

नाप तोल की पद्धति में समानता लाने के लिए १ अक्टूबर १६५८ से देश में नाप तोल की मेट्रिक प्रणाली कुछ चुने हुए क्षेत्रों में लागू की गई है। फिर भी इनमें से कुछ चुने हुए क्षेत्रों में वर्तमान बाँटों का चलन दो वर्ष अर्थात् ३० सितम्बर सन् १६६० तक होने दिया जायगा। यह प्रणाली क्रमशः और क्षेत्रों में भी लागू होती जाएगी और वहाँ भी दो-तीन वर्ष दोनों प्रकार के बाट चलाने की सुविधा दी जायगी।

इस प्रणाली के पूर्ण रूप में लागू होने पर बाट तोलों की विविधता नष्ट हो जाएगी तथा कृषक को कम से कम एक असुविधा से मुक्ति मिल जायगी।*

(३) कृषि-उत्पादन का श्रेणीयन—भारतीय बाजारों में कृषि वस्तुओं के श्रेणीयन का कोई साधन नहीं है। इस कारण शुद्ध फसल की बिक्री करने वाले कृषक को भी उतना ही मूल्य मिलता है, जितना कि ५% अशुद्ध फसल की बिक्री वाले किसान को। अतः यह आवश्यक है कि वस्तुओं का उचित श्रेणीयन किया जाय। इसी हेतु सरकार ने भिन्न भिन्न उपजों के सम्बन्ध में अनुसंधान करके यह अनुभव किया कि यदि विश्व के बाजार में भारतीय उपज का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना है तो भारतीय उपजों का प्रमाणित श्रेणीयन करना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। अतः सन् १६३७ में कृषि वस्तु श्रेणीयन और बिक्री विधान (Agricultural Produce & Marketing Act) स्वीकृत किया गया, जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के श्रेणीयन सम्बन्धी नियम लागू किये गये। सन् १६४२-४३ में इस विधान में कुछ परिवर्तन किये गये। इस प्रकार अब इस कानून द्वारा फल, सब्जियाँ, चमड़ा, दूध, दही, घी, तम्बाकू, काफी, आटा, तिलहन, वनस्पति, तेल, रुई, चावल, गेहूँ, लाख, गुड़, हर्र, बहेड़ा, बूरा, ऊन आदि वस्तुओं का श्रेणीयन किया जाता है। प्रत्येक श्रेणीकृत वस्तु पर आगमार्क मुहर लगा दी जाती है। इस प्रकार भारत में प्रमाणीकरण एवं श्रेणीयन के ३८० केन्द्र हैं। प्रमाणीकरण होने के कारण विदेशी बाजारों में इनकी मांग बढ़ रही है। सन् १६५७-५८ में इन वस्तुओं का निर्यात २७.५३ करोड़ रु० का तथा सन्

---

* नवभारत टाइम्स : १ अक्टूबर सन् १६५८।

१९५८-५९ के पांच मास में १२·६५ करोड़ रु० का हुआ। श्रेणीयन का जो कार्य अभी तक किया गया है, वह हमारे कृषि संगठन की व्यापकता को देखते हुए नगण्य ही है। अतः इस दिशा में अधिक कार्य की आवश्यकता है।

(४) बाजार भावों की सूचना सम्बन्धी सुविधा—रॉयल कृषि कमीशन और केन्द्रीय बिक्री विभाग के भिन्न भिन्न अनुसन्धानों में यह अनुभव किया गया कि सभी मण्डियों में भावों की दरों में सामंजस्य नहीं है, जिससे किसानों को हानि उठानी पड़ती है। आजकल कलकत्ता रेडियो द्वारा भावों सम्बन्धी सूचना प्रसारित की जाती है। बम्बई से सोना, चांदी, गेहूँ, अलसी, रेंडी, मूंगफली आदि के भाव दिल्ली से अनाज आदि, हापुड़ से गेहूँ, चना, जौ आदि के भाव भी प्रसारित किये जाते हैं। इन भावों का प्रसारित करना केन्द्रीय सरकार के बिक्री विभाग द्वारा होता है। पिछले कुछ समय से जनता के लाभार्थ समाचार-पत्रों, बड़े-बड़े इश्तहारों तथा कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों द्वारा यह विभाग अपना कार्य-विवरण प्रस्तुत करता रहा है। परन्तु गाँवों में भी ये सूचनाएँ कितने लोगों को मालूम होती हैं, इस सम्बन्ध में शंका ही है, क्योंकि अभी तक भारत के गाँवों में रेडियो नहीं हैं और दूसरे इन रेडियो का उपयोग किस लिए होता है, इस सम्बन्ध में भी कोई जाँच नहीं होती है।

(५) गोदामों की सुविधाएँ—गेहूँ की बिक्री के सम्बन्ध में की गई जाँचों द्वारा ज्ञात हुआ है कि फसल के पकने के बहुत ही थोड़े समय के भीतर संग्रह की सुविधाओं के अभाव में ६०-७०% तक उपज बिक्री के लिए मण्डियों में चली आती है, जिससे भावों में काफी उतार हो जाता है। अतः किसानों को अपनी फसल जल्दी न बेचनी पड़े, इसलिए ऐसे गोदामों की आवश्यकता है। शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुएँ जैसे—फल, सब्जियाँ, मछली, दूध, मक्खन, अण्डे आदि के लिए शीत भण्डारों की सुविधाएँ होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४४ से गोदाम संचालक विभाग की स्थापना की है, जिसका कार्य संग्रह करने की वर्तमान अवस्थाओं और भविष्य के लिए सुझाव देने; संग्रह करने की पद्धतियों की सूचना देने एवं राज्य संग्रह अधिकारियों को शिक्षा आदि देने का है। इसी विभाग के अन्तर्गत लगभग कई लाख टन अनाज संग्रह करने के लिए बम्बई, विजगापट्टम, कोयम्बटूर तथा मध्य-प्रदेश और उड़ीसा में बड़े-बड़े गोदाम बनवाए गए हैं, परन्तु इससे कृषक को लाभ नहीं होता। इसलिए ग्रामीण साख सर्वे समिति ने गोदाम आदि की व्यवस्था के लिए एक विशेष कोष बनाने की सिफारिश की, जिसके अनुसार 'नेशनल कोऑपरेटिव डेवलपमेंट एण्ड वेअर हाउसिंग बोर्ड' तथा सेन्ट्रल वेअर हाउसिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई है। इस कॉर्पोरेशन ने अमरावती, गोंदिया, सांगली दावानगेरे में गोदाम सुविधाएँ प्रदान की हैं। इसी के आधीन सात राज्यों में स्टेट वेअर हाउसिंग कॉर्पोरेशनों की स्थापना की गई है। बिहार, बम्बई मैसूर, राजस्थान, मद्रास, बंगाल और उड़ीसा में इस योजना के अन्तर्गत १·५६ करोड़ रु० की लागत से सन् १९५८-५९ में १,०६० गोदाम बनाए गए हैं।

(६) यातायात के साधानों का पर्याप्त विकास—फसल को मण्डियों तक ले जाने के लिए यातायात साधनो की उन्नति करना बहुत आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे राज्य और केन्द्रीय सरकारो को गाँव से मण्डियो तक पक्की सडको का निर्माण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसानो को गाडियो मे रबर के पहिये लगाने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिए। इसी प्रकार रेल और जहाजी कम्पनियो द्वारा लिए जाने वाले भाडे में समानता होनी चाहिए तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के यातायात के लिए रेलों में विशेष प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए।

(७) सहकारी समितियों द्वारा वस्तु विक्रय—कृषि उपज विक्रय दोषों को दूर करने के लिए सन् १६१२ के सहकारी समिति विधान के अन्तर्गत सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित की गई। इस प्रकार की समितियाँ विशेषकर बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश में पाई जाती हैं। विक्रय समितियाँ अपने उद्देश्य के अनुसार चार भागो में बाँटी जा सकती हैं:—

(अ) कृषि उपज को खरीदने और बेचने वाली समितियाँ।

(ब) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ।

(स) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियाँ।

(द) कृषि उपज करने वाली समितिया।

ये समितियाँ या तो माल सीधे उत्पादनकर्त्ताओ से खरीद कर अथवा उत्पादकों के एजेन्ट की भाँति उपभोक्ताओ को बेच देती हैं। ये समितियाँ एक या अनेक वस्तुओ का क्रय-विक्रय कर सकती हैं। भारत मे एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाली समितिया बहुत अधिक है, जिनमे उत्तर-प्रदेश और बिहार की गन्ना क्रय-विक्रय और दिकास समितियाँ तथा बम्बई की कपास ओटने और उसकी सफाई करने वाली समितियाँ मुख्य हैं।

सहकारी विपणन समितियो का विकास बम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश मे उल्लेखनीय है, किन्तु मैसूर, कुर्ग, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा पंजाब में भी ये समितियाँ पाई जाती है।

सहकारी विक्रय समितियों के कार्य—

(१) सदस्यो मे कृषि वस्तुएँ और कुटीर उद्योगों का माल लेकर उनका वर्गीकरण और प्रमापीकरण कर सहकारी संघो को विक्रय के लिए देना।

(२) सदस्यो को उनके उत्पादन के बदले मे ऋण देना।

(३) सदस्यो का माल बेचने के लिए उनके प्रतिनिधि का कार्य करना।

(४) कुछ समितियाँ, विशेषकर मद्रास में, विक्रय के साथ-साथ ऋण और अन्य सुविधायें देने की व्यवस्था करती हैं।

(५) स्कूल, अस्पताल तथा सड़कों आदि का निर्माण कर समाज सेवा का काम करना।

जिन राज्यों में इन समितियों का विकास हुआ है, उनमें सदस्यों को कई लाभ हुए हैं :—

(अ) इनकी स्थापना से उत्पादक और उपभोक्ताओं के बीच दलालों की लम्बी शृंखला समाप्त हो गई है, क्योंकि माल सीधा किसानों से खरीद कर उपभोक्ताओं को बेच दिया जाता है।

(ब) ये समितियाँ छोटे-छोटे उत्पादकों को न केवल आर्थिक सहायता ही देती हैं, बल्कि उन्हें समय समय पर उचित सलाह देकर व्यापारियों की दूषित प्रवृत्तियों से बचाती हैं।

(स) माल बेचने में किसान की शक्ति और समय में भी काफी बचत होती है।

(द) उपभोक्ताओं को भी पहले की अपेक्षा अब अच्छे किस्म का माल मिलने लगा है, क्योंकि समितियाँ उसका उचित रीति से वर्गीकरण करके परख लेती हैं। इसके अतिरिक्त माल में मिलावट की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

सरैया (सहकारी) समिति के सुझाव—

श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता में नियुक्त एक सहकारी योजना समिति सन् १९४६ ने सहकारी विक्रय के सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :—

(अ) १० वर्ष के भीतर सभी कृषि पदार्थों का २५% भाग सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा खरीदा और बेचा जाय। इस हेतु २,००० विक्रय समितियाँ, ११ प्रान्तीय विक्रय संघ तथा एक केन्द्रीय विक्रय संघ की स्थापना की जाय। इन संगठनों द्वारा कृषि वस्तुओं का संग्रह, आवश्यक प्रबन्ध, श्रेणीयन, यातायात और विक्रय हो।

(आ) वस्तुओं के विक्रय और कृषि साख में परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए, इसलिए इस प्रकार की समितियाँ स्थापित करनी चाहिए, जिनके सदस्य अनिवार्य रूप से अपना उत्पादन इन समितियों द्वारा ही बेचें। प्राथमिक समितियों द्वारा कृषि वस्तुओं का संग्रह और यातायात किया जाना चाहिए। ये समितियाँ माल इकट्ठा करके विक्रय समितियों को बेचें।

(इ) प्रत्येक २,००० मण्डियों अथवा २० गाँवों के लिये एक विक्रय समिति होनी चाहिए। यह समिति अपने सदस्यों की वस्तुओं को बेचने तथा उस पर ऋण प्राप्त करने का कार्य करे। साथ ही, प्रत्येक समिति खाद, बीज आदि का भी प्रबन्ध करे।

(ई) प्रत्येक राज्य में विक्रय संस्थाओं के संगठन, बाजार भावों के प्रकाशन

एव अन्तर्राज्य व्यापार के लिये एक राज्य विक्रय समिति की स्थापना हो। इस हेतु राज्य सरकार २ वर्ष के लिये कुल व्यय का ५०% भाग दें।

(ड) राज्य समितियो मे सामजस्य के लिए अखिल भारतीय विक्रय संगठन की स्थापना की जाय, जिसका मुख्य कार्य विदेशी विक्रय संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करना तथा बाजार भावों के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रकाशित करना हो।

भारत सरकार और कृषि उपज विक्रय सम्बन्धी कार्य—

सन् १९२८ मे शाही कृषि आयोग ने कृषि विक्रय सगठन के सम्बन्ध मे सुझाव रखे और इस बात पर जोर दिया था कि कृषि विभाग के अन्तर्गत एक विक्रय अधिकारी की नियुक्ति की जाय तथा विक्रय उप-विभाग सगठित किया जाय। सन् १९३० मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी विक्रय सम्बन्धी सुझाव दिये, किन्तु आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण राज्य सरकारें इन सुझावों को कार्यान्वित न कर सकीं। सन् १९३४ मे सबसे पहले केन्द्रीय सरकार ने एक विक्रय अधिकारी नियुक्त किया और इसी वर्ष केन्द्रीय सरकार ने एक प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन भी बुलवाया। इस सम्मेलन ने विक्रय सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिये निम्न मौलिक सुझाव रखे :—

(१) विदेशी उपभोक्ताओं और भारतीय उत्पादकों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिये देश और विदेश मे कृषि पदार्थों सम्बन्धी प्रकाशन और प्रचार का कार्य किया जाय।

(२) भारतीय कृषि उत्पादन क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्न किये जायें कि जिससे कृषि पदार्थों की किस्म अधिक शुद्ध हो सके।

(३) केन्द्रीय सरकार और सहकारी समितियां कृषि उत्पादन के सकलन और श्रेणीयन के लिये प्रबन्ध करें।

(४) सम्पूर्ण देश मे एक ही प्रकार के माप-तौल प्रचलित किये जायें।

(५) कृषि उत्पादन की मुख्य-मुख्य वस्तुओं के परीक्षण का आयोजन किया जाय।

(६) गाव मे सहकारी समितियो द्वारा ग्रामीणों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु सहकारी भण्डार खोले जायें।

इन सुझावों के आधार पर केन्द्र मे एक कृषि विक्रय विभाग की स्थापना की गई। इसमें एक कृषि विक्रय सलाहकार, ६ विक्रय अधिकारी और ११ सहायक विक्रय अधिकारी रखे गये। इस विभाग का कार्य कृषि वस्तुओं का परीक्षण करना, उनके सम्बन्ध मे प्रयोगशालाओं में जाच करना और उनका श्रेणियन करना था। केन्द्र के

अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल, हैदराबाद, मैसूर, बम्बई, मध्यप्रदेश और पूर्वी पंजाब में भी इसी प्रकार के विभाग खोले जायें।

केन्द्रीय सरकार के इस विभाग के अन्तर्गत अभी तक गेहूँ, चावल, आलू, चना, जौ, अंगूर, केले, रसायन, फल, अलसी, मूंगफली, चमड़ा, सुपारी, लाख, ऊन, शक्कर, दूध, घी, मछलियां, नारियल, अंडे, कॉफी, इलायची, सरसों, राई और पशु आदि के सम्बन्ध में विस्तृत परीक्षण किया गया तथा कई रिपोर्टें प्रकाशित की गईं। इन रिपोर्टों में इन वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली, उत्पादन की मात्रा, उत्पादन क्षेत्र, उत्पादकों की संख्या, उत्पादित वस्तुओं की क्रय-विक्रय प्रणाली तथा उनके मूल्य सम्बन्धी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है।

योजना अवधि में—

पंच-वर्षीय योजना काल में कृषि उपज के विक्रय के लिए सहकारी समितियों के विकास पर बहुत जोर दिया गया था। नियन्त्रित मण्डियों के विकास, मण्डियों में कृषक सहकारी समितियों के अधिक प्रतिनिधित्व तथा प्रमाणित तौल अधिनियम को उचित रूप से लागू करने की योजना भी बनाई गई। तदनुसार मण्डी व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया और इस नई व्यवस्था के अनुसार ५२३ से अधिक मण्डियों का पुनर्गठन हुआ है। दूसरी योजना में ५०० और मण्डियों का पुनर्गठन होगा, जिससे कृषकों को लाभ पहुँचेगा।

दूसरी योजना में भी सहकारी विक्रय पद्धति एवं सहकारिता विकास का कार्य बढ़ा दिया है। इस योजना में ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिशों के अनुसार सहकारी आन्दोलन का विकास एवं संगठन किया जायगा। कृषि विपणन क्षेत्र में सन् १९५४ में राज्य विपणन समितियों की संख्या १९, सहकारी विक्रय संघ और फेडरेशनों की संख्या २,१२५ तथा १,००० प्राथमिक विक्रय सहकारी समितियाँ थी, जिन्होंने सन् १९५३ ५४ में लगभग ५२ करोड़ रु० का क्रय-विक्रय किया। दूसरी योजना के अनुसार १ केन्द्रीय वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशन और १६ स्टेट वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशनों की स्थापना का लक्ष्य है, जो देश के विभिन्न केन्द्रों में १० लाख टन संग्रह क्षमता के २५० गोदामों का तथा सेन्ट्रल वेयर हाउसिंग कॉर्पोरेशन १०० महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर बड़े गोदामों का निर्माण करेगा। इन गोदामों की रसीदों को बेचान साध्य माना जायगा, जिनकी जमानत पर कृषकों को बैंकों से ऋण सुविधाएँ मिल सकेंगी। योजना की अवधि में विपणन सहकारी समितियाँ एवं गोदामों के निर्माण का निम्न लक्ष्य है :—

(१) विपणन और क्रिया कलाप (Processing) करने वाली समितियाँ :

प्राथमिक विपणन समितियाँ	१,८००
सहकारी शक्कर कारखाने	३५
सहकारी कॉटन जिन (Gins)	४८
अन्य सहकारी प्रोसेसिंग समितियाँ	११८

(२) गोदाम और संग्रह :—

केन्द्र और राज्य कार्पोरेशनो के गोदाम	३५०
विपणन समितियों के गोदाम	१,५००
वृहत सहकारी समितियो के गोदाम	४,०००

इस योजना के अनुसार नेशनल कोआॅपरेटिव एण्ड डेवलपमेंट बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसने योजना के प्रथम दो वर्षों मे राज्य सरकारो को विपणन सहकारी समितियो में भाग लेने के लिए २·०३ करोड रु० स्वीकृत किए। इसके अलावा २५१ नई विपणन समितियो की रजिस्ट्री की गई। साथ ही, जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके है, केन्द्रीय गोदाम कॉर्पोरेशन ने ६ बडे गोदामो की व्यवस्था चालू की है और बिहार, मैसूर, बम्बई, राजस्थान, प० बगाल, मद्रास एवं उडीसा में राज्य वेग्रर हाउसिंग कॉर्पोरेशनो की स्थापना हो गई है।

सन् १९६०-६१ की योजना में हाट व्यवस्था में सहकारी समितियो के लिए २९३ गोदाम और गांवो मे ७१३ गोदाम निर्माण की व्यवस्था है। इस समय इनकी सख्या क्रमशः १,३९९ और ३,३४९ है। सन् १९६०-६१ के अन्त तक केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगम भी ३३७ गोदामो मे माल रखने का प्रबन्ध करेंगे।[1] इस समय इनके क्रमशः १९ और १४५ गोदाम हैं।[2]

निष्कर्ष—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि उपज के विपणन की समुचित व्यवस्था के लिए मण्डियो का पुनगठन, नाप-तौल मे समानता के लिए मैट्रिक प्रणाली का प्रारम्भ, श्रेणीयन एव प्रमाणीकरण की प्रगति, गोदामों का निर्माण और सहकारी विक्रय समितियो के विस्तार मे मूलभूत और सराहनीय कार्य हो रहा है। इससे निश्चय ही कृषक को अपनी उपज का पूरा लाभ मिल सकेगा और वह अपनी आर्थिक उन्नति कर सकेगा।

इसके साथ ही वर्तमान सहकारी आन्दोलन के दोषो को दूर कर उनको कृषि के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए अखिल भारतीय सहकारी गोष्ठी ने निम्न महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं :—[3]

(१) कृषको को विपणन समितियों का पूर्ण लाभ होने के लिए इन समितियो की सदस्यता केवल कृषको को ही दी जावेगी तथा व्यापारियों को सदस्य न बनाया जाय। परन्तु अपवादात्मक रूप मे व्यापारियो को निम्न शर्तों पर सदस्यता दी जा सकती है :—

(अ) वे सचालक सभा के लिए योग्य नहीं होंगे।

---

१. भारतीय समाचार १५ अप्रैल सन् १९६०।

२ भारतीय समाचार १५ मई सन् १९६०।

3 "All India Co-operative Seminar" Lucknow, September 27, 1958

(ब) उनको समिति से ऋण लेने का अधिकार नहीं रहेगा ।

(स) उनकी सख्या समिति की कुल सदस्य संख्या के एक निश्चित प्रतिशत से अधिक न हो ।

(२) सहकारी विपणन समितियों को निर्यात कोटा से पूर्ण लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय । इस हेतु निम्न सुझावों पर कार्यवाही हो :—

(अ) इन समितियों को निर्यात कोटा की अग्रिम सूचना दी जाय ।

(ब) शीर्ष संस्थाएँ (Apex Institutions) व्यापारिक निर्यात कोटा के हेतु उपज एव वस्तुओं का संग्रह रखें तथा इन समितियों को विदेशी बाजारों की सूचनाएँ सग्रहित कर उपलब्ध करें ।

(३) राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय सहकारी विपणन सङ्गठन की स्थापना की जाय, जो :—(१) सहकारिता के माध्यम से अन्तर्राज्य और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन दे एवं (२) विपणन एव व्यापार करने वाली सहकारी समितियों को सुदृढ़ बनाने मे तथा निजी व्यावारिक हितों की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए उनको सहायता दे ।

(४) राज्य सरकारो द्वारा भू-प्राप्ति अधिनियम के सङ्कटकालीन आयोजन सहकारी समितियों के पक्ष मे उन क्षेत्रों मे लागू किए जाएँ जहाँ उनको गोदामों के लिए समुचित स्थान नहीं मिलता । साथ ही, गोदामों के निर्माण के लिए लोह एव सीमेंट आदि निर्माण सामग्री उनको शीघ्र एव सुलभता से मिल सके । इस हेतु विभिन्न राज्यों के सहकारिता रजिस्ट्रार के पास वितरण के हेतु निश्चित कोटा दिया जाय ।

(५) साख एव विपणन सहकारिता को सम्बन्धित करने के लिए बड़ी समितियाँ गाँवों मे विपणन पंचायतदारों को नियुक्त करें, जो सदस्यो को उपज को सग्रह एव परिवहन की सुविधाएँ दें । इन पंचायतदारो को विपणन समितियाँ अपने प्राप्त कमीशन का कुछ अंश पारिश्रमिक के रूप में दें ।

(६) विपणन समितियो (जोकि कच्चे आढ़तियों का कार्य करती हैं) के हितों की सुरक्षा के लिए समितियो की सचालक सभा द्वारा :—

(अ) मान्य पक्के आढ़तियों की एक सूची रखी जाय ।

(ब) मान्य पक्के आढ़तियो की साख सीमा निश्चित की जाय, जिस सीमा में ही उनसे व्यवहार हो ।

(स) विक्रयशील माल के मूल्य का कुछ भाग बोली लगाने वालो (Biddens) से विपणन समितियाँ जमा करावें तथा उनसे अपनी बोली को पूरा करने के सम्बन्ध में अपने पक्ष मे एक समझौता कर लिया करें ।

(द) समितियों के गोदाम से पक्के आढ़तियों को माल ले जाने की अनुमति माल के पूर्ण मूल्य का भुगतान होने पर ही दी जाय ।*

इन सुझावों से निश्चित ही सहकारी विपणन पद्धति का सङ्गठन सुदृढ आधार पर होकर वे कृषकों को अपनी उपयोगिता का परिचय दे सकेंगी ।

---

* All India Co operative Seminar Lucknow—Sept. 27, 1958.

अध्याय १२

भारत में अकाल

(Famines in India)

"भारत में दुर्भिक्ष प्रत्यक्ष रूप से वर्षा न होने के कारण पड़ते हैं, किन्तु इनकी भीषणता का कारण भारतीयों की निर्धनता है।"

—रमेशचन्द्र दत्त।

साधारण रूप में हम दुर्भिक्ष से अभिप्राय विस्तृत भू भाग में खाद्यान्न के अभाव से लेते हैं। सन् १८६७ के दुर्भिक्ष-आयोग के अनुसार—"दुर्भिक्ष से तात्पर्य बहुत बड़ी जन-संख्या का क्षुधानल से पीड़ित होना है।" यद्यपि ऊँची कीमतें, अर्द्ध-भूखापन और अस्वास्थ्यकर भोजन की स्थिति तो यहाँ के लाखों व्यक्तियों के भाग्य में लिखी हुई है फिर भी दुर्भिक्ष का अर्थ देश के एक बड़े-भू-भाग में खाद्यान्न का अभाव होना है। प्राचीन काल में दुर्भिक्ष से तात्पर्य दुःख और मृत्यु समझा जाता था, किन्तु आज उसका अर्थ वस्तुओं की महँगाई और बेकारी है। वर्तमान दुर्भिक्ष धन के अभाव का सूचक है, न कि खाद्यान्न के अभाव का, क्योंकि खाद्यान्न की कमी अन्न के आयात से पूरी की जा सकती है।

हिन्दू-काल में दुर्भिक्ष—

भारत में दुर्भिक्ष का आगमन कोई नई स्थिति नहीं है; दुर्भिक्ष हिन्दू-मुस्लिम और ब्रिटिश शासन-काल में बराबर पड़ते रहे हैं। हिन्दू-काल में भारत में कभी देश-व्यापी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। दुर्भिक्ष अपवाद माना जाता था। जब-जब दुर्भिक्ष होता था तब बहुत से समाधानकारी उपाय कार्य में लाये जाते थे। चाणक्य अर्थशास्त्र में दुर्भिक्ष-निवारण के निम्न उपाय बतलाये गये हैं :—

(१) कर न लेना, (२) देश छोड़ना, (३) राज्य द्वारा अन्न और धन से सहायता, (४) राज्य द्वारा झीलों, तालाबों और कुँओं का निर्माण, (५) अन्य भागों से अन्न का आयात और सहायता।

दसवीं शताब्दी में सन् ११७-१८ के आस-पास जैसा कि कल्हण की राज-तरंगिणी के वर्णन से ज्ञात होता है, काश्मीर में इस दुर्भिक्ष का रूप देखा गया। वर्णन इस प्रकार है :—"झेलम में पानी दृष्टिगोचर नहीं होता था, बल्कि उसमें तो अनावश्यक वस्तुएँ भरी हुई थीं। भूमि हड्डियों से ढँकी हुई थी, जोकि श्मशान का कार्य कर रही थी। उसमें एक पीड़ा-जनक दृश्य दिखाई देता था। राजा, मन्त्री और रक्षक धनाढ्य बन गये, जिसका एक मात्र कारण ऊँची कीमतों पर माल बेचना था। राजा

ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाता था जो इस प्रकार का कार्य करके धन प्राप्त कर सका हो।"

मुसलमान-काल के इतिहासकारों ने भी कई अकालों का वर्णन किया है, जिनमें चार बहुत ही भयानक थे। पहिला अकाल सन् १३४३ में पड़ा, जब मुहम्मद तुगलक भारत का सम्राट था। उसने हुक्म दिया कि देहली की जनता को ६ माह तक अन्न वितरण किया जाय। उसने भूमि आबाद करने और कुँए खोदने के लिए भी रुपया दिया।[1] अकबर के शासन-काल में "सारे भारत में सूखा पड़ा था तथा लगातार तीन-चार वर्ष तक अकाल पड़ा था। सम्राट ने हुक्म दिया कि जनता को अन्न दिया जाय तथा बड़े-बड़े शहरों में अन्न वितरण किया जाय। नवाब शेखफरीद बौहरी इस कार्य के मुखिया नियुक्त हुये, जिन्होंने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि जनता को आराम मिले।[2] शाहजहाँ के शासन-काल के पाचवें वर्ष में भी एक अकाल पड़ा, जो सबसे भयङ्कर था और जिसका प्रभाव सारे भारत पर पड़ा। इसके निवारण के लिए बड़े बड़े उपाय काम में लाये गये :—५,०००) रुपया प्रति सोमवार दिल्ली के गरीबों में तथा ५०,०००) रुपया अहमदाबाद में वितरित किये जाते थे जहाँ कि अकाल की गहरी छाया पड़ी थी। इसके अतिरिक्त अन्न वितरित किया गया तथा ७० लाख रुपये का कर माफ कर दिया गया। ऐसा ही अकाल औरंगजेब के शासन-काल में भी पड़ा था, जिसका वर्णन जेम्स मिल ने किया है :—"औरंगजेब ने अपनी चतुराई से अकाल को रोकने का प्रयत्न किया तथा राज्य-कोष खोल दिया था। राज्य ने जिस प्रान्त में अधिक अन्न था वहाँ से खरीद कर अभावपूर्ण भागों में वितरण किया तथा किसानों के लगान माफ कर दिए गए।"

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में दुर्भिक्ष—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में "सारे भारतवर्ष में छोटे-मोटे १२ अकाल तथा ४ बड़े अकाल पड़े।"[3] पहिला अकाल सन् १६३० का था, जिसमें गुजरात की लगभग ⅔ जन-संख्या नष्ट हुई तथा कई शहर व जिले उजड़ गए। सर डब्ल्यू० हण्टर ने इस अकाल का वर्णन इस प्रकार किया है :—"जीवित व्यक्तियों को देखा नहीं जा सकता, किन्तु हड्डियों का ढेर देखा जा सकता था। ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों का ढेर देखा जा सकता था कि जिन्हें जलाने वाला कोई नहीं था। अकेले सूरत नगर में ही ३० हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई तथा उसके साथ ही रोगों का प्रकोप हुआ, जिससे वहाँ के निवासियों ने पशुओं को साथ लेकर उन भागों को छोड़ दिया, परन्तु वे रास्ते में ही कालवश हो गये। बहुतों ने तो अपने आपको गुलामों के रूप में बेचा तथा मनुष्य मांस का भक्षण भी किया। एक रोटी के टुकड़े के लिए जीवन अर्पित किया

१. इलियट : 'भारत का इतिहास"
२. डॉसन : "भारत का इतिहास"
३. अकाल : -आयोग रिपोर्ट सन् १६०१।

जाता था, किन्तु कोई खरीदार न था। हमेशा दाता के रूप मे रहने वाला व्यक्ति आज टुकड़े टुकड़े के लिए तरसता था। उन पैरो को जो हमेशा सन्तोषपूर्ण पर्यटन करते थे, आज मरने के लिए प्रस्थान कर रहे थे।"

इस काल का सबसे बड़ा अकाल सन् १७७० में पड़ा था, जिसके बारे मे सर हन्टर इस प्रकार वर्णन करते है :—"सन् १७७० की धधकती ग्रीष्म ऋतु में लोग मर रहे थे। किसानो ने अपने पशुओं को बेच दिया था तथा इनके साथ ही साथ उन्होंने अपने औजार, अपना अन्न, अपने पुत्र पुत्रियो को भी बेचा और तब तक बेचना चालू रखा जब तक उनका खरीदना बन्द न हुआ। मनुष्यो ने वृक्षो की पत्तियो और मैदान के चारे को अपना भोजन बनाया। सन् १७७० के जून माह मे दरबार के रेजीडेन्ट ने इस तथ्य को प्रगट किया कि लोग भोजन के अभाव मे मृत्यु के ग्रास बनते चले जा रहे है तथा बड़े बड़े शहरो मे रोग के प्रभाव से भी मरते चले जा रहे है और जिनका जीवन कुत्तो एवं गीदड़ो के समान हो गया था। जन सेवक और राज्य-कर्मचारी भी उनके जीवन को बचाने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। इस प्रकार लाखो व्यक्तियो का जीवन सकट मे था। यद्यपि सन् १७६९ मे अकाल के सभी चिन्ह दृष्टिगोचर हो गये थे, किन्तु फिर भी उसके रोकने के लिए कुछ भी नही किया गया। साथ ही जब अकाल का ताडव नृत्य हो रहा था उसके निवारण के लिए कोई उपाय नही किया गया, जिससे सकट दूर हो।†

सन् १७८१ और सन् १७८२ के वर्ष मद्रास में अकाल के थे। सन् १७८४ में उत्तरी भारत मे अकाल पड़ा। मद्रास और हैदराबाद में सन् १७९१ मे सूखा पड़ा, परिणाम-स्वरूप सन् १७९२ मे भयङ्कर अकाल पड़ा। यह प्रथम अवसर था जब मद्रास सरकार ने राहत कार्य चालू किये। सन् १८०२-३ मे बम्बई और मद्रास मे अन्न का सकट था तथा उसके अगले वर्ष ही उत्तर-भारत मे अकाल पडा, जिसमे उत्तरी पश्चिमी भाग और अवध का भाग था। इस समय जो राहत-कार्य (Relief Work) चालू किये गए उनमे लगान माफ करना, भूमिधरो को तकावी देना तथा बनारस आदि शहरों मे अन्न का आयात किया गया। सन् १८०६ मे मद्रास के कई भागो में अन्न सकट था।

दूसरा बड़ा दुर्भिक्ष सन् १८३३ का था, जिसे 'गन्तूर दुर्भिक्ष' के नाम से जाना जा सकता है। इससे मद्रास प्रान्त के उत्तरी जिले और महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग तथा मैसूर और हैदराबाद के क्षेत्र प्रभावित हुए थे। सरकार द्वारा स्थिति की गम्भीरता उस समय तक नही आँकी गई जब तक कि ५,००,००० की आबादी वाले गन्तूर में २,००,००० व्यक्ति काल कवलित हो गए।' सन् १८३७-३८ में उत्तरी भारत में अकाल पड़ा, जिसमे अनुमान है कि ८,००,००० व्यक्ति मरे। यद्यपि सरकार द्वारा सहायता कार्य चालू किया गया था, जिसका खर्च सन् १८३८ में ३८ लाख रुपया था, किन्तु

† लार्ड-मैकाले.—"ऐतिहासिक निबन्ध"।

करोड और सन् १९७१ मे ४५ करोड हो जायगी। योजना आयोग ने १४ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से सन् १९५६ मे ५२०·२ लाख टन की मांग का अनुमान लगाया गया था। अशोक मेहता समिति का अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी मांग सन् १९६०-६१ मे ७६० लाख टन हो जायगी।

इसलिए समिति का सुझाव है कि "खाद्य समस्या के प्रभावी हल के लिए केवल उत्पादन बढाने के लिए निश्चयपूर्ण एव चहुँमुखी प्रयत्न ही आवश्यक नही है अपितु जन सख्या की वृद्धि की ऊँची दर को अवरोध लगाना होगा। इसलिए हम सिफारिश करते है कि राष्ट्रव्यापी परिवार नियोजन आन्दोलन चलाया जाय।"*

(२) मुद्रा स्फीति—युद्ध के कारण जो औद्योगिक विकास हुआ और मौद्रिक आय मे वृद्धि हुई उससे वस्तुओ की मांग बहुत बढ गई। खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्देशाक जो अगस्त सन् १९४५ में २६८ था, बढकर सन् १९५० मे ४०२·२ हो गया। अगस्त सन् १९५३ मे यह ४१०·३ तक पहुँच गया था, यद्यपि सन् १९५४ मे घट कर यह ३८२·३ हो गया। ऐसी आशा व्यक्त की गई थी कि बढते हुए मूल्यो से खाद्य उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। भूमि का लगान आदि स्थायी व्यय चुकाने के पश्चात् जो बचा उसका उपयोग किसानो ने पुराने ऋणों को चुकाने मे किया। साथ ही, उनके उपभोग स्तर मे भी वृद्धि हुई, अतः स्वभावतः खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव की जाने लगी।

(३) कृषि उत्पादन मे कमी—जहाँ एक ओर जन सख्या बढती जा रही है, खाद्य क्षेत्रफल मे वृद्धि की गति बहुत कम है। गत वर्षों मे खाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल की स्थिति इस प्रकार रही।

१९५२–५३	२५·२ करोड एकड
१९५३–५४	२६·१ करोड एकड़
१९५४–५५	२६·७ करोड एकड
१९५५–५६	२७·१ करोड एकड
१९५६–५७	२७·२ करोड़ एकड

वास्तव मे प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल घट गया है। योजना आयोग के अनुसार बोया जाने वाला क्षेत्रफल सन् १९११-१२ मे ०·८६ एकड था, सन् १९२१ मे ०·८३ एकड और सन् १९३१ में ०·७२ एकड था। यह घटकर सन् १९५१ मे ०·७५ एकड़

* For an effective solution of the food problem, not only determined and all out efforts to step up production have to be made but the high rate of increase of population has to be checked. We, therefore, urge thats a nation-wide compaign for family planning enlisting the efforts and energies of social workers particularly women, medical men, scientists, economists, administrators and political leaders be launched."

—Ashok Mehata Samiti Report.

		करोड़ व्यक्ति प्रभावित एवं ७५० हज़ार की मृत्यु ।	सहायता तथा १½ करोड़ रु० का लगान माफ किया गया ।
१८९९-१९००	बम्बई, मध्यभारत, प० बंगाल, बरार, मध्यप्रदेश ।	४७५ हज़ार वर्गमील क्षेत्र तथा ५९५ लाख व्यक्ति प्रभवित ।	१० करोड़ रु० की सहायता, फिर भी १,२३६ हज़ार व्यक्तियों की मृत्यु ।

१९०० के बाद—

अकालों की अधिकता ने ब्रिटिश सरकार को कृषि विकास एवं सिंचाई साधनों में सुधार करने के लिए बाध्य किया । इससे अकाल के स्वरूप में परिवर्तन हो गया अर्थात् अकाल में खाद्यान्न का अभाव नहीं होता था अपितु जनता के पास क्रयशक्ति की कमी हो जाती थी । साथ ही, अकाल सम्बन्धी सहायता कार्य ने भी भीषणता कम कर दी ।

सन् १९०० के पश्चात् कई छोटे-छोटे अकाल पड़े, किन्तु वे सब स्थानीय थे, परन्तु सन् १९०६ ७ और सन् १९०७-८ के *अधिक प्रसिद्ध हैं । पहला अकाल* उत्तर-प्रदेश में वर्षा की कमी और बुन्देलखण्ड में फसल के खराब हो जाने से पड़ा । सन् १९०७ में मानसून के असफल होने से दूसरा अकाल पड़ा और तब तक चालू रहा जब तक वर्षा से फसलें ठीक नहीं हो गयी । सन् १९१३-१४ में उत्तर-प्रदेश, बुन्देलखण्ड, झाँसी, आगरा और इलाहाबाद क्षेत्र में अकाल पड़ा, क्योंकि इसका एकमात्र कारण था उस समय वर्षा का अभाव । जनता-आन्दोलन का बल इतना अधिक था कि लगभग ६० लाख व्यक्तियों को बराबर सहायता मिलती रही तथा तकावी बाँटी गई *औद्योगिक तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने लोगों को काम दिया ।* फलत, मजदूरी भी बढ़ा दी गई । परन्तु जनता का आन्दोलन बल पकड़ता ही रहा । बहुत बड़ी संख्या में लोग असम, सीलोन, मलाया, पश्चिमी भाग, वेस्ट-इण्डीज, फिजी, नैटाल और मारीशस टापुओं में जाकर बस गये ।

सन् १९२० २१ में मद्रास, मध्य प्रदेश, पंजाब, मध्य-भारत और बंगाल में अकाल पड़ा, किन्तु सहायता कार्य कुल प्रभावित जन संख्या का ३ प्रतिशत ही था (प्रभावित जन-संख्या ४ करोड़ ५० लाख थी), अतः जैसा श्री नोल्स का कहना है :—"जब तक जन-संख्या गतिशील न हो, उसे उद्योग धन्धों और कारखानों में कार्य न मिले, रेलवे और सिंचाई की व्यवस्था न हो, अकाल से उसे राहत मिलेगी, यह आशा नहीं की जा सकती ।*

सन् १९४३ में बंगाल का भीषण दुर्भिक्ष—

सन् १९४३ में बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष ने हमारा आशावाद मिट्टी में मिला

* Economic Development of British Empire—Knowles.

दिया, क्योकि यह अकाल बीसवीं शताब्दी का सबसे भीषण अकाल था। सन् १९४२ में ब्रह्मा के जापान को आत्म समर्पण के कारण वहाँ से अनेक शरणार्थी बंगाल एवं उड़ीसा में आये और साथ ही वहाँ से भारत में चावल का जो आयात होता था वह भी बन्द हो गया। इस कारण बंगाल और उड़ीसा के सीमित साधनों में अभाव हो गया हो तो आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार युद्ध के खतरे के प्रदेश से अन्न का हटाया जाना, नावों का नष्ट होना और हटाने के कार्य ने १५ लाख व्यक्तियों और १ लाख पशुओं की जीवन लीला ही समाप्त कर दी। ब्रह्मा के विमुक्त होने से जो चावल की कमी हो गई थी उस स्थिति पर काबू पाने के लिए चारागाहों को कृषि भूमि में परिणित किया गया, जिससे स्थिति में सुधार हो सके। सन् १९४३ के आरम्भ में अन्न अभाव के चिन्ह स्पष्ट होने लगे थे, क्योंकि चावल की कीमतें व्यापारियों द्वारा असीमित संग्रह एवं सटोरियों की क्रियाओं के कारण आकाश को छू रही थी और दिसम्बर सन् १९४२ के फसल के कुछ सप्ताहों बाद ही कीमतें काफी ऊँची हो गई।[1] अनेक स्थानों पर नियन्त्रण आदि के कारण अनाज का प्रदाय होना ही बन्द हो गया। इसके अलावा युद्ध कार्य में रेल यातायात संलग्न होने के कारण अन्न के आवागमन में अनेक अड़चनें थीं। इन कारणों से बंगाल में अकाल के लक्षण प्रतीत होने लगे तथा समाचार पत्रों ने भी स्थानीय सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। बंगाल दुर्भिक्ष के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं :—

(१) सन १९४२ में ब्रह्मा का जापान को आत्म समर्पण।
(२) भावी मुद्रा स्फीति के कारण मूल्य-स्तर बढ़ना।
(३) भारत के ऊपर हमला होने के डर के कारण सैनिक अधिकारियों की नकारात्मक नीति (Denial Policy)। इस नीति के कारण खाद्यान्न का संग्रह बंगाल से हटाना, नावों पर सैनिक अधिकार होना, जिससे यातायात के थोड़े से साधन भी दुर्लभ हो गये।
(४) भारी तूफान के कारण मिदनापुर, बारीलाल, चौबीस परगना और और दीनाजपुर जिलों के चावल की फसलों को हानि।
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा लंका को चावल का निर्यात करना।
(६) तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए व्यापारियों की संग्रह नीति तथा काले बाजार की प्रवृत्ति।
(७) युद्ध के कारण यातायात साधनों का उपयोग युद्ध कार्य के लिये किया जा रहा था, इसलिए अन्न का यातायात दुर्लभ हो गया।
(८) सरकार के वितरण संगठन का असफल कार्य।[2]

---

१. थोक कीमतें—चावल (रुपयों में प्रति मन) उच्चांक

१९३९-४०	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	
४।-)॥	४॥)	६।)	१७॥।-)॥	३४)

२. वुडहेड आयोग के वृत्त लेख से।

इन कारणों से बंगाल में अकाल का भीषण नृत्य हुआ, जो जन एवं पशु जीवन की हानि से स्पष्ट है। इस स्थिति के लिए तत्कालीन शासन पर ही जिम्मेवारी आती है। लार्ड एमरी के शब्दों में लगभग १० लाख व्यक्ति मृत्यु के गाल में गये, किन्तु अन्य आधारों के अनुसार साप्ताहिक मृत्यु संख्या ५०,००० थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रापॉलॉजी विभाग की खोज के अनुसार लगभग ३२½ लाख व्यक्ति काल कवलित हुए। इसके अलावा भूख एवं रोग पीड़ित मानवों की संख्या भयावह थी। अकाल के प्रवाह में आत्महत्या की ही बाढ़ नहीं आई अपितु हैजा, मलेरिया, प्लेग और अनैतिकता ने भी अपना हाथ फैलाया। जनरल स्टुअर्ट के अनुसार—"अस्वास्थ्यकर भोजन, शाल के बढ़ने का प्रभाव, कपड़ों एवं कम्बलों के अभाव ने गरीब जनता को मलेरिया, हैजा, प्लेग आदि का शिकार बना दिया और निमोनिया साधारण हो गया। ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास के गाँवों में भयानक स्थिति थी।" जे० के० मित्तल, अध्यक्ष बङ्गाल नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अनुसार "ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा और दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नंगे लोगों का शिकारगाह बन रहा है। कलकत्ते से भी अधिक दयनीय दशा आस-पास के गाँवों में थी, जहाँ गरीबों के कारण लोग अपने प्रियजनों की अन्तिम क्रिया भी नहीं कर सकते थे, इसलिये लाशों को नदी या नालों में फेंका जाता था। बङ्गाल की कई सुन्दर नदियाँ और नाले अपने अन्तस्तल में भूखे और नङ्गों को लिए चल रहे थे। गीदड़ों के लिए भोजन था, इसलिए कई सुन्दर चेहरे रगड़ जाने एवं नोंचे जाने के कारण पहचाने भी नहीं जाते थे।" केवल इतना ही पर्याप्त न था, किन्तु बालक और बड़ों को भी बेचा गया था। यूनाइटेड प्रेस के अनुसार नाआखोला से ३ से १३ वर्ष की आयु की लड़कियों को वेश्यालयों में अनैतिक रीति से बेचा जाता था, जिनकी खरीद की दर ।।) रुपया थी। क्षुधानल ने महिलाओं को एक समय भोजन के लिए शरीर-विक्रय के लिए भी बाध्य कर दिया था और यह हालत इतनी खराब थी कि बङ्गाल की जनता की क्रय शक्ति ही समाप्त हो गई। इस अकाल में असंख्य विधवायें, लड़कियाँ और अनाथ लाचार से घूम रहे थे। आर्थिक एवं भोज्य स्थिति ने युवा, वृद्ध स्त्रियों को शील-विक्रय के लिए बाध्य कर मातृत्व शक्ति के लिए एक सङ्कट उपस्थित कर दिया। इस सङ्कट ने देश को यह चेतावनी दी कि यदि समय पर काम न किया गया तो सम्पूर्ण भारत को अन्न संकट का सामना करना पड़ेगा।

अकाल निवारण के प्रयत्न (Remedial Measures)—

बङ्गाल में अकाल निवारण के लिए प्रारम्भ में सरकार की ओर से कोई भी कार्यवाही नहीं की गई, परन्तु अकाल की भीषणता व जनता की आवाज से सरकार को भी अकाल निवारण के लिए प्रयत्न करने पड़े। इस प्रकार के समय समय पर आने वाले संकट दो बातें सूचित करते हैं : (१) यह कि अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में शीघ्र एवं समुचित सहायता कार्य (Relief Work) किया जाय तथा (२) इस प्रकार के सङ्कटों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए दीर्घकालीन योजना बनाकर कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार किए जाएँ। बङ्गाल में तत्कालीन स्थिति को सुलझाने के लिए अनेक भोजनालय चालू

किये गये। सरकारी आँकड़ों के अनुसार ५,४४१ भोजनालय थे, जिनमें से ३,१२१ सरकार, १,२४७ सरकारी सहायता प्राप्त तथा ५४७ निजी व्यक्तियों के थे। परन्तु भोजनालयों की यह संख्या कम ही थी, क्योंकि उनमें भी भूख से पीड़ितों को उनके दैनिक जीवन का आधा भोजन ही मिलता था। सारांश में, "सहायतार्थ भोजनालय आदमियों को बेचने वाली संस्थाएँ न होते हुए उन्होंने मरने वाले व्यक्तियों को कुछ दिन और अधिक ठहराया। इस तरह यह चिता के पहले का पड़ाव था।"[1]

इस अकाल में सहायता के लिए बंगाल सरकार ने लगभग १,१५० लाख रुपया खर्च किया, जिसमें से ५ करोड़ रुपया अन्न एवं वस्त्र वितरण तथा भोजनालयों की स्थापना में खर्च हुआ। २ करोड़ से अधिक रुपया पीड़ित व्यक्तियों को ऋण देने में खर्च हुआ और लगभग ५० लाख रुपया रोग निवारण कार्य में खर्च हुआ। साथ ही, सरकार को सस्ता अनाज बेचने में ४ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी।

सन् १९४३ में बम्बई, ट्रावनकोर-कोचीन में भी खाद्य परिस्थिति गम्भीर थी, परन्तु ट्रावनकोर-कोचीन सरकार ने चावल और पैडी के संग्रह पर अधिकार ले लिया और स्थिति पर काबू पा लिया। इसी प्रकार बम्बई प्रान्त ने भी २ मई सन् १९४३ से खाद्य नियन्त्रण लागू कर दिया। इस कारण बङ्गाल की तरह स्थिति इन प्रदेशों में नहीं हुई। इसके पश्चात् भारत में खाद्य अभाव बराबर बना रहा, जिसने कहीं-कहीं अकाल का सूक्ष्म रूप—जैसे सन् १९४६ में बम्बई और मद्रास में—धारण किया। परन्तु सरकार की सतर्कता एवं सामयिक सहायता कार्य के कारण उसका शीघ्र निवारण हो गया। गत वर्षों से भारत बराबर खाद्य संकट से गुजर रहा है, जिसके लिए अवर्षा, जन संख्या की वृद्धि, नदियों की बाढ़ आदि नैसर्गिक कारण तथा खाद्य सम्बन्धी दोषपूर्ण नीति जिम्मेवार हैं, जिस कारण अकाल की आशंका उपस्थित हो जाती है।[2] उदाहरणार्थ आंध्र प्रदेश में अगस्त सन् १९६० में अकाल की आशंका।

इस स्थिति में अपवाद केवल सन् १९५४ का वर्ष था, जब भारत इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहा, जैसा कि तत्कालीन खाद्य मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई के शब्दों से स्पष्ट है कि "यदि आज की भाँति हमारी खाद्य स्थिति सन्तोष-प्रद रहती है तो अनाज पर जो नियन्त्रण है उन्हें भी उठा दिया जायगा।"[3] परन्तु खेद है कि श्री रफी अहमद किदवई के बाद इस महत्वपूर्ण भार को सम्भालने में हमारे खाद्य मन्त्री असफल रहे। फलस्वरूप सन् १९५८ में खाद्य स्थिति शोचनीय हो गई, विशेषतः बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल में। इसकी पुष्टि खाद्य मन्त्री के लोक सभा के इस कथन से भी होती है कि "आगामी ६ से ८ सप्ताह भारत के लिए अत्यन्त कठिन हैं। कारण, खाद्यान्न उत्पादन की गम्भीर कमी और खाद्यान्न के भावों में वृद्धि इस वर्ष अन्य वर्षों की अपेक्षा

1. Bombay Chronical.
2. नवभारत टाइम्स : २६-८-१९६०, पृ० ४।
3. Amrit Bazar Patrika, 16-4-54,

अधिक रही है।''[1] "सन् १६५० से सन् १६५७ के वर्षों में कृषि उत्पादन में वार्षिक वृद्धि २ से २·५% रही, जो प्रार्थिक विकास की वृहत योजना के लिए उत्साहवर्द्धक नहीं है, इसलिए देश में 'कृषक उत्पादन परिषद्' की आवश्यकता है, जो प्रत्येक ग्राम के कृषि उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करे एव उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक सगठन निर्माण करे।''[2] तभी भारत की भावी दुर्भिक्षों से रक्षा हो सकेगी।

अकाल एक सर्वकालिक संकट है—

विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे अकाल एक सर्वकालीन सकट है, जो देश को बार-बार ग्रस लेता है। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग के अनुसार "सात अच्छी फसलों के बाद दो फसलें खराब होती है और जन सख्या का लगभग $\frac{1}{2}$ भाग अकाल द्वारा नष्ट हो जाता है।" कुछ प्रान्तो में यह आफत और अधिक मात्रा मे है और कुछ मे कम, किन्तु वर्ष मे यह निश्चित है कि देश के किसी न किसी भाग में इस प्रकार खाद्य-अभाव होना एक स्वाभाविक बात है। बड़े अकाल अनियमित रूप से आते है, परन्तु उनकी चेतावनी पहिले से ही मिल जाती है। फिर भी देश की विशालता और विविधता के कारण सम्पूर्ण देश मे अकाल का भीषण नृत्य नही होगा। "इतिहास इस बात का कोई प्रमाण उपस्थित नही करता, जब सम्पूर्ण देश मे अवर्षा हुई हो। समुद्र शास्त्री भी इस प्रकार की घटना असम्भव मानते है।" अत: ऐसे सर्वकालिक सकट से बचने के लिए देशव्यापी दीर्घकालीन योजना मे ही सफलता मिल सकती है—अल्पकालीन उपायो से अल्पकालीन कार्य की ही पूर्ति होगी।

अकाल के लक्षण—

अकाल के पूर्व चिन्हो मे अवर्षण यह पहला चिन्ह है। इसके साथ ही किन्ही नैसर्गिक कारणो से अथवा कीड़े-मकोड़ो, टिड्डी दलो द्वारा फसलो का नष्ट होना यह दूसरा चिन्ह है। इसके अलावा अन्न धान्य की कीमतें चढ़ना, रोजगारी के अवसर न्यूनतम होना और भिखमङ्गों की सख्या मे वृद्धि होना तथा ऋण प्रदायक राशि का अभाव ये अकाल का आगमन सूचित करते है। ऐसे ही समय मे धर्मार्थ कार्यों मे चोरी एव डाकेजनी में वृद्धि होती है, जो देश मे अथवा सम्बन्धित भाग मे असन्तोष, बेकारी एव अन्न की कमी की ओर सकेत करती है। जनता का स्वास्थ्य खराब होना और रोगों की भरमार, रोग-ग्रस्त व्यक्तियो की अधिकता, व्यापारियों द्वारा अन्न सग्रह (Hoarding) तथा जनता का एक क्षेत्र छोड़कर दूसरे क्षेत्र मे जाना ये अकाल के आगमन के स्पष्ट लक्षण होते है। यदि इन लक्षणो से सावधान होकर यथासमय उचित कार्यवाही न की गई तो ऐसे व्यक्तियों को ही अकाल का शिकार पहले होना पड़ता है, क्योंकि उनके साधन अपर्याप्त ही नही अपितु नही के बराबर होते है। इसलिए इन लक्षणों के आते ही सहायता कार्य आरम्भ हो जाना चाहिए।

---

1. Lok Sabha Debate dated 20th Aug. 1958.
2. The Modern Review Aug. 1958, p 93.

इसी आधार पर समिति ने अपनी सिफारिशो में कहा :—इन बाधाओ का निवारण गहरी खेती, अधिक खाद एव अच्छे बीजो की सहायता तथा असिंचित भूमि की आवश्यक सिंचाई की सुविधाएं प्रदान करके कर सकते है। समिति ने कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुटीर उद्योगो की स्थापना की सिफारिश की, ताकि कृषको को सहायक आय के साधन प्राप्त हो। इसके अलावा समिति ने निम्न सिफारिशें की.—

(१) अन्न का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन' के लिए नई नीति अपनाना।

(२) गहरी खेती के साथ अच्छी खाद, बीज, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था द्वारा उत्पादन बढाना।

(३) बजर भूमि को कृषि के लिए उपयोगी बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक आर्थिक सहायता दिया जाना तथा इस कार्य पर स्वय केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होना। केन्द्रीय एवं राज्य कृषि नीति मे सहयोग स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय कृषि नियोजन सभा (Central Board of Agricultural Planning) की स्थापना करना तथा इसी प्रकार की कृषि-सभाएं राज्यो मे भी स्थापित करना। राज्य कृषि-सभाएं केन्द्रीय सभा को कौनसी भूमि कृषि के उपयोग में लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध मे तथा अन्य समस्याओ पर एव वार्षिक कार्य प्रगति के सम्बन्ध मे रिपोर्ट देना।

(४) अन्न धान्य आयात पर सरकारी एकाधिकार।

(५) ५ वर्ष के लिए १० लाख टन की केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्न-निधि रखना।

(६) पच वर्षीय खाद्यान्न योजना बनाकर प्रति वर्ष १ करोड टन अधिक अन्न उत्पादन बढा कर देश को आत्म निर्भर बनाना, ताकि इस अवधि के बाद अन्न आयात बन्द कर दिया जाय।

(७) बजर अथवा कांसयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भू पुनर्ग्रहण सगठन (Central Land Reclamation Organisation) बनाया जाय, जिसको केन्द्रीय सरकार ५० करोड रुपया दे।

खाद्यान्न-योजना सन् १९४७-५२—

खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशो के अनुसार एक पचवर्षीय खाद्यान्न योजना बन ई गई। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष ३० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन बढाना था, ताकि इस अवधि के अन्त में देश के अन्न आयात बिल्कुल बन्द कर दिए जायें। अन्न उपज बढाने का प्रत्येक राज्य का कोटा निश्चित किया गया। योजना की अवधि में ६० लाख एकड पडती भूमि को हल के नीचे लाने का उद्देश्य था, जिससे अन्न उपज मे २० लाख टन वृद्धि होने की आशा थी। इस कार्य के लिये केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ की स्थापना की गई। जहां पर पूरे वर्ष पानी की सुविधाएं प्राप्त थी, ऐसी कृषि-

(५) भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास—भारतीय भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होना ही अकालों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। भारत की प्रति एकड़ उपज प्रति वर्ष गिरती जा रही है, किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि "भारतीय भूमि अन्य देशों से किसी तरह निकृष्ट नहीं है।"[1] सिर्फ आवश्यकता समुचित कृषि पद्धति अपनाने की एवं पर्याप्त खाद देने की है।

इन नैसर्गिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए सिंचाई सुविधाओं एवं बाढ़ नियन्त्रण कार्य में काफी प्रगति हुई और हो रही है।[2]

आर्थिक (सर्वकालिक) कारण—

(१) परिवहन सुविधाओं का अभाव—सन् १८०० तक के अकालों में अधिकतर परिवहन साधनों की कमी के कारण भीषणता रही, क्योंकि अधिक अन्न वाले भागों से कम अन्न वाले क्षेत्रों में अनाज नहीं पहुँचाया जा सकता था। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के अकाल में (सन् १८३३ में) आगरे में १३½ सेर प्रति रु० गेहूँ था, जबकि खानदेश में ३१ सेर प्रति रुपया था। आज भी भारत में अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अकाल की स्थिति में शीघ्रता से अनाज नहीं पहुँचाया जा सकता। ऐसे क्षेत्रों में अनाज की समस्या हल करने के लिए भारत सरकार ने सितम्बर सन् १९५८ में एक आयोग की नियुक्ति की थी,[3] जो परिवहन सुविधाएँ बढ़ाने की आवश्यकता को ओर संकेत है।

(२) दरिद्रता—सन् १८६० के बाद अकाल के प्राथमिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ। जहाँ पहिले अन्न की कमी से जनता भूख से तड़प कर मरती थी वहाँ आधुनिक अकालों में क्रय शक्ति की कमी में अन्न नहीं खरीद पाती। अनाज की कमी तो विदेशी आयात द्वारा आज भी पूरी हो जाती है, परन्तु जन संख्या का अधिक संख्या में भूख से मरना यह उसकी 'संग्रह और क्रय शक्ति की कमी' की ओर संकेत करता है। इसकी पुष्टि सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने भी की है—"यद्यपि देश में इतना पर्याप्त अन्न था जिसमें सम्पूर्ण जन संख्या का पालन होता, किन्तु जनता के पास क्रय शक्ति की कमी थी।" इस प्रकार हमारी धारणा है कि "भारत का अतिरिक्त उत्पादन विदेशों को भेज दिया जाता है, फिर भी इतना बच रहता है जो वहाँ के लिए पर्याप्त है, अतः भारत में अन्न का नहीं अपितु धन का अकाल है।"[4] फलस्वरूप अच्छे वर्षों में "कृषक के पास निर्वाह योग्य सामग्री होती है, किन्तु खराब वर्षों में उसे दूसरों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है।"[5]

१. देखिये सम्बन्धित अध्याय।
2. Modern Review, Page 106, August 1958,
3. नवभारत टाइम्स Commission for Inaccessible areas.
4. Report of the Famine Commission 1898.
5. Famine Commission 1901.

(३) सहायक कुटीर धन्धों की अवनति—भारत की विशाल एवं बढ़ती हुई जन संख्या कृषि पर निर्भर है। भारत के कुटीर एवं सहायक धन्धों की अवनति होने से जन संख्या का प्रभार कृषि पर और अधिक हो गया। साथ ही, उनके अवकाश के समय अथवा मानसून आदि न आने पर वैकल्पिक धन्धे भी न रहे। फलतः कृषक को अपनी आय बढ़ाने का कृषि के अलावा अन्य साधन न रहा। साथ ही, कृषि पर जन संख्या का प्रभार बढ़ने से कृषि संगठन में अनेक दोष आ गये।

(४) दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था—भूमि व्यवस्था का प्राथमिक उद्देश्य कृषि की उन्नति होता है उसका हमारी दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था में सर्वथा अभाव रहा। विशेषतः स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली को भी अकाल का एक कारण बताया गया है, क्योंकि भारत में जो भूमि व्यवस्था थी उस व्यवस्था के अन्तर्गत 'कृषकों के साथ 'असमानता एवं अन्याय' का व्यवहार होता था।[1] इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक को न तो काल की निश्चितता थी और न लगान ही उचित होता था। इस कारण उसे अपनी ओर से भूमि सुधार में कोई रुचि नहीं थी।

(५) ऋणग्रस्तता—एक ओर कृषि उद्योग का अलाभकर होना, दूसरी ओर सामाजिक प्रथाओं के कारण व्यय बढ़ना तथा शासन के बढ़ते हुए खर्चों के कारण कर भार में वृद्धि। इन कारणों से कृषक ऋण में जन्मता है और ऋण में ही मरता है। फलतः वह चाहते हुए भी कृषि सुधार द्वारा अपनी उन्नति नहीं कर सकता और उसे नैसर्गिक आपत्तियों का शिकार होना पड़ता है।

(६) दोषपूर्ण खाद्यान्न नीति—सरकार की खाद्यान्न सम्बन्धी नीति भी दोषपूर्ण है तथा इस नीति में निश्चितता का अभाव है। इसी प्रकार खाद्य समस्या के हल के लिए अन्य क्षेत्रों का निर्माण हुआ है, "लेकिन इन क्षेत्रों की व्यवस्था ठीक तरह से नहीं चल रही है।" उदाहरणार्थ, जो आन्ध्र-प्रदेश दूसरे राज्यों को चावल देता है उसके किसी भाग में खाद्यान्न की इतनी कमी होना कि अकाल की आशंका व्यक्त हो, यह आश्चर्यजनक है।[2] यह एक ऐसा दोष है जिससे बिना किसी सबल कारण के अकाल की आशंका उपस्थित हो जाती है।

दुर्भिक्ष के आर्थिक प्रभाव—

प्रत्येक कृषि प्रधान देश में अकाल एक स्वाभाविक बात है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में उसकी भीषणता अधिक होती है। अकालों के परिणाम केवल तत्कालीन न होते हुए अकाल के बाद भी देखने को मिलते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एन्थ्रोपॉलाजी विभाग ने सन् १९४३ के दुर्भिक्ष के परिणामों को देखने के लिये ७०० परिवारों की जांच की थी। उनके अनुसारः—"दुर्भिक्ष के आर्थिक

---

1. Health & Nutrition in India—D. N. Gangulee Quoted from Dynamism of Indian Agriculture by Dr. Bansil, p 23.

२. नवभारत टाइम्स, सम्पादकीय, २६ अगस्त सन् १९६०।

एवं सामाजिक परिणामों का मूल्यांकन तो इस बात से किया जा सकता है कि लगभग २४·७ प्रतिशत परिवार अस्त-व्यस्त हो गए हैं। पति पत्नियों को छोड़ने और पत्नियां अनैतिक कार्य करने के लिए प्रेरित हुई हैं। माता-पिता अपने बेटा-बेटियों को छोड़ने, बेचने और भाई बहिनों को छोड़ने में सहायक हुए हैं। वे विधवा बहिनें जो *अपने भाइयों द्वारा सहायता पाती थीं, अकाल की ग्रास बन गईं। ये मानवी कुकर्म* हमारी सभ्यता पर कलंक रूप में हैं। सबसे अधिक मृतकों में अछूत और परिगणित जातियाँ थीं, जिनका प्रतिशत ५२·७७ था तथा मुसलमानों का ३६%। हिन्दू १५·५% भारतीय ईसाई १%। अविवाहित रूप में यह प्रतिशत ५४·६% तथा विवाहितों का ३१·२% था।"

(२) *अकाल निश्चित रूप से मजदूरों को बेकार करता है तथा खाद्यान्न की* अपर्याप्तता के कारण उनकी कार्य-क्षमता भी कम हो जाती है। अकाल में पर्याप्त खाद्य न मिलने अथवा भूख के कारण संक्रामक रोग फैलते हैं, जिससे जन सम्पत्ति की असीमित हानि होती है।

(३) अकाल के आगमन से कृषि-उद्योग में अनिश्चितता आती है तथा कृषि-क्रियाएँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, जिससे किसान और उसकी अर्थ व्यवस्था पर भीषण परिणाम होते हैं। इसलिए उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जिससे *अन्य वस्तुओं की मांग कम हो कर देश का औद्योगिक उत्पादन कम हो जाता है।*

(४) अन्न के अकाल के साथ ही चारा और भूसे (Fodder) का भी अकाल पड़ जाता है, जिसमें पशु सम्पत्ति भी प्रभावित होती है।

(५) कृषि एवं उद्योग पर ऐसे परिणाम होते हैं कि जिससे कृषि उत्पादन एवं अन्य वस्तुओं के आयात में कमी हो कर रेलों की आय कम हो जाती है तथा सरकार की लगान की आय भी कम हो जाती है। इसके विपरीत सहायता कार्य के लिए सरकारी व्यय बढ़ता है। इस प्रकार समाज, सरकार, कृषि एवं उद्योग सभी पर *अकाल का प्रभाव पड़ता है। "असीमित आर्थिक सहायता के अभाव में अकाल के कारण* अनेक जुलाहों को अपना व्यवसाय छोड़ना पड़ा, लेकिन उसमें से पर्याप्त संख्या में जुलाहे इस व्यवसाय में नहीं आये, किन्तु सामान्य श्रमिकों की संख्या को बढ़ाया।* अतः अकाल के इन भीषण परिणामों से बचने के लिए कृषि-संगठन के महत्वपूर्ण दोषों का निवारण तथा कृषक एवं जनता की आर्थिक शक्ति में वृद्धि होना आवश्यक है।

अकाल निवारण के उपाय—

अकाल के कारणों को देखने से स्पष्ट होगा कि अकाल के निवारण के लिए सर्वप्रथम प्रतिबन्धक उपायों की आवश्यकता है। क्योंकि जिन कारणों से अकाल होते हैं उन कारणों को दूर करने से अकाल निवारण स्वाभाविक रीति से हो जायगा, क्योंकि "भारतीय अकाल की समस्या उन भयानक परिस्थितियों से सम्बन्धित है जिसमें

* Famine Commission 1896.

वर्षा का अभाव, आर्थिक साधनों की कमी, अपव्यय, भूमि-व्यवस्था, दुर्बल आर्थिक संगठन है। इसलिए कोई भी एक कारण अकाल के लिए जिम्मेवार नहीं है। ये सब सामूहिक रूप से अकाल का आगमन करते हैं।"*

इसलिए वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि की उन्नति तथा कृषि सहायक कुटीर एवं लघु उद्योगों को आयोजन करना होगा। भूमि-सुधार के अन्तर्गत जो परिवर्तन होते हैं वे ठोस एवं कृषि की आर्थिक उन्नति में सहायक होने चाहिए। सहकारी-विकास की शासकीयता एवं औपचारिकता कम होकर सहकारी आन्दोलन को कृषि के सर्वाङ्गीण विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे कृषकों के आत्मिक, आर्थिक एवं नैतिक बल में वृद्धि होगी। अपव्यय को रोकने के लिए सामाजिक परम्परागत प्रथाओं को सामाजिक सुधार आन्दोलनों से समाप्त करना होगा। साथ ही, कृषकों का अज्ञान एवं अशिक्षा दूर करने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत उन पर विशेष जिम्मेवारी लादनी होगी। क्योंकि इस समय इस दिशा में कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है। हमारे कृषि-महाविद्यालयों के स्नातक एवं शिक्षक केवल सैद्धान्तिक शिक्षा क्षेत्र में ही हैं। उनको व्यवहारिक शिक्षा क्षेत्र में अनिवार्य रूप से लाना चाहिए जिससे वे देश के महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत उद्योग में अपने सक्रिय सहयोग से उन्नति का मार्ग-प्रदर्शन करें। इन प्रयत्नों से दुर्भिक्ष की बारम्बारता ही केवल कम न होगी, अपितु दुर्भिक्ष का आगमन अपवाद रूप हो जायगा।

प्रतिरक्षात्मक उपाय —

अकाल आने पर अकाल-ग्रस्त क्षेत्र के व्यक्तियों की मुख्य समस्या भोजन प्राप्त करने तथा पशुओं को दाना-पानी देकर जीवित रखने की होती है। अतः ऐसे समय उपलब्ध अन्न सामग्री का वितरण, अन्न का सुलभ क्षेत्रों से दुर्लभ क्षेत्रों में स्थानान्तरण या विदेशों से आयात, अन्न-व्यापार पर नियन्त्रण, पशुओं के लिए दाना-पानी की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे, अकाल में रोग फैलते हैं, इसलिए स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं का आयोजन करना आवश्यक होता है। तीसरे, कृषक एवं जनता की क्रय-शक्ति की पूर्ति के लिए कृषकों को तकावी ऋण एवं लगान की छूट देना, आम जनता की आर्थिक सहायता के हेतु जन उपयोगी कार्य जैसे, नहरें, कुँए, तालाबों एवं सड़कों का निर्माण एवं मरम्मत करना, किसानों को उत्तम बीज, खाद, औजार आदि का प्रबन्ध तथा गरीब, भिखारी एवं आश्रित लोगों के लिए गरीब गृहों, सदाव्रत आदि की व्यवस्था करना—इन कार्यों का समावेश प्रतिरक्षात्मक उपायों में होता है। परन्तु ये उपाय तात्कालीन होते हैं।

अतः प्रतिबन्धक उपायों से युक्त सर्वाङ्गपूर्ण ग्राम सुधार की विशाल योजना ही अकाल के भीषण ताडंव नृत्य से भारत के जन-धन की रक्षा कर सकती है।

---

* Dr. Radha Kamal Mukherji.

अकाल निवारण नीति—

मध्य-कालीन युग मे हिन्दू एवं मुसलमान शासक दुर्भिक्ष निवारण के लिए नहरें एव तालाब खुदवाते थे तथा राज्य-कोष से राशि एवं अन्न का वितरण करते थे, ताकि जनता की अकाल से रक्षा हो और अन्न का अन्य क्षेत्रो से आयात होने तक अन्न-वितरण की व्यवस्था करते थे। इस हेतु राज्य का अन्न-सग्रहालय भी होता था। सदावर्त्त, लगान मे छूट, तकावी ऋण आदि का उपयोग भी मुक्त हस्त से होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासन-काल मे अन्न का वितरण तो चालू रखा तथा अन्न-निर्यात एव अन्न सग्रह पर रोक लगा दी। फिर भी आवागमन की पर्याप्त सुविधाओ के अभाव मे लाखो व्यक्ति काल-कवलित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन् १७८३ के अकालो के बाद अवश्य लगान में छूट देना आरम्भ किया।

ब्रिटिश शासन-काल और आधुनिक अकाल निवारण-नीति—

सन् १८५७ के असफल स्वतन्त्रता सग्राम के बाद भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश शासन ने सभाली। ब्रिटिश शासन काल मे सन् १८६० का अकाल ही पहिला था, जिसने शासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसलिए आधुनिक अकाल निवारण-नीति का आरम्भ वास्तव में यही से होता है, क्योकि इसी अकाल मे आधुनिक अकाल निवारण-नीति (Famine Code) के बीज निहित थे। इस नई नीति के अनुसार :—

(१) जन-सख्या का विभाजन तीन श्रेणियो मे किया गया : (अ) शारीरिक श्रम योग्य, (ब) निर्धन एव श्रम करने योग्य, (स) श्रम के लिए अयोग्य।

(२) ग्राम सहायता देना।

(३) जनता का जीवन-स्तर उन्नत कर उनमे आत्मनिर्भरता की भावना का निर्माण करना।

इसी नीति का अनुसरण उडीसा अकाल (सन् १८६५-६७) मे किया गया, परन्तु वह असफल रही। इस अकाल में १·४० करोड रु० सहायता कार्य मे खर्च हुए। फलत सन् १८६७ में सर जाज कैम्पवेल की अध्यक्षता मे अकाल जांच आयोग नियुक्त किया गया।

कैम्पवेल अकाल जाँच समिति (१८६७)—

यह सबमे पहिला अकाल जाच आयोग था। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार अकाल-निवारण-नीति मे आवश्यक परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनो में अकाल निवारण कार्य जिलाधीश को सौंपना तथा कृषि-कार्य चालू रखने के लिए उदारतापूर्वक तकावी ऋण देना ये प्रमुख थे। इसके साथ ही पुण्यार्थ कार्यो मे वृद्धि की गई। इस समिति ने खाद्यान्न वितरण की भी सिफारिश की थी। इन्हीं आधारों पर अकाल निवारण-नीति बनाई गई।

किन्तु सन् १८७३-७४ के भीषण अकाल से सरकार को यह समझ आई कि अकाल एक आकस्मिक न घटना होते हुए सर्वकालिक संकट है जिसकी सुरक्षा के लिए पहिले से ही पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए और सन् १८७६-७७ के अकालों ने इसकी अनिवार्यता प्रमाणित की। फलस्वरूप सन् १८७८ में केन्द्रीय सरकार ने १½ करोड़ रुपये से अकाल-बीमा कोष का निर्माण किया, जिससे अकाल के समय सहायता कार्य हो सके। कोष में केन्द्रीय सरकार ने वार्षिक १·५० करोड़ रुपये जमा करना आरम्भ किया। इसी निधि को स्थायी बनाने के लिए जयपुर महाराज ने सन् १९०० में १५ लाख रु० के विनियोग द्वारा स्थायी निधि के लिए ट्रस्ट बनाया। इसी निधि में उत्तर प्रदेश का अकाल-अनाथ-कोष भी मिलाया गया तथा इसमें राज्य सरकारें कुछ वार्षिक राशि जमा करती थीं। इस कोष पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है। इस निधि का नाम "भारतीय अकाल ट्रस्ट" है।

सर जॉन स्ट्रेचे आयोग (१८८०) एवं अकाल-निवारण नियम—

सन् १८७६ के अकालों की जाँच के लिए सन् १८८० में सर जॉन स्ट्रेचे आयोग की नियुक्ति हुई। इसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १८८३ में प्रान्तीय अकाल कानूनों का निर्माण हुआ। ये कानून अनेक बातों में भिन्न होते हुए भी मूलभूत सिद्धान्तों में समान हैं। इनका उद्देश्य साधारण समय में सहायता कार्यों का नियमन तो था ही, परन्तु अकाल की सूचना प्राप्त होते ही अधिकारियों के उचित कदम उठाने पर जोर देना था। विभिन्न अधिकारियों के कर्त्तव्य, कार्य करने की प्रणाली तथा कार्यों की सीमा का वर्णन भी इन नियमों में किया गया है। इस आयोग ने अकाल सहायता कार्य की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारों पर डाल दी तथा अकालों से सुरक्षित रहने के लिए सिंचाई, रेल मार्ग आदि बनाने की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। जैसे ही स्थानीय सरकारों को (जिला बोर्ड, पंचायत आदि) अकाल का संकेत मिलता है, उसका सामना करना उनका कर्त्तव्य हो जाता है। अकाल आयोग द्वारा प्रस्तावित योजना के प्रमुख भाग ये हैं:—

अकाल की प्राथमिक स्थिति में—

(१) अकाल की प्राथमिक स्थिति में स्थायी और अस्थायी कुँओं को खोदने और सिंचाई के साधनों की दुरुस्ती एवं उन्नति के लिए अग्रिम राशि (Advance) दी जाए। (२) गैर सरकारी रूप में जनता को पुण्य-कार्यों के लिए बढ़ावा दिया जाये। (३) बीज आदि की कृषि वस्तुएँ खरीदने के लिए आर्थिक तथा अन्य सहायता दी जावे। (४) इधर-उधर भटकने वाली अकाल पीड़ित जनता को अन्न वितरण करने के लिए पुलिस को अन्न दिया जाये। (५) अकाल के आँकड़े आदि एकत्रित करने के लिए एवं उसकी समुचित जांच करने के लिए जाँच कार्य चालू किया जाए तथा निर्धन जनता की सहायतार्थ दरिद्राश्रमों की स्थापना की जाए। (६) कृषि भूमि वाले किसानों को आर्थिक सहायता दी जाए तथा फसल की खराबी के अनु-

पात मे लगान मे छूट दी जाये। (७) सहायता केन्द्र चालू किए जायें तथा उन पर समुचित नियन्त्रण हो। (८) प्राथमिक अवस्था मे ऐसे व्यक्तियो की सूची बनाई जाये जो सहायता दिये जाने योग्य हो। (९) यदि अन्न और चारे की कमी हो तो उसे दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जाए।

जांच कार्य का अर्थ 'दुर्भिक्ष को कम करना नही, वरन् उसकी उपस्थिति को जानना है। भूखो को सहायता देना नही, अपितु क्या लोग भूखे है? यह जानना है।" प्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि इन कार्यों मे सहायता की अनिवार्यता सिद्ध होती है। ऐसे ही जांच कार्यों को सहायता कार्यों मे परिणित किया जा सकता है। अकाल में जिन व्यक्तियो को काम दिया जाता है, उनकी मजदूरी कार्यक्षमता के अनुसार ही निश्चित की जाती है। अकाल के समय मजदूरी निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार "अकाल भृत्ति वह राशि है, जिसमे उस परिस्थिति मे मजदूर अपना स्वास्थ्य बनाए रख सके। सरकार का कर्त्तव्य जनता की जीवन रक्षा है, न कि श्रमिको को उनके स्तर की सुविधाएं देना।"

सहायता कार्य दो प्रकार के हो सकते है:—पहिला पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट के आधीन होगा, जिसमे अनेक व्यक्ति कार्य करते है। दूसरा कार्य रेवेन्यू ऑफिसर्स के आधीन होगा, जो किसी विशेष गाँव अथवा ग्राम समूह के लिए होगा। दान रूप में सहायता कार्य तभी चालू होता है, जब जांच कार्य सहायता कार्य मे बदल दिया जाता है। साथ ही, इस ओर भी ध्यान दिया जाता है कि 'कोड' के अन्तर्गत आने वाले सभी व्यक्तियों को सहायता मिल रही है या नहीं। ऐसे व्यक्ति वे हैं, जो शारीरिक श्रम नही कर सकते तथा उनके कोई सम्बन्धी न हो अथवा उनकी उपस्थिति घर के रोग ग्रस्त व्यक्तियों की देख-भाल के लिए घर पर आवश्यक हो। दरिद्राश्रम उन सुविधाजनक स्थानो पर चालू किए जाते है, जहाँ पर ऐसे गरीब एव निर्धन लोगो की अधिकता हो, जो काम करने मे अयोग्य है। छोटे-छोटे सहायता कार्यों मे हम भोजनालयो का खोलना, वस्त्र, दूध, आदि का वितरण, पर्दानशीन औरतें तथा कुशल कारीगरो के लिए सहायता, इन कार्यों का समावेश करते है।

सर जेम्स लॉयल अकाल आयोग (१८९८)—

उक्त अकाल निवारण नियमो का परीक्षण सन् १८९६-९७ व सन् १८९९-१९०० के अकालो में हुआ। सन् १८९६-९७ के अकाल की जांच लॉयल-आयोग ने सन् १८९८ मे की, जिसमे उक्त नियमो की सफलता का परिचय मिला। इस आयोग ने यह भी कहा कि सामयिक एवं उदारता से अकाल मे सहायता देने के कारण जनता की अकाल निवारण शक्ति एवं साधन दृढ़ हो गए है, इसलिए आयोग ने (१) भविष्य में कुंओं की दुरुस्ती के लिए अनुदान स्वीकृत करने की सिफारिश की। (२) जुलाहों तथा कुछ विशेष जातियो की सहायता के लिए निर्धनो को नियुक्त सहायता देने के लिए

क्षेत्रीकरण की व्यवस्था तब लागू की गई थी जब देश मे अन्न की कमी और महंगाई थी। सन्देह है कि देश आज भी अन्न के विषय मे आत्म-निर्भर नहीं हो पाया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पूर्वापेक्षा-स्थिति अधिक अनुकूल हुई है। यह ठीक है कि सन् १९५९-६० के वर्ष मे उतना अन्नोत्पादन नहीं हो सका जितना सन् १९५८-५९ मे (७ करोड ३५ लाख टन) हुआ था, किन्तु सन् १९६० मे अन्न के उज्ज्वल भविष्य की आशा तथा विदेशी सहायता से अन्न विषयक अनुकूल स्थिति बनने में बहुत सहायता मिली है। खाद्य तथा कृषि उपमन्त्री श्री थोमस के अनुसार चावल तथा खरीफ की अन्य फसलों के मूल्य मे भले ही वृद्धि हुई हो, किन्तु गेहूँ का जो मूल्य सूचक अंक अप्रैल में ९१ था वह मई मे ८७ पर आ गया और जून में भी वहीं रहा है। गेहूँ के सम्बन्ध मे यह सुधरती स्थिति अब क्षेत्रीकरण की आवश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर रही है।

चावल के विषय मे अभी ६-७ मास पूर्व पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा का एक क्षेत्र बनाया गया था और अभी गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश को भी एक अन्न क्षेत्र बनाये जाने पर विचार किया जा रहा है, किन्तु जहाँ तक गेहूँ का प्रश्न है, देश में उसकी ऐसी कोई कमी नहीं है जिससे उसके विषय मे भी क्षेत्रीकरण की आवश्यकता हो। अभी कुछ समय पूर्व भारत और अमरीका के बीच जो गेहूँ समझौता हुआ है उसके अनुसार भारत को अमरीका से चार वर्षों के भीतर १ करोड़ ७० लाख टन अन्न मिलने वाला है। इस अन्न में चावल की मात्रा अवश्य बहुत कम है, किन्तु गेहूँ का जो भाग है वह न केवल अन्न की महंगाई और कमी को दूर करने मे सहायक होगा, अपितु उससे अन्न विषयक किसी सकटकाल का भी मुकाबला किया जा सकेगा।

श्री पाटिल का कथन है कि समस्त देश एक ही अन्न क्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धान्ततः उचित भी है। जब सारा देश एक है तो उसके सब हिस्सों के सुख दुख भी बटने चाहिए। एक प्रदेश के लोग खूब खा-पीकर चैन करें और दूसरे अन्नाभाव के कारण घास फूस खाकर जीवन व्यतीत करते हों, यह अपने को एक एव अखड कहने वाले देश के लिए किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं। इसलिए सबके लिए समान रूप से अन्न वितरण की व्यवस्था करके क्षेत्रीकरण को जितनी भी जल्दी विदा दी जाय उतना ही अच्छा है। आज अन्न का जो अनुचित सग्रह तथा चोरी छिपे यातायात चल रहा है वह भी इससे समाप्त हो जायगा।

गेहूँ की अनुकूल स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उसके क्षेत्रीकरण की समाप्ति तो उचित है, परन्तु उसके साथ ही ऐसी निर्दोष व्यवस्था की भी आवश्यकता है कि इसके पुनः जारी करने की नौबत न आये। वह तभी सम्भव है जब देश मे अन्नोत्पादन की गति को तीव्र से तीव्रतर किया जाय और वितरण से मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय।

ये सुझाव परस्पर सम्बन्धित है, क्योंकि जब तक बाजार में अन्न नहीं आता तब तक केवल अन्न की उपज बढाने से कोई काम नहीं हो सकेगा।*

इन सुझावो को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा अपनी खाद्यान्न नीति का निर्माण किया।

अकाल निवारण की वर्तमान नीति—

अकाल समस्या का निवारण करने के लिए आज सरकार के पास सभी साधन उपलब्ध हैं और जब कभी अकाल के चिन्ह दृष्टिगोचर होने भी है तो सरकार उसको दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है तथा अन्न आदि का संग्रह एवं आयात करना आरम्भ कर देती है। लेकिन जब अकाल के चिन्ह दूर होने लगते हैं, तब सरकार क्रमशः अपनी सहायता कम करती जाती है। इस प्रकार वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो प्रधान अङ्ग है :—(१) अकाल पीडितो को तत्कालीन सहायता तथा (२) अकाल की पुनरावृत्ति रोकने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न, जैसे—यातायात, सिंचाई, बीज, खाद का वितरण। अकाल सहायता कार्य को तीन श्रेणियों में बाटा जाता है:—प्रथम, चेतावनी कार्य, दूसरे, सुविधानुसार सहायता तथा तीसरे, जीवन रक्षा, जैसे—वैद्यकीय सहायता, दरिद्राश्रम आदि की सुविधाए देना। इस प्रकार वर्तमान अकाल निवारण नीति मे सरकार को सफलता मिली है।

संकटकालीन सहायता संगठन (Emergency Relief Organisation)—

गत दस वर्षों मे देश के कृषि उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई है और परिवहन साधनो के विकास के कारण अकाल की सम्भावनाएँ न्यूनतम हो गई है। फिर भी अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ एव भूकम्पो के खतरे बने ही रहते है। जिस कारण स्थानीय अकाल के चिन्ह दिखाई देते है जैसे-अगस्त सन् १९६० में आन्ध्र, उडीसा, उत्तर-प्रदेश और बिहार के कुछ भाग। इसलिए भारत सरकार ने अकाल, बाढ, भूकम्प आदि संकटकालीन सहायता कार्य के लिए 'संकटकालीन सहायता संगठन' स्थापित किया है। इसके निम्न उद्देश्य हैः—

(१) संकटकालीन सहायता पूर्व नियोजित योजना के अनुसार दी जा रही है, यह देखना। ऐसी योजनाएँ विशेषज्ञो द्वारा यथासम्भव संकट के पूर्व ही बनाई जायेंगी।

---

* These measures are all ultimately linked with one another It is useless to increase the food-supplies unless it can be brought to the market—and this involves better procurement machinery. It is not possible to secure fair distribution without a limitation of the individual's right to purchase, and that involves rationing But rationing involves assuring the necessary supplies and that implies proper procurement machinery · Report of the Woodhead Commission.

(२) स्वयं सहायता के सिद्धान्त पर बल दिया है, जिससे संकट-ग्रस्त क्षेत्र गहरी क्षेत्रों की सहायता पर न्यूनतम निर्भर रहे।

(३) रुचि रखने वाली प्रत्येक समाज कल्याण संस्था को एक निश्चित कार्य करने के लिये दिया है।

(४) भारत सरकार, राज्य सरकारें, जिला एवं स्थानीय अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में इन क्रियाओं के समुचित सामंजस्य के लिये जिम्मेदार रहेंगे।

यह संगठन पूर्णता प्राप्त करने पर केन्द्र, राज्य एवं जिला स्तर पर कार्य करेगा। केन्द्रीय संगठन सरकार की संकटकालीन सहायता नीति को क्रियान्वित करेगा, राज्य के प्रयत्नों में सामंजस्य लायेगा तथा ऐसी सहायता सेवाएँ देगा जो केवल भारत सरकार ही दे सकती है। ये संगठन लगभग सभी राज्यों में बनाए गए हैं। इसलिये आवश्यक कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये नागपुर में 'केन्द्रीय संकटकालीन सहायता प्रशिक्षणालय' खोला गया है, जहाँ विभिन्न सहायता कार्यों के सात पाठ्य-क्रमों की शिक्षा पूर्ण हो गई है।

प्रधान-मन्त्री राष्ट्रीय सहायता कोष*—

नवम्बर सन् १९४७ में इस कोष का निर्माण किया गया था, जिसमें से १·८२ करोड़ रु० की सहायता विभिन्न संकटों के समय (जैसे, भूकम्प, बाढ़ अकाल आदि) वितरित की गई है। इस कोष से सन् १९५७ में विभिन्न राज्यों को ९,८६,०९९ रु० का वितरण हुआ तथा कोष में लगभग ५,१९,२९२ रु० शेष हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार ने संकटकालीन सहायता का विशेष आयोजन किया है, जिससे जन, धन की हानि न हो तथा अकाल से जनता की सुरक्षा हो सके।

---

* India 1959, p. 161.

अध्याय १३

हमारी खाद्य समस्या

(Our Food Problem)

"भारत में अन्न उत्पादन तथा जन्म दर का सीधा-सम्बन्ध है, परन्तु अन्न उत्पादन और मृत्यु दर म विपरीत सम्बन्ध है।

राधाकमल मुखर्जी

जन सख्या की समस्या खाद्य समस्या से घनिष्ट रुप से सम्बन्धित है और खाद्य समस्या की वर्तमान गभीरता इस तथ्य की ओर सकेत करती है। वास्तव मे खाद्य समस्या आज कोई नवीन समस्या नही है, अपितु वह गत ६० वर्षों से है, परन्तु उसकी गम्भीरता की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। श्री दुबे के अनुसार "हमारे अन्न निर्यात मे समावेश के साथ यह कमी सन् १८२० मे लगभग ६·१० मिलियन टन वार्षिक थी।" जन सख्या के प्रकाशित आँकडो से स्पष्ट है कि जन-वृद्धि के साथ देश की खाद्यान्न उपज नहीं बढी। सन् १९१३-१४ से सन् १९३५ ३६ की अवधि में जन सख्या वार्षिक 1% बढा है, जो खाद्य उपज मे केवल ०·६५% की वृद्धि हुई है।[1] डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार देश मे ११% जन-सख्या के लिए खाद्यान्न की कमी थी।[2] इसकी पुष्टि योजना-आयोग ने भी की है—' द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व भारत मे १५ लाख टन अन्न आयात होता था। विभाजन और जन सख्या की वृद्धि से खाद्य समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई है, जिसे तत्कालीन उपायो से हल नही किया जा सकता। इस समस्या के हल के लिए सावधानी के साथ दीर्घकालीन प्रयत्न करने पडेंगे। खाद्य समस्या का अर्थ केवल अन्न धान्य की कमी ही नही वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक पौष्टिक भोजन का अभाव भी है।

खाद्य समस्या की पृष्ठभूमि—

अकाल जाँच समिति सन् १८८० के आँकडो से स्पष्ट है कि उस काल मे भारत खाद्यान्न मे आत्मनिर्भर था, क्योकि उत्पादन ५·२० करोड टन और माँग केवल ४·७० टन ही थी। इसके बाद सन् १८६० से सन् १९१२ तक के वर्षों मे मूल्य जाँच समिति के अनुसार:-' भारत में एक ओर तो जन सख्या बढती गई, परन्तु उसी अनुपात मे कृषि-भूमि मे वृद्धि नही हुई, फलस्वरूप खाद्यान्न मे कमी आ गई। इसी प्रकार सन् १९०१

1. Famine Enquiry Commission 1944, p. 73.
2. Food Planning for four hundred millions, 1938 Edn.

से १६३१ तक के तीस वर्षों में जन-संख्या १५·२% बढ़ी, जब कि अन्न उपजाने वाली भूमि १·५% ही बढ़ी, परन्तु फिर भी अन्न-उपज ४% से कम रही।"[१] इस प्रकार कृषि-उपज का क्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ अन्न-उत्पादन की कमी के मुख्य कारणों में (१) 'कृषि में क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम का लागू होना, (२) कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति कम होना, तथा (३) जन-संख्या में वृद्धि का समावेश किया जा सकता है। इस प्रकार जन-संख्या और खाद्यान्न की वृद्धि में विषमता आती गई।

सन् १६३७ में भारत से बर्मा पृथक हो गया, जिससे भारत में अन्न की कमी प्रतीत होने लगी। फलस्वरूप बर्मा, जापान तथा अन्य देशों के आयात से अन्नाभाव पूरा किया जाने लगा। सन् १६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया, जिससे हमारे अन्न आयात को धक्का लगा और भारत को मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को अन्न देने की जिम्मेदारी आ गई। इसके अलावा सेना में भारतीय नौजवानों की भर्ती तथा औद्योगिक मजदूरों की संख्या बढ़ने के कारण अन्न की माग बढ़ गई। परन्तु दूसरी ओर अन्न का उत्पादन कम हो गया। इसी समय सन् १६४३ में बङ्गाल का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा।

इस प्रकार अन्न समस्या की भीषणता की ओर सरकार का ध्यान सन् १६४३ के बंगाल अकाल के कारण आकर्षित हुआ और इसी कारण यहीं से खाद्य-समस्या का प्रादुर्भाव हुआ यह आम धारणा है।

खाद्य समस्या के कारण—

(१) जन-संख्या में वृद्धि—गत वर्षों में हमारी जन संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १६०१ में जन-संख्या २३·५५ करोड़ थी। इसे आधार वर्ष मान कर सन् १६३१ में जन-संख्या निर्देशांक ११७ हो गया, जबकि खाद्य क्षेत्रफल का निर्देशांक केवल ११६ ही रहा। इन प्रकार जन-संख्या ने खाद्य उत्पादन को पीछे छोड़ दिया। सन् १६३१-४१ के बीच तो परिस्थिति और भी खराब हो गई। जहाँ खाद्य पदार्थों का क्षेत्रफल १·५ प्रतिशत बढ़ा, जन-संख्या में १५ प्रतिशत वृद्धि हुई।* सन् १६५१ में हमारी जन-संख्या ३५·६६ करोड़ थी। सरकारी अनुमान के अनुसार गत वर्षों में हमारी जन-संख्या में इस प्रकार वृद्धि हुई :—

वर्ष	जन संख्या
१६५२	३६·७५ करोड़
१६५३	३७·२३ ,,
१६५४	३७·७६ ,,
१६५५	३८·२४ ,,
१६५६	३८·७४ ,,
१६५७	३६·२४ ,,

ऐसा अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी जन-संख्या सन् १६६१ में ४१

* Indian Rural Problems by Nanavati & Anjaria, p. 53.

करोड और सन् १९७१ मे ४५ करोड हो जायगी। योजना आयोग ने १४ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से सन् १९५६ मे ५२०·२ लाख टन की मांग का अनुमान लगाया गया था। अशोक मेहता समिति का अनुमान है कि वर्तमान गति से हमारी मांग सन् १९६०-६१ मे ७६० लाख टन हो जायगी।

इसलिए समिति का सुझाव है कि "खाद्य समस्या के प्रभावी हल के लिए केवल उत्पादन बढ़ाने के लिए निश्चयपूर्ण एव चहुँमुखी प्रयत्न ही आवश्यक नही है अपितु जन सख्या की वृद्धि की ऊँची दर को अवरोध लगाना होगा। इसलिए हम सिफारिश करते है कि राष्ट्रव्यापी परिवार नियोजन आन्दोलन चलाया जाय।"*

(२) मुद्रा स्फीति—युद्ध के कारण जो औद्योगिक विकास हुआ और मौद्रिक आय मे वृद्धि हुई उससे वस्तुओ की मांग बहुत बढ गई। खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्देशाक जो अगस्त सन् १९४५ में २६८ था, बढकर सन् १९५० में ४०२·२ हो गया। अगस्त सन् १९५३ मे यह ४१०·३ तक पहुँच गया था, यद्यपि सन् १९५४ मे घट कर यह ३८२·३ हो गया। ऐसी आशा व्यक्त की गई थी कि बढते हुए मूल्यो से खाद्य उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। भूमि का लगान आदि स्थायी व्यय चुकाने के पश्चात् जो बचा उसका उपयोग किसानो ने पुराने ऋणों को चुकाने मे किया। साथ ही, उनके उपभोग स्तर मे भी वृद्धि हुई, अतः स्वभावतः खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव की जाने लगी।

(३) कृषि उत्पादन मे कमी—जहाँ एक ओर जन सख्या बढती जा रही है, खाद्य क्षेत्रफल मे वृद्धि की गति बहुत कम है। गत वर्षों मे खाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल की स्थिति इस प्रकार रही।

१९५२-५३	२५·२ करोड एकड
१९५३-५४	२६·९ करोड एकड़
१९५४-५५	२६·७ करोड एकड
१९५५-५६	२७·१ करोड एकड
१९५६-५७	२७·२ करोड़ एकड

वास्तव मे प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल घट गया है। योजना आयोग के अनुसार बोया जाने वाला क्षेत्रफल सन् १९११-१२ में ०·९६ एकड था, सन् १९२१ मे ०·८३ एकड और सन् १९३१ में ०·७२ एकड था। यह घटकर सन् १९५१ में ०·७५ एकड़

---

* For an effective solution of the food problem, not only determined and all out efforts to step up production have to be made, but the high rate of increase of population has to be checked. We, therefore, urge thats a nation-wide compaign for family planning enlisting the efforts and energies of social workers particularly women, medical men, scientists, economists, administrators and political leaders be launched."

—Ashok Mehata Samiti Report.

प्रति व्यक्ति रह गया।* इस प्रकार गत वर्षों में प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल, कृषि उत्पादन और सिंचित क्षेत्र में भी कमी हुई है।

(४) व्यापारिक फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि—कृषि के व्यापारीकरण के परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थों के क्षेत्रों को व्यापारिक क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया गया, *अतः खाद्य-पदार्थों के क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई, परन्तु आनुपातिक दृष्टि से वह* पिछड़ गया। सन् १९१३-१४ के आधार पर फसलों में क्या परिवर्तन हुए, यह नीचे की सारिणी में स्पष्ट है:—

सन् १९१३-१४ के आधार पर क्षेत्रफल में वृद्धि के निर्देशांक

वर्ष	खाद्य फसलें	जूट और कपास
१९१३–१४	१००	१००
१९२ –२८	१०१	९५
१९३९–४०	१०४	१३२
१९४०–४१	१०४	१५३

इस प्रकार उपर्युक्त तीस वर्षों में जहाँ खाद्य फसलों में ४ प्रतिशत वृद्धि हुई, व्यापारिक फसलों में ५३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, क्योंकि ब्रिटिश काल में कोई राष्ट्रीय नीति नहीं अपनाई गई। हमारा उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए किया जाने लगा और हमें खाद्य पदार्थों का महत्त्व द्वितीय महायुद्ध काल में अनुभव हुआ, जबकि बङ्गाल में भीषण अकाल पड़ा।

(५) भारत का विभाजन—विभाजन के परिणामस्वरूप अविभाजित *भारत की ८०·५ प्रतिशत जन-संख्या हमारे हिस्से में आई, जबकि पाकिस्तान के हिस्से* में केवल १९·५% जन-संख्या आयी। इसके विपरीत कृषि क्षेत्रफल का केवल ७५% हिस्सा ही हमें प्राप्त हुआ। पञ्जाब और सिन्ध के अत्यधिक उपजाऊ और सिंचित क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। चावल के क्षेत्रफल का केवल ५९·६ और गेहूँ के क्षेत्रफल का ६६% हमें प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमारी जन-संख्या और खाद्य उत्पादन का अनुपात बिगड़ गया तथा देश में ७७ मि० टन खाद्यान्न की कमी हो गई।

इसके अलावा शरणार्थियों के आगमन से समस्या और गम्भीर हो गई। इतना ही नहीं, अपितु एशियाई राजनैतिक परिस्थिति के कारण आज भी तिब्बत के शरणार्थी भारत में ही आ रहे हैं।

(६) व्यापारियों के हथकण्डे—प्राकृतिक, अभाव के साथ-साथ कृत्रिम अभाव की स्थिति भी उत्पन्न कर दी गई। खाद्य पदार्थों की कमी के कारण बाजार क्रेता के हाथ में निकल कर विक्रेता के हाथ में चला गया और उन्होंने मनमाने मूल्य लेना प्रारम्भ कर दिया। मण्डियों में सट्टा होने लगा तथा अन्न संग्रह, चोर बाजारी और

* Draft Outline of the First Five Year Plan (1951), p. 14.

मिलावट रोज की घटनाएँ हो गई। सर्वत्र व्यापारिक नैतिक पतन हो गया और पूर्ति को रोक कर खाद्य पदार्थों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया गया।

इससे उत्पादन वृद्धि के बावजूद खाद्यान्न की कीमतें बढ़ी। सन् १६५२-५३ को आधार मान कर सन् १६५६ से सन् १६५६ के चार वर्षों मे खाद्यान्न के मूल्य सूचनाक क्रमशः ६६·०, १०२·८, ११२·०, ११८·२ रहे।*

(७) सामाजिक कारण—इनमे कृषकों का अज्ञान एवं निरक्षरता तथा प्रत्येक सुधार के लिए सरकार की ओर देखने की प्रवृत्ति का समावेश होता है।

(८) राजनैतिक प्रभाव—राजनैतिक प्रभाव के अन्तर्गत वे सब कारण आते है जिनमे सरकार (कांग्रेसी) प्रभावित होकर न्यायोचित कार्य न करते हुए अव्यवहारिक कदम उठाती है। उदाहरणार्थ, केरल मे सस्ते अनाज के विक्रय हेतु जहाँ ७,००० दूकानें है वहाँ उत्तर-प्रदेश जैसे विशाल क्षेत्र मे केवल ३,८०० दुकानें है। इससे स्पष्ट है कि राजनैतिक विवेकात्मक नीति भी खाद्य सकट के लिए उत्तरदायी है।

(६) केन्द्र एव राज्यो की नीति मे सामंजस्य का अभाव—भारतीय सविधान के अनुसार खाद्य उत्पादन का मूलभूत दायित्व राज्य सरकारो का है, परन्तु खाद्य-वितरण का दायित्व केन्द्र सरकार का है। ऐसी स्थिति मे दोनो ही अपनी-अपनी जिम्मेवारी के प्रति जागरूक नही रहते, अपितु एक की निष्क्रियता का परिणाम दूसरे पर होता है। इससे अन्न सकट के निवारण मे बाधा होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध मे निर्णयात्मक नीति का अवलम्ब कर सविधान मे आवश्यक परिवर्तन किए जायें।

(१०) कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण—हमारे योजनाकारो का कृषि के प्रति अव्यवहारिक दृष्टिकोण भी खाद्य समस्या के लिए जिम्मेवार है। जब हम प्रति वर्ष अन्न का विदेशो मे आयात कर रहे हैं; (देखिए निम्न तालिका) तो क्या कारण है दूसरी पच-वर्षीय योजना में कृषि एव खाद्यान्न उत्पादन को प्राथमिक स्थान न देने का।

अन्न का आयात—

(हजार टनो मे)

वर्ष	चावल	गेहूँ आटा	अन्य	योग	मूल्य (करोड रु०)
१६४८	८६७	१,३११	६६३	२,८४१	१२६·७२
१६४६	७६७	२,२००	७३६	३,७०६	१४४·६०
१६५०	३१३	१,४०७	४६५	२,१२५	८०·६०
१६५१	७४६	३,०१५	६६१	४,७२५	२१६·७६
१६५२	७२२	२,५११	६३१	३,८६४	२०६·०७

* सम्पदा—अप्रैल सन् १६६०।

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है । पजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक रमट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है ।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई । सन् १९४७ मे विभाजन के कारण पजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए और हमारे आयातो की मात्रा बढती गई । गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	२,८८० ,,
१९५८	२,६७४

सरकार ने गेहूँ की खेती मे सुधार हेतु कुछ क्षेत्रो को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है । कृषि यन्त्रो का प्रयोग, सिंचाई मे विकास, उत्तम बीज एवं रसायनिकखादो का प्रयोग करके उत्पादन बढाया जा रहा है । द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है ।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत मे गेहूँ के साथ-साथ जौ भी बोया जाता है । यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियो द्वारा खाने मे प्रयुक्त होता है । जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है । सन् १९५७-५८ में ७५·३१ लाख एकड भूमि पर २९·७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ । इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है । इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने मे किया जाता है । भारत मे विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है । हमारे देश में प्रति एकड उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जबकि डेनमार्क मे २,६५६, जर्मनी मे १,९३२, इङ्गलैड और जापान में प्रति एकड उत्पादन १,९१६ पौंड होता है । भारत मे विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है ।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत मे होता है, परन्तु गर्म सूखे भागो मे इनकी उपज अधिक होती है । यह खरीफ की फसल है । ज्वार का उत्पादन दक्षिण मे बहुत होता है । सन् १९५६–५७ में ज्वार ४१३·१४ लाख एकड पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४·२७ लाख टन रहा । इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र में होता है । कुछ उत्पादन पजाब और राजस्थान में भी होता है ।

---

1. India 1959.
2. The Second Five Year Plan. p. 257.

भाग नही मिलता, क्योकि "अप्रत्यक्ष करो का प्रत्यक्ष प्रभाव मंहगाई बढ जाने मे होता है। मूल्य वृद्धि के साथ बाजार मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव होता है। अभाव होने पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण लगता है और अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि नियन्त्रण होते ही वस्तुओ की प्राप्ति और भी कठिन हो जाती है। इसका परिणाम फिर मँहगाई बढने मे होता है।"* इस प्रकार इस कुचक्र मे साधारण आदमी सकट मे पड जाता है और खाद्य समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है।

असन्तुलित आहार—

असन्तुलित आहार से तात्पर्य है खाद्यान्न में पोषक द्रव्यों की कमी होना। भारत मे केवल खाद्यान्न की ही कमी नही है, अपितु उनका आहार भी असनुलित है। इससे एनोमिया, बेरी-बेरी आदि बीमारियाँ होती हैं, जो जनता को कमजोर एव अक्षम बना देती है। इस दृष्टि से अर्धपोषित रहने की अपेक्षा क्षुधा से मृत्यु होना अधिक अच्छा है।

पौष्टिक सलाहकार समिति के अनुसार "सतुलित भोजन के लिये प्रति वयस्क व्यक्ति दैनिक १४ औंस अन्न की आवश्यकता है, जिसमे ३ औंस दाल होनी चाहिए। सर जॉन मेग की रिपोर्ट के अनुसार "उस समय (१६३३ मे) लगभग ४०% गाँवो की जन-सख्या अन्न-उत्पादन की दृष्टि से अधिक थी और उस समय ३६% जन-सख्या को पूरा भोजन, ४१% को अपूर्ण भोजन तथा शेष जन सख्या के लिए भोजन मिलना या न मिलना बराबर था।

ऐसा क्यों ?—

भारतीय अन्न उपज में पोषक तत्त्वों की कमी के लिए निम्न कारण जिम्मेवार हैं :—

(१) भूमि की उर्वराशक्ति का ह्रास तथा उत्तम बीजो का पर्याप्त मात्रा मे न मिलना,

(२) धार्मिक भावना के कारण मांस, मछली, अडों आदि का भोजन मे प्रयोग न होना,

(३) जनता की निरक्षरता एव अज्ञान के कारण भोजन में पोषक तत्त्वो की उपयोगिता पर ध्यान न देना,

(४) निर्धनता के कारण भोजन मे पर्याप्त मात्रा मे दूध, फल एवं अन्य आवश्यक जीवन तत्त्वों का समावेश करने की आर्थिक क्षमता न होना।

इस हेतु सरकार ने क्या किया ?—

सन् १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही कृषि उपज के मूल्य बढने लगे, लेकिन दूसरी ओर अन्न एव कृषि जन्य औद्योगिक कच्चे माल की माँग बढती गई, जिससे कृषकों की क्रय-शक्ति बढने लगी और उन्होने उपभोगों की मात्रा बढाना आरम्भ

* नवभारत टाइम्स—२७ अगस्त,१६६०।

किया। सरकार ने सर्व प्रथम कीमतों की वृद्धि रोकने के लिए सन् १६४२ में मूल्य-नियन्त्रण लगाया तथा अन्न धान्य के अन्तर्राज्य यातायात पर भी रोक लगा दी। इसका हेतु किसी भी राज्य में अन्न की कमी न होने देना और साथ ही जनता को उचित कीमतों पर अन्न प्रदान करना था। इस कार्य को कुशलता से करने के लिए दिसम्बर सन् १६४२ में खाद्य-विभाग की स्थापना की गई। यह विभाग देश की खाद्य उत्पादन सम्बन्धी नीति को नियन्त्रित करने के लिए जिम्मेवार था। साथ ही, यह भी जिम्मेवारी थी कि वह अधिक अनाज वाले क्षेत्रों से कम अनाज वाले क्षेत्रों में अन्न-धान्य की पूर्ति समयानुकूल करता रहे। लेकिन इस परिस्थिति को सन् १६४३ के बङ्गाल के भीषण दुर्भिक्ष ने और भी गम्भीर बना दिया।

सरकार यह चाहती थी कि बंगाल दुर्भिक्ष के साथ-साथ सम्पूर्ण खाद्य समस्या का अध्ययन कर एक नई खाद्य नीति का निर्माण किया जाय। अतः जुलाई सन् १६४३ में एक खाद्यान्न नीति समिति (Foodgrains Policy Committee) की नियुक्ति की गई। इसके अध्यक्ष डा० ग्रेगरी थे। समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) देश के खाद्यान्नों का निर्यात बन्द किया जाय।
(२) एक केन्द्रीय खाद्यान्न कोष का निर्माण किया जाय, जिसमें कम से कम ५ लाख टन खाद्यान्न हो। यदि आवश्यक हो तो विदेशों से खाद्यान्न का आयात किया जाय।
(३) अन्न की प्राप्ति और वितरण पर पूर्ण नियन्त्रण।
(४) जिनकी जन-संख्या एक लाख से अधिक है, ऐसे सम्पूर्ण नगरों में राशनिंग प्रारम्भ की जाय।
(५) उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए रसायनिक खादों का प्रयोग बढ़ाया जाय और एक खाद के कारखाने का निर्माण किया जाय, जहाँ प्रति वर्ष ३,५०,००० टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन किया जाय (यह कारखाना स्थापित हो गया है : सिंद्री में)।
(६) अनावश्यक अन्न संग्रह दण्डनीय अपराध घोषित किया जाय और व्यापारिक अनाचारों के विरुद्ध कठोर कदम उठाये जायें।
(७) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow more Food Compaign) प्रारम्भ किया जाय और उसे क्रियात्मक रूप दिया जाय।

सरकार की खाद्यान्न नीति—

सरकारी खाद्यान्न नीति के तीन मुख्य पहलू थे :—

(१) देश में समस्या को हल करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न करना। इसके अनुसार देश में "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन सन् १६४३ में आरम्भ किया गया। इसके बाद इसी नीति का दूसरा भाग पंच-वर्षीय खाद्यान्न योजना (१६४७ से १६५१) थी।

(२) देश की तत्कालीन समस्या को दूर करने के लिए तत्कालीन उपायो को काम मे लाना। इस नीति के अनुसार विदेशों से खाद्यान्न का आयात* करना, देश मे व्यापारियो की संग्रह प्रवृत्ति तथा काले बाजार को रोकना आदि सरकारी उद्देश्य थे। इसलिए सरकार ने सन् १६४३ मे भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त किये।

(३) तत्कालीन खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए सरकार खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिश के अनुसार १½ मिलियन टन खाद्यान्न का संग्रह रखने लगी।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Compaign)—

यह आन्दोलन सन् १६४३ से प्रारम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश में कृषि उपयोग में अधिक भूमि लाकर तथा वर्तमान भूमि को सुधार कर देश में अन्न उत्पादन बढाना था। इस आन्दोलन की मुख्य बातें निम्न थी : —

(१) खाद्यान्न के उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि–इस कार्य के लिए यह व्यवस्था की गई कि मुद्रा फसलो (Money Crops) के स्थान पर खाद्यान्न फसलो की खेती की जाय तथा मिश्रित खेती (Mixed Farming) द्वारा खाद्यान्न की उपज बढाई जाय। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक सहायता दी तथा कृषकों को ऋण देने का प्रबन्ध किया गया।

(२) सिंचाई का प्रबन्ध—इसके अन्तर्गत वर्तमान सिंचाई के साधनो की मरम्मत तथा नई नहरें, कुँए आदि खुदवाने की व्यवस्था करने का भार राज्य सरकारों को सौंपा गया।

(३) अच्छे खाद की व्यवस्था करना तथा उसके उपयोग को बढाना।

(४) फसल बढाने के लिये अच्छे बीजों का अधिक मात्रा में वितरण करना।

(५) इसके अलावा पशु सम्पत्ति की सुरक्षा एवं विकास, कृषि यन्त्रों का आयात, कृषि की वैज्ञानिक पद्धति को प्रोत्साहन देना।

केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारो को उनके खर्चे के बराबर आर्थिक सहायता दी गई। सन् १६४३ से सन् १६४७ की अवधि मे राज्यों को केन्द्रीय सरकार द्वारा ६ करोड रुपये ऋण तथा ७ करोड रुपये की आर्थिक सहायता दी गई। ६,००० टन उत्तम बीजो का वितरण किया गया। इसी प्रकार सिंचाई की व्यवस्था के लिये ६४,००० कुँए, ५०० नल-कूप तथा ३,००० तालाब खुदवाए गये।

फलस्वरूप देश की अन्न उपजाने वाली कृषि भूमि मे लगभग १ लाख एकड भूमि की तथा २५ लाख टन अन्न धान्य की वृद्धि हुई, परन्तु फिर भी इस आन्दोलन से सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उत्पादन में जो वृद्धि हुई उससे कहीं अधिक व्यय हुआ। सन् १६४५ मे बगाल अकाल जाँच समिति ने भी इस आन्दोलन की असफलता

* आयात के आँकडे पहले दिये गये हैं।

ग्रोर मैसूर मे होता है। कपास का ग्राधा क्षेत्रफल केवल बम्बई ग्रोर मध्य-प्रदेश में है। गत वर्षों मे कपास का उत्पादन एव क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है[1]:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख गाँठ
१९५४-५५	१८७	४१·२७
१९५५-५६	१९९	४०·२०
१९५६-५७	१९८	४७·३५
१९५७ ५८	२०२	४७·३९
१९५८-५९	—	४७·०५

इस प्रकार गत वर्ष की तुलना मे क्षेत्रफल मे १·३% तथा उत्पादन मे ०·४% की वृद्धि हुई। क्षेत्रफल मे वृद्धि मुख्यतः बम्बई, पजाब ग्रोर मध्य-प्रदेश में हुई तथा उत्पादन वृद्धि मे प्रमुख योग राजस्थान, मद्रास ग्रोर पजाब का रहा। इस वर्ष ४५ लाख गाँठो का उत्पादन होगा, ऐसा ग्रनुमान है।

भारतीय रुई की किस्म ग्रोर उत्पादन मे सुधार हेतु सन् १९१७ में भारतीय कपास समिति की स्थापना की गई ग्रोर सन् १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की स्थापना की गई। रुई में मिलावट रोकने के लिए सन १९२३ में कपास यातायात ग्रधिनियम भी पास किया गया तथा विक्रय की दशाग्रो में सुधार करने हेतु बम्बई, मध्य-प्रदेश ग्रोर मद्रास में कपास विपणि ग्रधिनियम पास किये गये।

विभाजन के परिणामस्वरूप लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाले पजाब ग्रोर सिन्ध के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। ग्रतः भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने यह सिफारिश की कि कपास के क्षेत्रफल में यथाशीघ्र ४० लाख एकड की वृद्धि की जाय ग्रोर उसे सन् १९४६-४७ में ११५ लाख से बढा कर १५५ लाख कर दिया जाय। सन् १९४८-४९ में हमारे उत्पादन का केवल १७·५% भाग लम्बे रेशे का होता था। सन् १९५६-५७ में लम्बे रेशे का उत्पादन बढ कर ४२·५% हो गया। गत वर्षों में किस्म के ग्रनुसार कपास का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :—[2]

किस्म	१९५४ ५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७ ५८	१९५८-५९
A	३६%	३९%	४२·५०%	३७%	३५%
B	४५%	४४%	४१२·५%	४५%	४६%
C	१९%	१७%	१६·२५%	१८%	१६%

1. India 1954.
2. Commerce Annual Number Dec. 1959, page 205.

इसी आधार पर समिति ने अपनी सिफारिशो में कहा :—इन बाधाओ का निवारण गहरी खेती, अधिक खाद एव अच्छे बीजो की सहायता तथा असिंचित भूमि को आवश्यक सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करके कर सकते है। समिति ने कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुटीर उद्योगो की स्थापना की सिफारिश की, ताकि कृषको को सहायक आय के साधन प्राप्त हो। इसके अलावा समिति ने निम्न सिफारिशें की.—

(१) अन्न का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन' के लिए नई नीति अपनाना।

(२) गहरी खेती के साथ अच्छी खाद, बीज, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था द्वारा उत्पादन बढ़ाना।

(३) बजर भूमि को कृषि के लिए उपयोगी बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक आर्थिक सहायता दिया जाना तथा इस कार्य पर स्वय केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होना। केन्द्रीय एवं राज्य कृषि नीति मे सहयोग स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय कृषि नियोजन सभा (Central Board of Agricultural Planning) की स्थापना करना तथा इसी प्रकार की कृषि-सभाएँ राज्यो मे भी स्थापित करना। राज्य कृषि-सभाएँ केन्द्रीय सभा को कौनसी भूमि कृषि के उपयोग में लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध मे तथा अन्य समस्याओ पर एव वार्षिक कार्य प्रगति के सम्बन्ध मे रिपोर्ट देना।

(४) अन्न धान्य आयात पर सरकारी एकाधिकार।

(५) ५ वर्ष के लिए १० लाख टन की केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्न-निधि रखना।

(६) पच वर्षीय खाद्यान्न योजना बनाकर प्रति वर्ष १ करोड टन अधिक अन्न उत्पादन बढा कर देश को आत्म निर्भर बनाना, ताकि इस अवधि के बाद अन्न आयात बन्द कर दिया जाय।

(७) बजर अथवा कांसयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भू पुनर्ग्रहण सगठन (Central Land Reclamation Organisation) बनाया जाय, जिसको केन्द्रीय सरकार ५० करोड रुपया दे।

खाद्यान्न-योजना सन् १९४७-५२—

खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशो के अनुसार एक पचवर्षीय खाद्यान्न योजना बन ई गई। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष ३० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन बढाना था, ताकि इस अवधि के अन्त में देश के अन्न आयात बिल्कुल बन्द कर दिए जायें। अन्न उपज बढाने का प्रत्येक राज्य का कोटा निश्चित किया गया। योजना की अवधि में ६० लाख एकड पडती भूमि को हल के नीचे लाने का उद्देश्य था, जिससे अन्न उपज मे २० लाख टन वृद्धि होने की आशा थी। इस कार्य के लिये केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ की स्थापना की गई। जहाँ पर पूरे वर्ष पानी की सुविधाएँ प्राप्त थी, ऐसी कृषि-

भूमि पर गहरी खेती करने पर जोर दिया गया। इसके अलावा सिंचाई के साधनो का विकास एवं सुधार, भूमि कटाव रोकने के प्रयत्न, नैसर्गिक एव रसायनिक खाद, अच्छे औजार एवं कृषि के यंत्रीकरण से अन्न-उत्पादन बढाने पर जोर दिया गया तथा मूंगफली, आलू आदि सहायक खाद्य फसलो के उपजाने पर भी जोर दिया गया। इस योजना का अनुमानित व्यय २८२ करोड रुपये था।

इसके अलावा सरकार ने विज्ञापन आदि प्रचार साधनो से खाद्यान्न की सुरक्षा के लिए तथा उपलब्ध अन्न का अधिकतम् उपयोग करने के लिए जनता से सहयोग की माग की। साथ ही, रईसों, बडे-बडे पदाधिकारियो के बगलो के आस पास की भूमि मे साग, फल इत्यादि की उपज द्वारा सहायक खाद्य पदार्थों की उपज करने का प्रस्ताव रखा। भूमि कटाव को रोकने लिए अगस्त सन् १९५० से वन-महोत्सव कार्यक्रम शुरू किया गया, परन्तु लगाए गए पौधो की समुचित देखभाल के अभाव मे वन महोत्सव आशातीत सफलता प्राप्त नही कर सका।

सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के पूर्ण प्रयत्न किये। जनता को उपवास करने, एक समय के भोजन मे अन्न का उपयोग न करने तथा सब्जियो के अधिक उपयोग करने सम्बन्धी अनेक क्रियात्मक सुझाव दिये गये। परन्तु सन् १९५१ तक खाद्य स्थिति लगातार खराब होती गई। विभाजन के परिणामस्वरूप बहुत सी कृषि भूमि पर जूट की खेती प्रारम्भ कर दी गई थी। शरणार्थियो का आगमन भी हो रहा था, साथ ही राजनैतिक परिस्थितियां भी विपक्ष मे हो गई। कोरिया मे युद्ध प्रारम्भ हो गया और तृतीय विश्व युद्ध की आशङ्का की जाने लगी। जहाजो के मिलने मे भी कठिनाई उपस्थित हुई, अतः १२ औंस राशन देना सरकार की शक्ति के बाहर हो गया और १९ जनवरी सन् १९५१ से प्रति व्यक्ति राशन की मात्रा घटाकर ९ औंस कर दी गई।

खाद्य संकट से मोर्चा लेने के लिए अगस्त सन् १९५० मे एक खाद्य मन्त्री सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमे निम्न निर्णय लिया गया:—

(१) केन्द्र तथा प्रान्तो की खाद्य नीति मे समानता होना।
(२) आयात बन्द करने की तिथि मार्च सन् १९५१ तक अन्न धान्य मे आत्म निर्भर होने के लिए खाद्यान्न का उत्पादन बढाना।
(३) खाद्य-समस्या को युद्ध-कालीन स्तर पर रख कर उसके लिए आवश्यक कार्यवाही करना।
(४) सभी प्रान्तो में नियन्त्रित खाद्यान्नो की उपज बढाने पर जोर देना तथा प्रयत्नशील होना।
(५) चोर बाजारी, लाभखोरी रोकने के लिये प्रयत्न करना एवं दोषी व्यक्ति को कड़ा दण्ड देना।
(६) प्रान्तीय अन्न धान्यो के मूल्य मे समानता रखने के लिये प्रयत्न करना।
(७) खाद्य स्थिति की समय समय पर छानबीन करना।

परन्तु इतना करते हुए भी भारत खाद्यान्न में आत्म निर्भर न हो सका। इसलिए आत्म निर्भर होने की लक्ष्य तिथि बढाकर मार्च सन् १९५२ कर दी गई थी।

अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति (सन् १९५२)—

पंच वर्षीय खाद्यान्न योजना के अन्तर्गत क्या कार्य हुआ, इसकी जाँच करने तथा भविष्य में देश को अन्न में स्वावलम्बी बनाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति' (Grow More Food Enquiry Committee) की नियुक्ति फरवरी सन् १९५२ में की गई। इस समिति ने १ जुलाई सन् १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने रखी।

समिति ने खाद्य समस्या के सम्बन्ध में निम्न बातें स्पष्ट की:—

(१) सन् १९३७ में भारत से बर्मा पृथक हो जाने के कारण १५ से २० लाख टन चावल के आयात पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(२) सन् १९४७ में भारत के विभाजन से ७० से ८० लाख टन खाद्यान्न की वार्षिक हानि हुई।

(३) जन संख्या में अविरत वृद्धि होती रहने के कारण भारत के खाद्यान्न की वार्षिक माँग ४५ लाख टन से बढ रही है।

(४) आजकल कृषकों के जीवन-स्तर में सुधार हो जाने से अन्न धान्य के उपभोग की मात्रा में भी वृद्धि हो गई है।

(५) इण्डियन कौंसिल ऑफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च के अनुसार भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज में उल्लेखनीय वृद्धि अथवा कमी नहीं हुई है,

(६) यह समस्या ऐसी नहीं है कि जिसे केवल अन्न आयातों से ही सुलझाया जा सकता हो, अपितु इस समस्या का हल इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे कृषि क्षेत्र एवं उपज में इतना विस्तार हो कि हमारी वृद्धिगत जन-संख्या को वृद्धिगत परिमाण में पोषक अन्न मिल सके।

समिति ने 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत जो विभिन्न योजनायें चालू थी उनका मूल्यांकन किया तथा वह निम्न निर्णय पर पहुँची :—

(अ) *ग्राम विकास की सब योजनाओं में स्थायी योजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।* (ब) विविध स्थायी योजनाओं में भी छोटी मोटी सिंचाई की योजनाओं को महत्त्व देना चाहिए। इसमें भी वर्तमान सिंचाई के साधनों की दुरुस्ती तथा बहाव सिंचाई (Flow Irrigation) की छोटी योजनाओं को प्राथमिकता देना चाहिए। (स) *भूमि सुधार तथा भूमि-संरक्षक योजनाओं तथा* (द) अच्छे बीजों के प्रदाय की योजनाओं पर समुचित ध्यान देना चाहिए।

समिति ने अधिक अन्न-उपजाओ आन्दोलन की असफलता के दो प्रमुख कारण बतलाये :—

(१) योजना की व्याप्ति (Scope) सीमित एवं संकीर्ण (Narrow) है तथा इसके मूल उद्देश्य में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में खाद्यान्न में आत्म निर्भरता उद्देश्य था। किन्तु कुछ ही महीनों बाद जैसे ही औद्योगिक कच्चे माल की समस्या उपस्थित हुई, वैसे ही इस योजना की खाद्यान्न, रुई तथा पटसन की एकत्रित-उत्पादन योजना बनाई गयी। इसके बाद भूमि परिवर्तन की पंचमुखी योजना सामने आई, जिसके अन्तर्गत पशु सम्पत्ति में सुधार, मच्छीमारी का विकास, भूमि-परिवर्तन आदि पहलुओं पर जोर दिया गया। परन्तु योजना में परिवर्तन के साथ-साथ उसकी कार्य पद्धति में कोई परिवतन नहीं किया गया और न यही सोचा गया कि ग्राम जीवन के सब पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं, जिनको विभिन्न योजनाओं से पूरा नहीं किया जा सकता। इसके अन्तर्गत खाद, अच्छे बीज आदि का प्रदाय और आर्थिक नियोजन भी विस्तृत योजना की दृष्टि से कम था, जिसका फैलाव छोटे क्षेत्र पर केन्द्रित नहीं हुआ।

(२) यह आन्दोलन अस्थाई था, क्योंकि देश को निश्चित् तिथि तक खाद्यान्न में आत्म निर्भर बनाना इसका मूलभूत उद्देश्य था। अतः इसकी पूर्ति के लिए अस्थाई कर्मचारियों की जिम्मेवारी थी, जिन्होंने इस कार्य को लगन से पूरा नहीं किया। इस कारण यह आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में कार्यान्वित न हो सका।

इसलिए समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीः—(१) वर्तमान समय में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को इतना विस्तृत बनाया जाय कि जिसमे ग्राम-जीवन के सभी पहलुओं का समावेश हो। (२) सरकार के शासन यन्त्र का पुनर्गठन इस हेतु किया जाय कि जिसमे वह अपना कार्य भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने की दृष्टि से करे। (३) गाँवों के ६ करोड़ कुटुम्बों को अपने प्रयत्नों द्वारा सुधारने के लिए असासकीय नेतृत्व को गतिशील बनाकर उसका उपयोग किया जाय। (४) समिति ने अपनी सिफारिशों में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं की भी सिफारिश की, ताकि ग्रामीण कार्य में व्यापकता लाई जाय। इस तरह पंच-वर्षीय योजना की अवधि में १,२०,००० गाँव इस सेवा का लाभ उठा सकेंगे।

'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के परिणाम-स्वरूप खाद्य स्थिति में सुधार हुआ। सन् १९५३ की फसल पर्याप्त अच्छी रही और सन् १९५४ की फसल और भी अधिक अच्छी रही। सन् १९५२-५३ में कुल उत्पादन ५·८ करोड़ टन था, जो सन् १९५३-५४ में ६·८७ करोड़ टन हो गया।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में खाद्य उत्पादन को सर्वोच्च प्राथमिकता थी और उत्पादन का लक्ष्य ६·१६ करोड़ टन निश्चित किया गया। खाद्य उत्पादन की दृष्टि से हमारी प्रथम योजना सफल रही और सन् १९५१-५२ में होने वाला उत्पादन ५·१२ करोड़ टन से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ६·५६ करोड़ टन हो गया। सन् १९५६-५७ में १४ लाख टन की वृद्धि हुई और हमारा खाद्य उत्पादन ६·६३ करोड़ टन रहा।

का उत्पादन बढ़ाने के लिए रबर उत्पादन विकास समिति के अन्तर्गत २० वर्षों में रबर का उत्पादन तीन गुना कर दिया जायगा। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रबर के उत्पादन में ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में रबर के बगीचे बहुत छोटे हैं और प्रबन्ध भी अकुशल है। औसत भारतीय उत्पादन ३०० पौण्ड प्रति एकड़ है। कोचीन में ३१७ पौण्ड, मद्रास में २५३ पौण्ड और ट्रावनकोर एवं कुर्ग में क्रमशः २५२ तथा २५० पौण्ड प्रति एकड़ है। रबर बोर्ड ने ७०,००० एकड़ पुराने रबर के जंगल के पुनर्स्थापन का एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार ७,००० एकड़ भूमि पर पुराने पौधों के स्थान पर नये पौधे लगाये जायेंगे।

नील—१८ वीं और १६ वीं शताब्दी में भारत में नील पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया जाता था, परन्तु १६ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी की रङ्ग की प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी खेती कम कर दी गई। सन् १८६६-६७ में १० लाख एकड़ भूमि पर नील की खेती होती थी, जो सन् १६४० में घटकर केवल ६५,००० एकड़ रह गई। इसका उत्पादन क्रमशः घटता जा रहा है, क्योंकि अन्य रंग सस्ते पड़ते हैं, अतः इसका भविष्य अन्धकारमय है। इसका उत्पादन मुख्यतः मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश में होता है। यह बिहार और पंजाब में भी होता है।

नारियल—नारियल के उत्पादन में भारत का नम्बर दूसरा है। सन् १६५५-५६ में नारियल १,५६७ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न किया जाता था और उस वर्ष ४,०६७ लाख नारियल उत्पन्न किये गये। तेल की माँग को देखते हुए अभी हमारे देश में नारियल की बहुत कमी है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तेल का उत्पादन लक्ष्य २,१०,००० टन रखा है। योजना के अनुसार हर पेड़ से ३० नारियल के स्थान पर ४५ नारियल प्राप्त किए जायेंगे। नारियल का उत्पादन छोटे-छोटे द्वीपों और समुद्र तट पर उत्पन्न किया जाता है। भारत में नारियल और नारियल का तेल —मुख्यतः सीलोन से आयात किया जाता है।

मसाले—भारत में अनेक प्रकार के मसाले उत्पन्न किये जाते हैं। काली मिर्च का उत्पादन २३४ हजार एकड़ भूमि पर किया जाता है और सन् १६५६-५७ में इसका उत्पादन २२,००० टन रहा। लाल मिर्च उत्तर-प्रदेश, बङ्गाल और मद्रास में उत्पन्न होती है तथा धनियाँ ट्रावनकोर-कोचीन, मैसूर, कोयम्बटूर, मलाबार और तिन्नीवेली में होता है। सुपारी का उत्पादन सन् १६५५-५६ में ८१,००० टन था। सन् १६६०-६१ तक सुपारी का उत्पादन ६६,००० टन तक बढ़ने की आशा है। काजू का उत्पादन ६०,००० टन सालाना है और अधिकांश भाग निर्यात कर दिया जाता है। इलायची की खेती भी दक्षिण में नीलगिरि क्षेत्र में ऊँचाई पर की जाती है।

इन क्षेत्रों के निर्माण का उद्देश्य, सम्बन्धित क्षेत्रों में गेहूँ के अबाधित स्थानांतरण की सुविधा उपलब्ध करना, बिना राज्य सरकारों की अनुमति के क्षेत्रों में आयात तथा निर्यात पर रोक लगाना है। आन्ध्र-प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल को मिलाकर एक चावल क्षेत्र का भी निर्माण किया गया है।

खाद्यान्न जाँच समिति सन् १९५७—

सरकार यह जानना चाहती थी कि उत्पादन और आयातों में वृद्धि होने पर भी खाद्य पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि क्यों हुई तथा सट्टा, अनावश्यक अन्न संग्रह, आदि को किस प्रकार रोका जा सकता है। अतः २४ जून सन् १९५७ को एक खाद्यान्न जाँच समिति नियुक्त की गई, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे। समिति की रिपोर्ट १९ नवम्बर सन् १९५७ को प्रकाशित हुई। समिति ने गत वर्षों की खाद्यान्न स्थिति, सरकारी नीति, खाद्य वितरण व्यवस्था, उत्पादन तथा मूल्यों का अध्ययन कर निम्न सिफारिशें की :—

(१) अगले कुछ वर्षों में खाद्यान्नों का मूल्य अस्थायी रहेगा और उसमें उतार-चढ़ाव होंगे, अतः सरकार को मूल्यों में सुधार हेतु विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

(२) सरकार द्वारा एक मूल्य स्थिरीकरण (Stabilization) बोर्ड की स्थापना की जाय, जो खाद्यान्नों से सम्बन्धित मूल्य नीति निर्धारित करे और उसे कार्यान्वित करने हेतु योजनायें बनाये।

(३) एक खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन का निर्माण किया जाय, जो मूल्य स्थायित्व बोर्ड द्वारा निर्धारित नीति एवं कार्यक्रमों को कार्यान्वित करे।

(४) खाद्य वितरण से सम्बन्धित अल्पकालीन नीति के विषय में समिति ने कहा कि यह कार्य सस्ते अनाज की दूकानों, सहकारी समितियों तथा ऐसे ही अन्य संगठनों द्वारा किया जाय।

(५) बम्बई, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, बिहार तथा पूर्वी उत्तर-प्रदेश, जहाँ अक्सर खाद्य अभाव की स्थिति बनी रहती है, के विषय में समिति ने कहा है कि वहाँ मुख्यतः क्रय-शक्ति का अभाव है। अतः ग्रामोद्योग प्रारम्भ करके, बेकारी में कमी करके, सिंचाई के साधन उपलब्ध करके वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन में सुधार करना चाहिये।

(६) अन्न आयात किए बिना अन्न का भण्डार रखना या कमी के क्षेत्रों में अन्न प्रदाय करना सम्भव नहीं होगा। समिति का अनुमान है कि २० से ३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना होगा। इस हेतु समिति ने सुझाव दिया है कि अमेरिका से गेहूँ के तथा बर्मा से चावल के आयात के सम्बन्ध में दीर्घकालीन समझौता किया जाय।

इसके अलावा समिति ने परिवार नियोजन खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि आदि बातों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की थीं।

सरकार ने क्षेत्रीय प्रतिबन्ध और सस्ती दुकानों सम्बन्धी लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली है, परन्तु मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड एवं खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन की स्थापना सम्बन्धी सिफारिशें स्वीकार नहीं की गई।[1]

द्वितीय पंच वर्षीय योजना मे १ करोड़ टन अतिरिक्त खाद्य उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इसे बढ़ाकर अब १'५५ करोड़ टन कर दिया गया है।[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन् १९६०-६१ मे ८०५ करोड़ टन खाद्य उत्पादन की आशा व्यक्त की गई है, परन्तु अर्थशास्त्रियों ने इसकी सफलता पर आशंका व्यक्त की है। अशोक मेहता समिति का यह अनुमान है कि सन् १९६० ६१ मे हमारा *खाद्य उत्पादन ७'७५ करोड़ टन होगा, जब कि उस समय हमारी मांग ७'९० करोड़* टन रहेगी। इस प्रकार १५ लाख टन की कमी उस समय भी बनी रहेगी। मेहता समिति का यह अनुमान गत खाद्यान्न उत्पादन के आँकड़ो को देखते हुए वास्तविकता के समीप ही प्रतीत होता है।[3]

तीसरी पंच-वर्षीय योजना मे वर्तमान अन्न संकट को देखते हुए कृषि को प्राथमिकता दी गई है तथा कृषि के हेतु ६२५ करोड़ रु० का आयोजन है। परन्तु अभी योजना आयोग इस राशि के सम्बन्ध मे विचार कर रहा है। तीसरी योजना मे उत्पादन २'५० करोड़ टन से बढ़ाने का लक्ष्य है, जिससे देश की कुल पैदावार १० करोड़ टन हो सके। किन्तु लक्ष्य १०'५० करोड़ टन के बीच रखा गया है, जिसका अर्थ है कि उत्पादन ५० लाख टन कम होगा।

आयोग के सूत्रो का कथन है कि यदि तकनीकी साधनो का प्रयोग किया गया तो लक्ष्य की पूर्ति ही नही अपितु और अधिक उत्पादन हो सकता है।

लक्ष्य को घटने बढने वाला रखने का प्रमुख कारण यह है कि इसकी पूर्ति मे मानसून का काफी हाथ रहेगा। पैदावार मे वृद्धि केवल प्रोत्साहन पर नही अपितु कृषकों के परिणाम पर निर्भर करती है। आयोग के अनुसार तीसरी योजना मे अन्त तक १० लाख टन उर्वरक का पूरी तरह प्रयोग होने लगेगा। किन्तु विशेषज्ञों के अनुसार वस्तुतः तब तक उत्पादन नहीं हो सकेगा।[4]

कृषि मंत्री सम्मेलन (अगस्त सन् १९६०)—

इस सम्मेलन का हेतु निम्न दो प्रश्नों पर विचार करने का था :—(१) तीसरी योजना के प्रारूप मे कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित राशि पर्याप्त है या नही, (२) देश को खाद्यान्न में आत्म-निर्भर बनाने के लिए कौन से कदम उठाए जाने चाहिये।[5]

---

1. Fresh Thinking on Food Needed. Commerce dated 9th August 1958.
2. Indian Information, Sept. 15, 1958.
३ देखिए इसी अध्याय में।
४ नवभारत टाइम्स—अगस्त २०, १९६०।
५ नवभारत टाइम्स—अगस्त २२, १९६०।

सम्मेलन में केन्द्रीय खाद्य-मंत्री श्री० एम० के० पाटिल ने कहा कि आगामी ५ वर्षों में देश को अनाज की दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने के लिए केन्द्र तथा राज्य-सरकारों की ओर से विशेष प्रयास होना चाहिये। उन्होंने कहा कि भारत-अमरीकी अन्न आयात समझौते से जो अनाज हमें मिलेगा उससे कुछ दिनों के लिए राहत मिलेगी। इस बीच हम देश में अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयास कर सकेंगे।

भारत अमरीकी अन्न आयात समझौते से जो अनाज हमें मिलेगा उससे हमें कुछ दिन के लिए राहत मिलेगी। इस बीच में हम देश में अनाज की उपज बढ़ाने का प्रयास कर सकेंगे।

श्री पाटिल ने कहा कि कम उत्पादन और उत्पादन बढ़ने की सम्भावना को देखते हुए देश को आत्मनिर्भर बनाने का कार्य कोई कठिन नहीं है

उन्होंने कहा कि मुझे विश्वास है कि यदि सभी राज्य प्रयास करें तो तीसरी पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि में देश को आत्म-निर्भर बनाने का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है।

श्री पाटिल ने कहा कि जब तक वास्तविक कृषक को समाज में उचित महत्त्व नहीं प्राप्त होता, कोई भी कृषि विकास योजना सफल नहीं हो सकती।

उन्होंने कहा कि कृषकों में यह विश्वास पैदा किया जाना चाहिए कि उनके साथ उचित व्यवहार हो रहा है। यह निश्चित है कि जब तक किसान यह महसूस नहीं करेंगे कि कृषि विकास में उनका सक्रिय सहयोग जरूरी है तब तक कृषि विकास में सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए प्रस्तावित कृषि वस्तु सलाहकार समिति की स्थापना का विचार किया जा रहा है। यह समिति सरकार को न केवल कृषि वस्तुओं की मूल्य नीति के सिलसिले में बल्कि कृषि उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर सलाह देगी।

कृषि मन्त्री श्री पंजाबराव देशमुख ने कहा कि चालू मौसम में खरीफ आन्दोलन विशेष फसल उत्पादनों में चौथा है। रबी उत्पादन के मौसम में भी उक्त प्रकार का आन्दोलन शुरू करने का विचार है। जिला स्तर पर जो कृषि कार्यक्रम किसी प्रतिष्ठान के सहयोग से चालू किया जाने वाला है उससे कृषि विकास में और अधिक प्रगति होगी।

उन्होंने कहा कि विभिन्न व्यापारिक फसलों जैसे कपास, जूट, गन्ना और तिलहन के लिए भी विशेष आन्दोलन चालू है।

श्री पाटिल ने कहा कि अनाजों, तिलहन, गन्ना, कपास तथा अन्य कृषि वस्तुओं के उत्पादन का तीसरी योजना के निर्धारित लक्ष्य पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन में प्रति वर्ष औसतन ६ प्रतिशत की वृद्धि जरूरी है। उन्होंने कहा कि तीसरी योजना की अवधि में कृषि उत्पादन में ३० से ३३ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य है। इस अवधि में अन्न उत्पादन बढ़ा कर १० करोड़ ५० लाख टन करने का लक्ष्य है।

तीसरी योजना मे कृषि के लिए निर्धारित ६ अरब २५ करोड रु० से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए विभिन्न कार्यक्रमो मे अधिक से अधिक समन्वय पैदा होना चाहिए।

कृषि क्षेत्र मे अब तक जो प्रगति हुई है वह उत्साहजनक है, लेकिन उसमे भी अधिक प्रगति की जरूरत है। कई मामलो मे सफलतायें निर्धारित लक्ष्य मे कम है। उन्होने कहा कि बढती जन-संख्या को भोजन देने के लिए कृषि उत्पादन मे तेजी से वृद्धि जरूरी है।[1]

निष्कर्ष—

पिछले वर्षों के इतिहास से ज्ञात होता है कि खाद्य सामग्री की कमी का कारण अनावृष्टि ही थी। सिंचाई योजनाओ से सिंचाई की सुविधायें बढी है, लेकिन उनसे जितनी जमीन सींची जा सकती है उतनी नही सीची जा रही है। रसायनिक खादो की भी देश में कमी है। हमारी वर्तमान नाइट्रोजन खाद की आवश्यकता १५.५ लाख टन है, जबकि इसकी केवल ५५ प्रतिशत माँग ही पूरी हो रही है। इस हेतु तीसरी योजना में नागल (८०,००० टन), रूरकेला (८०,००० टन), नैवेली कारखानों (७०,०००) से सन् १९६१-६२ तक खाद का प्रदाय आरम्भ हो जायगा, ऐसा अनुमान है।[2]

अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसलें बोने के विषय में सरकार ने यह मत व्यक्त किया है कि अनाज की जमीन पर व्यापारिक फसलें न बोई जाएँ। साथ ही, हम यह भी चाहते है कि व्यावसायिक फसलो के वर्तमान क्षेत्रफल में घटा बढी हो। जो भी उत्पादन बढे वह गहन खेती के माध्य से बढे। अनेक अर्थशास्त्रियों तथा श्री सी० डी० देशमुख ने कृषि नीति के पूर्ण आवर्तन (Thorough Re orientation) की माँग की है। श्री देशमुख ने एक राष्ट्रीय खाद्य उत्पादन समिति (National Food Production Council) की स्थापना की माँग की है,[3] जो ग्रामीण स्तर पर खाद्य उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करे तथा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उचित संगठन की रचना करे। उन्होने इस समस्या को हल करने के लिए राजनीति-रहित प्रयत्न (Non-political approach) की माँग की है। अन्त मे, यह ध्यान रखना चाहिए कि खाद्य उत्पादन की कोई भी योजना बिना लाखो किसानो के सहयोग के प्राप्त नही की जा सकती। सरकार द्वारा कृषक और कृषि मे सुधार, जैसे—कुँए खोदने और उनकी मरम्मत करने, नल कूप लगाने, किसानो को रसायनिक खादो एव अन्य खाद तथा अच्छे बीजो का वितरण, मछली पालन योजनायें, मेड बाँधने, बेकार जमीन को साफ करने और उसे खेती योग्य बनाने, पौधों की रक्षा और उन्हे रोगो से

---

1. नवभारत टाइम्स, अगस्त, २७, १९६०।
2. Eastern Economist, August 12, 1960
3. Commerce dated 9th August, 1958.

मर्थ होता है, इसलिए वह फसल को शीघ्र ही बेच देता है। तीसरे, जैसा अन्यत्र देख चुके है, भारतीय किसान के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए होने से उसकी आय भी बहुत थोडी है, जो उसकी दैनिक आवश्यकताओ के लिए भी पूरी नही होती।

कृषि साख के स्रोत—

किसान को अपने कृषि कार्य के लिए ऋण पर ही निर्भर रहना पडता है तो प्रश्न यह उठता है। कि यह ऋण किन किन स्रोतो से प्राप्त होता है। जहा तक बैंकों का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओं के लिए वह उन पर निर्भर नही रह सकता, क्योकि बैंक जो भी कर्ज देते हैं वह ऋणी की वैयक्तिक साख तथा अन्य वस्तुओ की रहन पर देते है। किन्तु भारतीय कृषक के पास रहन रखने के लिए केवल थोडी सी भूमि, पशु तथा खेती के औजार होते हैं, जिनको वह किसी भी दशा मे बेच नही सकता। फिर भूमि रहन रखने मे अनेक सामाजिक व कानूनी कठिनाइयाँ हैं तथा उसका मूल्य निकालने के लिए विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, क्योकि खेती की भूमि का मूल्य अनेक बातो पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगाया हुआ धन एक प्रकार से बध सा जाता है, अतः साधारणतया व्यापारिक बैंक इस सम्पत्ति की जमानत पर कर्ज भी नही देते। वैयक्तिक साख उनके आर्थिक साधनों एव स्थायी पूँजी पर निर्भर होती है, जो नही के बराबर है, अतः व्यापारिक बैंक की दृष्टि से किसानो की वैयक्तिक साख नगण्य है। इस कारण किसान को व्यापारिक बैंको से आर्थिक सहायता नही मिलती।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के प्रस्ताव के अनुसार सयुक्त स्कंध बैंक भू रहन बैंकों का कार्य भी अपने दीर्घ कालीन ऋण-पत्र निकाल कर कर सकते हैं तथा किसानो को कर्ज दे सकते है। इस सम्बन्ध मे समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार को चाहिए कि वे उनकी पूँजी का कुछ भाग दें तथा लाभाश एव पूँजी की वापसी के विषय मे अपनी जमानत देकर जनता में विश्वास उत्पन्न करें। इससे ऐसे व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हो सके, परन्तु इस दिशा मे सरकार की ओर से कोई कार्यवाही नही की गई।

अन्य संस्थायें—

(१) स्वदेशी बैंकर एव महाजन—आज भी कृषि की अर्थपूर्ति करने मे स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये कृषक की कुल आर्थिक आवश्यकताओ के लगभग ६४% अर्थ की पूर्ति करते है, क्योकि व्यापारिक बैंक जो भी कुल अल्पकालीन ऋण देते है, उनका लाभ केवल गाँव के बडे-बडे जमीदारो को ही मिलता है, जिनकी सख्या बहुत कम है। सहकारी साख समितियो की स्थापना से भी बडी-बडी आशायें थी, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उनकी कार्य पद्धति में औपचारिकता का भाग अधिक होने एव ऋण लेने मे असुविधा होने के कारण कृषक उनमे पूर्णतया लाभ नही उठा पाता। इतना ही नही, अपितु भारत की ग्रामीण

क्षेत्रीकरण की व्यवस्था तब लागू की गई थी जब देश मे अन्न की कमी और महंगाई थी। सन्देह है कि देश आज भी अन्न के विषय मे आत्म-निर्भर नही हो पाया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि पूर्वापेक्षा-स्थिति अधिक अनुकूल हुई है। यह ठीक है कि सन् १९५९-६० के वर्ष मे उतना अन्नोत्पादन नही हो सका जितना सन् १९५८-५९ मे (७ करोड ३५ लाख टन) हुआ था, किन्तु सन् १९६० मे अन्न के उज्ज्वल भविष्य की आशा तथा विदेशी सहायता से अन्न विषयक अनुकूल स्थिति बनने में बहुत सहायता मिली है। खाद्य तथा कृषि उपमन्त्री श्री थोमस के अनुसार चावल तथा खरीफ की अन्य फसलो के मूल्य मे भले ही वृद्धि हुई हो, किन्तु गेहूँ का जो मूल्य सूचक अंक अप्रैल मे ९१ था वह मई मे ८७ पर आ गया और जून में भी वही रहा है। गेहूँ के सम्बन्ध मे यह सुधरती स्थिति अब क्षेत्रीकरण की आवश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर रही है।

चावल के विषय मे अभी ६-७ मास पूर्व पश्चिमी बंगाल और उडीसा का एक क्षेत्र बनाया गया था और अभी गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश को भी एक अन्न क्षेत्र बनाये जाने पर विचार किया जा रहा है, किन्तु जहाँ तक गेहूँ का प्रश्न है, देश में उसकी ऐसी कोई कमी नही है जिससे उसके विषय मे भी क्षेत्रीकरण की आवश्यकता हो। अभी कुछ समय पूर्व भारत और अमरीका के बीच जो गेहूँ समझौता हुआ है उसके अनुसार भारत को अमरीका से चार वर्षों के भीतर १ करोड़ ७० लाख टन अन्न मिलने वाला है। इस अन्न में चावल की मात्रा अवश्य बहुत कम है, किन्तु गेहूँ का जो भाग है वह न केवल अन्न की महंगाई और कमी को दूर करने मे सहायक होगा, अपितु उससे अन्न विषयक किसी सकटकाल का भी मुकाबला किया जा सकेगा।

श्री पाटिल का कथन है कि समस्त देश एक ही अन्न क्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धान्ततः उचित भी है। जब सारा देश एक है तो उसके सब हिस्सो के सुख दुख भी बटने चाहिए। एक प्रदेश के लोग खूब खा-पीकर चैन करें और दूसरे अन्नाभाव के कारण घास फूस खाकर जीवन व्यतीत करते हों, यह अपने को एक एव अखड कहने वाले देश के लिए किसी भी प्रकार क्षम्य नही। इसलिए सबके लिए समान रूप से अन्न वितरण की व्यवस्था करके क्षेत्रीकरण को जितनी भी जल्दी विदा दी जाय उतना ही अच्छा है। आज अन्न का जो अनुचित सग्रह तथा चोरी छिपे यातायात चल रहा है वह भी इससे समाप्त हो जायगा।

गेहूँ की अनुकूल स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए उसके क्षेत्रीकरण की समाप्ति तो उचित है, परन्तु उसके साथ ही ऐसी निर्दोष व्यवस्था की भी आवश्यकता है कि इसके पुनः जारी करने की नौबत न आये। वह तभी सम्भव है जब देश मे अन्नोत्पादन की गति को तीव्र से तीव्रतर किया जाय और वितरण से मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय।

अध्याय १४

भारत में कृषि उत्पादन

(Crops in India)

कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार है। हमारी ७२ प्रतिशत जन-संख्या भूमि पर निर्भर है और हमारी ५० प्रतिशत राष्ट्रीय आय कृषि एवं उससे सम्बन्धित क्रियाओं से प्राप्त होती है। कृषि उत्पादन पर्याप्त मात्रा में निर्यात होता है, जिससे हमें विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। शक्कर और वस्त्र उद्योग जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर ही आधारित हैं। लाख के उत्पादन में तो भारत को लगभग एकाधिकार है तथा चाय और मूँगफली के उत्पादन में विश्व में सर्व प्रथम है। संसार के चावल, जूट, कच्ची शक्कर, आदि के उत्पादन में भारत का स्थान दूसरा है।

भारत का सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्रफल ८०·६३ करोड़ एकड़ है, जिसमें से ८·६८ *करोड़ एकड़ भूमि के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं होती। केवल* ७१·९५ करोड़ एकड़ अथवा ८९ प्रतिशत भूमि के उपयोग के आँकड़े उपलब्ध हैं। सन् १९५०-५१ तथा सन् १९५५-५६ में भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार था :—

	१९५०–५१ करोड़ एकड़	१९५५–५६ करोड़ एकड़
वन प्रदेश	१०·००	१२·५४
भूमि जो कृषि के लिए उपलब्ध नहीं है	११·७४	११·८२
परती भूमि को छोड़ कर वह भूमि जिस पर कृषि नहीं होती	१२·२२	९·६४
परती भूमि (अ) वर्तमान	२·६४	३·०३
(ब) अन्य	४·३१	२·९४
वह क्षेत्र जिस पर बोआई होती है	२९·३४	३१·९८
कुल भूमि जिस पर फसल काटी गई	३२·५९	३६·३३
एक बार से अधिक बोया हुआ क्षेत्रफल	३·२५	५·३५

उक्त आँकड़ों से पता चलता है कि वन प्रदेश और परती भूमि को मिलाकर लगभग ५० प्रतिशत भूमि कृषि के लिए उपलब्ध नहीं है। बोये जाने वाले क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। लगभग १५ प्रतिशत भूमि ऐसी है जो परती है, किन्तु जिस पर सुधार

करके कृषि की जा सकती है। यद्यपि बोये गये क्षेत्रफल में वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु गत तीस वर्षों में प्रति व्यक्ति बोये गये क्षेत्रफल में कमी हुई है, क्योंकि क्षेत्रफल के अनुपात में जन-संख्या तीव्र गति से बढ़ रही है।

फसलों का सापेक्षिक महत्त्व—

भारत में उत्पादित कृषि पदार्थों की दो प्रमुख विशेषताएँ है :—

(अ) फसलों की विविधता।

(ब) अखाद्य फसलों की अपेक्षा खाद्य फसलों की अधिकता।

सन् १९५५-५६ में ८२ प्रतिशत भूमि पर खाद्य पदार्थ उत्पन्न किये जाते थे, जबकि व्यापारिक फसलें केवल १८ प्रतिशत भूमि पर उत्पन्न होती थीं। ऐसा अनुमान है कि प्रथम योजना के अन्त में २७'४ करोड़ एकड़ भूमि पर खाद्य पदार्थ, गन्ना, तम्बाकू, दालें आदि उत्पन्न की जाती थीं और अखाद्य फसलें तेल के बीज, चाय आदि का उत्पादन केवल ६'४ करोड़ एकड़ भूमि पर होता था।

सन् १९५५-५६*

	क्षेत्रफल लाख एकड़
चावल	७६३
गेहूँ	२९२
ज्वार, बाजरा आदि	१,०५५
दालें	५५०
मूँगफली	१२६
गन्ना	४५
कपास	२०२
जूट	२२

उक्त सारिणी से स्पष्ट है कि खाद्य पदार्थ विशेषकर गेहूँ और चावल का अत्यधिक महत्त्व है और देश की अर्थव्यवस्था में उचित सन्तुलन का अभाव है। यह एक अत्यन्त दुखद बात है कि खाद्य उत्पादन में देश की तीन चौथाई जन संख्या और ⅔ भूमि से लगे रहने पर भी खाद्य पदार्थों का अभाव है और आयातों की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है।

देश के अधिकांश भाग में दो फसलें पैदा होती हैं—खरीफ और रबी। खरीफ की फसलों में चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना, उर्द, मूँग और मूँगफली हैं। यह बरसात की फसल है। रबी की फसल में मुख्यतः गेहूँ, चना, जौ, मटर, सरसों को सम्मिलित किया जाता है। रबी जाड़े की फसल है। चावल विभिन्न राज्यों में

* Indian Agriculture in brief 1956.

गर्मी, शीत और शरद तीनों ऋतुओं में उत्पन्न किया जाता है। भारतीय फसलों को सरलता से निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

(अ) खाद्य फसलें—गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, बाजरा, दालें आदि।

(ब) तिलहन—मूँगफली, तिल, सरसों, अलसी, राई आदि।

(स) रेशेदार पदार्थ (Fibres)—कपास, जूट।

(द) पेय (Beverages)—चाय, कहवा।

(इ) अन्य—सिनकोना, रबर, मसाले, तम्बाकू, सुपारी आदि।

खाद्य फसलें—

(१) चावल—यह भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसल है। यह निचले, अधिक वर्षा वाले तथा गर्म प्रान्त में बोया जाता है। यह ठंड की फसल है और साधारणतः दिसम्बर-जनवरी में काटी जाती है, परन्तु कांगड़ा की पहाड़ी और काश्मीर की घाटी जैसे ठंडे स्थानों में यह गर्मी में उत्पन्न किया जाता है। देश में चावल ७·८२ करोड़ एकड़ भूमि पर बोया जाता है, जो कुल बोई जाने वाली भूमि का लगभग एक-चौथाई है। यह दक्षिण एवं पूर्वी प्रदेशों में अधिक होता है, क्योंकि वहाँ इसके अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। चावल उत्पादन करने वाले प्रमुख प्रदेश बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर-प्रदेश, मद्रास, आसाम, उड़ीसा, केरल और मध्य-प्रदेश हैं।

गत वर्षों में चावल का उत्पादन एवं क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है :—[1]

वर्ष	लाख एकड़	लाख टन
१९४७-४८	६४७	२१७
१९५३-५४	७७३	२७८
१९५४-५५	७५९	२४५
१९५५-५६	७६९	२६८
१९५६-५७	७८२	२८१
१९५७-५८	७९०	२४९
१९५८-५९	—	२९७[2]

भारत में चावल की स्थिति सन् १९३६ तक सतोषप्रद थी, परन्तु सन् १९३७ में बर्मा के पृथक होने के कारण हमारे आन्तरिक उत्पादन में १३ लाख टन की कमी हो गई। द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होने के समय सन् १९३९-४० में हम १८ लाख टन चावल का आयात करते थे, जो मुख्यतः बर्मा से होता था।

सन् १९४९ में दक्षिण-पूर्वी एशिया में चावल का उत्पादन बढ़ाने और वितरण व्यवस्था में सुधार करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय चावल आयोग ने सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया और निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :—

1. India 1958 & 59.
२. सम्पदा—अप्रैल सन् १९६०।

(अ) उत्तम प्रकार के बीजों का प्रयोग किया जाय।

(ब) फसलों और बीजों के रोगों पर नियन्त्रण रखा जाय।

(स) कृषि का यन्त्रीकरण हो।

(द) भूमि, जलवायु, खाद के प्रयोग एवं सिंचाई सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्र की जायें।

(इ) चावल का प्रमापीकरण किया जाय एवं उत्तम भंडार गृहों की व्यवस्था की जाय।

(फ) उप उत्पादनों का उपयोग किया जाय एवं अनुसन्धानशालाओं की स्थापना की जाय।

यद्यपि भारत का स्थान विश्व के चावल उत्पादकों में चीन के पश्चात् द्वितीय है, किन्तु हमारा प्रति एकड़ उत्पादन अत्यन्त कम है। हमारे यहाँ प्रति एकड़ उत्पादन ६१८ पौंड है, जबकि जापान में प्रति एकड़ उत्पादन २,३५० पौंड एवं इटली में २,९४० पौंड है। प्रति एकड़ उपज में कमी के निम्न प्रमुख कारण हैं :—

(१) निश्चित जल पूर्ति का अभाव।

(२) भूमि कम उपजाऊ होना।

(३) उत्तम बीजों का अभाव।

(४) फसली बीमारियाँ।

हमारे यहाँ चावल को बिखेर कर अथवा पौधा लगाकर बोया जाता है, परन्तु गत वर्षों में जापानी पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है। जबकि भारतीय पद्धति से प्रति एकड़ उत्पादन ९ मन होता है, जापानी पद्धति से प्रति एकड़ १४० मन तक प्राप्त किया जा सकता है। सन् १९५५ में १३ लाख एकड़ भूमि पर जापानी पद्धति से कृषि की गई, परिणामस्वरूप ६ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन हुआ।

गत वर्षों में चावल का आयात इस प्रकार रहा है* :—

१९५४	६०३	*हजार टन*
१९५५	२६५	,,
१९५६	३२५	,,
१९५७	७३१	,,
१९५८	३९०	,,

सन् १९५७ में उत्पादन की कमी और परिणामस्वरूप आयात में वृद्धि का प्रमुख कारण मध्य एवं उत्तरी-पूर्वी भारत में मानसून का फेल होना है। इस वर्ष बिहार का उत्पादन १५ लाख टन, मध्य-प्रदेश १२ लाख, उड़ीसा ५ लाख

* India 1960.

और पश्चिमी बंगाल का उत्पादन ४ लाख टन कम रहा।[1] सन् १९५८-५९ की फसल के विषय मे प्राप्त सूचनाओं के अनुसार स्थिति में सुधार की आशा है।

(१) गेहूँ—क्षेत्रफल और उत्पादन की दृष्टि से इसका स्थान चावल के बाद आता है। इसका उत्पादन २०-३० इञ्च वर्षा एव दुमट मिट्टी वाले क्षेत्रों में अच्छी तरह होता है। यदि सिंचाई के साधन उपलब्ध हो तो यह इससे कम वर्षा वाले प्रदेशों मे भी उत्पन्न किया जा सकता है। इसके उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, बम्बई, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश हैं। केवल उत्तर-प्रदेश और पंजाब में सम्पूर्ण भारत का तीन-चौथाई गेहूँ उत्पन्न होता है। गत वर्षों मे गेहूँ का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—[2]

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड़	उत्पादन लाख टन
१९४७-४८	२०८	५६
१९५२-५३	२४२	७४
१९५३-५४	२६३	७९
१९५४-५५	२७५	८८
१९५५-५६	३०३	८९
१९५६-५७	३२८	९३
१९५७-५८	२९७	७९·५४

उक्त आँकड़ो से पता चलता कि गेहूँ की खेती मे विकास हो रहा है, परन्तु अन्य देशो की तुलना मे हमारी स्थिति निश्चित ही असन्तोषप्रद है। विदेशो में प्रति एकड़ उत्पादन इस प्रकार है :—

भारत	३४० पौंड
कनाडा	९७५ ,,
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	८५० ,,
आस्ट्रेलिया	७१० ,,
अर्जेन्टाइना	७८० ,,

भारतीय उपज कम होने का प्रमुख कारण यन्त्रीकरण का अभाव, उत्तम बीज *की कमी, आर्थिक कठिनाइयाँ एवं कृषकों का अशिक्षित होना है। डा० वर्स ने अनुमान* लगाया है कि प्रति वर्ष ५% गेहूँ रतुआ (Rust) लग जाने से नष्ट हो जाता है और रोग ग्रस्त क्षेत्रो मे तो यह हानि १००% तक पहुँच जाती है। स्मट (Smut) नामक

1. Journal of Industry & Trade July 1958.
2. India—1960.

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पंजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक स्पष्ट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १९४७ मे विभाजन के कारण पंजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए और हमारे आयातो की मात्रा बढती गई। गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	२,८८० ,,
१९५८	२,६७४

सरकार ने गेहूँ की खेती मे सुधार हेतु कुछ क्षेत्रों को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रो का प्रयोग, सिंचाई मे विकास, उत्तम बीज एवं रसायनिकखादो का प्रयोग करके उत्पादन बढाया जा रहा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत मे गेहूँ के साथ साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियों द्वारा खाने मे प्रयुक्त होता है। जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है। सन् १९५७-५८ मे ७५·३१ लाख एकड भूमि पर २१·७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पंजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने मे किया जाता है। भारत मे विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश मे प्रति एकड उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जबकि डेनमार्क मे २,६५६, जर्मनी मे १,९३२, इङ्गलैड और जापान में प्रति एकड उत्पादन १,९१६ पौंड होता है। भारत मे विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत मे होता है, परन्तु गर्म सूखे भागो मे इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण मे बहुत होता है। सन् १९५६–५७ में ज्वार ४१३·१४ लाख एकड पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४·२७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र मे होता है। कुछ उत्पादन पंजाब और राजस्थान में भी होता है।

1 India 1959.

2. The Second Five YearPlan, p. 257.

बाजरा मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश और पंजाब में होता है। सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २७५·४ लाख एकड पर २९·२६ लाख टन रहा। नागपुर, इन्दौर और कोयम्बटूर में किये गए अनुसन्धानो के फलस्वरूप अब इसकी किस्म में सुधार हो रहा है।

ज्वार, बाजरा, रागी और मक्का के सन् १९५७-५८ के अन्तिम अनुमान (Final Estimates) इस प्रकार है* :—

	उत्पादन क्षेत्र	क्षेत्रफल
	हजार टन	हजार एकड़
ज्वार	८,०५६	४१,४११
बाजरा	३,५६५	२७,४५३
मक्का	३,०६४	६,७६२
रागी	१,७१६	५,८६७

मक्का उत्तर भारत के निर्धन व्यक्तियों का प्रमुख भोजन है और उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र है। इसका उपयोग पशुओं को खिलाने मे भी किया जाता है।

(५) दाले (Pulses)—भारतीय भोजन में चना, उडद, मसूर, मूँग और अरहर की दालें एक अत्यन्त आवश्यक अंग है तथा प्रोटीन के प्रमुख साधन हैं। ये इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि चावल मे, जो भारत की एक महत्त्वपूर्ण भोज्य सामग्री है, प्रोटीन नही होता। फसलो के हेर फेर की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये वायुमण्डल से नाइट्रोजन सकलित करती और भूमि को उपयोगी तत्त्व प्रदान करती है। दालो को चारे और हरी खाद के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है।

दालो में चना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उत्तर-प्रदेश में बहुतायत से होता है। चना बिहार, पजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र और मैसूर मे भी उत्पन्न किया जाता है। अधिकाश चने का उपयोग देश में ही हो जाता है, अतः इसका निर्यात महत्त्वपूर्ण नही है।

अरहर का उत्पादन मध्य-प्रदेश मे प्रमुख है, यद्यपि अन्य प्रान्तो मे इसका उत्पादन होता है। साधारणतः इसका उत्पादन अन्य फसलो के साथ किया जाता है।

सन् १९४० मे राजकीय कृषि अनुसन्धान संस्था ने दालो की किस्म में सुधार करने और सयुक्त कृषि (Mixed Cropping) का विकास करने हेतु एक विशेष समिति गठित की थी। गत वर्षों मे दालों का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

---

*India, 1959.

एक अन्य रोग भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। पजाब कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने एक स्मट निरोधक उपाय की खोज की है, जिसका प्रयोग किया जा रहा है।

प्रथम युद्ध काल तक हम गेहूँ को निर्यात करते थे, परन्तु उसके बाद स्थिति प्रतिकूल होती गई। सन् १९४७ मे विभाजन के कारण पजाब और सिंध के उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए और हमारे आयातो की मात्रा बढती गई। गत वर्षों में गेहूँ का आयात इस प्रकार रहा :—[1]

१९५३	१,६८४ हजार टन
१९५४	१९७ ,,
१९५५	४३५ ,,
१९५६	१,०९५ ,,
१९५७	३,५८० ,,
१९५८	२,६७४

सरकार ने गेहूँ की खेती मे सुधार हेतु कुछ क्षेत्रो को गहरी खेती प्रारम्भ करने के लिए चुना है। कृषि यन्त्रो का प्रयोग, सिंचाई मे विकास, उत्तम बीज एवं रसायनिक खादो का प्रयोग करके उत्पादन बढाया जा रहा है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बीस लाख टन अतिरिक्त गेहूँ उत्पन्न करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[2]

(३) जौ (Barley)—भारत मे गेहूँ के साथ-साथ जौ भी बोया जाता है। यह गेहूँ से मिलता-जुलता मोटा अन्न है और निर्धन वर्ग के व्यक्तियो द्वारा खाने मे प्रयुक्त होता है। जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है। सन् १९५७-५८ में ७५·३१ लाख एकड भूमि पर २१·७५ लाख टन जौ उत्पन्न हुआ। इसका दो-तिहाई उत्तर-प्रदेश में और शेष राजस्थान, पजाब तथा बिहार में उत्पन्न होता है। इसका उपयोग माल्ट और बीयर नामक शराब बनाने मे किया जाता है। भारत मे विश्व के जौ उत्पादन का केवल ५% उत्पन्न होता है। हमारे देश में प्रति एकड उत्पादन केवल ८०२ पौंड है, जबकि डेनमार्क मे २,६५६, जर्मनी मे १,९३२, इङ्गलैड और जापान में प्रति एकड उत्पादन १,९१६ पौंड होता है। भारत मे विभाजन के पश्चात इसका कुछ आयात हुआ था, पर अब आयात बन्द है।

(४) ज्वार, बाजरा, रागी (Millets)—इनका उत्पादन लगभग सारे भारत मे होता है, परन्तु गर्म सूखे भागो मे इनकी उपज अधिक होती है। यह खरीफ की फसल है। ज्वार का उत्पादन दक्षिण मे बहुत होता है। सन् १९५६–५७ में ज्वार ४१३·१४ लाख एकड पर उत्पन्न की गई और कुल उत्पादन ७४·२७ लाख टन रहा। इसका आधे से अधिक उत्पादन बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश और आन्ध्र मे होता है। कुछ उत्पादन पजाब और राजस्थान में भी होता है।

1. India 1959.
2. The Second Five Year Plan. p. 257.

बाजरा मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश और पंजाब में होता है। सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २७५'४ लाख एकड़ पर २९'२६ लाख टन रहा। नागपुर, इन्दौर और कोयम्बटूर में किये गए अनुसन्धानों के फलस्वरूप अब इसकी किस्म मे सुधार हो रहा है।

ज्वार, बाजरा, रागी और मक्का के सन् १९५७-५८ के अन्तिम अनुमान (Final Estimates) इस प्रकार हैं* :—

	उत्पादन क्षेत्र	क्षेत्रफल
	हजार टन	हजार एकड़
ज्वार	८,०५६	४१,४११
बाजरा	३,५६५	२७,४५३
मक्का	३,०६४	९,७६२
रागी	१,७१६	५,८९७

मक्का उत्तर भारत के निर्धन व्यक्तियों का प्रमुख भोजन है और उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र है। इसका उपयोग पशुओं को खिलाने में भी किया जाता है।

(५) दालें (Pulses)—भारतीय भोजन में चना, उड़द, मसूर, मूंग और अरहर की दालें एक अत्यन्त आवश्यक अंग है तथा प्रोटीन के प्रमुख साधन हैं। ये इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि चावल मे, जो भारत की एक महत्त्वपूर्ण भोजन सामग्री है, प्रोटीन नहीं होता। फसलों के हेर फेर की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये वायुमण्डल से नाइट्रोजन सकलित करती और भूमि को उपयोगी तत्त्व प्रदान करती हैं। दालो को चारे और हरी खाद के रूप मे भी उपयोग मे लाया जाता है।

दालो में चना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उत्तर-प्रदेश मे बहुतायत से होता है। चना बिहार, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र और मैसूर मे भी उत्पन्न किया जाता है। अधिकांश चने का उपयोग देश में ही हो जाता है, अतः इसका निर्यात महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अरहर का उत्पादन मध्य-प्रदेश मे प्रमुख है, यद्यपि अन्य प्रान्तों मे इसका उत्पादन होता है। साधारणतः इसका उत्पादन अन्य फसलो के साथ किया जाता है।

सन् १९४० मे राजकीय कृषि अनुसन्धान संस्था ने दालो की किस्म में सुधार करने और संयुक्त कृषि (Mixed Cropping) का विकास करने हेतु एक विशेष समिति गठित की थी। गत वर्षों मे दालो का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

*India, 1959.

(हजार टन)

वर्ष	चना	अरहर	अन्य दालें
१६५३–५४	४,७५६	१,८३४	३,८६०
१६५४–५५	५,५३२	१,६६२	३,५५३
१६५५–५६	५,३३२	१,८३२	३,७०७
१६५६–५७	६,२६४	१,६५४	३,२८५
१६५७–५८	४,७५४	१,३६६	३,०६६

गत वर्षों में हमारे कुल उत्पादन के साथ-साथ प्रति एकड उत्पादन मे भी वृद्धि हुई है। सन् १६५०-५१ मे हमारा प्रति एकड उत्पादन २६१ पौंड था। सन् १६५५ ५६ मे यह बढकर ४६० पौंड प्रति एकड हो गया है।

(६) गन्ना (Sugar Cane)—भारत मे गन्ने का क्षेत्रफल ससार मे सबसे अधिक है, यद्यपि इसका उत्पादन सम्पूर्ण भारत मे होता है, किन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल, पजाब और बम्बई इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र है। केवल उत्तर-प्रदेश मे भारत का ५० प्रतिशत गन्ना उत्पन्न होता है। सन् १६३० तक हम मुख्यतः आयात की हुई शक्कर का उपयोग करते थे, परन्तु सरकार द्वारा शक्कर उद्योग को सरक्षण प्रदान किया गया, जिसके फलस्वरूप गन्ने के उत्पादन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सन् १६३० में गन्ना केवल २७·८ लाख एकड भूमि पर उत्पन्न होता था। सन् १६३६-३७ में यह बढकर ४०·५ लाख एकड हो गया तथा सन् १६५६-५७ में गन्ने का क्षेत्रफल ५०·१६ लाख एकड था। गत वर्षों में गन्ने का उत्पादन और क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है*:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड़	उत्पादन लाख टन
१६५३–५४	३४·८५	४३७·०६
१६५४–५५	३६·६६	५७८·११
१६५५–५६	४५·६४	५६५·८७
१६५६–५७	५०·६७	६६१·६८
१६५७–५८	५०·२१	६४१·४२

यद्यपि गन्ने का क्षेत्रफल भारत में बहुत अधिक है, प्रति एकड उत्पादन अन्य देशों की तुलना में कम है। भारत की तुलना अन्य देशो से इस प्रकार की जा सकती है :—

* India 1959.

भारत	१३·५ टन प्रति एकड़
क्यूबा	१७·०
जावा	५६·०
आस्ट्रेलिया	२१·०
हवाई द्वीप	६२·०

प्रति एकड उत्पादन मे कमी का कारण अवैज्ञानिक कृषि, भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ो मे विभक्त होना, यन्त्रीकरण का अभाव एवं खाद की कमी है। उत्पादन की किस्म में सुधार करने हेतु कोयम्बटूर मे एक गन्ना उत्पादन केन्द्र खोला गया है तथा राज्य कृषि विभाग भी सुधार के प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही हम गन्ने के उत्पादन मे आत्मनिर्भर हो जायेंगे। लखनऊ में एक अनुसन्धानशाला प्रारम्भ की गई है, जिस पर ७ लाख रुपये व्यय किये गए है। यह एशिया मे सबसे बड़ा है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे १० लाख एकड अतिरिक्त भूमि पर गन्ने की खेती की जायगी।

(७) आलू (Potato)—गत कुछ वर्षों में आलू का उत्पादन भी महत्व प्राप्त करने लगा है। सन् १६४८-४६ मे केवल १५ लाख टन आलू भारत में उत्पन्न होता था। सन् १६५६-५७ मे आलू का उत्पादन[1] १६·७४ लाख टन था। प्राप्त अनुमानो के अनुसार[2] सन् १६५७-५८ मे ७·६६ लाख एकड़ भूमि पर आलू की खेती की गई।

अखाद्य फसलें—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भारत के उत्पादन मे खाद्य पदार्थों की बहुलता है। सन् १६५५-५६ मे केवल २,६६० लाख एकड भूमि अथवा कृषि क्षेत्रफल के केवल १६ प्रतिशत पर व्यापारिक फसलें उत्पन्न की जाती थी। गत वर्षों मे व्यापारिक फसलो के क्षेत्रफल एवं अन्य फसलो के साथ उनके अनुपात मे भी वृद्धि हुई है। प्रमुख व्यापारिक फसलो की स्थिति इस प्रकार है :—

(१) कपास—कपास उत्पन्न करने वाले देशो मे भारत का स्थान विश्व में दूसरा है, परन्तु हम संसार के कुल उत्पादन का केवल २० प्रतिशत ही उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा भारतीय कपास प्रायः छोटे रेशे की होती है और साधारण कपड़ों के उत्पादन में प्रयुक्त होती है। कपास के उत्पादन पर जलवायु का बहुत प्रभाव पड़ता है। इसके लिए काली मिट्टी, साधारण वर्षा एवं अधिक तापमान की आवश्यकता होती है। पकने के समय बादल एवं कुहरा इसको अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। कपास का उत्पादन मुख्यतः बम्बई विशेषकर बरार, मध्य-प्रदेश, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, आन्ध्र, राजस्थान

---

1. Commeree dated 23rd August 1958.
2. Indian Information 1st Oct. 1958.

और मैसूर मे होता है। कपास का आधा क्षेत्रफल केवल बम्बई और मध्य-प्रदेश में है। गत वर्षों मे कपास का उत्पादन एवं क्षेत्रफल इस प्रकार रहा है[1]:—

वर्ष	क्षेत्रफल लाख एकड	उत्पादन लाख गाँठ
१९५४-५५	१८७	४१·२७
१९५५-५६	१९९	४०·२०
१९५६-५७	१९८	४७·३५
१९५७ ५८	२०२	४७·३९
१९५८-५९	—	४७·०५

इस प्रकार गत वर्ष की तुलना मे क्षेत्रफल मे १·३% तथा उत्पादन मे ०·४% की वृद्धि हुई। क्षेत्रफल मे वृद्धि मुख्यतः बम्बई, पंजाब और मध्य-प्रदेश में हुई तथा उत्पादन वृद्धि मे प्रमुख योग राजस्थान, मद्रास और पंजाब का रहा। इस वर्ष ४५ लाख गाँठो का उत्पादन होगा, ऐसा अनुमान है।

भारतीय रुई की किस्म और उत्पादन मे सुधार हेतु सन् १९१७ में भारतीय कपास समिति की स्थापना की गई और सन् १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की स्थापना की गई। रुई में मिलावट रोकने के लिए सन १९२३ में कपास यातायात अधिनियम भी पास किया गया तथा विक्रय की दशाओं में सुधार करने हेतु बम्बई, मध्य-प्रदेश और मद्रास में कपास विपणि अधिनियम पास किये गये।

विभाजन के परिणामस्वरूप लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाले पंजाब और सिन्ध के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। अतः भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने यह सिफारिश की कि कपास के क्षेत्रफल में यथाशीघ्र ४० लाख एकड की वृद्धि की जाय और उसे सन् १९४६-४७ में ११५ लाख से बढा कर १५५ लाख कर दिया जाय। सन् १९४८-४९ में हमारे उत्पादन का केवल १७·५% भाग लम्बे रेशे का होता था। सन् १९५६-५७ में लम्बे रेशे का उत्पादन बढ कर ४२·५% हो गया। गत वर्षों में किस्म के अनुसार कपास का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :—[2]

किस्म	१९५४ ५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७ ५८	१९५८-५९
A	३६%	३८%	४२·५०%	३७%	३५%
B	४५%	४४%	४१२·५%	४५%	४६%
C	१९%	१७%	१६·२५%	१८%	१९%

1. India 1954.
2. Commerce Annual Number Dec. 1959, page 205.

सितम्बर सन् १९५७ से अप्रैल सन् १९५८ तक आठ महीनों में भारतीय मिलों द्वारा ३३·८३ लाख गाँठ कपास का उपभोग किया गया, जिसमे लगभग ४ लाख गाँठ विदेशी कपास था। गत वर्ष मे हमारे देश में कपास के आयात-निर्यात की स्थिति इस प्रकार रही है :—†

(हजार गाँठ)

आयात	मि० गाँठें
१९५४-५५	०·६२
१९५५-५६	०·६०
१९५६-५७	०·५७
१९५७-५८	०·५६
१९५८-५९	०·४५

निर्यात की स्थिति भी अच्छी रही, क्योंकि सन् १९५७-५८ में जहाँ केवल १,९२,००० गाँठो का निर्यात हुआ था वहाँ सन् १९५८-५९ मे ३,९५,००० गाँठों का निर्यात हुआ।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना मे सन् १९५५-५६ मे होने वाले ४० लाख गाँठ उत्पादन को बढा कर सन् १९६०-६१ में ५५ लाख गांठ करना निश्चित किया गया था। परन्तु गत वर्षों मे हमारे घरेलू उपभोग में अत्यधिक वृद्धि हुई है, अतः जून सन् १९५६ मे मंसूरी में प्रान्तीय कृषि मंत्रियों की बैठक मे इस लक्ष्य को बढाकर ६१ लाख गांठ कर दिया गया। नवम्बर सन् १९५७ मे केन्द्रीय कपास समिति की माँग पर योजना आयोग द्वारा यह लक्ष्य बढाकर अब ६५ लाख गांठ कर दिया गया है। परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने मे यदि प्रकृति सहानुभूतिपूर्ण रही तभी लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे। क्योकि सन् १९५९-६० मे ५·२ से ५·४ मि० गांठो का उत्पादन अपेक्षित था। परन्तु जल वायु की क्रूरता के कारण रुई का उत्पादन केवल ४·५ मि० गाठें होने का अनुमान है।

(२) जूट—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से जूट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बंगाल और आसाम प्रान्त में गंगा और ब्रह्मपुत्र के डेल्टा मे तथा बिहार और उड़ीसा मे नदियों द्वारा बहाकर लाई हुई उपजाऊ भूमि मे होता है। यह खरीफ की फसल है और इसका पौधा लगभग १२ फुट ऊँचा होता है। इसके लिए अधिक गर्मी और अधिक पानी की आवश्यकता होती है।

विभाजन से पहले जूट उत्पादन में भारत को एकाधिकार था, परन्तु विभाजन के फलस्वरूप जूट का तीन-चौथाई क्षेत्रफल पाकिस्तान में चला गया और हमे लगभग ५० लाख गाठ जूट के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ा। भारतीय रुपये के अवमूल्यन

† Commerce annual number, December 1959.

से पाकिस्तानी जूट और भी महँगा पड़ने लगा, अतः भारतीय जूट उत्पादन में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। सरकार ने जूट उत्पादन में वृद्धि करने हेतु रासायनिक खादों का वितरण, उत्तम बीजों की व्यवस्था, जूट धोने और भिगोने के लिए तालाबों के निर्माण एवं दुहरी फसल बोने को प्रोत्साहन दिया। गत वर्षों में जूट का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

वर्ष	लाख गाँठ
१९५३-५४	३०·६
१९५४-५५	२९·३
१९५५-५६	४१·६
१९५६-५७	४२·२
१९५७-५८	४०·५ [1]
१९५८-५९	५१·८ [1]
१९५९-६०	४३·०२[2]

१२ जनवरी सन् १९५७ को प्रान्तीय कृषि विभाग के सचिवों का एक सम्मेलन हुआ, जिसने उत्तम बीज, कृषि पद्धति के आधुनिकीकरण एवं खाद के प्रयोग सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये तथा जूट सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन हेतु गठित सेन समिति ने जूट उत्पादन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये और अनुमान लगाया कि यदि द्वितीय योजना में निर्धारित ५५·४ लाख गाँठ का लक्ष्य प्राप्त भी हो जाय तो भी बढ़ती हुई देशी माँग को देखते हुए सन् १९६०-६१ में हमारे यहाँ ६,४०,००० गाँठ जूट की कमी रहेगी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि योजना आयोग ने भारत में उत्पन्न होने वाले निम्न कोटि के मेस्टा (Mesta) का कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया है। सेन समिति का अनुमान है कि सन् १९६०-६१ में जूट और मेस्टा की संयुक्त माँग भारत में लगभग ८१·८ लाख गाँठ होगी। अतः समिति ने द्वितीय योजना में निश्चित लक्ष्य को वार्षिक कार्यक्रमों में इस प्रकार बाँट दिया :—[3]

वर्ष	कच्चा जूट	लाख गाँठ मेस्टा
१९५७–५८	४४	१६
१९५८–५९	४८	१८
१९५९–६०	५१	१९
१९६०–६१	५५	२०

पटसन की केन्द्रीय निरीक्षण समिति ने अनुमान लगाया है कि सन् १९६०-६१ में देश में लगभग ४७·१० लाख गाँठ पटसन तथा १५·५ लाख गाँठें मेस्टा का उत्पादन

1. Commerce, annual number Dec. 1959.
2. Estimated.
3. Ibid.

होगा।[१] इससे स्पष्ट है कि अभी भी कुछ अंश तक हमारी निर्भरता पाकिस्तानी जूट के प्रायात पर निर्भर रहेगी। यद्यपि सन् १६४८-४६ की अपेक्षा हमारा पटसन की खेती का क्षेत्रफल ७·३ लाख एकड़ से १८·३२ लाख एकड़ हो गया है, फिर भी पाकिस्तानी पटसन का आयात करना पड़ेगा।

(३) चाय—भारत चीन के बाद विश्व में सबसे अधिक चाय का उत्पादन करता है। भारत में चाय का उत्पादन मुख्यतः बङ्गाल व आसाम में होता है, किन्तु देहरादून, कांगड़ा और नीलगिरि की पहाड़ियों पर भी चाय उत्पन्न की जाती है। कुल उत्पादन का ७७ प्रतिशत आसाम और बङ्गाल में ही होती है। भारत में समस्त चाय के बगीचों का क्षेत्रफल ७७६ हजार एकड़ है। गत वर्षों में चाय का उत्पादन इस प्रकार रहा है :—

वर्ष	करोड़ पौंड
१६५३	६०·८
१६५४	६४·४
१६५५	६६·८
१६५६	६६·७
१६५७	६६·६

३० जून सन् १६५८ को समाप्त होने वाले प्रथम ६ माह में चाय का उत्पादन १६·२६ करोड़ पौंड रहा।[२]

चाय अमेरिका तथा अन्य देशों में भी लोक-प्रिय हो रही है। भारतीय चाय संघ ने विज्ञापन करके इसके उपयोग बढ़ाने में पर्याप्त प्रयत्न किए हैं। चाय का निर्यात मुख्यतः इङ्गलैंड, अमेरिका, कनाडा और आयरलैंड को किया जाता है। पिछले वर्षों में हमारे निर्यातों में कमी हुई है। मई सन् १६५८ में भारतीय चाय संघ के वार्षिक अधिवेशन में चाय संघ के अध्यक्ष श्री डी० सी० घोष ने बतलाया[३] कि सन् १६५७ में भारत द्वारा केवल ४४·० करोड़ पौंड चाय का निर्यात हुआ, जबकि सन् १६५६ में हमारे निर्यात् की मात्रा ५२·३६ करोड़ पौंड थी। विदेशी विनिमय की दृष्टि से चाय के निर्यात सन् १६५६ में १४३ करोड़ रुपये से घटकर केवल १०७ करोड़ के रह गये। श्री घोष ने निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात करों और चुङ्गी में कमी करने, उत्पादन घटाने और अधिक विज्ञापन करने सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए हैं। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में चाय का उत्पादन ७० करोड़ पौंड कर दिया जायगा, जिसमें से लगभग ५० करोड़ पौंड चाय का निर्यात किया जायगा।

(४) कॉफी—भारत में कॉफी २३४ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न की

१. उद्योग-व्यापार पत्रिका, अगस्त १६६०।
2. Commerce 26th July 1958.
3. Commerce 3rd May 1958.

जाती है। इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र मैसूर, मद्रास और कुर्ग है। गत वर्षों में चाय के उपभोग मे वृद्धि होने और ब्राजील की सस्ती कॉफी की प्रतिस्पर्धा के कारण कॉफी उद्योग को पर्याप्त हानि पहुँची है। चाय बोर्ड की भाँति कॉफी बोर्ड भी कॉफी के उपभोग मे वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। कॉफी के उत्पादन की स्थिति इस प्रकार है :—[1]

वर्ष	हजार टन
१९५४	२६·४
१९५५	२४·६
१९५६	३४·४
१९५७	४०·६

३० मई सन् १९५८ को कॉफी बोर्ड की अर्द्ध वार्षिक बैठक मे सन् १९५७-५८ मे कॉफी का उत्पादन ४२,३८० टन आँका गया।[2] बोर्ड के अनुसार सन् १९५८-५९ मे ४४,२३५ टन कॉफी उत्पन्न होने की सम्भावना है, परन्तु बोर्ड के सभापति का कहना है कि उत्पादन ५० हजार टन तक जा सकता है। सन् १९५६ ५७ मे १५,२२८ टन कॉफी का निर्यात किया गया। १९५७ ५८ मे १२,६३० टन कॉफी का निर्यात हुआ। भारतीय कॉफी को ब्राजील मे प्रतिस्पर्धा करनी पड रही है। कॉफी बोर्ड और सरकार इसके उत्पादन मे वृद्धि हेतु प्रयत्न कर रहे है। सन् १९५७ ५८ में कॉफी के निर्यात से ७·७ करोड रुपये के विदेशी विनिमय की प्राप्ति हुई।

(५) तम्बाकू—अमेरिका और चीन के पश्चात् भारत का स्थान तम्बाकू के उत्पादन मे तीसरा है। मद्रास के गुन्टूर, गोदावरी और कृष्ना जिलो मे सिगरेटो की सर्वोत्तम तम्बाकू उत्पन्न होती है। उत्तरी बगाल और विहार मे हुक्के की तम्बाकू, बम्बई मे बीडी की तम्बाकू तथा दक्षिण मे सिगार के लिए उत्तम तम्बाकू उत्पन्न होती है।

उत्पादन का अधिकाश भाग देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति करता है, किन्तु कुछ उत्तम तम्बाकू यूरोप और इङ्गलैंड को निर्यात की जाती है। तम्बाकू के निर्यात बढाने के प्रयत्न किये जा रहे है। सन् १९५६ ५७ में तम्बाकू १०·२२ लाख एकड़ भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ३·०६ रहा। सन् १९५५-५६ में १३·३ करोड रुपये की तम्बाकू का निर्यात किया गया।

(६) रबर—सैनिक और औद्योगिक दृष्टिकोण से रबर बडे महत्व की उपज है। भारत मे रबर उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र मद्रास, मैसूर और कुर्ग है। सन् १९५५-५६ मे रबर १७४ हजार एकड भूमि पर उत्पन्न की गई और इसका कुल उत्पादन ५० लाख पौड रहा। रबर का उत्पादन हमारी आवश्यकता से बहुत कम है और हम प्रति वर्ष लगभग डेढ करोड पौड रबर का विदेशो से आयात करते है। रबर

[1] Journal of Industry & Trade, November 1958.
[2] Coffee Board's Monthly New Letter, June 1958.

का उत्पादन बढ़ाने के लिए रबर उत्पादन विकास समिति के अन्तर्गत २० वर्षों में रबर का उत्पादन तीन गुना कर दिया जायगा। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रबर के उत्पादन में ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में रबर के बगीचे बहुत छोटे हैं और प्रबन्ध भी अकुशल है। औसत भारतीय उत्पादन ३०० पौण्ड प्रति एकड़ है। कोचीन में ३१७ पौण्ड, मद्रास में २५३ पौण्ड और ट्रावनकोर एवं कुर्ग में क्रमशः २५२ तथा २५० पौण्ड प्रति एकड़ है। रबर बोर्ड ने ७०,००० एकड़ पुराने रबर के फसल के पुनर्स्थापन का एक कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार ७,००० एकड़ भूमि पर पुराने पौधों के स्थान पर नये पौधे लगाये जायेंगे।

नील—१८ वीं और १९ वीं शताब्दी में भारत में नील पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया जाता था, परन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी की रङ्ग की प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी खेती कम कर दी गई। सन् १८९६-९७ में १७ लाख एकड़ भूमि पर नील की खेती होती थी, जो सन् १९४० में घटकर केवल ६५,००० एकड़ रह गई। इसका उत्पादन क्रमशः घटता जा रहा है, क्योंकि अन्य रंग सस्ते पड़ते हैं, अतः इसका भविष्य अन्धकारमय है। इसका उत्पादन मुख्यतः मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश में होता है। यह बिहार और पंजाब में भी होता है।

नारियल—नारियल के उत्पादन में भारत का नम्बर दूसरा है। सन् १९५५-५६ में नारियल १,५६७ हजार एकड़ भूमि पर उत्पन्न किया जाता था और उस वर्ष ४,०९७ लाख नारियल उत्पन्न किये गये। तेल की माँग को देखते हुए अभी हमारे देश में नारियल की बहुत कमी है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तेल का उत्पादन लक्ष्य २,१०,००० टन रखा है। योजना के अनुसार हर पेड़ से ३० नारियल के स्थान पर ४५ नारियल प्राप्त किए जायेंगे। नारियल का उत्पादन छोटे-छोटे द्वीपों और समुद्र तट पर उत्पन्न किया जाता है। भारत में नारियल और नारियल का तेल —मुख्यतः सीलोन से आयात किया जाता है।

मसाले—भारत में अनेक प्रकार के मसाले उत्पन्न किये जाते हैं। काली मिर्च का उत्पादन २३४ हजार एकड़ भूमि पर किया जाता है और सन् १९५६-५७ में इसका उत्पादन २९,००० टन रहा। लाल मिर्च उत्तर-प्रदेश, बङ्गाल और मद्रास में उत्पन्न होती है तथा धनिया ट्रावनकोर-कोचीन, मैसूर, कोयम्बटूर, मलाबार और तिन्नीवेल्ली में होता है। सुपारी का उत्पादन सन् १९५५-५६ में ८१,००० टन था। सन् १९६०-६१ तक सुपारी का उत्पादन ९९,००० टन तक बढ़ने की आशा है। काजू का उत्पादन ६०,००० टन सालाना है और अधिकांश भाग निर्यात कर दिया जाता है। इलायची की खेती भी दक्षिण में नीलगिरि क्षेत्र में ऊँचाई पर की जाती है।

फल और तरकारियाँ—

भारतीय भूमि और जलवायु की विविधता के परिणामस्वरूप भारत में अनेक प्रकार के फल और सब्जियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। डा० बर्न्स के अनुमान के अनुसार लगभग २५ लाख एकड भूमि पर फल और ७ लाख एकड भूमि पर सब्जियाँ उत्पन्न होती है। ऐसा अनुमान है कि उत्पादित फलो की मात्रा ६० लाख टन और सब्जियो की मात्रा ४० लाख टन है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति प्रति दिन फलो के उपभोग की मात्रा १·५ औंस आती है। फल उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षेत्र कांगडा और कुलू की घाटियाँ, दक्षिणी काश्मीर, आसाम, बम्बई का कोकण प्रदेश तथा मद्रास के नीलगिरि की पहाडियाँ है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे ८ करोड रुपये के फल और सब्जियो के उत्पादन में विकास हेतु व्यय किये जायेंगे। डिब्बो में बन्द फलो का उत्पादन २०,००० टन से बढा कर ५०,००० टन करने का प्रस्ताव है।

कृषि उत्पादन के अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि कृषि मे कोई महत्वपूर्ण सुधार नही हुआ है, फिर भी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनो के साथ-साथ कृषि में भी महत्वपूर्ण क्रान्ति हो रही है। द्वितीय युद्ध काल मे और उसके पश्चात् कृषि का अधिकाधिक वाणिज्यीकरण हुआ है और नवीन फसलें देश के उत्पादन तथा व्यापार मे महत्त्व प्राप्त कर रही हैं। योजना मे जो औद्योगीकरण हो रहा है, उसका प्रभाव भी हमारे कृषि उत्पादन पर पडा है, जिसमे भौगोलिक एव क्षेत्रीय विशेषीकरण किया जा रहा है। विभाजन मे कृषि उत्पादन पर जो प्रभाव पडे थे उन्हे अब लगभग दूर कर दिया गया है। परन्तु अनेक प्रयत्नो के पश्चात् भी खाद्य समस्या बनी हुई है एव भूमि सुधार, कृषि का यन्त्रीकरण तथा कृषक के सामान्य जीवन मे सुधार करने सम्बन्धी अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि उपज वृद्धि का परिचय निम्न तालिका से मिलता है :—

कृषि उपज के सूचनाङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमानित)
सभी जिन्स	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
अनाज की फसलें	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य फसलें	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०

तृतीय पंच-वर्षीय योजना—

तीसरी योजना मे कृषि को पहिला स्थान दिया गया है। खाद्यान्न मे आत्म-निर्भरता और उद्योगों तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढाना तीसरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना में कृषि एव सामुदायिक विकास के लिए १,०२५ करोड रु० तथा सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनाओ के लिए ६५० करोड रु० रखे गये

हैं। इसके अलावा अनुमान है कि इन कार्यों में निजी व्यय ८०० रु० होगा। यदि भविष्य में ऐसा प्रतीत हुआ कि गाँवों मे और तेजी से प्रगति के लिए एवं जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के लिए अधिक रुपये लगाने आवश्यक हैं तो उसका भी प्रवन्ध किया जायगा। कृषि की पैदावार मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलों के उत्पादन-लक्ष्य निम्न हैं :—[1]

		१९६०-६१ (अनुमानित)	१९६१-६५ - लक्ष्य
(१) खाद्यान्न	(लाख टन)	७५०	१,००० से १,०५०
(२) तिलहन	,,	७२	९२ से ९५
(३) गन्ना	(गुड़ के रूप मे)	७२	९० से ९२
(४) रुई	(लाख गाठों में)	५४	७२२
(५) पटसन	,,	५५	६५
(६) चाय	(करोड़ पौंड)	७२	८५ }[2]
(७) कॉफी	(हजार टन)	४५	८० }

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योजना आयोग ने चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रमों का सुझाव दिया है :—

(१) सिंचाई, (२) भूमि-सरक्षण, अधिक खेती और परती भूमि को कृषि योग्य बनाना, (३) खाद और रसायनिक खाद पहुँचाना तथा (४) अच्छे किस्म के हलो एव औजारो का प्रयोग। इन कार्यक्रमों के अनुसार यदि कार्य हुआ तो निश्चय ही कृषि उत्पादन मे वृद्धि होगी, ऐसा विश्वास है।[3]

---

१. उद्योग व्यापार-पत्रिका अगस्त सन् १९६०।
२. नवभारत टाइम्स—५ अगस्त सन् १९६०।
३. तीसरी योजना के विस्तृत विवेचन के लिए "भारत सरकार एवं कृषि नियोजन" अध्याय देखिये।

अध्याय १५

कृषि साख एवं अर्थ-व्यवस्था

(Agricultural Credit & Finance)

"रोम से स्कॉटलैंड तक कृषि का इतिहास, यह पाठ सिखाता है कि साख कृषि के लिए अनिवार्य है।"

—निकलसन

भारतीय कृषि की विशेषता—

भारतीय कृषि की अपनी ही निम्न विशेषताएं हैं:—

(१) भारत की खेती का सम्पूर्ण सगठन केवल एक व्यक्ति पर निर्भर है और यहाँ के खेत भी छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए हैं, अतः उत्पादन अल्प मात्रा में होता है।

(२) अन्य उद्योग धन्धों की तुलना मे कृषि उत्पादन की एक विशेषता यह भी है कि फसल बोने से काटने तक की अवधि काफी लम्बी एवं निश्चित होती है। कृषक अपना उत्पादन बेचे बिना पूंजी नही जुटा सकता।

(३) कृषि नैसर्गिक आपत्तियों (जैसे अवर्षण अति वर्षा) की शिकार होती रहती है। इससे किसी भी दशा मे किसान अपना बचाव नही कर सकता।

(४) कृषि उत्पादन का समायोजन माग के अनुसार करना सम्भव नही होता। क्योंकि कृषि उद्योग का सगठन ही ऐसा विचित्र है कि जमीन परती रखी नहीं जा सकती और न घर के आदमियो को ही बेकार बैठाया जा सकता है।

(५) कृषि वस्तुओ के मूल्यो मे कमी अथवा अधिकता होने पर किसान को उसका सामना करना पडता है। इन्ही सब कारणों से उसकी पूंजी अथवा लागत होती है, वह स्थिर नही रहती, बल्कि उसमें कमी-बेशी होती रहती है। यही नही, जब तक वह अपनी फसल काट कर बेच नही लेता तब तक उसको लगाई हुई पूंजी वापिस नहीं मिल सकती।

(६) अतः अपने घर खर्च, मजदूरो को मजदूरी देने, बीज, खाद आदि खरीदने अथवा फसल को बाजार मे बिक्री के लिये पहुँचाने के लिए उसे पूंजी की आवश्यकता होती है। इन कार्यों के लिये अर्थ नियोजन करने के हेतु यूरोपीय देशो में तो कृषि अर्थ व्यवस्था को एक विशेष विषय माना जाता है। वहाँ उसके लिए विशेष सगठन एव विधान का नियोजन होता है। परन्तु भारत कृषि प्रधान देश होने हुए भी यहाँ

कृषि-अर्थ व्यवस्था का कोई विशेष आयोजन नहीं है, यह खेद की बात है। कृषि उन्नति के लिए इस ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है।

किसान की आर्थिक आवश्यकताएँ—

विभिन्न कृषि क्रियायें यथाविधि करने के लिए किसान को तीन प्रकार की आर्थिक आवश्यकताएँ होती हैं—

(१) अल्प-कालीन ऋण—यह ऋण लेकर किसान बीज, खाद आदि खरीदता है तथा खेतों में लगाए हुए मजदूरों को मजदूरी, लगान आदि का भुगतान करता है। इस प्रकार के ऋण की अवधि साधारणतः ६ से १८ मास की होती है। इस ऋण का भुगतान वह केवल आगामी फसल पर ही कर सकता है, अतः इसे किसान की कार्यशील पूँजी कह सकते हैं। किसान को कितनी कार्यशील पूँजी इस उद्योग के लिये आवश्यक है, इसका अभी तक ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। विदेशी कृषि जाँच से यह मालूम होता है कि इस उद्योग में भूमि मूल्य के $\frac{1}{4}$ के बराबर कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इस आधार पर भारतीय कृषि उद्योग की कार्यशील पूँजी का अनुमान लगभग ६०० करोड़ रुपये लगाया गया है।[1]

(२) मध्य-कालीन ऋण[2]—यह ऋण कृषक को खेती के लिए आवश्यक साधन, जैसे—कृषि के औजार, बैल इत्यादि जुटाने के हेतु लेना पड़ता है। इसकी अवधि साधारणतः २ वर्ष से ६ वर्ष तक होती है, जिसका भुगतान वह सामयिक किश्तों में करता है।

(३) दीर्घ-कालीन ऋण—यह ऋण वह स्थायी सम्पत्ति, जैसे—कृषि योग्य भूमि आदि खरीदने तथा कृषि सम्बन्धी स्थायी सुधार करने, जैसे—कुएँ की मरम्मत अथवा नये कुएँ के बनवाने आदि के लिये लेता है। इन सुधारों द्वारा किसान अपनी आय में थोड़ी-बहुत वृद्धि कर सकता है। यह ऋण साधारणतः ३० से ४० वर्षों के लिए होता है, क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था इतनी कमजोर होती है कि वह इससे कम अवधि में भुगतान नहीं कर सकता।

सन् १९२८ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दीर्घ कालीन ऋण का अनुमान ५०० करोड़ रुपये आँका था। परन्तु कृषि की वर्तमान अवस्था को देखते हुए दीर्घ-कालीन ऋण के लिए कम से कम १,००० करोड़ रुपये आवश्यक होंगे।

इन आवश्यकताओं के हेतु उसे ऋण के लिए किसी न किसी पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि उसके आर्थिक साधन एवं आय इतनी सीमित होती है कि वह कार्य-शील पूँजी के लिए भी पर्याप्त नहीं होती। दूसरे, इस आर्थिक कमजोरी के कारण वह बिक्री की अनुकूल कीमत आने तक अपनी फसल को अपने पास ही रखने में अस-

1. Whither Agriculture in India—By Dr. Baljit Singh. p 222.
2. M. L. Darling: Punjab Peasants in Prosperity and debt. p. 32.

मर्थ होता है, इसलिए वह फसल को शीघ्र ही बेच देता है। तीसरे, जैसा अन्यत्र देख चुके है, भारतीय किसान के खेत छोटे छोटे और बिखरे हुए होने से उसकी आय भी बहुत थोडी है, जो उसकी दैनिक आवश्यकताओ के लिए भी पूरी नही होती।

कृषि साख के स्रोत—

किसान को अपने कृषि कार्य के लिए ऋण पर ही निर्भर रहना पडता है तो प्रश्न यह उठता है। कि यह ऋण किन किन स्रोतो से प्राप्त होता है। जहां तक बैंकों का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओं के लिए वह उन पर निर्भर नही रह सकता, क्योकि बैंक जो भी कर्ज देते हैं वह ऋणी की वैयक्तिक साख तथा अन्य वस्तुओ को रहन पर देते है। किन्तु भारतीय कृषक के पास रहन रखने के लिए केवल थोडी सी भूमि, पशु तथा खेती के औजार होते हैं, जिनको वह किसी भी दशा मे बेच नही सकता। फिर भूमि रहन रखने मे अनेक सामाजिक व कानूनी कठिनाइयाँ हैं तथा उसका मूल्य निकालने के लिए विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, क्योकि खेती की भूमि का मूल्य अनेक बातो पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगाया हुआ धन एक प्रकार से बध सा जाता है, अतः साधारणतया व्यापारिक बैंक इस सम्पत्ति की जमानत पर कर्ज भी नही देते। वैयक्तिक साख उनके आर्थिक साधनों एव स्थायी पूँजी पर निर्भर होती है, जो नही के बराबर है, अतः व्यापारिक बैंक की दृष्टि मे किसानो की वैयक्तिक साख नगण्य है। इस कारण किसान को व्यापारिक बैंको से आर्थिक सहायता नही मिलती।

केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति के प्रस्ताव के अनुसार सयुक्त स्कध बैंक भू रहन बैंकों का कार्य भी अपने दीर्घ कालीन ऋण-पत्र निकाल कर कर सकते हैं तथा किसानो को कर्ज दे सकते है। इस सम्बन्ध मे समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार को चाहिए कि वे उनकी पूँजी का कुछ भाग दें तथा लाभांश एव पूँजी की वापसी के विषय मे अपनी जमानत देकर जनता में विश्वास उत्पन्न करें। इससे ऐसे व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हो सके, परन्तु इस दिशा मे सरकार की ओर से कोई कार्यवाही नही की गई।

अन्य संस्थायें—

(१) स्वदेशी बैंकर एव महाजन—आज भी कृषि की अर्थपूर्ति करने मे स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये कृषक की कुल आर्थिक आवश्यकताओ के लगभग ६४% अर्थ की पूर्ति करते है, क्योकि व्यापारिक बैंक जो भी कुल अल्पकालीन ऋण देते है, उनका लाभ केवल गाँव के बडे-बडे जमीदारो को ही मिलता है, जिनकी सख्या बहुत कम है। सहकारी साख समितियो की स्थापना से भी बडी-बडी आशायें थी, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, उनकी कार्य पद्धति में औपचारिकता का भाग अधिक होने एव ऋण लेने मे असुविधा होने के कारण कृषक उनमे पूर्णतया लाभ नही उठा पाता। इतना ही नही, अपितु भारत की ग्रामीण

आवश्यकताओं के अनुसार सहकारी साख समितियों का अभी उतना विकास नहीं हुआ है, जितना होना चाहिए। परिणामतः अनेक गाँवों में आज भी सहकारी साख समितियों का अभाव है, इसलिए संख्या तथा ऋण राशि की दृष्टि से आज भी महाजन कृषि अर्थ व्यवस्था में अपना स्थान बनाये हुए हैं :—

साख संस्थाएं*	ऋण में प्रतिशत अनुपात
सरकार	३·३
सहकारी संस्थाएं	३·१
व्यापारिक बैंक	०·६
सम्बन्धी	१५·२
जमींदार	१·५
कृषक ऋणदाता	२४·६
महाजन	४४·८
व्यापारी और कमीशन एजेन्ट	५·५
अन्य	१·८
योग	१००·०

महाजन एवं देशी बैंकरों की कार्य पद्धति सरल होती है। ग्रामीण जनता से सम्पर्क होने के कारण इनको ग्रामीण परिस्थिति का इतना अगाध ज्ञान होता है कि बिना किसी विशेष जानकारी के ये किसानों को सरलता से ऋण दे सकते हैं। महाजनों में गाँव के बनिये का भी समावेश किया जा सकता है, क्योंकि वह अपने व्यापार के साथ ही लेन-देन का व्यवहार भी करता है। महाजनों द्वारा किसानों को जो ऋण दिये जाते हैं, वे भी साधारणतः गाँव के बनिये द्वारा ही दिये जाते हैं। कभी-कभी ये किसानों से रुक्का भी लिखवाते हैं, जिसमें ऋण की राशि, अवधि, ब्याज की दर तथा ऋण देने की शर्तें लिखी रहती हैं अथवा वे कभी-कभी अपनी बही में ही ऋण-कर्त्ता के हस्ताक्षर करा लेते हैं। हाँ, ऋण की राशि अधिक होने पर वे जमीन इत्यादि की जमानत लेते हैं। युद्ध पूर्व गाँवों में अर्थ पूर्ति के कार्य में पठान, रोहिले आदि भी थे, परन्तु आजकल उनका विशेष अस्तित्व दिखाई नहीं देता। स्वदेशी बैंकर और महाजन दोनों ही ऋण पर अधिक ब्याज लेते हैं। इनकी ब्याज की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सुरक्षित ऋणों पर ६ से १७ प्रतिशत तथा असुरक्षित ऋणों पर १७ से ३६ प्रतिशत तक होती है। महाजनों का कृषकों से साधारणतः प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, परन्तु देशी बैंकर कृषकों से सीधा सम्बन्ध न रखते हुए महाजनों अथवा गाँव के व्यापारियों के माध्यम से उन्हें ऋण देते हैं।

देशी बैंकरों का कृषि अर्थ-व्यवस्था में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनकी ऋण देने की पद्धति में निम्न दोष हैं, जैसे :—

* Report of the All India Rural Credit Servey Committee, Vol. II.

(१) ऋण देने के पूर्व नजराने के रूप मे किसानो से गिरह खुलाई लेना।
(२) ऋण देते समय ही उसमे से ब्याज की रकम काट लेना।
(३) ऋण लेने वाले को धोखा देने के हेतु उससे कोरे कागज पर हस्ताक्षर करवा लेना तथा हिसाब-किताब मे अदला बदली करना।
(४) रुक्के पर लिखी हुई मूल ऋण राशि को बढाना।
(५) ऋणी से जमानत दी हुई सम्पत्ति को बेचने सम्बन्धी शर्त लिखवा लेना।

इन बुराइयों* के होते हुए भी महाजन अपनी ऋण देने की सरल पद्धति के कारण कृषि अर्थ व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इतना ही नही, अपितु ग्रामीण परिस्थिति एव कृषको के वैयक्तिक सम्पर्क मे रहने के कारण वह अपनी ऋण राशि पूर्ण रूप से वसूल कर लेता है। इन त्रुटियो के निवारण तथा साहूकार, महाजन एव देशी बैंकरो पर अपना नियन्त्रण रखने के लिए रिजर्व बैंक ने कई प्रयत्न किये, परन्तु असफल रहे।

इसलिए गाडगिल समिति ने महाजनो का अनिवार्य पजीयन लाइसेंस देने, हिसाब की बहियो का परीक्षण, ब्याज दर का निर्धारण, ऋणी के पास समय-समय पर उनके लेखे की प्रति पहुँचाना, प्रबंध खर्चों पर रोक, महाजनो द्वारा प्रबंध कार्यवाही पर उनको दण्डित करना आदि अनेक सिफारिशें की थीं। परन्तु ये सिफारिशें व्यावहारिक नही है, क्योंकि कोई भी महाजन अपनी खाता बहियो को किसी बाहरी व्यक्ति से परीक्षण करवाने के लिए अनिच्छुक है। अतः इन सिफारिशो पर अभी तक कोई कार्यवाही नही हुई और न हो सकती है, जब तक कि अन्य साधनो से कृषि साख सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था न हो जाय।

(२) सहकारी समितियाँ—भारत मे सहकारी आन्दोलन का श्रेय मद्रास के श्री फ्रेडरिक निकोलसन को मिलता है। क्रमशः सन् १९०४ मे सहकारी साख समिति विधान स्वीकृत किया गया। सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए टाउन्सहैड समिति ने भी सहकारी साख समितियो को ही आधारभूत बतलाया, क्योंकि उनकी राय थी कि जब तक किसानो को महाजनो के चगुल से न छुडाया जायगा, तब तक कृषको की आर्थिक उन्नति न हो सकेगी। इस प्रकार सहकारी आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य ही किसानो को एव ग्रामीण जनता को महाजनो के चगुल से छुडाने का था, परन्तु वे मूल उद्देश्य को पूरा न कर सकी।

द्वितीय युद्ध के पूर्व सहकारी साख समितियो को उन सहकारी समितियों से जो साख सुविधायें नही देती थी, अलग रखा जा सकता था। परन्तु सन् १९३९-४६ की अवधि मे साख देने वाली एव साख न देने वाली समितियो मे कोई विशेष अन्तर नही

* Report of the Central Banking Enquiry Committee.

के २५% से अधिक नहीं हो सकेगा। ऐसा अधिकतम लगान सिंचित भूमि में ६ मन प्रति एकड़ और असिंचित भूमि में ४ मन प्रति एकड़ होगा।

इसी प्रकार राज्य के कुछ भागों में जहाँ भूमि रजिस्टर्ड पट्टे पर ली गई है वहाँ नकद लगान जमींदारों द्वारा दिए जाने वाले लगान के ५०% तथा अन्य दशा में २५% से अधिक नहीं होगा।

राज्य ने भू सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समिति नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है, जो अभी विचाराधीन है।†

मद्रास—

इस राज्य में जमींदारी और रैयतवारी प्रथा थी। इसलिए जमींदारी क्षेत्र के लिए भू सम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम तथा भू सम्पत्ति उन्मूलन एवं रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम क्रमशः सन् १९४७ और सन् १९४८ में बनाये गये। इन दोनों का उद्देश्य लगान में कमी करना तथा जमींदारी एवं इनाम भू सम्पत्ति को प्राप्त कर उसे रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत रखना था। मद्रास राज्य में २,८०० जमींदारी तथा २,५०० इनाम जागीरों को १,२०५ करोड़ रुपये के मुआवजे में प्राप्त किया गया। इस प्रकार कुल मिला कर सरकार ने १४० लाख एकड़ भूमि पर अधिकार किया। मुआवजा सभी राज्यों की तुलना में बहुत कम दिया गया, क्योंकि इसकी दर केवल ६ रुपये प्रति एकड़ होती है। उपर्युक्त दोनों अधिनियमों को कार्यान्वित किया गया है, जिनकी प्रमुख व्यवस्था निम्नवत् है:—

(१) जिलाधीशों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में प्राप्त की हुई जागीरों के लिए व्यवस्थापक नियुक्त किये गये।

(२) रैयतवारी पट्टों द्वारा किसानों को भूमि दी गई।

(३) ऐसे सब किसानों को जो ५ वर्ष अथवा उससे अधिक काल तक खेती कर चुके हैं, आभोग-अधिकार (Occupancy Rights) दिये गये।

बम्बई—

बम्बई में सन् १९४८ में बम्बई भूधारण तथा कृषि भूमि अधिनियम बनाया गया, जिसको १६ मार्च सन् १९५६ को संशोधित किया गया। यह संशोधित अधिनियम १ अगस्त सन् १९५६ से लागू हुआ। संशोधित अधिनियम के अनुसार :—

(१) स्थाई भाटकियों (Tenants) को उनके काश्त की पूर्ण सुरक्षा दी गई है तथा वे लगान के ६ गुनी राशि का भुगतान करने पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अन्य आसामियों के काश्तकारी अधिकारों को सुरक्षा दी गई है, परन्तु जमींदार खुदकाश्त के लिए १२ से ४८ एकड़ तक भूमि रख सकेगा, जो भूमि आदि

† Amrit Bazar Patrika, Sept. 58

भी, जैसे—उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, अजमेर, उडीसा तथा बंगाल मे, भूमि बन्धक बैंकों का कार्य सन्तोषप्रद नही रहा। केवल मद्रास मे ही इन बैंकों ने कुछ उन्नति की है।"*

भूमि बन्धक बैंकों ने जो ऋण दिए, वे केवल पुराने ऋणों के भुगतान के लिए ही दिए। उन्होने भूमि-सुधार के लिए ऋण देने की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया। किसानो के ऋण को कम करने मे जो सहायता की, वह सराहनीय है, परन्तु यह प्रश्न द्वितीय महायुद्ध काल से तीव्रतर नही रहा, *अतः अब इनको स्थायी भूमि सुधार के लिए* कृषकों को ऋण देकर उनकी उन्नति के प्रयत्न करना चाहिए।

(६) रिजर्व बैंक तथा कृषि साख—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे रिजर्व बैंक के निर्माण के समय ही यह आयोजन किया गया था कि वह ग्रामीण एवं कृषि साख देने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यों का समुचित संगठन एवं एकीकरण करे। इस हेतु की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक में 'कृषि साख विभाग' खोला गया, जिसके *निम्न कार्य है :—*

(अ) कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों तथा अन्य अधिकोषण संस्थाओं को सलाह देना तथा उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करना।

(ब) *अपनी क्रियाओं को कृषि-साख से सम्बन्धित रखना तथा उन क्रियाओं* द्वारा प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों एवं अन्य अधिकोषों तथा संस्थाओं को, जो कृषि-साख से सम्बन्धित हों, संगठित करना।

परन्तु रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होने हुए भी देश के इस महत्त्वपूर्ण उद्योग (कृषि) की प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता नही कर सकता और न वह दीर्घकालीन ऋण ही दे सकता है। वह केवल सूचीबद्ध एवं राज्य सहकारी बैंकों के द्वारा केवल निश्चित कार्यों के लिए रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १० के अनुसार ऋण दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली कृषि-साख का क्षेत्र सीमित है। यह केवल उन्ही कृषि बिलो का बट्टा करता है अथवा खरीद सकता है, जो केवल मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा फसल को बेचने के लिए लिखे जाएँ। ऐसे बिलो की अवधि ६ मास से अधिक नही होनी चाहिए। इस कारण रिजर्व बैंक कृषि कार्यों के लिए पर्याप्त साख सुविधाएँ देने में विशेष सफल न हो सका। अब यह अवधि १५ मास कर दी गई है।

रिजर्व बैंक ने सरकार के सामने अपनी रिपोर्ट द्वारा कृषि साख देने के लिए स्वदेशी बैंकों, महाजनो एवं सहकारिता आन्दोलन के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए और अपने सीमित कार्य क्षेत्र मे, जहाँ तक सम्भव था, कृषि साख सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएँ दी।

---

* Review of the Co-operative Movement in India, 1937-46.

स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने कृषि को अधिक साख सुविधाएँ देने के लिए अनेक समितियाँ नियुक्त की; जैसे ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति, ग्रामीण साख सर्वे समिति आदि। इन समितियों की सिफारिशों के अनुसार रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन किए गए। इन संशोधनों के अनुसार जहाँ पहिले रिजर्व बैंक केवल ६ मास के लिए ही ऋण देता था, वह अवधि अब १५ मास कर दी गई है, परन्तु साधारणतः ऋण १२ मास के लिए ही दिये जाते हैं। यही नहीं, जो राज्य सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से बिलों की जमानत पर साख लेते हैं वे भी १५ मास तक की अवधि के लिए ले सकते हैं और इनसे ब्याज भी कम लिया जाता है। तीसरे, अभी तक केवल सूचीबद्ध बैंक ही रिजर्व बैंक से व्यापारिक हुण्डियाँ भुना सकते थे, परन्तु अब सहकारी बैंकों को भी यह सुविधा दे दी गई है। इन सुविधाओं के अन्तर्गत राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कोई भी सहकारी अधिकोष रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है, यदि उसकी सन्तोषजनक आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में सहकारी समितियों का रजिस्ट्रार प्रमाण-पत्र दे दे।

कृषि की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कृषि फसलों के विक्रय के हेतु रिजर्व बैंक ने १७ राज्य सहकारी बैंकों को सन् १९५६-५७, सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में क्रमशः ३५·२५, ५०·३८ तथा ७०·८५ करोड़ रु० के अल्पकालीन ऋण स्वीकृत किये। इनमें से बैंकों ने सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में क्रमशः ५०·२३ और ६७·५६ करोड़ रु० की राशि का उपयोग किया। ये ऋण अभी तक स्वीकृत ऋणों में सबसे अधिक हैं।

इसी प्रकार मध्यकालीन कृषि साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए [धारा १७ (४ A) के अन्तर्गत] रिजर्व बैंक ने ६ राज्य सहकारी बैंकों को १·६७ करोड़ रु०, सन् १९५७-५८ में १४ राज्य सहकारी बैंकों को ५·०२ करोड़ रु० तथा सन् १९५८-५९ में राज्य सहकारी बैंकों को ५·८८ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किए। परन्तु सन् १९५७-५८ और सन् १९५८-५९ में बैंकों ने क्रमशः केवल २·६६ और २·६८ करोड़ रु० लिये। ये ऋण बैंक दर से २% कम की ब्याज दर से दिये जाते हैं, जिससे राज्य सहकारी बैंक अन्य सहकारी बैंकों के माध्यम से कृषकों को सस्ते ब्याज दर पर मध्यकालीन साख सुविधायें दे सकें।

रिजर्व बैंक दीर्घकालीन ऋण सुविधायें देने के हेतु केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीद सकता है तथा इसने निम्न केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदे हैं:—

आन्ध्र केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक के	२० लाख रु० के ऋण पत्र*
सौराष्ट्र ,, ,, ,,	५० ,, ,,
उड़ीसा ,, ,, ,,	०५ ,, ,,

* Report on Currency and Finance, 1958-59 (R. B. I.)

रिजर्व बैंक अधिक कृषि सुविधाएँ दे सके, इसलिए रिजर्व बैंक एक्ट मे सन् १९५३ मे सशोधन किया गया। इस सशोधन के अनुसार कुटीर तथा लघु उद्योगो को साख सुविधाएँ देने के लिए रिजर्व बैंक प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डल तथा प्रान्तीय सहकारी बैको को ऋण सुविधायें देगा। इन सस्थाओ के माध्यम से लघु एव कुटीर उद्योगो को भविष्य मे रिजर्व बैंक से साख सुविधाएँ मिल सकेंगी। दूसरे, रिजर्व बैंक कृषि कार्यों को मध्यकालीन ऋण द्वारा सहायता दे सकेगा, परन्तु ये साख सुविधाएँ प्रान्तीय सहकारी बैंको के माध्यम से ५ वर्ष की अवधि के लिये ही मिल सकेंगी।

इसके अलावा सहकारी आन्दोलन को सुदृढ नीव पर आधारित करने के लिये रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंको की आर्थिक स्थिति एव कार्य-प्रणाली की जाँच का कार्य-क्रम भी बनाया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९५६-५७ मे ६४ केन्द्रीय सहकारी बैंक, ६ राज्य सहकारी बैंक तथा १ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक का तथा सन् १९५७-५८ मे २४० सहकारी बैंको का परीक्षण किया गया। इस प्रकार ३० जून सन् १९५८ तक कुल ४३९ बैंको का परीक्षण हुआ।

(७) कृषि अर्थ एवं सरकार—कृषि कार्यों के हेतु ऋण देने के लिए सरकार भी प्रयत्नशील है और अनेक तरीको से वह कृषि साख की पूर्ति कर रही है। इतना ही नही, अपितु कृषि-सुधार हेतु आर्थिक सहायता देने के लिये सरकार द्वारा भूमि-सुधार अधिनियम (Land Improvement Act) सन् १८७१, सन् १८८३ एवं कृषक ऋण अधिनियम सन् १८८४ (Agriculturist Loan Act) स्वीकृत किये गये है। इनके अन्तर्गत बैल, बीज, चारा आदि खरीदने के लिए तथा भूमि सुधार करने के लिए तकावी ऋण दिया जाता है। उन ऋणो की ब्याज की दर तथा भुगतान करने की किश्तो मे परिस्थिति के अनुसार समय समय पर परिवर्तन भी किए जाते है। सरकार ने विभिन्न प्रान्तो को गत ६ वर्षों मे 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के अन्तर्गत भी अधिक ऋण दिए है। केवल बम्बई प्रान्त मे ही इस योजना मे सन् १९४७ से सन् १९५२ तक ७॥ करोड रुपये खर्च हुये तथा भारत सरकार का कुल व्यय ६६ करोड़ रुपए के लगभग हुआ।

भूमि सुधार अधिनियम के अन्तर्गत सरकार २० से ३५ वर्ष तक की अवधि के लिए दीर्घकालीन ऋण देती है तथा कृषक ऋण विधान के अनुसार बीज, खाद आदि खरीदने के लिये अल्पकालीन ऋण देती है, जिनकी अवधि सामान्यतः १ से २ वर्ष तक होती है। इन सुविधाओं का लाभ सामान्य कृषक नही वरन् अधिकतर समृद्ध जमींदार अथवा कृषक ही उठाते है, क्योंकि बडे बडे जमींदार अपनी जमीन गिरवी रख सकते है, परन्तु छोटे-छोटे किसानो के पास जमीन ही इतनी कम होती है कि गिरवी रखने पर भी ऋण की राशि से उसका काम पूरा नही हो सकता। अतः वे इन ऋणो का उपयोग साधारणतः सकट काल में ही करते है। इसके अतिरिक्त तकावी ऋणो की राशि भी बहुत कम होती है, क्योकि इस प्रकार के ऋणो का सम्पूर्ण भारत का वार्षिक औसत ६५ करोड रुपये है, जिसमें से ३५ करोड रुपये भूमि सुधार विधान के

अन्तर्गत दिये जाते है ।[1] इतना ही नही, अपितु तकावी ऋणों की वितरण पद्धति मे अनेक दोष है, जिससे किसान सरकार से ऋण लेने की अपेक्षा महाजनो के दरवाजे जाना अधिक पसन्द करता है। यही मत सिंचाई-समिति, मालगुजारी समिति तथा गाडगिल समिति ने प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में सिंचाई समिति एवं पंजाब लगान समिति ने ऋणों की वितरण पद्धति के दोषों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा दुर्भिक्ष कमीशन ने तो यहाँ तक कहा है कि इन ऋणों का वितरण रेवेन्यू डिपार्टमेंट द्वारा न होते हुये कृषि विभाग द्वारा हो एवं वितरण करने की क्रियाएँ शीघ्रगामी हों। सरकारी ऋणों में निम्न दोष है :—

(१) सरकारी ऋणों की ब्याज की दर भी ६½% से कम नही होती और ऋण को वसूल करने की पद्धति भी कठोर होती है। (२) ऋण स्वीकार कराने के लिये कृषक को अनेक अधिकारियो के पास जाना पड़ता है तथा जमानत, रहन आदि के सम्बन्ध में अनेक शर्तें पूरी करनी होती है, जो एक निर्धन किसान के लिये सम्भव नही होता। (३) कृषक को आवेदन-पत्र देने की काफी अवधि के बाद ऋण मिलता है, जबकि वह अपनी तत्कालीन आवश्यकता को अन्य साधनो से पूरी करता है। फलतः वह इस ऋण का धन उस कार्य में जिसके लिए ऋण लिया गया है, उपयोग न करते हुये इधर-उधर के कामों में व्यय हो खर्च कर देता है। इन त्रुटियों का निवारण करने में तथा आवश्यकतानुसार यथासमय ऋण वितरण करने के कार्य में मद्रास एवं बम्बई राज्यों ने ही उल्लेखनीय प्रगति की है।

कृषि अर्थ व्यवस्था में सुधार के लिये कुछ सुझाव—

अभी तक यह देखा गया है कि साधारणतः प्रत्यक्ष कृषि अर्थ पूर्ति में महाजन अथवा साहूकार, देशी बैंकर तथा सहकारी समितियाँ ही विशेष कार्य कर रही है। इनमें साधारणतया ६०% ऋण का प्रदाय महाजन एवं देशी बैंकर करते है। परिणामतः किसान आज भी महाजनों के चंगुल में फँस हुये है। उनको महाजनों के चंगुल से बचाने के लिये कृषि अर्थ-व्यवस्था का ऐसा पुनर्गठन होना अत्यन्त आवश्यक है कि जिसके अनुसार एक तो महाजनो की कृषि साख सम्बन्धी क्रियाएँ कानून द्वारा नियन्त्रित की जायें तथा दूसरी ओर किसानों को पर्याप्त मात्रा में ऋण देने के लिए प्रयत्न किये जायें। *अभी तक महाजनों की क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न* प्रान्तों में जो भी प्रयत्न किये गये वे असफल तो हुये ही, परन्तु इसके साथ ही कृषकों को जो ऋण वे देते थे, उसकी मात्रा भी कम हो गई।[2] महाजनों की क्रियाओं का *वैधानिक नियन्त्रण तभी सफलता से हो सकता है, जबकि इनको अपनी क्रियाएँ करने* के लिये अनुज्ञा-पत्र (Licences) दिये जायें तथा इनके हिसाबों की सामयिक जाँच

1. Indian Rural Problem—by Nanawati & Anjaria.
2. Observations of Nanawati Committee on Agricultural Credit Organisation.

के लिये समुचित आयोजन किया जाय, जिससे वे निरक्षर किसानों के साथ धोखा न कर सकें। दूसरे, ब्याज की दरों को सीमित कर दिया जाय तथा प्रत्येक किश्त के भुगतान की रसीद देने के लिये इन्हें बाध्य किया जाय। यह तभी सम्भव है, जब किसानों द्वारा किश्तों का भुगतान न्यायालय के माध्यम से अथवा गाँवों में तहसीलदार के माध्यम से हुआ करे। इससे महाजनों की क्रियाएँ नियन्त्रित हो सकती हैं। इसी प्रकार सूचीबद्ध बैंकों को चाहिये कि वे भी गाँवों में साख-व्यवहार करने के लिए इनको अपना प्रतिनिधि नियुक्त करें।

कृषि साख-प्रमण्डल (Agricultural Credit Corporation)—

गाडगिल कृषि अर्थ उप समिति (सन् १९४७) ने कृषि अर्थ पूर्ति के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना का सुझाव दिया है। इसी प्रकार अब मध्य-प्रदेश सरकार भी विचार कर रही है कि कृषकों को तकावी ऋणों के वितरण के लिए कृषि साख प्रमण्डल की स्थापना की जाय, परन्तु तकावी ऋणों का वितरण सहकारी समितियों के माध्यम से भली भाँति एवं अधिक उपयोगी हो सकता है, क्योंकि ये समितियाँ कृषकों के निकट सम्पर्क में होती हैं। इसलिए कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार सहकारिता आयोजन समिति ने व्यक्त किया है। फिर भी कृषि अर्थ पूर्ति के लिए अखिल भारतीय ढङ्ग पर कृषि साख-प्रमण्डल की स्थापना करने का प्रस्ताव भारत सरकार ने किया है।

भारत में भी यदि किसी प्रकार अल्पकालीन एवं मध्य-कालीन साख को दीर्घ-कालीन साख से कृषि अर्थ प्रमण्डल की स्थापना द्वारा अलग कर दिया जाय तो भारतीय कृषि अर्थ व्यवस्था सन्तोषप्रद हो सकती है। इस हेतु कृषि अर्थ प्रमण्डल का संगठन सावधानी से होना आवश्यक है कि जिससे उसको क्रियायें सहकारी बैंकों की क्रियाओं में बाधक न रहते हुए सहायक रहें।[*] भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ के किसान असंगठित एवं साधनहीन हैं, कृषि अर्थ प्रमण्डल और राज्य सहकारी बैंकों में सहकार्य होना चाहिए। इसके लिए भारत के उन प्रान्तों में जहाँ अभी तक प्रान्तीय सहकारी बैंक नहीं हैं, उनकी स्थापना शीघ्र की जाय।

अखिल भारतीय कृषि साख सर्वे समिति—

कृषि-अर्थ-व्यवस्था ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण ग्रामीण-अर्थ व्यवस्था के सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी के सुझाव प्रशंसनीय हैं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को संगठित करने के लिए इस कमेटी ने 'ग्रामीण साख समग्रीकरण योजना' प्रस्तुत की, जिसका मूल स्रोत राज्य कि भूमी वित्तीय, प्रशासन सम्बन्धी तथा यांत्रिक सहायता है। कमेटी के अनुसार इसका सर्व प्रथम उद्देश्य यह है कि ऐसी स्थिति आयोजित की जाय, जिसमें सहकारी संस्थायें तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली अन्य संस्थायें अपने व्यक्तिगत संकुचित दृष्टिकोण एवं लाभ

[*] Commerce 1954, p 366.

को छोड़कर कृषक की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने मे संलग्न हो। इस योजना के अन्तर्गत सरकार का कार्य केवल नियन्त्रण करना, सलाह देना अथवा प्रशासन करने के अतिरिक्त उक्त त्रि-सूत्री सहायता प्रदान करना होगा। इस कारण योजना में प्रत्येक स्तर पर तथा प्रत्येक क्षेत्र मे राज्य को विभिन्न सस्थाओ के साझे मे कार्य करने का सुझाव है। ऐसा साझा चार-सूत्री होगा :—(१) सहकारी साख के क्षेत्र मे, (२) कृषि सम्बन्धी सग्रह, सकलन तथा विपणन के कार्यों मे, (३) गोदामों की सुविधायें देने मे तथा (४) व्यापारिक बैंको के कार्य क्षेत्र मे सहयोग देना।

बैंको को सुधारने तथा उनके समुचित विकास के लिए कमेटी ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) केन्द्रीय क्षेत्र मे वित्त, प्रशासन तथा तकनीकी सहायता को सुसगठित करना।

(२) विभिन्न क्षेत्रो की आर्थिक प्रगति के अनुसार ऐसा ही सगठन जिलो मे होना चाहिए, जहाँ या तो नये राज्य द्वारा सहकारी बैंक खोले जायँ अथवा पुराने बैंको को सुसगठित किया जाय।

(३) जिन बैंको की शाखायें गाँवो मे खोली जायें, उनको प्रत्येक स्तर पर भूमि बन्धक बैंको से पूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

(४) नये भूमि बन्धक बैंक तथा ग्राम्य सहकारी समितियो का वृहद् रूप मे पुनर्गठन।

इन चारों सूत्रों के आधार पर सगठित होने से ये सस्थायें न केवल कृषि-अर्थ-व्यवस्था को वरन् ग्रामीण औद्योगिक व्यवस्था को भी सुधार सकेंगी, ऐसी आशा है।

इस चतुष्पदी योजना के अतिरिक्त कमेटी के अन्य सुझाव निम्न हैं :—

(१) राज्य द्वारा आयोजित तथा साझे मे कृषि सम्बन्धी सकलन, संग्रह तथा विपणन के कार्यों मे प्रत्येक स्तर पर भाग लेना चाहिए तथा गोदामों का विकास करना चाहिये।

(२) राज्य द्वारा त्रि-सूत्री सहायता से सहकारिता के आधार पर अन्य आर्थिक कार्यों (जैसे— खेती, सिंचाई, यातायात, पशुओं की नस्ल सुधारने, कुटीर-उद्योग धन्धों को सगठित करने आदि) मे भाग लेना चाहिए।

(३) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य राज्य बैंकों को मिश्रित करके एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करना और इस प्रकार नव निर्मित संस्था मे राज्य को भाग लेना चाहिए।

(४) प्रत्येक स्तर पर तथा विभिन्न राज्यो मे एक केन्द्रीय समिति द्वारा सहकारी-प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, जो सहकारी-विभाग तथा सहकारी सस्थाओं के कर्मचारियो को उचित शिक्षा प्रदान करे।

(५) राज्य सरकारों की जिम्मेदारी के सम्बन्ध में सुझाव है कि "राज्य

सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में सहकारिता के विकास तथा कार्यक्रम के अनुसार अन्य कृषि सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए जिम्मेदार हैं।"

योजना को सफल बनाने तथा पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए कमेटी ने अनेक कोषों के बनाने की सलाह दी। ये कोष इस प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक के आधीन :—
   (अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष।
   (ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।
(२) भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय के आधीन :—
   (अ) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्व) कोष।
(३) राष्ट्रीय सहकारिता एवं गोदागार विकास बोर्ड (नव-निर्मित संस्था) के अधीन :—
   (अ) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष।
   (ब) राष्ट्रीय संग्रहालय विकास कोष।
(४) स्टेट बैंक के अधीन (नव-निर्मित संस्था) :—
   (अ) समग्रीकरण तथा विकास कोष।
(५) प्रत्येक राज्य सरकार के अधीन :—
   (अ) राज्य कृषि साख (सहायतार्थ तथा बन्धकत्व) कोष।
   (ब) राज्य सहकारिता विकास कोष।
(६) *प्रत्येक प्रान्तीय राज्य-सहकारी तथा केन्द्रीय बैंक के आधीन* :—
   (अ) कृषि साख स्थिरीकरण कोष।

कार्यवाही—

भारत सरकार ने उक्त सुझाव मान कर कार्यवाही प्रारम्भ कर दी है :—

(१) स्टेट बैंक—१ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक के नियन्त्रण द्वारा 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' बना दिया है। स्टेट बैंक पर राष्ट्रीयकरण तिथि से ५ वर्ष में ४०० शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने की जिम्मेदारी है। इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने रिजर्व बैंक द्वारा निर्वाचित क्षेत्रों में नवम्बर सन् १९५८ तक २४४ शाखायें खोली हैं।

(२) (क) *राष्ट्रीय कृषि साख दीर्घकालीन कोष*—इस कोष का निर्माण फरवरी सन् १९५६ मे १० करोड रुपये से किया गया तथा इसमे सन् १९५६-५७ से सन् १९५८-५९ के वर्षों मे वार्षिक ५ करोड रुपये का अभिदान दिया गया। पहले कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए होगा :—

(अ) राज्य सरकारों को सहकारी संस्थाओं की अंश पूंजी मे हिस्सेदार बनने के लिए दीर्घकालीन ऋण देना,
(आ) मध्यकालीन कृषि ऋण देना,

केन्द्रीय सरकार ने अपने कृषि-विभाग का पुनर्गठन किया। दोनों ने दान के रूप में एक धन-राशि भारत सरकार को दी। साथ ही, लङ्काशायर के कपड़े के मिल मालिकों की भी माग हुई कि भारत में रुई की खेती में कुछ उन्नति की जाये, जिससे उन्हें आवश्यक परिमाण में रुई मिल सके।

सन् १६०१ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि के लिए एक इन्सपेक्टर जनरल की नियुक्ति की, परन्तु धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार की कृषि नीति में शिथिलता आती गई। सन् १६०३ में शाही कृषि अनुसन्धान संस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) स्थापित की गई। सन् १६०५ में लार्ड कर्जन के काल में कृषि नीति में कुछ परिवर्तन हुए, क्योंकि लार्ड कर्जन भारतीय कृषि में विशेष रुचि रखते थे। उनके प्रयत्नों के कारण लायलपुर, कानपुर, पूना, नागपुर, पूना और कोयम्बटूर में कृषि महाविद्यालय खोले गये। सन् १६१६ में वैधानिक सुधारों के फलस्वरूप कृषि सुधार का कार्य प्रान्तीय विषय हो गया। इसमें कृषि विभागों का, प्रान्तीय जलवायु और भूमि के अनुसार संगठन हुआ। प्रत्येक प्रान्त के वार्षिक आय व्ययक में कुछ राशि कृषि-सुधार के लिए नियोजित होने लगी। इसी अवधि में केन्द्रीय सरकार की ओर से देश के विभिन्न भागों में कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष संस्थाएँ स्थापित हुईं।

सबसे पहिले सन् १६२६ में पूना शाही कृषि अनुसन्धान संस्था का पुनर्गठन हुआ, जो सन् १६३. में दिल्ली में लायी गई तथा मुक्तेश्वर में इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ वेटरनरी सायंस एवं करनाल में सेन्टल ब्रीडिंग फार्म की स्थापना की गई। इसी प्रकार केन डेवलपमेंट सेन्टर की कोयम्बटूर में तथा आनन्द में क्रीमरी (Creamery) तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना हुई, जैसे— सुगर टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर, आदि। इसके बाद सन् १६३४ में कृषि विपणन सलाहकार की केन्द्र में नियुक्ति हुई। इस प्रकार कृषि के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमशः विकास होता गया।

सरकार के पास कोई स्थायी योजना नहीं थी, इसलिए कृषि में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा सुधार नहीं हो सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी कृषि की अवस्था के सुधार के लिए थोड़ा सा ही प्रयत्न किया। कृषि से सम्बन्धित खोजों और अनुसन्धान आदि का प्रभाव खेती पर नहीं पड़ा, क्योंकि कृषि में वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा कृषक एक दूसरे से सदैव दूर रहे। सर जान रसल के अनुसार—"भारत में वैज्ञानिक खोजों को सग्रह न करके उनका प्रत्यक्ष उपभोग आवश्यक है।"

कृषि विभाग के कार्य—

प्रत्येक विभाग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान करता था। भूमि की उर्वरता एवं नमी, नाइट्रोजन का सरक्षण, विभिन्न फसलों की खेती का भूमि पर प्रभाव, भूमि को कटाव से बचाने के उपाय, क्षारयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के साधन, विभिन्न फसलों के कीड़े और रोगों को रोकने के उपाय, प्राकृतिक

कृषि के लिए अल्पकालीन १५० करोड़ रु०, मध्यकालीन ५० करोड़ रु० और दीर्घ-कालीन २५ करोड़ रु० की साख सुविधाएँ सहकारी संस्थाओं के माध्यम से ही दी जावेंगी।

तीसरी योजना—

आयोग के अनुसार सहकारिता क्षेत्र का आवश्यक लक्ष्य जनता में मितव्ययिता तथा बचत की आदत डालना है। प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिताओं के कार्यक्रम के अनुसार सदस्यों की ऋण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं।

तीसरी योजना के लिए आरम्भिक रूप से निम्न लक्ष्य निर्धारित किये हैं :—

प्रारम्भिक ग्राम समितियाँ (सेवा-सहकारिताएँ) २५ हजार

सदस्य संख्या -	४ करोड़
ग्रामीण जन-संख्या का समावेश	५५%
कृषि जनसंख्या का समावेश	७४%
अल्पावधि ऋण	४०० करोड़ रु०
मध्यावधि ऋण	१६० ,,
दीर्घावधि ऋण	११५ ,,
अनुपातिक सदस्यता	१६०
,, ऋण प्रति सदस्य	१२० रुपये
(अल्प तथा मध्यावधि)	
प्रत्येक समिति की अनुपातिक शेयर पूँजी	४,८०० रु०
,, का व्यवस्थापित एवं अन्य	
सुरक्षित कोष	१,६०० रु०*

प्राथमिक समितियों द्वारा रखा जाने वाला कुल डिपाजिट ३० करोड़ रु०

इस प्रकार कृषि अर्थ व्यवस्था के सुधार के प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे निश्चय ही कृषकों को महाजनों के पास जाने की आवश्यकता न रहेगी।

———

* नवभारत टाइम्स अगस्त ५, सन् १९६०

अध्याय १६

भूमि व्यवस्था, कानून और जमींदारी उन्मूलन

(Land Systems, Tenancies & Abolition of Zamindari System)

"खेती के तरीकों में सुधार निःसन्देह अनिवार्य है लेकिन जोतों द्वारा चूसे गए दरिद्र खेतिहरों को इसके लिए शिक्षा देना निरर्थक है, क्योंकि उनके पास इसके लिए साधनों का अभाव है। १८ वीं शताब्दि के यूरोप में भू-व्यवस्था के कानून में परिवर्तन उत्पादन-विधियों और कृषि विपणन के आधुनिकीकरण के पूर्व ही हो चुका था। पहिली बातों के अभाव में अन्तिम दो बातें सम्भव नहीं थी।"

—आर० एम० टॉनी।

भूमि व्यवस्था मे हम उन 'अधिकारों और जिम्मेदारियों' का अध्ययन करते है, जिनका सम्बन्ध भूमि के स्वामित्व और भूमि उपयोग से है। दूसरे शब्दो में :—"भूमि व्यवस्था का सम्बन्ध उन शर्तों एवं अवस्थाओं से है, जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसकी जोत का अधिकार निर्भर करता है।" चूंकि भूमि का मालिक मौलिक रूप से देश की सरकार होती है, इसलिए भूमि व्यवस्था में दो बातों का विवेचन होता है :—

(१) भू-स्वामित्व (Proprietory Rights)—इसमे किन बातो पर भूमिपतियो का भूमि पर स्वामित्व निर्भर रहता है और सरकार के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, यह देखते हैं।

(२) जोत का अधिकार या काश्तकारी (Cultivation Tenures)—इसमे भूमि का जोतने वाला या कृषक कुछ शर्तों पर भूमि स्वामी (जमीदार या राज्य) मे जोत के लिए जमीन लेता है। भूमि का 'मालिक होना' और 'उसकी काश्त या जोत', ये दो भिन्न बातें हैं। कृषको को अंग्रेजी मे टेनेंटस अथवा 'माटकी' कहते हैं, क्योकि जिस भूमि पर ये कृषि करते हैं, उस पर उनका निजी स्वामित्व नही होता। जिस पद्धति से भूमि किसानों को दी जाती है, उसे 'माटको' पद्धति (Tenancy System) कहते हैं।

भू-स्वामित्व (Proprietory Tenure)—

भू-स्वामित्व की भारत मे तीन प्रमुख प्रणालियां है :—जमीदारी प्रथा, महालवारी प्रथा और रैयतवारी प्रथा :—

(१) जमीदारी प्रथा—इस प्रथा में भूमि का स्वामी जमीदार होता है, जो सरकार के प्रति जमीन के लगान के लिए उत्तरदायी होता है। जब तक वह लगान

सरकार को चुकाता है, तब तक भूमि का पूर्ण स्वामित्व उसी का रहता है। सरकार को जमीदारों द्वारा दिये जाने वाले लगान का निश्चय दो प्रकार से होता है :—

(क) स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement)—जिसमें लगान की राशि सदैव के लिए एक बार निश्चित हो जाती है। यह बंगाल, बिहार, उड़ीसा में थी। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में रिचार्ड टेम्पल का कथन है—"इङ्गलैण्ड की भाँति भारत में जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव सर्व प्रथम बङ्गाल में हुआ। इस प्रकार जमींदार, जो पहिले नम्बरदार, राजा, ठेकेदार और सरकार के प्रतिनिधि थे, उनको सरकार के तत्त्वावधान में उस जमीन के लिए मौरूसी अधिकार दे दिया गया, जहाँ तक कि भूमि का विस्तार था। मालगुजारी का निर्धारण भूमि के लगान का $\frac{9}{10}$ वाँ भाग निश्चित किया, जो जमींदार कृषकों से लेते थे। शेष $\frac{1}{10}$ वाँ हिस्सा जमींदारों के लिए रखा जाता था। *मालगुजारी के उत्तरदायित्व का निर्धारण साधारणतः* भूमि के अधिकार के ज्ञान बिना और भूमि की उर्वरा शक्ति को देखे बिना किया गया। कृषक की रक्षा की इच्छा रखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते थे। जमींदार लोग इस प्रथा से अकर्मण्य बन गये और किसानों से जितना ज्यादा लगान वसूल कर सकते थे, उतना वसूल करने का यथासम्भव प्रयत्न करते थे। लार्ड कॉर्नवालिस का यह स्वप्न कि लाभदायक पूँजीपति जमींदार जो कृषकों के सन्तोष पर निर्भर रहे, ऐसा अपवाद अपूर्ण ही रहा।"[1]

डा० बी० आर० मिश्रा के शब्दों में—"सरकार ने केवल राजनैतिक कारणों से लाखों कृषकों के अधिकार कुछ लोगों के हाथ में सौंप दिये, जिस कारण जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। जो भूमि के रखने वाले थे, उन्हें स्वामित्व का अधिकार दिया गया और कुछ को उनके अन्तर्गत स्वामित्व का अधिकार दिया गया। श्रेष्ठ क्षेत्रपति और अन्तर्गत क्षेत्रपति के भेद पर विशेष जोर दिया गया, जिस कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति का ह्रास हुआ और उन दोनों के बीच भूमि कर या लगान वसूल करने वाली पूँजीपति जाति का जन्म हुआ।"[2]

(ख) अस्थाई प्रबन्ध (Temporary Settlement)—जिसमें लगान की राशि समय-समय पर (विशेषतः ४० वर्ष के लिए) निश्चित होती है, जिसके बाद पुनः परिवर्तन किया जाता है।

जमींदारी प्रथा बङ्गाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम, मद्रास में प्रचलित थी।

(२) महालवारी प्रथा—यहाँ महाल का अर्थ है गाँव, जिसमें गाँव के कुछ लोग मिलकर सरकार से जमीन का स्वामित्व प्राप्त करते हैं और सम्मिलित रूप से सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार होते हैं। इस कारण महालवारी प्रथा का दूसरा नाम *सम्मिलित ग्राम स्वामित्व* (Joint Village Tenure) है। इस सम्मिलित दल के प्रत्येक स्वामी को 'सहभागी' कहते हैं।

---

1. Quoted by a Hauge in "*Man Behind the Plough*". Page 235.
2. B R Mishra · Land Revenue Policy in U. P. Page 197.

वैधानिक रीति से मालगुजारी के भुगतान के लिए ये सभी सहभागी सम्मिलित रूप से सरकार के प्रति उत्तरदायी हैं। यदि एक सहभागी मालगुजारी नही देता तो सरकार अन्य सहभागियो से वसूल कर सकती है। किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही है, अपितु प्रत्येक सहभागी स्वतन्त्र रूप से अपनी जमीन का स्वामी हो गया है। उसकी व्यवस्था पर उसका अपना ही अधिकार होता है और केवल अपने भूमि की मालगुजारी के भुगतान के लिए ही सरकार के प्रति जिम्मेदार है। यह प्रथा उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा मध्य-प्रदेश में थी।

(३) रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—इसमे किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है, इसलिए मालगुजारी सरकार को ही देता है। मालगुजारी लगभग हर ३०-४० वर्ष बाद निश्चित होती है। इसमे किसान वैधानिक रीति से भूमि का पूर्ण स्वामी नही होता, किन्तु व्यवहार में वह स्वामी ही रहता है। यह प्रथा मद्रास, बम्बई और बरार मे प्रचलित है।

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)—

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त बंगाल में सर्व प्रथम लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा सन् १७९३ में किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्त्वाधान मे इस प्रथा का अधिक विकास हुआ। इस कारण कम्पनी को बङ्गाल से स्थायी कर मिल जाता था, जिसको कम्पनी बहुत अच्छा समझती थी। अतएव यह प्रथा बनारस, उत्तरी मद्रास, मध्य-प्रान्त और दक्षिणी मद्रास मे भी लागू की गई। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त को आगे बढाने का प्रश्न कम्पनी का शासन समाप्त होने पर वाद-विवाद के लिए आया। सरकार ने अपने पूर्व अनुभव से इसके दोष जान लिये थे, अतः इस प्रथा को आगे बढाने के प्रश्न को मजबूती से दबा दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली पूरे बङ्गाल, बिहार के $\frac{3}{4}$ भाग, असम के $\frac{1}{5}$ भाग और उत्तर-प्रदेश के $\frac{1}{10}$ भाग में पाई जाती है। अर्थात् देश की ४२% कृषि भूमि पर यह प्रथा लागू होती है।

स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में—

भूमि की स्थायी व्यवस्था के पक्ष मे निम्न दलीलें दी जाती हैं :—

(१) आर्थिक दृष्टि से सरकार को एक निश्चित धन लगान के रूप में मिल जाता था तथा राज्य को समय-समय पर लगान निर्धारण व वसूली के लिए अधिक व्यय नही करना पडता था।

(२) राजनैतिक दृष्टि से जमीदारों की स्वामि-भक्ति अंग्रेजों को प्राप्त हो गई, जिससे वे अपने राज्य की नींव दृढ कर सके।

(३) सामाजिक दृष्टि से जमींदार कृषकों के स्वाभाविक नेता बन गये, जो अपनी शक्ति जन-साधारण को साक्षर बनाने एवं स्वच्छता के सम्बन्ध मे जानकारी देने मे व्यतीत करते थे।

(४) कृषकों की दृष्टि से इस प्रथा ने कृषि को सुरक्षित, उन्नत और उद्यमशील बना दिया।

(५) अन्त में, अस्थायी बन्दोबस्त में उत्पन्न होने वाले जो दोष हैं, उनसे इस प्रथा ने छुटकारा दिलाया, जैसे—मालगुजारी के पुनः निर्धारण के समय कृषक को कष्ट देना और पुनर्व्यवस्था के लिए धन का अपव्यय आदि।

जमींदारी प्रथा के दोष—

ये सब लाभ बहुत बड़ी कीमत देकर प्राप्त हुए। सन् १९३८ में बंगाल की भूमि व्यवस्था की जाँच करने के लिए सर फ्लाउड की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई। इसकी यह मान्यता है कि जमींदारी प्रथा के कारण बहुत सी कुरीतियों का बोलबाला हो गया, अतः यह प्रथा किसी भी रूप में राष्ट्र के लिए लाभकर नहीं हो सकती। फ्लाउड समिति के अनुसार इस प्रथा में निम्न दोष हैं :—

(१) स्थायी व्यापार वाले प्रान्तों में सरकार ने सदा के लिए भूमि-कर निश्चित किया। फलस्वरूप भविष्य में कृषि-उत्पादन की वृद्धि में हिस्सा बँटाने में सरकार वंचित रही और इन प्रान्तों में सरकारी भूमि-कर की दर बहुत कम रह गई। समाज में आर्थिक असमानता का बीजारोपण हुआ। जन-संख्या की वृद्धि अथवा कृषि की उन्नति के फलस्वरूप अनुपार्जित आय में सरकार का कोई भाग न रहा। सरकारी भूमि कर का सम्बन्ध भूमि की उर्वरता से न रहा और यह एक जिले से दूसरे जिले में परिवर्तित होता गया तथा भविष्य में और भी अधिक असमानता होने की आशा है। इस कारण सरकार को बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ी, क्योंकि जमींदारी के अन्तर्गत खानों, नदियों, तालाबों आदि की आमदनी में उसका कोई भाग नहीं है।

(२) जमींदारों से ही भूमि कर प्राप्त करने के कारण सरकार किसानों के प्रति उदासीन हो गई और उनके साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने अथवा उनके सम्बन्ध में पूर्ण रूप में जानकारी प्राप्त करने में असमर्थ रही। अतः सरकार और कृषक के बीच एक अभेद्य दीवाल खड़ी हो गई, जिससे कृषकों का हित सरकार की आँखों से ओझल हो गया।

(३) इस व्यवस्था से समाज के कुछ वर्गों की क्षमता तथा कर्मण्यता नष्ट हो गई। प्रारम्भ में जमींदारों से ऐसी आशा थी कि वे इङ्गलैंड की भाँति यहाँ भी एक ऐसा वर्ग तैयार करेंगे, जो किसानों की सुरक्षा कर उन्हें भूमि की उन्नति तथा कृषि विकास के लिए आर्थिक सहायता देगा तथा जमींदारों और किसानों का सम्बन्ध घनिष्ट हो सकेगा। परन्तु ये सभी आशाएँ व्यर्थ रहीं।

(४) अनुपस्थित जमींदारों की भूमि का प्रबन्ध ऐसे लोगों के हाथ में आ गया जिनकी किसानों के प्रति कोई भी सहानुभूति नहीं थी, अतः

आपस का सम्बन्ध दिन प्रति दिन बिगड़ता गया। इस प्रकार जमीदारों और किसानों के बीच भू-उपस्वत्त्वधारी (Sub tenants) मध्यस्थों की संख्या बढ़ती गई और कहीं कहीं तो उनकी संख्या ५० से भी अधिक हो गई। फलस्वरूप भूमि के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के लिए कोई भी उत्तरदायी न रहा। वास्तव में इस मध्यस्थ वर्ग से कृषि को कोई भी सहायता नहीं मिलती। अतः इनका बना रहना कृषि की उन्नति के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है।

(५) बंगाल में तथा जमीदारी व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भूमि व्यवस्था जटिल होने तथा किसानों द्वारा मौरूसी अधिकार खोने के कारण मुकद्दमेबाजी बहुत अधिक बढ़ गई। इसमें सरकारी कचहरियों का अधिकांश समय भूस्वत्त्व सम्बन्धी झगड़ों के निर्णय करने में जाता है। इन मुकद्दमों में दोनों पक्षों को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है।

(६) वर्षा की अधिकता, बाढ़, अकाल या अन्य प्रकार के संकट काल में स्थायी व्यवस्था वाले क्षेत्रों के किसानों को लगान की छूट दिलाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि यह जमीदारों के हित में नहीं होता कि वे सरकारी भूमि कर में से सौ रुपये की छूट लेकर किसानों के लगान में हजार रुपये की छूट दें।

(७) मौरूसी अधिकार घटने के साथ-साथ बँटाई की प्रथा तीव्रता से बढ़ रही है, जिससे स्पष्ट है कि कृषकों के रहन-सहन का स्तर नीचा होता जा रहा है। किसानों की रक्षा के लिए समय समय पर काश्तकारी कानून पास किये गये, फिर भी अधिकांश भूमि जोतने वाले कृषकों का भूमि पर अपना कोई स्वत्त्व नहीं है। असहनीय लगान के भार से कृषकों की रक्षा तथा भूमि अधिकार की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई विशेष आयोजन नहीं हुआ है।

(८) देश के बहुत से भागों में नजराने की प्रथा इस समय भी चालू है। भूमि की माँग बढ़ जाने का जब भी अवसर मिलता है, जमीदार किसानों को अधिकार से वंचित करके, ऊँचे नजराने पर दूसरों को भूमि दे देते हैं। कभी-कभी तो ऐसी भूमि को उन्नतिशील बना कर अच्छी उपज पैदा करना ही किसानों के लिए अभिशाप हो जाता है। क्योंकि जमीदार उनसे ऊँचे लगान माँगने लगते हैं और इन्कार करने पर उनसे भूमि छीन कर दूसरों को दे देते हैं। इसके अतिरिक्त वे बहुत काल तक किसानों से अनेक प्रकार के धन वसूल करते हैं। अभी इन बेगारों के चिन्ह किसी न किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं। ऐसी

दशा में जब किसानो के पास जीवन-यापन के लिए पर्याप्त भूमि नही है तो बेगार की मार से उनकी कमर और भी टूट जाती है।

इन कठिन परिस्थितियों के कारण किसान लगान देने मे असमर्थ हो जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पहले बकाया लगान बहुत बढ़ गया था, जिसके कारण जमीदारो को अत्यन्त कठिन समस्याओ का सामना करना पडा। कचहरियो की सहायता से भी वे लगान की वसूली मे असफल रहे। फ्लाउड कमीशन के अनुसार इस समस्या का सन्तोषपूर्ण हल तब तक नही हो सकता, जब तक जमीदारी उन्मूलन तथा स्थायी व्यवस्था का विघटन नही होता।

काश्तकारी सम्बन्धी सन्नियम (Tenancy Legislation)—

हमने देखा कि भूमि प्रथा से अनेक भयङ्कर दोष उत्पन्न हुए हैं। इस कारण जमीदार से लगाकर काश्तकारो के बीच अनेक स्वार्थी मध्यस्थो का प्रादुर्भाव हुआ। साथ ही अनुपस्थित जमीदारी प्रथा ने जोर पकडा, जो केवल नियम विरुद्ध धन का ध्यान रखती है, भूमि की उन्नति का नही। इससे प्रायः काश्तकारो को लगान की वृद्धि का शिकार या भूमि से निकाले जाने का सामना करना पडता है। इस प्रथा ने कृषि सम्बन्धी बहुत से असन्तोष को उत्पन्न किया। इस कारण सरकार को कृषकों के अधिकारो की सुरक्षा के लिए बीच मे आना पडा। सरकार की मध्यस्थता बगाल के सन् १८५९ के लगान कानून से प्रारम्भ हुई।

इस कानून ने व्यवस्थित काश्तकारो को तीन वर्गों मे विभक्त किया :—(१) जो काश्तकार सन् १७९३ के बाद से उसी लगान पर भूमि जात रहे हैं उनके लगान में हमेशा के लिये कोई प्रयत्न नही किया गया। (२) वे लोग जिनको कि एक ही लगान में भूमि को जोतते हुये २० वर्ष हो गये है, उनके लिये भी यह मान लिया गया कि सन् १७९३ के बाद वे इसी लगान पर भूमि जोत रहे है, यदि इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नही हो। (३) वे काश्तकार जिनको कि १२ वर्ष के लिए भूमि की आवश्यकता थी, उन्हे मौरूसी हक दे दिया गया। नियम के अनुसार अगर कोई कारण हो तो उनके लगान मे वृद्धि की जा सकती है, अन्यथा नही।

किन्तु यह कानून असफल सिद्ध हुआ। जमीदार ने यथाशक्ति किसी भी काश्तकार को १२ वर्ष से ज्यादा समय के लिए एक साथ काश्त नही करने दी, जिस कारण उसे मौरूसी हक प्राप्त नही हो सके। उन्होने लगान को बढाने, पुराने काश्तकारो को अधिकारच्युत करने और उनको परेशान करने के लिये अनेक हथकन्डो को काम में लिया। कृषि के प्रति लोगो में असन्तोष उत्पन्न हो गया और साथ में विद्रोह भी, अतः दूसरा काश्तकारी नियम स्वीकार किया गया, जो बगाल का सन् १८८५ का काश्तकारी नियम के नाम से प्रसिद्ध है। इस नियम का उद्देश्य उन काश्तकारो को जिनके पास भूमि थी, उस पर उन्हे मौरूसी हक देना था।* ऐसा करने पर भी कीमतो के साथ लगान

* R. C. Dutta · Economic History of India in the Victorian Age, P. 146.

में औसत दर से वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त भूमि के विनिमय को नियम युक्त सिद्ध करने के लिये जमींदार ने कुछ रुपया भी लिया। सन् १६२८ में एक और अधिनियम बनाया, जिसके कारण मौरूसी हक वाले कुछ परिस्थितियों में भूमि का विनिमय कर सकते थे। जमींदार भी हकशफे के अनुसार विनिमय की कीमत से १०% ज्यादा देकर उस भूमि को खरीद सकता था। इससे हकशफे का अधिकार पुनः जमींदार को प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि किसी बात पर भूमि स्वामी और जनता के समझौते के लिए कोई मसला हो तो जमींदार अपनी इच्छानुसार करता था।*

इस बीच अन्य प्रान्तों ने भी बगाल के काश्तकारी नियम के अनुसार जमींदार ताल्लुकेदार और खेतों के लिए नियम बनाये। आगरा के लगान एक्ट में सन् १६२१ और सन् १६२६ के काश्तकारी कानून के अनुसार संशोधन हुए। जो भूमि के स्वामी नहीं है, उन्हें इस कानून के अन्तर्गत जीवन भर भूमि रखने का अधिकार मिल गया और कानूनी काश्तकार को अन्य ५ वर्षों के लिए अपनी भूमि पर इस कानून के अन्तर्गत रहने का अधिकार मिला। जमींदार कानूनी काश्तकार के लगान में २० वर्षों के बाद वृद्धि कर सकता था। इस काश्तकारी कानून के कुछ अंशों तक सब काश्तकारों का संरक्षण हुआ, केवल जमींदारों के यहाँ कार्य करने वाले खेतिहर मजदूरों का नहीं। इस कानून के अन्तर्गत जीवन के लिए कानूनी काश्तकार के वराज को दूसरे ५ वर्षों के लिए उसी भूमि पर रहने का अधिकार मिल गया। ऐसी सुविधा अनेक काश्तकारों को मिली। जमींदार कानूनी काश्तकार के लगान में वृद्धि १० वर्ष पश्चात् ही कर सकता था, पहिले नहीं।

मद्रास में जमींदार की भूमि पर काश्त करने वाले किसानों का कानूनी संरक्षण सर्वप्रथम मद्रास के सन् १६०८ के भूमि कानून द्वारा दिया गया। इस कानून के अनुसार जमींदारी क्षेत्र के काश्तकार को मौरूसी हक कानून द्वारा निश्चित लगान देते रहने के कारण दिया गया और उसमें यह गुञ्जायश रखी कि अगर जमींदार भूमि के लगान में वृद्धि करना चाहे तो उसे कुछ मुख्य कारणों सहित, जैसे फसल की कीमत का बढ़ जाना आदि, एक प्रमाण-पत्र राजस्व न्यायालय में देना चाहिये। मध्य-प्रान्त में सन् १६३० में एक काश्तकारी कानून पास किया गया, जिसमे मालगुजार और काश्तकार के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण था। यद्यपि एक प्रान्त में विभिन्नताएँ है तो भी इन कानूनों के अनुसार मौरूसी काश्तकारों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसको स्वच्छन्दता से बढ़ाये जाने वाले कर से संरक्षण मिला। काश्तकारी की स्थिरता हो गई और उन्हें अपनी भूमि का विनिमय करने का अधिकार मिला। इन कानूनों का परिणाम सर्वत्र एक ही था। भूमि व्यवस्था में जो कुरीतियाँ थीं, वे इन कानूनों से नष्ट कर दी गईं। फ्लाउड जांच समिति के अनुसार "यह सत्य है कि इन कानूनों के अन्तर्गत काश्तकारों का भूमि पर अधिकार हो गया है, किन्तु ज्यादा संख्या

---

* *Hague, P. 270.*

में ऐसे भी काश्तकार हैं, जिन्हें कुछ अंशों में भी भूमि पर स्वामित्व नहीं मिला है। उन्हें लगान के बढ़ने और काश्तकारी से हटाये जाने के लिये संरक्षण नहीं मिला।"

नये काश्तकारी नियम—

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही सब जगह जनता के मन्त्रि-मण्डलों ने राज्य सत्ता हस्तगत की। उनका पहला कार्य काश्तकारी नियमों में सुधार करना था।

काश्तकारी कानूनों के मुख्य उद्देश्य निम्न थे :—

(१) कानून द्वारा लगान में वृद्धि करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना।

(२) स्वतन्त्रता से काश्तकारों को भूमि से अलग करने की प्रणाली पर रोक लगाना।

(३) काश्तकारों को मौरूसी हक देना, जिससे एक भूमि परम्परागत हस्तान्तरित की जा सके।

(४) *बकाया लगान के सम्बन्ध में कुर्की के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना* और साथ में जानवरों, बीज और औजारों को कुर्की से मुक्त करना।

(५) लगान में कुछ समय के लिये जो रोक लगा दी जाती है, उससे कृषकों को भी रोक द्वारा या लगान में कमी से लाभ पहुँचाना।

(६) काश्तकार द्वारा भूमि पर किए जाने वाले सुधार के लिये उसे हर्जाना देने की व्यवस्था करना।

जमींदारी उन्मूलन—

भारतीय भूमि व्यवस्था के विवेचन में यह स्पष्ट है कि उसमें अनेक दोष हैं, आर्थिक दृष्टि से जमींदारी उन्मूलन का विशेष महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञों की अनेक समितियों ने समय समय पर जमींदारी प्रथा का अन्त करने की सिफारिश की।

सन् १९४७ में भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने भूमि-सुधार कार्यक्रम को अपने आर्थिक कार्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इस कार्यक्रम की निम्न प्रमुखताएँ हैं :—

(१) मध्यस्थों का उन्मूलन तथा काश्तकारी सुधार करना, जिससे काश्तकारों *के भारत की सुरक्षा हो, उपज के* $\frac{1}{4}$ *से* $\frac{1}{5}$ *भाग तक समुचित लगान* निश्चित करना तथा अन्त में काश्तकारों को भू-स्वामित्व दिलाना।,

(२) भूमि-धारण की सीमा निर्धारण करना,

(३) *भूमि की चकबन्दी करना एवं भूमि का विभाजन एवं अपखण्डन* रोकना, तथा

(४) सरकारी कृषि का विकास।

प्रकार प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या सन् १९५८-५९ में १८३ हजार हो गई थी, जबकि सन् १९५१ में कुल १०५ हजार प्राथमिक कृषि समितियाँ थी। सिंचित क्षेत्र योजना के अन्त तक ७०० लाख एकड़ हो जायगा, ऐसी आशा है। दूसरी योजना में सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र में अच्छे बीजों का वितरण करने के लिए ४,००० बीज फार्म हो जायेंगे। अन्य प्रगतियों में ३९ लाख मि० एकड भूमि का रिक्लेमेशन, २२० लाख एकड़ भूमि को हरी खाद की पूर्ति, २७ लाख एकड़ भूमि में भूमि संरक्षण कार्यक्रमों का प्रसार हो जायगा। साथ ही, सन् १९६०-६१ तक नेत्रजनीय खाद की खपत ५५,००० टन (१९५०-५१) से ३,६०,००० टन हो जायगी। इसके अलावा अन्य उपलब्धियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलोचना—

इस प्रगति के होते हुए भी हमारे कृषि विकास कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनकी ओर विश्व बैंक के अध्ययन दल ने संकेत किया है कि "प्रयत्नों का वितरण कुछ प्रमुख बातों पर केन्द्रित न करते हुये अति विस्तृत क्षेत्र में हुआ है। यदि इस ढाँचे को समुचित बनाकर विश्वास और प्रलोभन के साथ पर्याप्त सुविधाएं दी जायें तो उपलब्ध स्रोतों में ही उल्लेखनीय परिणाम मिल सकते हैं। यदि रसायनिक खाद की पूरी माँग की पूर्ति की जा सके तो केवल इसी से खाद्यान्न के मूल लक्ष्य और संशोधित लक्ष्य के अन्तर को पूरा किया जा सकता है।"[1]

तृतीय पंच वर्षीय योजना—

विकास की योजना में आवश्यक रूप से कृषि को प्रथम प्राथमिकता देनी होगी। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का महत्त्व तथा निर्यात एवं उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही तृतीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य है।"[2] इसी दृष्टि से तीसरी योजना में व्यय का आयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है:—[3]

(करोड़ रुपयों में)

	दूसरी योजना में	तीसरी योजना में	प्रतिशत दूसरी योजना	प्रतिशत तीसरी योजना
(१) कृषि एवं सिंचाई की छोटी योजनाएं	३२०	६२५	६·६	८·६
(२) सामुदायिक विकास एवं सहकारिता	२१०	४००	४·६	५·५
(३) सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनायें	४५०	६५०	९·८	९·०

1 Commerce, 20 Sept. 1958, page 461-62.

2 A Draft Outline of Third Five Year Plan, p. 23.

3. — Do — p. 27 Table 3 p. 23. & pages 147-151.

राज्य*	जमींदारी का क्षेत्रफल (एकड लाखों में)	कुल रुपया (करोड में)	मुआवजा औसत प्रति एकड (रुपयों में)
(१) मद्रास	१७४·६	१५·५	९
(२) उत्तर-प्रदेश	५२५·००	१४००	२७
(३) बिहार	३९६·६४	१५०·०	३८
(४) मध्यप्रदेश (विलय क्षेत्रों को निकाल कर)	३९४ ४०	६८·५	१७
(५) पश्चिमी बगाल	१२७·००	२५·०	२०
(६) उडीसा	१००·००	१०·०	१०
(७) असम	१६·७२	५·०	३०
कुल	१,७३४·२२	४१४०	२४

इस तालिका के अनुसार कथित ७ राज्यो का जमीदारी उन्मूलन का कुल क्षेत्र १७ करोड ३४ लाख एकड से अधिक है और प्रान्तीय सरकार को इसके लिए जमीदारो को कुल ४ अरब १४ करोड रुपये मुआवजे के रूप मे देना है। यदि हम उन सभी राज्यो की समस्या पर विचार करें, जिनके विषय मे अभी सूचना नही मिल सकी है तो मालूम होगा कि जमीदारी उन्मूलन के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र की वृद्धि के साथ ही मुआवजे की रकम बढेगी। इस तालिका से स्पष्ट है कि मुआवजे की रकम में प्रति एकड काफी भिन्नता है। एक ओर बिहार मे प्रति एकड मुआवजे की रकम ३८ रुपया है, जहाँ मद्रास मे सिर्फ ९ रुपया ही है।

साधारणतः सभी राज्यो मे थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ समान योजना लागू की गई, जिसके अनुसार जमीदारो, जागीरदारो इत्यादि की जमीन सरक्षक बोर्ड (Trust) या कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन राज्य सरकारो ने अपने हाथ मे ले ली और भू स्वामियो को बेचे न जा सकने वाले बोड (Non-negotiable Bonds) मे मुआवजा दिया गया। जमीदार इन बोडो को ४० वर्ष के अन्दर भुनाकर नगद राशि प्राप्त कर सकते है। जमीदारो से उनकी *खुदकाश्त अथवा सीर भूमि नही ली गई*, जिसका वे उपयोग कर सकते है तथा बजर जमीन, चरागाह और जगल इत्यादि गाँव की जनता के लाभ के लिए ग्राम पचायत के अधीन किए गये। कुछ कानूनो मे, भविष्य मे एक आदमी कितनी जमीन रख सकता है अथवा खुदकाश्त करने के लिए अधिकतम *कितनी जमीन होनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ*, उत्तर-प्रदेश मे एक व्यक्ति केवल ३० एकड जमीन रख सकता है और जहाँ जमीन पर माटकी कृषि होती है, वहाँ भूमि का स्वामी अपनी काश्त के लिए एक निर्धारित मात्रा

* Reserve Bank of India Bulletin, June 1950

हो रख सकता है। बम्बई में यह मात्रा ५० एकड़, पंजाब में ५० 'स्टैण्डर्ड' एकड़ और हैदराबाद में आर्थिक दृष्टि से प्रति व्यक्ति के पास कम से कम जितनी जमीन होनी चाहिए, उसकी पांच गुनी अधिक निर्धारित की गई है। उत्तर-प्रदेश में काश्तकारी (Tenancy) समस्या कानून रय्यतवारी प्रथा वाले क्षेत्रों से भिन्न है, इसलिए यहाँ यह मात्रा कम है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए जमीन की न्यूनतम और अधिकतम मात्रा निर्धारित करना आवश्यक है, जिससे जमीन के छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाने या कुछ व्यक्तियों के कब्जे में अधिक मात्रा में आ जाने से जमींदारी उन्मूलन का उद्देश्य नष्ट होने से बच जाय और उसका लाभ उठाया जा सके। इस सीमा को निर्धारित करने के लिए :—(१) भू-राजस्व, (२) भूमि की कुल उपज का मूल्य, (३) उत्पादन में से उत्पादन व्यय इत्यादि अलग करके शेष का मूल्य, (४) जमीन पर प्राप्त होने वाली अनुमानित कीमत तथा (५) पट्टे के मूल्य (Lease Value) को आधार बनाया जा सकता है।

प्रतिफल (हानिपूर्ति) का आधार—

विभिन्न जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी विधानों में प्रतिफल के विभिन्न आधार दिए गये हैं। असम, बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश में मुआवजे का आधार जमीन से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (Net Income) से है। उत्तर-प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' तथा मद्रास में 'आधारभूत वार्षिक आय' से है। वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति के आधार लगभग समान ही हैं। जमींदारी की कुल आय में से भू-राजस्व कर (Cess), प्रबन्ध का व्यय, रैयत के लाभ के लिए किये गये कार्य में व्यय और कृषि आय-कर इत्यादि घटाकर ही वास्तविक आय मालूम की जाती है। प्रबन्ध और रैयत के लाभ के लिए किये गये कार्य में जो राशि व्यय की जाती है, वह सभी राज्यों में समान नहीं है। वास्तविक आय निश्चित करने के बाद इसी आधार पर मुआवजा निर्धारित किया गया है। मद्रास म 'मूल-भूत वार्षिक आय' निकालने के लिए रैयतवारी से प्राप्त वार्षिक आय के एक-तिहाई भाग का ५% कर्मचारियों पर व्यय करने और वसूली न हो सकने के लिए अलग कर दिया जाता है और ३⅗% सिंचाई व्यवस्था के व्यय के लिए काट लिया जाता है। इसके बाद जो आय शेष रहती है, वही 'मूल-भूत वार्षिक आय' कहलाती है। यह पद्धति अन्य राज्यों से भिन्न है, क्योंकि हानिपूर्ति जमींदारी से प्राप्त होने वाली वर्तमान वास्तविक आय पर आधारित न होकर रय्यतवारी प्रथा लागू होने के बाद भू-राजस्व के २५% पर आधारित होगी।

उत्तर-प्रदेश में हानिपूर्ति की दर वास्तविक सम्पत्ति की आठ गुनी है। इसके साथ ही जो जमींदार १०,००० रुपये से अधिक भू राजस्व नहीं देते, उनको जमींदारी उन्मूलन के पश्चात वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर एक गुना तक पुनर्वास अनुदान दिया जायगा। ये अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिए अधिक गुने होंगे

और अधिक आय वालों के लिए क्रमशः कम होते जावेंगे। हानिपूर्ति बेचे न जा सकने वाले बौन्डो (Non Negotiable Bonds) में दी जायगी। हानिपूर्ति की रकम यदि २० रुपये के सबसे छोटे बौन्ड से कम हो या भुगतान की रकम ५० रुपये से अधिक न हो तो हानिपूर्ति नकद दी जायगी। बौण्ड की अवधि ४० वर्ष होगी और प्रति वर्ष २½ रु० प्रतिशत की दर से इन पर वाजिब ब्याज में से अर्द्ध-वार्षिक किश्तों में रुपया दिया जायगा। जमीदारों के स्वत्वों की जाँच करने में और हानिपूर्ति देने में काफी समय लगेगा, इसलिए जमीदारों की कठिनाई से सुरक्षा के लिए अन्तरिम अवधि में अस्थाई मुआवजे की व्यवस्था की गई है, जो नकद दी जावेगी। स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों से इस अन्तरिम अवधि में जितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, उसका १½ गुना प्रतिफल दिया जायगा। अन्य बातों में प्रतिफल की रकम भू-राजस्व के बराबर होगी। जहाँ भू राजस्व नहीं दिया जाता, वहां अस्थाई हानिपूर्ति अनुमानित भू-राजस्व की रकम के आधार पर दी जायगी।

हानिपूर्ति के भुगतान में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हानिपूर्ति या तो नकद दी जाय या बेचे न जा सकने वाले बौंडों में। जमीदारों के दृष्टिकोण से यदि हानिपूर्ति नकद दी जाती तो सर्वोत्तम होता। क्योंकि इससे वह कोई नया कारोबार खोलते या उद्योगों में रुपया लगाते, जिससे उन्हें बराबर आय मिलती रहती। परन्तु हानिपूर्ति की राशि का नकद भुगतान सम्भव नहीं है, क्योंकि राज्य सरकारें एक साथ ही इतनी अधिक रकम देने की व्यवस्था नहीं कर सकती। उत्तर प्रदेश में जमीदारी उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है। किसानों को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। जमीदारों को हानिपूर्ति की रकम नकद देने के लिए राज्य सरकारें जनता से ऋण या भारत सरकार से वित्तीय सहायता ले सकती थी। परन्तु मुद्रा मण्डी की स्थिति ऐसी नहीं है कि राज्य सरकारें हानिपूर्ति के लिये इतनी बड़ी रकम प्राप्त कर सकें। भारत सरकार ने भी इस कार्य के लिए राज्य सरकारों को सहायता देने में असमर्थता प्रकट की। यदि जमीदारों को नकद रुपयों में हानिपूर्ति न देकर बेचे जा सकने वाले बौंडों में दी जाती तो यह सम्भव था कि जमीदार इन बौंडों को बाजार में बेच देते, जिससे सरकारी प्रतिभूतियों के बाजार में मन्दी आ जाती। ऐसा होने से पूँजी बाजार के साधन सकुचित हो जाते। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर यह निश्चय किया गया कि हानिपूर्ति बेचे न जा सकने वाले बौण्डों में दी जाय, परन्तु इसमें जमीदारों के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं होता है, क्योंकि जमीदारों को उनकी हानिपूर्ति की रकम और उस ब्याज का भुगतान काफी लम्बे समय बाद किया जायगा, जिसमें इस बीच अपना वर्तमान व्यय चलाने में या कोई नया कारोबार स्थापित करने में जमींदारों को बहुत कठिनाई होगी।

राज्य सरकारों को बौंडों का मूलधन और ब्याज का भुगतान करने में विशेष कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि इस बीच भू राजस्व से राज्य सरकारों की आय बढ़ेगी,

जो कि इस आय में क्षतिपूर्ति दे सकेगी। जैसा कि निम्न तालिका में यह स्पष्ट है कि जमींदारी उन्मूलन से राज्य की आय में प्रति वर्ष कुल मुआवजे की ४·७% वृद्धि होगी, जिसमें से प्रति वर्ष भुगतान किया जा सकता है :—

तालिका[1]

राज्य	मुआवजे की रकम (करोड़ रुपयों में)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व (करोड़ रुपयों में)	अतिरिक्त वार्षिक भू-राजस्व कुल रकम का प्रतिशत
मद्रास	१५·५	१ (अ)	६·४५
उत्तर-प्रदेश	१४०	७	५
बिहार	१५०	६·५	४·३३
मध्य-प्रदेश (विलय क्षेत्र निकाल कर)	६८·५	२·७५ (अ)	४
पश्चिमी बंगाल	३५	१·८ (अ)	५·६
उड़ीसा	१०	०·६७ (अ)	६ ७
असम	५	०·२० (अ)	४
कुल	४१४·०	१९·५२	४·७१

जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार का व्यावहारिक रूप[2]—

उत्तर-प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन—

उत्तर प्रदेशीय धारा-सभा ने १० जनवरी सन् १९५१ को उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन बिल पास किया। बिल को २६ जनवरी सन् १९५१ से लागू करने का विचार था। परन्तु कुछ जमींदारों की प्रार्थना पर उच्चतम् न्यायालय ने उत्तर-प्रदेश सरकार को इसे कार्यान्वित न करने का आदेश दिया, जिससे बिल को कार्यान्वित न किया जा सका। इसके बाद भारतीय संविधान में आवश्यक संशोधन होने के बाद उच्चतम् न्यायालय ने इसे वैध घोषित किया, अतएव २६ जनवरी सन् १९५२ से इस नियम को लागू कर दिया गया। सम्पूर्ण उत्तर-प्रदेश में लगान वसूल करने का काम अब राज्य सरकार करती है। जमीदारों के पास मुआवजे के कागज भेज दिए गये हैं और व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी प्रकार से इस प्रथा को भंग कर दिया गया है।

इस नियम की प्रमुख व्यवस्था निम्न प्रकार हैं :—

(१) २६ जनवरी सन् १९५२ से मध्यजनों के सभी हित, जिसमें उनके

1. Reserve Bank of India Bulletin, June 1950.

(अ) = अनुमान

2. Based on H. D. Malviya's : Land Reforms in India (1954).

कृषि की भूमि के अधिकार, रास्तो और सडको के अधिकार, आबादी, ऊसर-भूमि, जंगलो, नाव पुलो, कुँओ, तालाबो, पानी के बम्बे, खानो और खनिज पदार्थों तथा अन्य भू गर्भ अधिकार सम्मिलित हैं, सरकार को प्राप्त हो गये, परन्तु मध्यजनो का उनकी सीर, खुदकाश्त, बगीचो, निजी कुँओ, सीर अथवा खुदकाश्त भूमि के पेडो और आबादी के वृक्षो पर अधिकार रहा।

(२) जमीदारों को जो हानिपूर्ति दी गई उसकी दर वास्तविक सम्पत्ति के आठ गुनी रखी गई, परन्तु साथ ही यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक ऐसे जमीदार को जो १०,००० रुपया प्रति वर्ष से अधिक मालगुजारी नही देता है, पुनर्वास अनुदान दिये गये, जिनकी दर १ गुनी से लेकर २० गुनी तक है। जितनी जमीदारी बडी थी, उतनी ही इस अनुदान की दर कम रखी गई। हानिपूर्ति उसी दिन से देय हो गई जिस दिन से जमीदारी ली गई। ५० रु० तक की हानिपूर्ति नकद दी गई। इससे अधिक के लिए ४० वर्ष तक की अवधि के बांड दिये गये, जिन पर ब्याज की दर २½% रखी गई। ऐसा अनुमान है कि उत्तर-प्रदेशीय सरकार को हानिपूर्ति के रूप मे कुल १४० करोड रुपये देने पडेगे।

(३) हानिपूर्ति की रकम को प्राप्त करने के लिए एक जमीदारी उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया। सन् १९४६ मे एक एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसा किसान जो अपने वार्षिक लगान का १० गुना सरकार के पास जमा कर देगा, भूमिधर बन जायेगा। अर्थात् उसे अपनी भूमि मे स्थायी उत्तराधिकारी तथा हस्तान्तरण अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। ऐसे किसान को भूमि च्युत नही किया जा सकता। वह अपनी भूमि का किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है। ऐसा अनुमान लगाया गया कि इस प्रकार १७४ करोड रुपये की रकम सरकार को प्राप्त हो जायेगी, परन्तु अगस्त सन् १९५० तक केवल २७ करोड रुपये ही मिले थे और तत्पश्चात् एकत्रण गति और भी शिथिल हो गई। बाद को यह रकम बढा कर दस गुने के स्थान पर ११ गुना कर दी गई। स्मरण रहे कि भूमिधर को केवल आधा ही लगान देना होता है।

(४) किसान मुख्यत: दो प्रकार के हो, भूमिधर और सीरधर। वे सब किसान जो जमीदारी उन्मूलन कोष मे अपने लगान का दस गुना जमा करा देते हैं, सभी जमीदारी, सीर, खुद काश्त तथा बगीचो के सम्बन्ध मे भूमिधर बन जायेंगे और उन्हे पूर्व वर्णित अधिकार प्राप्त होगे। अन्य सभी किसान साधारणतया सीरधर बन जायेंगे और उन्हे यह अधिकार होगा कि उन्मूलन कोष मे दस गुना जमा करके भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर लें। केवल किसानो के दो छोटे-छोटे ऐसे वर्ग रहेंगे, जिन्हे यह अधिकार नही मिलेगा—आसामी और अधिवासी। आसामी अधिकार बगीचों (Grove land) के किसानों, किसान के आधिमानो (Mortgagees) तथा कुछ अन्य प्रकार के किसानो को दिये गये हैं। सीर भूमि के किसान तथा उप-किसान

अधिवासी बना दिये हैं। इन दोनो वर्गों को यह अधिकार दिया गया है कि वे पाँच वर्ष तक भूमि पर कब्जा रख सकते हैं। सीरधर किसानो को अपनी भूमि के सम्बन्ध में स्थायी तथा उत्तराधिकारी अधिकार प्राप्त होंगे, परन्तु वे अपनी भूमि का केवल कृषि, बाग, फुलवारी अथवा पशु-पालन के लिए ही उपयोग कर सकते हैं।

(५) जमींदारी उन्मूलन के समय वाले किसान अपनी काश्त में कितनी ही भूमि रख सकते हैं। परन्तु भविष्य मे कोई भी एक व्यक्ति ५० एकड से अधिक भूमि नही रख सकता और यदि एक व्यक्ति के पास भूमि की मात्रा ६३/१ एकड़ से कम हो जाने की सम्भावना है तो भूमि के विभाजन की आज्ञा नही दी जावेगी।

(६) भूमिधरो तथा सीरधरो पर भूमि-कर चुकाने का सम्मिलित उत्तर-दायित्व होगा, परन्तु यदि एक व्यक्ति दूसरे की ओर से कर चुकाता है तो उसे वसूली का अधिकार होगा। सरकार का विचार है कि करो को एकत्रित करने के लिए ग्राम-सभाओ का उपयोग किया जाये। सभी प्रकार की सामूहिक भूमि, चरागाह, ऊसर अथवा मरुभूमि जंगल आदि पर गाँव सभा का अधिकार स्थापित किया गया। जैसा कि विदित है कि ग्राम हुकूमत एक्ट द्वारा सभी ग्रामो मे सभाएँ और पचायतें स्थापित की गई।

इस प्रकार जो उपाय किये गये हैं वे लगभग क्रान्तिकारी हैं और यह आशा की जाती है कि उपर्युक्त सुधारो से ग्रामीण क्षेत्रों मे सुख और सम्पन्नता के नये युग का आरम्भ हो गया है। भुगतान की हानिपूर्ति समस्या थोडी जटिल है। केन्द्रीय सरकार ने अपनी मुद्रा स्फीति विरोधी नीति के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की सहायता देने से इन्कार कर दिया। परन्तु किसानो से जो रकम वसूल हुई, उससे हानिपूर्ति का एक अंश नकदी में दे दिया गया और शेष का भुगतान बाँडो मे दिया गया।

पश्चिमी-बङ्गाल—

अविभाजित बंगाल मे सन् १९३८ में एक भू-राजस्व आयोग नियुक्त किया गया, जिसे फ्लाउड कमीशन भी कहा जाता है। इस कमीशन की स्थापना का उद्देश्य प्रान्त की भू राजस्व प्रणाली की जाँच करना था। इस कमीशन ने यह सुझाव दिया कि प्रान्त मे सभी प्रकार के मध्यजनों का अन्त होना चाहिए और रैयतवारी प्रथा को अपनाया जाये, जिससे किसानो तथा सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो सके। इस हेतु सन् १९५३ मे पश्चिमी बंगाल भू-सम्पत्ति प्राप्त अधिनियम पास किया गया। यह बिल धारा-सभा की एक सम्मिलित निर्वाचित समिति को सौंप दिया गया था, जिसने इसमे कुछ संशोधन किये। इसमें प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न हैं :—

(१) कोई भी मध्यजन (Intermediary) खास जागीर के रूप में घर तथा अकृषि कार्य के लिए अधिक से अधिक २० एकड भूमि रख सकता है।

(२) मध्यजन को घर में लगी हुई भूमि को छोड कर शेष खास भूमि पर लगान देना होगा।

(३) मुआवजे की दर इस प्रकार निर्धारित की गई है कि कम आय वाले वर्गों को अधिक हानिपूर्ति मिल सके ।

(४) जिनकी भूमि में खान है, ऐसे भूमि-पतियों की हानिपूर्ति निश्चित करते समय विशेषज्ञों से राय ले लेनी चाहिए ।

(५) मुआवजे की दरें शुद्ध आय पर निर्भर रहते हुए निम्न प्रकार से होनी चाहिए :—

शुद्ध आय Net Income	मुआवजा Compensation
५०० अथवा ५०० रु० से कम	२० गुना
५०१ से १,००० रु० तक	१८ गुना
१,००१ से २,००० रु० तक	१७ गुना
२,००१ से ४,००० रु० तक	१२ गुना
४,००१ से ५,००० रु० तक	१० गुना
५,००१ से २०,००० रु० तक	६ गुना
२०,००१ से १,००,००० रु० तक	३ गुना
१,००,००१ रुपये एवं इससे अधिक	२ गुना

(६) कोई भी भूमिपति कृषि के लिए अपने पास खास भूमि में से २५ एकड़ भूमि रख सकता है । यह उस भूमि के अतिरिक्त होगा जो अन्य कार्यों के लिए रखी गई है ।

(७) बिल का उद्देश्य चकबन्दी तथा सहकारी खेती है ।

पश्चिमी बङ्गाल में मध्यजनों का पूर्ण अन्त अप्रैल सन् १९५५ तक कर दिया गया । इस हेतु दिये जाने वाले हानिपूर्ति की राशि ७० करोड़ रु० है । अप्रैल सन् १९५६ में भूमि धारण की सीमा २५ एकड़ निश्चित कर दी गई है ।

इस राज्य में लगभग प्राप्ति के सब अधिकार राज्य सरकार ने ले लिए हैं तथा दर रैयत और उप भाटकियों का राज्य से सीधा सम्बन्ध हो गया है । भूमि सुधार कानून सन् १९५५ के अन्तर्गत यदि जमींदार कृषि की लागत देता है तो वर्गादार (Crop-sharer) से कृषि उपज का ५०% अन्यथा ४०% से अधिक भाग न ले सकेगा । रैयत को दर-रैयत की भूमि पर अधिकार प्राप्त करने का अधिकार समाप्त किया गया । इस अधिनियम में जनवरी सन् १९५८ में संशोधन किया गया, जिससे अवैध तरीके से निकाले गये वर्गादारों को पुनः उनकी भूमि दिलाई जा सके । उपज के सह भागियों (Co-sharers) के सम्बन्ध में यदि रैयत के पास ८½ एकड़ या इससे कम भूमि हो तो उस सम्पूर्ण भूमि पर अधिकार मिलेगा और अन्य दशाओं में ½ भूमि पर । दर रैयत द्वारा रैयत को दिये जाने वाली मुआवजे की राशि के निर्धारण का आधार वही है जो मध्यजनों का था अर्थात् शुद्ध आय के दो गुने से २० गुने तक

अभी सरकार को उचित मूल्य के निश्चय करने तथा उसे स्थिर करने का कोई अनुभव नहीं है, यह कार्य करने के लिए सरकार किसी समिति या आयोग की नियुक्ति करे, जो वस्तुओ के उचित मूल्य निर्धारण करने तथा उन्हें लागू करने के लिए जिम्मेवार हो।

मूल्य स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते है :—

(१) उन देशों में जहा साख का समुचित विकास है, प्रायः सरकार की मौद्रिक तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी नीतियाँ स्थिरीकरण में सम्पन्न हो जाती हैं। किन्तु भारत अभी तक एक अविकसित राष्ट्र माना जाता है, जहाँ साख एव बैंकिंग व्यवस्था सुसगठित नही है, अतः भारत सरकार की ये नीतियाँ व्यापार-चक्र को रोकने मे अधिक सफल नहीं हो सकती। स्थिति को देखते हुए देश मे निम्न कार्य अधिक सफल हो सकते हैं :—

(अ) सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित करना—अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण कमेटी के अनुसार इस ओर कार्य होना आरम्भ हो गया है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते—इसके द्वारा सदैव वस्तुओं के आयात-निर्यात एव व्यापारिक लेन-देनो द्वारा स्थिति काबू मे रह सके और कृषि-मूल्यो में उच्चावचन न हो।

(स) कृषको की कृषि सम्बन्धी समस्याओ को दूर करना और उन्हे अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना।

(२) अधिकतम् तथा न्यूनतम् मूल्य निश्चित करना।

(३) सम्पूर्ण देश मे राज्यो के आधार पर एक केन्द्रीय सस्था स्थापित की जाय, तो उत्पादन एव वितरण पर नियन्त्रण रखे और खाद्यान्नो का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, जिसमे कृषको और उपभोक्ताओ को लाभ हो। इस सुझाव से सकट के समय, जबकि कृषकों को कम दाम मिलता है, उन्हे निश्चित मूल्य द्वारा सहायता मिलती है और ऊँचे भाव चढ जाने पर उन्हे एक प्रकार का टैक्स देना होता है। यह सुझाव केवल उन खाद्यान्नो के लिए हो जो बहुत आवश्यक हैं, जैसे—गेहूँ, चावल आदि।

गिरते हुए मूल्यो को थोडा सा सहारा हीनार्थ वित्त प्रबन्ध (Deficit Financing) द्वारा भी मिल सकता है, किन्तु यह अभी विवादास्पद ही है। भारत की द्वितीय पच वर्षीय योजना ने कृषि मूल्यो को गिरने से रोका है, किन्तु उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने से यह स्थिति बदल सकती है।

कृषि वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी सरकारी नीति की सफलता के लिए सरकार निम्न कार्य करे :—

(१) खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ की बिक्री का उचित प्रबन्ध तथा संगठित बाजारो की व्यवस्था होनी चाहिए।

के २५% से अधिक नहीं हो सकेगा। ऐसा अधिकतम लगान सिंचित भूमि में ६ मन प्रति एकड और असिंचित भूमि में ४ मन प्रति एकड होगा।

इसी प्रकार राज्य के कुछ भागो मे जहाँ भूमि रजिस्टर्ड पट्टे पर ली गई है वहाँ नकद लगान जमीदारो द्वारा दिए जाने वाले लगान के ५०% तथा अन्य दशा मे २५% से अधिक नही होगा।

राज्य ने भू सुधार के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए समिति नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है, जो अभी विचाराधीन है।†

मद्रास—

इस राज्य मे जमींदारी और रैयतवारी प्रथा थी। इसलिए जमीदारी क्षेत्र के लिए भू सम्पत्ति (लगान घटाओ) अधिनियम तथा भू सम्पत्ति उन्मूलन एव रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम क्रमशः सन् १९४७ और सन् १९४८ मे बनाये गये। इन दोनो का उद्देश्य लगान मे कमी करना तथा जमीदारी एव इनाम भू सम्पत्ति को प्राप्त कर उसे रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत रखना था। मद्रास राज्य में २,८०० जमीदारी तथा २,५०० इनाम जागीरो को १,२०५ करोड रुपये के मुआवजे मे प्राप्त किया गया। इस प्रकार कुल मिला कर सरकार ने १४० लाख एकड भूमि पर अधिकार किया। मुआवजा सभी राज्यो की तुलना में बहुत कम दिया गया, क्योकि इसकी दर केवल ६ रुपये प्रति एकड होती है। उपयुक्त दोनो अधिनियमो को कार्यान्वित किया गया है, जिनकी प्रमुख व्यवस्था निम्नवत् है:—

(१) जिलाधीशो के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे प्राप्त की हुई जागीरो के लिए व्यवस्थापक नियुक्त किये गये।

(२) रैयतवारी पट्टो द्वारा किसानो को भूमि दी गई।

(३) ऐसे सब किसानो को जो ५ वर्ष अथवा उससे अधिक काल तक खेती कर चुके है, आभोग-अधिकार (Occupancy Rights) दिये गये।

बम्बई—

बम्बई मे सन् १९४८ मे बम्बई भूधारण तथा कृषि भूमि अधिनियम बनाया गया, जिसको १६ मार्च सन् १९५६ को संशोधित किया गया। यह संशोधित अधिनियम १ अगस्त सन् १९५६ से लागू हुआ। संशोधित अधिनियम के अनुसार :—

(१) स्थाई भाटकियो (Tenants) को उनके काश्त की पूर्ण सुरक्षा दी गई है तथा वे लगान के ६ गुनी राशि का भुगतान करने पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(२) अन्य आसामियो के कास्तकारी अधिकारो की सुरक्षा दी गई है, परन्तु जमीदार खुदकाश्त के लिए १२ से ४८ एकड तक भूमि रख सकेगा, जो भूमि आदि

† Amrit Bazar Patrika, Sept. 58

अन्य सुविधाओं पर निर्भर रहेगी। आसामी को अपनी भूमि का आधा भाग रखने का अधिकार है।

१ अप्रैल सन् १६५७ से गैर पुनः प्राप्ति क्षेत्रों (Non resumeable) के आसामियों को भूमि स्वामित्व दिया गया तथा वे लगान के २० से २०० गुना तक हानिपूर्ति देने के लिए तथा सुधार की लागत देने के लिए जिम्मेदार हैं। ऐसी हानिपूर्ति की राशि का भुगतान ४½% ब्याज पर अधिकतम १२ किश्तों में देय है। स्थायी आसामियों को हानिपूर्ति की राशि एक मुश्त में देनी होगी।

अधिकतम् लगान कर निर्धारण के २ से ५ गुने से अधिक नहीं होगा। इनके अलावा आसामी को भूमिकर और अन्य कर (Cess) देना होगा, परन्तु किसी दशा में कुल उपज के छठवें भाग से कुल भुगतान की राशि अधिक नहीं होगी।

भविष्य में भूमि की श्रेणी के अनुसार भू-धारण अधिकारों को १२ से ४८ एकड़ तक सीमित किया गया है, परन्तु यह नियम शुद्ध काश्त की वर्तमान जोतों पर लागू नहीं होगा।

राजस्थान—

राजस्थान में जागीर उन्मूलन के लिए सन् १६५२ में अधिनियम बनाया गया, जिस पर कार्यवाही हो रही है। जमींदारी और बिस्वेदारी भाटकी पद्धति को समाप्त करने के सनियम विचाराधीन हैं।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी जागीरों की पुनः प्राप्ति के अधिकार राज्य सरकार को मिले हैं। धार्मिक एवं सहायतार्थ संस्थाओं की जागीरों को भी उनकी वार्षिक आय के बराबर स्थाई वार्षिक वृत्ति देकर पुनः प्राप्त करने का अधिकार भी राज्य ने उक्त अधिनियम के संशोधन से ले लिया है।

प्रत्येक आसामी और दर-आसामी (Sub tenant) को १,२०० रु० वार्षिक शुद्ध आय देने वाली (इसमें आसामी एवं उसके कुटुम्बियों के श्रम का समावेश नहीं है) भूमि रखने का अधिकार है। इससे अधिक भूमि होने पर भू-स्वामी उसे खुदकाश्त के लिए दो वर्ष में ले सकता है। लगान कुल उपज के ⅙ भाग से अधिक नहीं होगा। अजमेर क्षेत्र में भी मध्यजनों के उन्मूलन सम्बन्धी कानून सन् १६५५ में बनाया गया था। इसके अन्तर्गत जनवरी सन् १६५८ तक २·६ करोड रु० आय की जागीरों पर राज्य ने अधिकार कर लिया है, जिनकी भाटक आय ३·२४ करोड रु० और कुल मुआवजे की राशि ३६ करोड रु० है।

मध्य-प्रदेश—

राज्य सरकार ने ऐसे कानून बना दिए, ताकि मालगुजारी भू धारण प्रणाली तथा मध्य वर्गों के अधिकारों को समाप्त किया जा सके। मुआवजे की दर शुद्ध आय की दस गुनी रखी गई, परन्तु छोटे-छोटे जमींदारों (मालगुजारों) को इसके अतिरिक्त पुनर्वास अनुदान भी दिये जायेंगे।

मध्य प्रदेश के मध्य-भारत क्षेत्र में भी राज्य के विलीनीकरण के पूर्व मध्य-भारत-जागीर उन्मूलन-विधेयक पास किया। इसमे यह व्यवस्था की गई कि जागीरदारी को सरकार द्वारा प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपनी सभी प्रकार की ऐसी भूमि पर, जिसमे वे स्वय खेती करते हो, जागीरदार को पक्के भू-धारी के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और ऐसी भूमि पर गाव की दर के हिसाब से लगान बैठा दिया जायगा। साथ ही, प्रत्येक किसान, जो जागीरदारी अथवा जमीदारी भूमि पर खेती करता है तथा शिकमी काश्तकार उस भूमि मे, जिस पर वह स्वय खेती करता है, पक्के भू धारी अधिकार प्राप्त कर लेगा। इस क्षेत्र की माफी और इनाम की पद्धतियो के उन्मूलन के लिए सन् १९५९ मे एक विधेयक बनाया गया है,* जिससे सभी प्रकार के मध्यस्थो का अन्त हो सके।

मैसूर—

पुनर्गठित मैसूर राज्य मे मैसूर, कुर्ग और पुनर्गठन पूर्व के बम्बई, हैदराबाद और मद्रास के कुछ भाग है। यहाँ पर भूमि सुधार सन्नियमो एव भू व्यवस्था मे समानता पाने के प्रश्नो पर राज्य द्वारा विचार किया जा रहा है। आसामियो की बेदखली से सुरक्षा करने तथा यथावत स्थिति बनाए रखने के लिए अधिनियम बनाये गये हैं। इसके अनुसार आसामियो की बेदखली अथवा आसामियो द्वारा स्वामित्व की प्राप्ति पर रोक लगाई गई है। कुर्ग मे, जहाँ आसामियो के नियमन के लिए कोई सन्नियम नही थे, अधिनियम से कुल उपज की ⅓ अधिकतम् लगान निर्धारित किया है। ऐच्छिक समर्पण को निरुत्साहित करने के लिये ऐसे समर्पण तब तक अवैध रहेगे जब तक कि उनकी रजिस्ट्री रेवेन्यू अधिकारियो के यहा न कराई जाय तथा ऐसी समर्पित भूमि-पर जमीदार को उसी सीमा तक अधिकार लेने की अनुमति है जहाँ तक उसे अधिनियम में पुनः प्राप्ति (Resumption) के अधिकार है। इसमे अधिक भूमि होने पर अथवा जिस क्षेत्र मे भूमि की पुनः प्राप्ति का अधिकार न होने पर सम्पूर्ण समर्पित भूमि राज्य के प्रबन्ध मे आ जावेगी।

प्रारम्भिक अवस्था मे इस हेतु अध्यादेश जारी किए गये थे, जिनका विस्थापन अप्रैल सन् १९५७ मे अधिनियम द्वारा किया गया। मैसूर राज्य ने काश्तकारी (Tenancy) सुधार तथा अधिकतम् भू-धारण निश्चित करने के लिये एक समिति बनाई थी। समिति सिफारिशो के अनुरूप सन्नियम राज्य सरकार के विचाराधीन है।

इसी प्रकार जम्मू-काश्मीर और पजाब, दिल्ली आदि अन्य राज्यो मे भी जमीदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार के व्यापक विधान बनाये गये है। इन सुझावो के फलस्वरूप कृषक सदियो की आर्थिक दासता से मुक्त होकर स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता हो गया है, जो कृषि की उन्नति के लिए एक आवश्यक कदम है।

सहकारी कृषि ही क्यों ?—

भारत में जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि-व्यवस्था का क्या रूप होगा, यह

* India—1960.

देखना आवश्यक है। संसार में इस समय अनेक प्रकार के कृषि संगठन पाये जाते हैं, इसमें से निम्न प्रमुख हैं :—*

(१) पूँजीवादी खेती (Capitalistic Farming)—इस प्रकार का कृषि-संगठन अधिकतर इङ्गलैंड और अमेरिका में प्रचलित है। भारत में भी चाय, कहवा और रबड़ के बगीचों में इसी प्रकार की खेती होती है। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम के बाद अंग्रेज अफसरों ने चाय, कहवा और रबर की खेती हिमालय और नीलगिरी पर्वतों पर आरम्भ की। इसके बाद भारतियों ने भी इसी प्रकार की खेती के लिए पंजाब, सिन्ध और उत्तर-प्रदेश में बड़े-बड़े फार्म खोले। समाजवादी ढंग की समाजरचना का उद्देश्य जब भारत ने अपनाया है, ऐसी स्थिति में इस पद्धति का अवलम्ब हमारे यहाँ नही किया जा सकता। क्योंकि इससे पूँजीवादी प्रवृत्ति को बल मिलता है।

(२) सरकारी फार्म (State Farming)—इस प्रथा में फार्मों का प्रबन्ध सरकारी अधिकारियों के हाथ में रहता है और अन्य सभी कर्मचारी मजदूरों की श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के फार्म रूस में बहुत बड़े पैमाने पर हैं, परन्तु सरकारी अधिकारियों की अयोग्यता और मजदूरों में उत्साह की कमी के कारण विशेष सफलता प्राप्त न कर सके। इसमें व्यक्तिगत रुचि का अभाव होता है, जो किसी भी व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है। भारत में भी सरकारी फार्मों के सफल होने की अधिक आशा नहीं है।

अनुसन्धान तथा खोज के लिए सरकारी फार्म निश्चित ही उपयुक्त है। सरकारी फार्मों से अच्छे औजारों के वितरण तथा अच्छे बीजों के उत्पादन में अवश्य ही सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रयोगात्मक आधार पर जंगलों को साफ कर कृषि योग्य बनाने के बाद कुछ दिनों तक उन पर सरकारी फार्म खोले जा सकते हैं।

(३) सामूहिक खेती (Collective Farming)—इस पद्धति में भूमि, पशु तथा पूँजी पर समाज का अधिकार होता है। भूमि न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है और न व्यक्तिगत खाते ही रहते हैं। कहीं-कहीं व्यक्तियों को उनके घर के पशु रखने तथा तरकारी पैदा करने के लिए थोड़ी भूमि दे दी जाती है, जैसा रूस में है।

सभी भूमि की खेती एक निर्वाचित समिति की देख-रेख में होती है। प्रति दिन के काम का निश्चय, खेती के काम की देखभाल, धन का प्रबन्ध, उत्पादन की बिक्री, मजदूरों की शिक्षा, बीमारी में सहायता इत्यादि सभी कार्य समिति को करने पड़ते हैं। फार्म के लाभ का वितरण अनेक प्रकार से किया जाता है। रूस में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अर्जित वेतन के अनुपात पर ही इसका वितरण होता है। सभी प्रकार की

* "Report of the Congress Agrarian Committee" (1950), p. 17-21.

मजदूरी समान नहीं मानी जाती, अपितु क्षमता और योग्यता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में बांटी जाती है। कार्यक्षमता वृद्धि के लिये बोनस का विशेष प्रबन्ध रहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक लाभ का प्रलोभन रहता है, किन्तु फार्म पर पूरे समाज का अधिकार होता है।

भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में यह प्रणाली उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसान अपना भूमि अधिकार नहीं छोड़ना चाहते। साथ ही, भारत में कृषक स्वामित्व प्रथा अधिक सफल हुई है।

(४) कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship)—यह प्रथा रैयतवारी क्षेत्रों में, जैसे—बम्बई, मद्रास आदि में साधारणतया पाई जाती है। इसमें रैयत का भूमि पर मौरूसी अधिकार होता है और वह भूमि हस्तान्तरित हो सकती है। अपने खाते की मालगुजारी के भुगतान के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है तथा सरकारी कर भी अधिकांशतः उसके खाते के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है। पंजाब में पूरे गाँव के ऊपर ही मालगुजारी निर्धारित की जाती है और फिर इसका बँटवारा रैयत में किया जाता है।

रैयत का भूमि पर पूरा अधिकार होता है, इसलिए स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि हस्तान्तरित हो सकती है अथवा उसे लगान पर उठा सकती है। अनेक बार तो यह देखा गया है कि वह भूमि को स्वयं न जोत कर उसे लगान पर गैर दखीलकार किसानों को उठा देती है, लेकिन अल्पकाल के बाद फिर वापस भी ले लेती है। लगान नकद या वस्तुओं के रूप में वसूल किया जाता है। ऐसी दशा में गैर-दखीलकार किसानों की दशा उन किसानों से भी अधिक शोचनीय होती है, जो जमींदारी क्षेत्रों में मिलते हैं। क्योंकि इन क्षेत्रों में उनका लगान निश्चित रहता है और भूमि पर भी उनका निश्चित अधिकार होता है। इसलिए कृषक स्वामित्व बनाये रखने के लिए इन दोषों को दूर करने के साथ निम्न बातों पर ध्यान देना होगा :—

(१) बिना परिश्रम के भूमि से लगान प्राप्त करने के स्थान पर भूमि का महत्त्व कृषकों को निश्चित और उचित जीविका के साधन प्रदान करने में होना चाहिए।

(२) भूमि राष्ट्रीय सम्पत्ति है, इसलिए इसका उपयोग राष्ट्रीय कार्यों को छोड़ कर किसी भी व्यक्तिगत कार्य के लिए नहीं होना चाहिए। यदि कोई भूमि को बेकार रखता है या देश हित में उपयोग नहीं करता, तो उसे स्वत्व से वंचित कर देना चाहिए। यदि प्रत्येक कृषक को भूमि का अधिकारी बना दिया जाय और सट्टा करने वाले अथवा स्वयं कृषि न करने वाले लोगों के हाथ में भूमि न जाने दी जाय, तो बहुत लाभ होगा। बेकार पड़ी हुई भूमि का उपयोग कृषि कार्य के लिए किया जाय और उसे उन लोगों में बांटा जाय, जिनके पास अलाभप्रद खाते

हैं। यदि अधिक भूमि हो तो उसे कृषि-मजदूरो मे बाँट देना चाहिए, अर्थात् वह उस निश्चित सीमा से न कम हो और न अधिक हो।

(५) सहकारी खेती—इस पद्धति मे किसान आपस मे मिलकर काम करते हैं। वे अपनी भूमि, पूँजी और पशुओ को एकत्र कर फार्म पर एक निर्वाचित समिति की देख-रेख में काम करते हैं। किसानो का फार्म-भूमि मे वैयक्तिक अधिकार रहता है, इसलिये उन्हे लाभ का एक अंश मिल जाता है। श्रमिक फार्म पर काम करते हैं और उस काम के लिए मजदूरी के रूप मे लाभ का शेष अश वितरित कर दिया जाता है। फार्मों पर बडे-बडे यन्त्रो का उपयोग आवश्यक नही है। सदस्यो को रहने और खाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

सहकारी खेती का महत्व उस समय सर्वाधिक हो जाता है, जब छोटे पैमाने पर खेती करने के कारण अनेक असुविधाएँ होती है। इससे छोटे से छोटा किसान भी बडे पैमाने पर की गई खेती से उत्पन्न अनेक प्रकार की बचतो या लाभो को प्राप्त कर सकता है। बडे पैमाने पर रुपया उधार लेने, जानवर व कच्चा माल खरीदने, उपज बेचने, भूमि, श्रम और उत्पादन के दूसरे साधनो का अधिकाधिक उपयोग करने तथा श्रम विभाजन व प्रबन्ध एव संगठन के कारण कार्यक्षमता की वृद्धि होकर अनेक लाभ सहकारी खेती से होते हैं।

ऐसी खेती के लिए पर्याप्त द्रव्य की आवश्यकता होती है। इस देश के किसान इतने निर्धन हैं कि वे बाहरी सहायता के बिना अपना काम भली-भाँति नही चला सकते। फिर भी सन्देह नही कि निर्धन किसान के लिए सहकारिता के अतिरिक्त इस समय कोई दूसरा सहारा नही, इस पद्धति से वे कृषि उत्पादन व्यय घटाकर अपना लाभांश बढा सकते है। इसीलिए दूसरी योजना मे सहकारी कृषि को अधिक प्रोत्साहन दिया गया था।

सहकारी कृषि के सम्बन्ध मे नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्ताव का निम्न उदाहरण उल्लेखनीय है:—

भावी कृषि का ढांचा सहकारी सयुक्त कृषि होना चाहिये, जिसमे सयुक्त कृषि के लिए भूमि का एकत्रीकरण होगा तथा कृषको का स्वामित्व अधिकार अबाधित रहेगा और वे सयुक्त आय से भूमि के अनुपात मे अश लेगे। साथ ही, जो भूमि पर काम करेंगे, फिर चाहे उनके पास भूमि हो या न हो, वे सयुक्त कृषि से अपने श्रम के अनुपात में हिस्सा लेंगे।

संयुक्त कृषि की ओर पहिला पग देश में सेवा सहकारियो का संगठन होगा जो तीन वर्ष की अवधि मे पूर्ण होगा। परन्तु जहाँ सम्भव हो एव जहाँ सामान्य रूप से कृषक सहमत हो वहाँ इस अवधि में भी संयुक्त कृषि आरम्भ हो सकेगी।*

इस दृष्टि से ही तीसरी योजना मे २५,००० सेवा सहकारिताओ की स्थापना

* Resolution of A. I. C. C. in Nagpur Session 1959.

का लक्ष्य रखा गया, जिनमें ५५% ग्रामीण जन-संख्या का तथा ७४% कृषि जन-संख्या का समावेश होगा।

इस हेतु सरकार ने सहकारी खेती के लिए एक कार्यवाही दल की नियुक्ति की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत कर दी है। इस रिपोर्ट पर सरकारी निर्णय सितम्बर सन् १९६० तक होगा, ऐसा अनुमान है।[1]

सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिए एक विशेष मण्डल नियुक्त करने का प्रश्न सरकार के विचाराधीन है। यह मण्डल साधारणतः सहकारी कृषि कार्यक्रम के नियोजन एवं उन्नति तथा प्रगति की समीक्षा, अनुभूत कठिनाइयों एवं शिक्षा के लिये किये गये प्रबन्धों का पर्यवेक्षण और सहकारी प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यों को करेगा। ऐसे मण्डल का गठन केन्द्र तथा राज्य-स्तर पर करने का सुझाव कार्यकारी दल ने दिया है।

सरकार ने अग्रयोजना के रूप में कुछ सहकारी कृषि समितियाँ गठन करने का विचार स्वीकार कर लिया है। ऐसी कितनी समितियाँ बनेंगी, यह प्रश्न विचाराधीन है। अन्तिम निर्णय होने पर राज्य सरकारों के परामर्श से योजना लागू होगी। तत्काल ३२० ऐसी समितियाँ गठित करने का प्रस्ताव है और यह गठन इस प्रकार किया जायगा जिससे हर जिले में कम से कम एक समिति स्थापित हो सके। केन्द्रीय सरकार इन समितियों को प्राविधिक और आर्थिक सहायता प्रदान करेगी।[2]

इस प्रकार जमीदारी उन्मूलन के बाद भारत में भू-स्वामित्व के साथ ही सहकारी कृषि का विकास किया जायगा। इस विकास में गाँव की सम्पूर्ण भूमि एवं स्थानों का प्रबन्ध एवं विकास इस प्रकार होगा जिसमें उत्पादन में वृद्धि होगी और भूमि निर्भर जन संख्या को पूर्ण रोजगार मिलेगा।[3] क्योंकि हमारे भूमि सुधार कार्यक्रम का अन्तिम लक्ष्य सहकारी-ग्राम व्यवस्था है।

---

1. Lok Sabha Debate of 26-8-1960 (इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है)।

2 Statement of by-minister for Community Projects and Co-operation in the Lok Sabha Dated Aug. 31, 1960.

3 Dynomics of Indian Agriculture · Modern Review Aug. 1958.

अध्याय १७

कृषि-नीति एवं नियोजन

(Agricultural Policy & Planning)

"जन-संख्या इतना विशाल है और क्षेत्र इतना विस्तृत कि इस काम को पूर्ण करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त साधनों का अभाव है।"

—शाही कृषि कमीशन रिपोर्ट सन् १९२८।

पूरी योजना की सफलता कृषि में लगी भूमि और श्रम के उपयोग के परिणामों पर निर्भर करेगी।

—प्रथम पंच-वर्षीय योजना सन् १९५१।

कृषि-नीति—

सबसे पहले सन् १८६० में उड़ीसा के अकाल के समय एक स्वतन्त्र कृषि विभाग खोलने की चर्चा हुई, परन्तु राज्य ने प्रारम्भ से ही कृषि के प्रति अपना उत्तर-दायित्व नहीं समझा। सन् १८८० के अकाल कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्य की कृषि नीति में सुधार करने की पुनः चर्चा हुई और सर्व प्रथम सन् १८८४ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि विभाग की स्थापना की। धीरे धीरे कुछ प्रान्तों में भी स्वतन्त्र कृषि विभागों की स्थापनाएं हुईं, परन्तु इनका कार्य बहुत संकीर्ण और सीमित था। ये विभाग जिला अधिकारी की देख-रेख में कार्य करते थे। उन पर कृषि कार्य के अतिरिक्त लगान आदि के निर्धारण एवं वसूली की भी जिम्मेदारी थी। फलतः वे कृषि की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे।

प्रारम्भिक काल में कृषि-विभाग की विशेष उन्नति नहीं हुई। परन्तु सन् १८८६ में भारत सरकार के निमन्त्रण से ब्रिटिश कृषि विशेषज्ञ डा० वॉएल्कर (Dr. Voelcker) ने भारतीय कृषि का पर्यवेक्षण किया। उनके अनुसार भारतीय कृषक इतना अनुभवहीन नहीं है जितना समझा जाता है। किसान ने अपने साधनों और वातावरण के अनुसार कृषि में काफी उन्नति की है। केवल साधनों की कमी तथा कृषि कला के अज्ञान के कारण वह आधुनिक ढंग पर कृषि नहीं कर सकता। इस मत का भारत सरकार की कृषि नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। परन्तु डाक्टर वॉएल्कर की रिपोर्ट इसलिए जब्त कर ली गई। क्योंकि उसमें एक ओर तो भारतीय किसान की कार्यशीलता का विवरण था और दूसरी ओर सरकार की काफी आलोचना थी।

इस बीच में दो कृषि विशेषज्ञ श्री डेविड समूल और एच० फ्रिस्स के प्रभाव से

केन्द्रीय सरकार ने अपने कृषि-विभाग का पुनर्गठन किया। दोनों ने दान के रूप में एक धन-राशि भारत सरकार को दी। साथ ही, लङ्काशायर के कपड़े के मिल मालिकों की भी मांग हुई कि भारत में रुई की खेती में कुछ उन्नति की जाये, जिससे उन्हें आवश्यक परिमाण में रुई मिल सके।

सन् १९०१ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि के लिए एक इन्सपेक्टर जनरल की नियुक्ति की, परन्तु धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार की कृषि नीति में शिथिलता आती गई। सन् १९०३ में शाही कृषि अनुसन्धान संस्था (Imperial Institute of Agricultural Research) स्थापित की गई। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के काल में कृषि नीति में कुछ परिवर्तन हुए, क्योंकि लार्ड कर्जन भारतीय कृषि में विशेष रुचि रखते थे। उनके प्रयत्नों के कारण लायलपुर, कानपुर, रगून, नागपुर, पूना और कोयम्बटूर में कृषि महाविद्यालय खोले गये। सन् १९१९ में वैधानिक सुधारों के फलस्वरूप कृषि सुधार का कार्य प्रान्तीय विषय हो गया। इसमें कृषि विभागों का, प्रान्तीय जलवायु और भूमि के अनुसार संगठन हुआ। प्रत्येक प्रान्त के वार्षिक आय व्ययक में कुछ राशि कृषि-सुधार के लिए नियोजित होने लगी। इसी अवधि में केन्द्रीय सरकार की ओर से देश के विभिन्न भागों में कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष संस्थाएँ स्थापित हुई।

सबसे पहिले सन् १९२९ में पूना शाही कृषि अनुसन्धान संस्था का पुनर्गठन हुआ, जो सन् १९३. में दिल्ली में लायी गई तथा भुवनेश्वर में इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ वेटरनरी सायंस एवं करनाल में सेन्टल ब्रीडिंग फार्म की स्थापना की गई। इसी प्रकार केन डेवलपमेंट सेन्टर की कोयम्बटूर में तथा आनन्द में क्रीमरी (Creamery) तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना हुई, जैसे— सुगर टेक्नॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर, आदि। इसके बाद सन् १९३४ में कृषि विपणन सलाहकार की केन्द्र में नियुक्ति हुई। इस प्रकार कृषि के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमशः विकास होता गया।

सरकार के पास कोई स्थायी योजना नहीं थी, इसलिए कृषि में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी तथा महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा सुधार नहीं हो सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी कृषि की अवस्था के सुधार के लिए थोड़ा सा ही प्रयत्न किया। कृषि से सम्बन्धित खोजों और अनुसन्धान आदि का प्रभाव खेती पर नहीं पड़ा, क्योंकि कृषि में वैज्ञानिक विशेषज्ञ तथा कृषक एक दूसरे से सदैव दूर रहे। सर जान रसल के अनुसार—"भारत में वैज्ञानिक खोजों को संग्रह न करके उनका प्रत्यक्ष उपभोग आवश्यक है।"

कृषि विभाग के कार्य—

प्रत्येक विभाग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान करता था। भूमि की उर्वरता एवं नमी, नाइट्रोजन का संरक्षण, विभिन्न फसलों की खेती का भूमि पर प्रभाव, भूमि को कटाव से बचाने के उपाय, क्षारयुक्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के साधन, विभिन्न फसलों के कीड़े और रोगों को रोकने के उपाय, प्राकृतिक

खाद एवं भूमि की उर्वरता का सम्बन्ध, कृत्रिम खाद बनाने के साधनों की खोज एवं विकास आदि कृषि विभाग के ही कार्य थे।

कृषि और वनस्पति शास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर कृषि विभाग के अनेक उप-विभाग कार्य करने लगे। अभी तक मुख्यतः गेहूँ, चावल, रुई, सन और तम्बाकू के सम्बन्ध में ही सुधार कार्य हुआ है। कृषि विभाग अच्छे बीज के द्वारा उत्पन्न फसलों का प्रदर्शन और अच्छे बीज के वितरण का प्रबन्ध करता है। इस अनुसन्धान और प्रचार कार्य के फलस्वरूप अनेक फसलों की खेती अच्छे बीज से होने लगी है। सन् १९२८-२९ से सन् १९३७-३८ तक केवल चावल में ही अच्छे प्रकार के बीज से खेती दुगुनी हो गई। कुछ प्रान्तों में गेहूँ का एक ऐसा बीज उत्पन्न किया गया है, जिस पर लाल कीड़ा नहीं लगता तथा ओस एवं कुहरे का प्रभाव कम होता है और कम सिंचाई से भी फसल की हानि नहीं होती। मुख्यतः बीज सुधार का कार्य प्रयोगात्मक खेतों पर होता है और फिर उनका प्रदर्शन खेतों पर किया जाता है। केन्द्रीय सरकार के प्रोत्साहन से देश में एक केन्द्रीय रुई समिति की स्थापना हुई, जिसका अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रबन्ध है। इसके तत्वाधान में रुई की खेती में सुधार किया जाता है। देश के अनेक क्षेत्रों में, मुख्यतः विभाजन के पूर्व सिन्ध, खान-देश, पञ्जाब तथा बिहार में लम्बे रेशे की रुई या रगीन कोवटी कपास की खेती आरम्भ की गई थी।

परन्तु आज तक जितना कृषि सुधार हुआ है, वह देश के कृषि क्षेत्र को देखते हुए नगण्य है। चावल के केवल ६०% कृषि क्षेत्र में तथा गेहूँ के १०% क्षेत्र में अच्छे बीज का उपयोग होता है। अब तक कृषि विभाग ने जो कार्य किया है वह मुख्यतया व्यापारिक फसलों, जैसे :—पटसन, रुई, तम्बाकू, रबर, चाय आदि से सम्बन्धित है। आज तक इसमें जो भी सुधार हुए हैं, उसका प्रभाव देश के कच्चे माल के निर्यात पर अच्छा पड़ा, परन्तु देश की खाद्य-स्थिति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। खाद्य फसलों, जैसे—गेहूँ, ज्वार, बाजरा या चना इत्यादि में किसी प्रकार का विशेष सुधार नहीं हुआ है। कपास और पटसन में जो सुधार हुआ है, उसका श्रेय कृषि-विभाग को न होते हुए 'केन्द्रीय रुई समिति' एवं 'केन्द्रीय पटसन समिति', इन गैर-सरकारी संस्थाओं को है, जिसको देश के उद्योगपतियों का सहयोग विशेष रूप से प्राप्त है।

सन् १९३४ में दिल्ली में एक 'भारतीय फसल नियोजन सम्मेलन' हुआ, जिसमें फसल योजना की रूपरेखा तैयार की गई। इस योजना के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में प्रयोग और प्रदर्शन के खेत (Farms) आरम्भ किए गये। इससे निश्चित रूप में खाद्य फसलों को कुछ प्रोत्साहन मिला परन्तु कृषि-विभाग का कार्य इतने कम पैमाने पर और इस प्रकार से हुआ कि उसका भारतीय कृषि के स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ।

इस धीमी प्रगति के मुख्य कारण निम्न हैं :—

(१) प्रारम्भ में ब्रिटिश शासन की नीति मुख्यतः लगान वसूली पर आधारित थी, जिसमें कृषि-सुधार के कार्य की अवहेलना की गई। जो कुछ सुधार प्रारम्भिक काल में किया गया, वह अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये था, न कि कृषि सुधार के लिए, इसलिए उसका मूल आधार गलत था।

(२) जब तक कृषि कार्य केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहा, वह कृषि सुधार का कोई विशेष कार्य नहीं कर सकी, क्योंकि इतने बड़े कृषि क्षेत्र में, जहाँ विभिन्न प्रकार की भूमि, भिन्न भिन्न जलवायु और अनेक प्रकार की फसलें बोई जाती हो, वहाँ केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त सफल नहीं हो सका। जो कुछ केन्द्रीय सरकार ने किया वह विदेशी कृषि विशेषज्ञों की सलाह से हुआ, इसलिए मध्यकालीन कृषि-सुधार योजनाएँ सिद्धान्ततः विदेशी थीं।

(३) सन् १९१९ के पश्चात् प्रान्तीय कृषि विभाग बने, परन्तु उनके संगठन प्रारम्भ में ही शिथिल थे एवं कर्मचारी या तो विदेशों में शिक्षा प्राप्त किए हुए थे या भारतीय कृषि समस्याओं से अनभिज्ञ थे।

(४) प्रान्तीय सरकारों के आर्थिक साधन सीमित होने से कृषि-विभाग पर अधिक व्यय नहीं किया गया, इसलिए कृषि विभाग की अनेक योजनाओं को स्थगित कर देना पड़ा। सन् १९३९-४० में सारे प्रान्तों के आय-व्ययकों में २१४ करोड़ रुपयों के व्यय में से केवल ३ करोड़ रुपयों को कृषि कार्य में व्यय किया गया।

(५) इसके अतिरिक्त कृषि विभाग की प्रयोग करने की रीतियाँ और प्रयोग के पश्चात् प्रचार करने की रीति देश के ग्रामीण वातावरण के इतनी विरुद्ध थी कि प्रयोगशाला और कृषक में कभी सम्पर्क नहीं हो पाया।

(६) भारतीय कृषक के साधन इतने सीमित है कि जो कुछ खेती के औजारों में सुधार या खाद के उपाय बताये गये, वे बहुत खर्चीले एवं साधारण कृषक की क्रय-शक्ति के परे थे, अतः शास्त्रीय होने पर भी उक्त सुधार अव्यावहारिक सिद्ध हुए।

(७) कृषि के सुधार कार्य में कृषक की अशिक्षा और स्थानीय परम्परा से प्रेम भी बाधक सिद्ध हुए। विकास कार्य के प्रारम्भिक काल में ब्रिटिश शासन ने अपनी असहानुभूतिपूर्ण नीति द्वारा ग्रामीण जनता और शिक्षित समाज में एक खाई तैयार कर दी, जिससे कृषक अपनी रूढ़ि में बुरी तरह से फँस गया और आज भी इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

शाही कृषि कमीशन—

सन् १९२६ में भारत सरकार ने भारतीय कृषि और कृषक के समस्त जीवन का पर्यवेक्षण करने के लिए एक कृषि कमीशन की नियुक्ति की। इसका हेतु निम्न विषयों पर खोज करना था :—

(अ) कृषि तथा पशुओं की दशा सुधारने के लिए, कृषि सम्बन्धी प्रायोगों की व्यवस्था, अच्छी तथा नई फसलों के प्रचार सम्बन्धी स्थिति,

दुग्धशालाओं आदि की दिशा में उस समय क्या प्रयत्न किये जा रहे थे, इस बात का पता लगाना।

(ब) कृषि उपज की बिक्री तथा यातायात के तत्कालीन साधनों की स्थिति पर जानकारी उपस्थित करना।

(स) कृषि विकास के लिए कृषकों को पूँजी किस प्रकार प्राप्त हो रही है, इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना।

(द) ग्रामों की उन्नति एवं कृषकों के कल्याण के लिए मुख्य सुझाव देना।

इस कमीशन के अध्यक्ष लार्ड लिनलियगो थे। ढाई वर्ष तक यह कमीशन देश के विभिन्न भागों का दौरा करता रहा तथा कृषि-विशेषज्ञों एवं ग्रामीण आन्दोलन के नेताओं से परामर्श करता रहा। सन् १९२८ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसने भारत में कृषि विकास के लिए जो सुझाव व परामर्श दिए, वे काफी महत्वपूर्ण हैं। कमीशन ने ग्रामों के पुनर्निर्माण, ग्रामीण शिक्षा, सहकारिता, कृषि की पैदावार की बिक्री, सिंचाई, कृषि पशुओं की नस्ल सुधारने के उपाय, खेतों की चकबन्दी आदि पर अपने अमूल्य विचार उपस्थित किये। कृषि व्यवसाय को अधिक लाभकर बनाने के लिए कमीशन ने यह सुझाव दिया कि कृषक को अपने दृष्टिकोण को अधिक उन्नत तथा विशाल बनाना होगा। कमीशन का कहना था कि ग्राम तथा ग्रामवासियों की सभी समस्याओं को हल करने के लिए सरकार स्वयं विशेष प्रयत्न करे। ग्रामीण जनता भी सरकार को अपना सहयोग देकर ग्रामों का सर्वाङ्गीण विकास करे। कमीशन ने कृषि सम्बन्धी कार्यों के अन्वेषण के लिए एक 'शाही परिषद्' (Imperial Council) की स्थापना पर विशेष बल दिया।

भारत के इतिहास में इस प्रकार की यह पहली रिपोर्ट थी, जिसमें भारत के ग्रामीण जीवन की चहुँमुखी समस्याओं की समालोचना की गई हो। कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं, उनके कार्य में किसी प्रकार की योजना निर्धारित नीति नहीं थी। रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् सरकार एवं जनता का ध्यान कृषि के पुनर्गठन की ओर आकर्षित हुआ तथा विभिन्न प्रान्तीय शासन एवं केन्द्र के कृषि कार्यों में सम्बन्ध स्थापित किया गया। कमीशन की सिफारिशों को देश में धीरे-धीरे कार्यान्वित किया गया। परन्तु उसकी सिफारिशें इतनी व्यापक थीं कि उनको पूर्णतः कार्यान्वित करने के लिए अतुल साधन और दीर्घकाल की आवश्यकता थी।

कृषि सम्मेलन सन् १९२८—

इसलिए सन् १९२८ में भारत सरकार ने शिमला में एक कृषि सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में केन्द्रीय सरकार के कृषि सदस्य, प्रान्तीय सरकारों के कृषि मन्त्री एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अन्य विभागों के प्रतिनिधि थे। सम्मेलन ने कृषि कमीशन की सिफारिशों पर गम्भीर रूप से विचार किया एवं एकमत से उनको

मूल सिद्धान्तों को स्वीकार किया। कमीशन की सिफारिशों के व्यय पक्ष की अधिक आलोचना की गई और यह अनुभव किया गया कि इनको कार्यान्वित करने मे सबसे बड़ी बाधा पर्याप्त आर्थिक साधनों की कमी थी। फिर भी प्रान्तीय सरकारों ने सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार कर तदनुसार अपनी कृषि नीति निर्धारित करने का निश्चय किया।

राजकीय कृषि कमीशन ने कृषि अनुसन्धान की महत्ता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि देश मे कितने ही प्रदर्शन या प्रयोगात्मक क्षेत्र स्थापित किये जायें, परन्तु उनका आधार तभी सुदृढ हो सकता है जब कृषि अनुसन्धान का कार्य सगठित हो। कमीशन ने एक केन्द्रीय कृषि अनुसन्धान सस्था स्थापित करने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने सन् १६२६ मे इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च नामक सस्था स्थापित की।

इस सस्था का एक स्वतन्त्र सस्था के रूप में पंजीयन हुआ। इसका मुख्य कार्य देश में कृषि अनुसन्धान और उन्नति को प्रोत्साहन देना तथा मार्गदर्शन एवं समन्वीकरण है। विभिन्न प्रान्तों के कृषि विभाग, अनुसन्धान और प्रयोग के लिये प्रधानतः इसी सस्था से मार्ग दर्शन प्राप्त करते है। कृषि विकास की जितनी योजनायें देश मे बनाई जाती हैं, उनकी छानबीन यही सस्था करती है। इसके साथ ही कृषि उन्नति से सम्बन्धित समस्त ज्ञान का सग्रह और प्रचार करना इस सस्था का कार्य है। कृषि-प्रयोगशालाओं एवं प्रदर्शन के खेतों के लिये कार्यकर्ताओं को इस सस्था द्वारा ही शिक्षा का प्रबन्ध है। इस सस्था का प्रबन्ध मुख्यतः दो समितियों द्वारा होता है। प्रबन्ध समिति सस्था का सामान्य प्रबन्ध करती है, जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय सरकार का मन्त्री होता है एव एक स्थायी उपाध्यक्ष होता है, जो मुख्यतः सस्था के दैनिक प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी होता है। प्रबन्ध समितियों मे इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त राज्य सरकारों के कृषि मन्त्री, केन्द्रीय विधान सभा के ३ प्रतिनिधि, व्यापारियों के २ प्रतिनिधि एवं सलाहकार बोर्ड के निर्वाचित २ प्रतिनिधि होते हैं।

सलाहकार समिति का मुख्य कार्य सस्था का दैनिक प्रबन्ध करना है। इसके अन्तर्गत अनेक उपसगठन होते है, जैसे—

गेहूँ कमेटी, गन्ना कमेटी, भूमि सरक्षण कमेटी, रुक्ष खेती कमेटी, फोरेस्ट, कमेटी, बनावटी खाद समिति, बीज सुधार कमेटी आदि। इन विभिन्न उप-सगठनों द्वारा यह सस्था कृषि उन्नति के विभिन्न अगों पर अनुसन्धान करती है।

सन् १६४० से कौंसिल की कार्य विधि मे कुछ परिवर्तन हुए है, जिनके अनुसार कौंसिल केवल मार्ग प्रदर्शन का ही कार्य नही करती, अपितु अपने प्रदर्शन खेतों एव प्रयोग-शालाओं मे अनुसन्धान का भी कार्य करती है। साथ ही विभिन्न प्रान्तों में से कुछ गाँवों को चुनकर व्यापक रूप से कृषि उन्नति का कार्य भी अपने हाथ मे लेती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सस्था के संगठन मे भी कुछ परिवर्तन हुए है। सन्

इसके अलावा इन योजनाओं में जनता भी वित्तीय अभिदान तथा श्रम देती है। ३० मार्च सन् १९५६ तक जनता का अभिदान ७४·५६ करोड रु० अर्थात् कुल सरकारी व्यय (१४०·८६ करोड रु०) के ५०% से अधिक रहा।[1]

कार्यारम्भ—

इस कार्य का श्रीगणेश २ अक्टूबर सन् १९५२ को ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्रों में एक साथ कार्य प्रारम्भ होने से किया गया। इनमे १८,४५६ गांवों की २६,४५४ वर्ग मील क्षेत्रफल मे रहने वाली १,४७,६०,००० जनता को लाभ होगा।

प्रथम पच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड बनाये गये :—

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
विकास खण्ड—					
सामुदायिक विकास	२४७	५३	—	—	३००
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५१	२५३	३९६	९००
योग	२४७	३०४	२५३	३९६	१,२००
ग्राम संख्या—					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७ ६९३	—	—	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५,१००	२५,३००	३९,६००	९०,०००
योग	२५,२६४	३२,७९३	२५ ३००	३९,६००	१,२२,९५७
जन-संख्या (लाख)—					
सामुदायिक विकास	१६४	४०	—	—	२०४
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	१६६	१६७	२६१	५९४
योग	१६४	२०६	१६७	२६१	७९८

इन योजनाओं के प्रारम्भ से ही इनका समावेश प्रथम पच-वर्षीय योजना मे किया गया था। इस हेतु योजना में सन् १९५२ ५३ से सन् १९५५-५६ के ३ वर्षों के लिए ९९·४ करोड रु० का आयोजन था। परन्तु योजना की अवधि मे ५२·४ करोड रु० व्यय हुए तथा शेष ४४·१ करोड रु० दूसरी योजना में व्यय किये जायेंगे।[2]

---

1 India—1960, page 212.

2 Hindusthan Year Book—Sarcar, p 502, 1960.

(४) १५ अथवा २० वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज सूदखोरी और ग्रामीण ऋण की समस्या से सरकार और जनता कम ग्रस्त है।

(५) देहात मे जागरण है और ग्रामीण व्यक्ति अपना रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए लालायित एवं प्रयत्नशील है।

कृषि अर्थ-व्यवस्था को देश के विभाजन ने कुछ समय के लिए विचलित अवश्य कर दिया था, किन्तु अब तक बहुत कुछ सुधार हो चुका है।

कृषि-नियोजन—

"कृषक का जीवन एक परस्पर सम्बन्धित सम्पूर्ण इकाई है और उसकी समस्यायें इतनी मिली-जुली है कि वह उनको अलग-अलग हिस्सों मे नही देखता है। इसलिए कृषि विकास के लिये कृषक-जीवन और समस्याओं पर एक साथ दृष्टिपात करना चाहिये। हमे उन बातो पर अधिक समय तथा ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा जहाँ विशेष बल देने की आवश्यकता है। किन्तु कृषक के दृष्टिकोण और परिस्थितियों मे परिवर्तन करने के लिए एक समग्र और बहुमुखी प्रयत्न करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए हमारा ध्येय ग्रामीण समाज के मानवी और भौतिक साधनो का विकास करना है। इस ध्येय की पूर्ति हमे अधिकांशत: गाँवों की जनता को अपनी समस्याओं को सुलझाने लायक बनाकर करना होगा। उन्हे सरकारी प्रयत्नो के लिए सगठित होना चाहिये, जिससे वे नए ज्ञान को अपना सकें और अपनी आवश्यकताओं को नए साधनो द्वारा पूरा करने मे समर्थ हो। इस प्रकार सहकारिता सामुदायिक प्रयत्नों का आधार प्रस्तुत करेगी और व्यवस्थात्मक सगठन द्वारा सरकार और विशेषतः ग्रामीण विस्तार कार्यकर्त्ता कृषकों की सहायता और सलाह देंगे।

अर्द्धविकसित अर्थ-व्यवस्थायें सदैव एक बेलोच सामाजिक सगठन और बेकार साधनों से पीडित रही है, अतः भू-स्वत्त्व के आधार पर निर्मित सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन और दैनिक कार्यो मे नये साधनो का नई विधियो द्वारा उपयोग ही विकास का केन्द्रीय ढङ्ग बन जाता है। योजना का ध्येय है कि सभी ओर इस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन हो कि अर्थव्यवस्था एक सन्तुलित और अविच्छिन्न रूप से अग्रसर हो। तथापि सामुदायिक विकास, उत्पादन मे वृद्धि और उचित वितरण के उद्देश्य सदैव ध्यान में रहें। पच-वर्षीय योजना की भू-नीति को इस प्रकार कार्यान्वित किया जायेगा जिससे सामाजिक व्यवस्था में अति शीघ्र परिवर्तन हो सकें और साथ ही ग्रामीण समाज मजबूत बन जाय, अवसर और सम्पत्ति मे अन्तर दूर हो और गाँव राष्ट्रीय नियोजन का एक अभिन्न अङ्ग बन जाय।"*

प्रथम पच वर्षीय योजना ऐसे समय बनी थी, जब देश मे खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी थी। इसलिए पहली योजना में कृषि को प्राथमिकता एव प्रधान स्थान दिया गया। इस सम्बन्ध मे दो दलीलें दी गई थी:—

* The First Five Year Plan.

(१) प्रचलित योजनाओं को पूर्ण करने की आवश्यकता।

(२) जब तक खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल का अभाव दूर नहीं होता तब तक औद्योगिक विकास कार्यक्रम में विशेष प्रगति सम्भव नहीं है।

इसलिए प्रथम योजना में कृषि को केन्द्रीय स्थान दिया गया था। योजना की कुल राशि की ४४·६% कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई एवं शक्ति पर व्यय होनी थी। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में यह राशि कृषि पर २८२ करोड, सामुदायिक विकास एवं विस्तार सेवा खण्डों पर ६० करोड, सिंचाई एव बाढ नियन्त्रण योजनाओं पर ३९५ करोड रु० थी।[1] योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य थे :—

कृषि	१९५०-५१	१९५५-५६
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०	६५०
रुई (लाख गाँठें)	२९	४२
गन्ना (लाख टन)	५६	५८
तिलहन (लाख टन)	५१	५५
पटसन (लाख टन)	३३	४०
सिंचित भूमि (लाख एकड)	५००	६७०

योजना की अवधि में कृषि की गति निम्नवत रही है :—

कुल उपज	इकाई	आधार वर्ष[2]	१९५१-५२	५२-५३	५३-५४	५४-५५	५५–५६[4]
अनाज	लाख टन	—	४२९	४९२	५८३	५५३	५४९
दालें	,,	—	८३	९१	१०४	१०५	१०९
कुल खाद्यान्न	,,	५४०[3]	५१२	५८३	६८७	६५८	६५८
मुख्य तिलहन	,,	५०	४९	४७	५३	५९	५६
गन्ना (गुड)	,,	५६	६१	५०	४४	५५	६०
रुई	लाख गाँठें	२९	३१	३२	३९	४३	४०
पटसन	,,	३३	४७	४६	३१	२९	४२

सिंचाई के अन्तर्गत १९७ लाख एकड से सिंचित क्षेत्र बढ़ाने का लक्ष्य था, परन्तु १४० लाख एकड़ भूमि को सिंचाई सुविधाएँ बढाई जा सकी। योजना की अवधि में अमोनियम सल्फेट का उपयोग दो गुने से अधिक बढाया गया, अर्थात् जहाँ

1. Second Five Year Plan—Draft Outline, page 35.
2. आधार वर्ष : पहिली तीन उपज के लिए सन् १९४९-५० और शेष के लिए सन् १९५०-५१।
3. Amrit Bazar Patrika, 15-8-57.
4. Draft Outline of Third Five Year Plan, page 145.

योजना के पूर्व इसकी खपत २७५ हजार टन थी वह ६५० हजार टन हो गई। इसी प्रकार सुपर फॉस्फेट की खपत जो सन् १६५० मे ३६ हजार टन थी वह सन् १६५६ मे लगभग १ लाख टन हो गई। जापानी पद्धति से चावल की खेती का क्षेत्र सन् १६५३ से बढना शुरू हुआ, जो सन १६५६-५७ मे २१ लाख एकड़ हो गया।

प्रथम पच वर्षीय योजना मे २५ लाख एकड़ भूमि को केन्द्रीय और प्रान्तीय ट्रैक्टर सगठनो ने कृषि योग्य बनाया तथा ५० लाख एकड भूमि का कृषको ने अन्य साधनो से, यथा—यात्रिक खेती, धरातल को समतल करना, बाड लगाना तथा श्रम द्वारा सफाई, विकास किया। फलस्वरूप विभिन्न फसलों का क्षेत्रफल, जो योजना के पहिले ३२६ मि० एकड था वह सन् १६५४ ५५ में ३५० मिलियन एकड हो गया। खाद्यान्न एव व्यापारिक फसलो का क्षेत्रफल क्रमशः २५७ और ४६ मि० एकड से २७० और ६० मि० एकड़ हो गया।[1]

रुई का केवल उत्पादन ही नही बढा अपितु उसकी किस्म में भी सुधार हुआ। सिंचाई योजनाओ की पूर्णता के साथ ही भारत में लम्बे रेशे वाली रुई का उत्पादन भी होने लगेगा, जो अभी हम आयात कर रहे है। सी० आयरलैंड किस्म की रुई की उपज के सफल प्रयोग भारत मे किये गये है और आगामी वर्षों मे केरल, मैसूर और असम में तीन लाख गाँठो का उत्पादन होने लगेगा। पटसन का उत्पादन गत वर्षो मे कम अवश्य हुआ है, परन्तु सन् १६५५-५६ मे उसका उत्पादन पुनः बढ गया, जो सन् १६५६-५७ मे ४२'८ लाख गाँठें हो गया है।

इस प्रकार प्रथम योजना मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि के साथ ही खपत में भी वृद्धि हुई है। बढती हुई जन सख्या और विकासशील उद्योगो को अधिकाधिक कच्चे माल और खाद्यान्न की आवश्यकता है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया है:—

"प्रथम पंच-वर्षीय योजना का अनुभव इस ओर सकेत करता है कि प्रत्येक राज्य गत दो वर्षों की कृषि प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे विभिन्न घटको का सूक्ष्म निर्धारण करे। पूर्ण देश के सर्वसाधारण उत्पादन प्रवृत्ति से केवल सावधानी मे ही निष्कर्ष निकाले जा सकते है..........क्योंकि अस्थिरता के बहुत तत्त्व हैं।"[2]

दूसरी योजना में—

"दूसरी योजना के निर्माण की प्रारम्भिक सीढी मे यह अनुभव किया गया था, विशेषतः द्वितीय योजना मे सम्मिलित भारी उद्योगों के बल के साथ तीव्र गति के आर्थिक विकास के लिए कृषि उत्पादन की वृद्धिगत माँग होगी।"[3] इसलिए दूसरी योजना मे

1. The Second Five Plan—Draft Outline, pp 89-90
2. Amrit Bazar Patrika, 15-8-57.
3. Third Five Year Plan—a Draft Outline, pp 145.

कृषि एवं सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड़ रुपये था तथा सिंचाई एवं बिजली के के लिए ८६० करोड़ रु० व्यय का प्रायोजन है, जो योजना की कुल लागत के क्रमशः ११.८% और १७.६% है। यद्यपि दूसरी योजना प्रमुखता से औद्योगीकरण की योजना है, फिर भी कृषि एवं सिंचाई के विकास पर यदि कुल व्यय की दृष्टि से देखा जाय तो पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि-विकास के निम्न हेतु थे :—

(अ) दूसरी योजना में कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। यही प्रथम योजना में १५% रहा। यह वृद्धि सिंचाई सुविधायें, अच्छे बीज, खाद और कृषि के सुधरे हुये तरीकों से की जायगी, जो भविष्य के विकास के लिये पर्याप्त स्थान देगी।

(आ) कृषि उत्पादन में विभिन्नता।

(इ) जैसे-जैसे जीवन-स्तर में उन्नति होगी और औद्योगिक कलेवर विकसित होगा वैसे-वैसे व्यापारिक फसलों और सहायक खाद्य वस्तुओं तथा भाजी, फल, दूध के पदार्थ, मछली, गोश्त और अण्डे के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना होगा।

(ई) अधिक कुशलता से भूमि का उपयोग एवं प्रबन्ध करने के लिये संस्थात्मक (Institutional) व्यवस्था के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जावेगा, जिससे भूमि पर निर्भर जन-संख्या के साथ अधिकतम् सामाजिक न्याय हो सके।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ५६८ करोड़ रु० में से कृषि पर १७० करोड़ रु०, वन एवं भू-रक्षण पर ४७ करोड़ रु०, स्थानीय विकास पर १५ करोड़ रु०, पंचायतों पर १२ करोड़ रु०, मत्स्य उद्योग पर १२ करोड़ रु०, सहकारिता एवं गोदाम सुविधाओं पर ४७ करोड़ रु० तथा अन्य बातों पर ६ करोड़ रु० व्यय की व्यवस्था थी।

सिंचाई सुविधाओं में १५० लाख एकड़ क्षेत्र की वृद्धि पहिली योजना के अधूरे कार्यों की पूर्णता पर तथा दूसरी योजना के कार्यक्रमों के अनुसार होगी। इसमें से वार्षिक २० लाख एकड़ की वृद्धि पहिले तीन वर्ष में तथा दूसरे दो वर्षों में वार्षिक ३० लाख एकड़ वृद्धि सिंचित क्षेत्र में होगी। योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन के निम्न लक्ष्य हैं* :—

---

* India—1960

क्षेत्र	इकाई	१९५०-५१	५५-५६	६०-६१	५५-५६ की अपेक्षा ६०-६१ में वृद्धि %
खाद्यान्न	लाख टन	५४०*	६५०	७५०	१५
रुई	लाख गाँठें	२९	४२	५५	३१
गन्ना	लाख टन	५६	५८	७१	२२
तिलहन	लाख टन	५१	५५	७०	२७
पटसन	लाख गाँठें	३३	४०	५०	२५
चाय	लाख पौंड	६,१३०	६,४४०	७,०००	६
राष्ट्रीय विस्तार					
सेवा खण्ड	संख्या	—	५००	३,८००	६६०
ग्राम पचायतें	हजार	८३	११८	२००	७०
सिंचाई क्षेत्र	लाख एकड़	५१०	६७०	८८०	३१
सामुदायिक					
विकास खण्ड	संख्या	—	६२२	१,१२०	८०

खाद्यान्न में १०० लाख टन की वृद्धि निम्न स्रोतों से होने की आशा है :—

सिंचाई :

बड़ी योजनायें	२४ लाख टन
छोटी योजनायें	१८ ,, ,,
खाद एवं रसायनिक	२५ ,, ,,
अच्छे बीज	१० ,, ,,
भूमि सफाई एवं सुधार	८ ,, ,,
कृषि के सुधरे हुए तरीके	१५ ,, ,,
योग	१०० लाख टन

इस प्रकार जहाँ पहिली योजना का प्रमुख हेतु खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि तथा गाँव की चहुँमुखी उन्नति करना था वहाँ दूसरी योजना में खाद्यान्न के साथ व्यापारिक फसलों की वृद्धि तथा सहायक खाद्य वस्तुओं की वृद्धि पर भी बल दिया गया है।

योजना की कार्यवाही में जो बाधायें आती हैं उसमें योजना का पुनर्मूल्यांकन दो बार किया जा चुका है। सन् १९५८ के खाद्य संकट के पुनर्मूल्यांकन के समय

* सन् १९४९-५० वर्ष का।

मेहता का ख्याल था कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो मे साधनो की कमी के कारण विकास कार्यों मे रुकावट पैदा होती थी, इसलिए उन्होने इस भेद को हटाने की राय दी।[1]

अप्रैल सन् १९५६ मे सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति की बैठक हुई थी, जिसमें यह तय किया गया कि विकास कार्य क्रम के पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के दो अध्याय हो। इसके लिए पहले पाँच वर्षों मे १२ लाख और दूसरे मे ५ लाख रु० की व्यवस्था की जाए।

राष्ट्रीय विकास परिषद ने केन्द्रीय समिति के निर्णय का समर्थन किया और यह भी तय किया कि एक प्रारम्भिक अध्याय भी हो, जिसमे एक वर्ष तक खेती पर विशेष ध्यान दिया जाए। इस एकीकृत कार्य-क्रम के तीन चरण होगे, जिनकी अवधि क्रमशः १, ५ एव ५ वर्ष की होगी।।

दूसरी आयोजना मे सन् १९६१ तक सारे देश को राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास कार्य के अन्तर्गत लाने की बात कही गयी थी, परन्तु राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह निर्णय किया है कि सन् १९६१ के बजाय सन् १९६३ तक यह कार्य-क्रम पूरा हो।

विभिन्न प्रतिवेदनो के अनुसार सामुदायिक विकास कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया है। इसका श्रीगणेश सबसे पहिले आन्ध्र-प्रदेश ने १ जुलाई सन् १९५८ को किया और इन खण्डो के विकास कार्य की जिम्मेदारी गैर सरकारी सस्थाओ को सौंपी। अन्य राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

सामुदायिक कार्यक्रम के मूल्याङ्कन संगठन की रिपोर्ट—[2]

इस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे मूल्याकन सगठन ने जो सातवी रिपोर्ट ११ जून सन् १९६० को दी उसकी बातें निम्न है :—

रिपोर्ट मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का व्यापक रूप से मूल्याकन करने की दिशा मे यह पहला प्रयास है। यह रिपोर्ट १८ चुने हुए सामुदायिक विकास खण्डों की प्रगति के सर्वे पर आधारित है। सन् १९५९-६० मे इनमें से किसी भी क्षेत्र को कही भी असाधारण सफलता नही मिली। कुछ क्षेत्रो के विकास खण्डो मे थोडी प्रगति हुई है, किन्तु इसके विपरीत दूसरे क्षेत्रो मे बिलकुल प्रगति नही हुई। कुल मिलाकर सफलता कम ही है, जिसे पर्याप्त नही कहा जा सकता। सक्षेप मे, "सामुदायिक विकास का काम जिस रूप मे चल रहा है उसमे अच्छाइयाँ भी है और बुराइयाँ भी। इसकी त्रुटियो से ऐसा प्रतीत होता है जैसे काम मे पूरा मेल नही है। वह जनता का नही सरकार का कार्यक्रम है और वास्तविक सफलताओ पर नही, अपितु सफलता की आशाओ पर टिका हुआ है।

---

1 भारतीय समाचार, सितम्बर १५, १९५८, पृ० ५१७।

2 भारतीय समाचार, जुलाई १, १९६०, पृ० ३६९—३७१।

प्रकार प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या सन् १६५८-५६ में १८३ हजार हो गई थी, जबकि सन् १६५१ में कुल १०५ हजार प्राथमिक कृषि समितियाँ थी। सिंचित क्षेत्र योजना के अन्त तक ७०० लाख एकड़ हो जायगा, ऐसी आशा है। दूसरी योजना में *सम्पूर्ण कृषि क्षेत्र में अच्छे बीजों का वितरण करने के लिए ४,००० बीज फार्म हो* जायेंगे। अन्य प्रगतियों में ३६ लाख मि० एकड़ भूमि का रिक्लेमेशन, २२० लाख *एकड़ भूमि को हरी खाद की पूर्ति, २७ लाख एकड़ भूमि में भूमि संरक्षण कार्यक्रमों* का प्रसार हो जायगा। साथ ही, सन् १६६०-६१ तक नेत्रजनीय खाद की खपत ५५,००० टन (१६५०-५१) से ३,६०,००० टन हो जायगी। इसके अलावा अन्य उपलब्धियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलोचना—

इस प्रगति के होते हुए भी हमारे कृषि विकास कार्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनकी ओर विश्व बैंक के अध्ययन दल ने संकेत किया है कि "प्रयत्नों का वितरण कुछ प्रमुख बातों पर केन्द्रित न करते हुये अति विस्तृत क्षेत्र में हुआ है। यदि इस ढांचे को समुचित बनाकर विश्वास और प्रलोभन के साथ पर्याप्त सुविधाएँ दी जायें तो उपलब्ध स्रोतों में ही उल्लेखनीय परिणाम मिल सकते हैं। यदि रसायनिक खाद की पूरी मांग की पूर्ति की जा सके तो केवल इसी से खाद्यान्न के मूल लक्ष्य और संशोधित लक्ष्य के अन्तर को पूरा किया जा सकता है।"[1]

तृतीय पंच वर्षीय योजना—

विकास की योजना में आवश्यक रूप से कृषि को प्रथम प्राथमिकता देनी होगी। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का महत्त्व तथा निर्यात एवं उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही तृतीय योजना का एक प्रमुख लक्ष्य है।"[2] इसी दृष्टि से तीसरी योजना में व्यय का आयोजन किया गया है, जो निम्न प्रकार है:—[3]

(करोड़ रुपयों में)

	दूसरी योजना में	तीसरी योजना में	प्रतिशत दूसरी योजना	प्रतिशत तीसरी योजना
(१) कृषि एवं सिंचाई की छोटी योजनाएँ	३२०	६२५	६·६	८·६
(२) सामुदायिक विकास एवं सहकारिता	२१०	४००	४·६	५·५
(३) सिंचाई की बड़ी एवं मध्यम योजनायें	४५०	६५०	६·८	६·०

1 Commerce, 20 Sept. 1958, page 461-62.

2 A Draft Outline of Third Five Year Plan, p. 23.

3. — Do — p. 27 Table 3 p. 23. & pages 147-151.

योजना आयोग ने तृतीय योजना में कृषि के अन्तर्गत कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए चार प्रमुख तकनीकी कार्यक्रम सुझाये हैं।

जिन प्रमुख क्षेत्रों में जमकर कार्य करने का विचार है, वे ये हैं : (१) सिंचाई, (२) भूमि संरक्षण, असिंच्य खेती और पड़ती जमीन को खेती योग्य बनाना, (३) खाद और रासायनिक खाद पहुँचाना, और (४) अच्छे किस्म के हलों एवं सुधरी किस्म के खेती वाले औजारों का प्रयोग।

(१) सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की योजनाओं से १ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। जिस भूमि पर वर्ष में एक से अधिक फसलें उगाई जायेंगी, उसको यदि सिर्फ एक बार ही शुमार किया जाय तो शुद्ध रूप से लगभग १ करोड़ १५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। छोटी सिंचाई योजनाओं और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की सिंचाई योजनाओं से लगभग १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

(२) भूमि संरक्षण आदि के आयोग ने निम्न लक्ष्य सुझाये हैं :—

नदियों आदि के किनारे बाँध बनाकर १ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि की रक्षा;

अन्य भूमि-संरक्षण कार्यक्रम जिनमें नदी-घाटी योजनायें भी शामिल हैं, २० लाख एकड़;

असींच्य खेती ४ करोड़ एकड़;

पड़ती जमीन को खेती योग्य बनाना १० लाख एकड़;

रेह वाली और खारी जमीन को खेती योग्य बनाना ४ लाख एकड़;

बाढ़ नियन्त्रण, जल-निकासी और पनसाट से रक्षा ५० लाख एकड़।

(३) खाद आदि—द्वितीय योजना के अन्त तक नेत्रजन-युक्त रासायनिक खाद की खपत ३ लाख ६० हजार टन तक पहुँच जायेगी। तृतीय योजना के अन्त तक इस मात्रा को बढ़ाकर १० लाख टन तक पहुँचा दिया जायगा। इसी प्रकार फास्फेट वाली रासायनिक खाद की खपत की मात्रा को ६७ हजार टन पहुँचा दिया जायगा।

(४) बीज—तृतीय योजना में १५ करोड़ एकड़ भूमि पर उत्तम कोटि का बीज तैयार होने लगेगा। अच्छी किस्म का बीज तैयार करने के लिए प्रत्येक सामुदायिक विकास खंड में २५ एकड़ का एक फार्म स्थापित किया जाना है। द्वितीय योजना की समाप्ति तक देश में ऐसे ४ हजार फार्म होंगे।

(५) फसल संरक्षण—फसलों को लगने वाले कीड़ों-मकोड़ों और रोगों की रोकथाम करने वाले दलों को इतना बढ़ाया और प्रभावशाली बनाया जायगा कि तृतीय योजना के अन्त तक साढ़े सात करोड़ एकड़ भूमि पर खड़ी फसल की रक्षा की जा सकेगी।

(६) आधुनिक हल एवं औजार—खेती के काम आने वाले औजारों को

सुधारने की आवश्यकता की भी चर्चा की गई और भारतीय कृषि अनुसन्धान-परिषद् ने विभिन्न क्षेत्रों में काम आने वाले खेती के औजारों के बारे में अनुसन्धान शुरू किया है।

हलों के बारे में अनुसन्धान और परीक्षण के लिए चार क्षेत्रीय केन्द्र स्थापित किये जा रहे है। इन केन्द्रों में विभिन्न प्रकार के औजारों का परीक्षण किया जायेगा और उन्हें सुधारा जायगा। राज्यों के परामर्श से खेती के काम आने वाले कई औजारों को चुन लिया गया है और उनका उत्पादन किया जायेगा। इन सुधरे किस्म के औजारों को प्रदर्शित करने, इन औजारों की मरम्मत करने के लिए देहात के बढ़ई और लुहारों को प्रशिक्षित किया जायगा और अनुसन्धान संस्थाओं और इन औजारों के उत्पादकों के बीच निकट सम्पर्क रखा जायेगा। खेती के औजार बनाने के लिए प्रत्येक राज्य में कम से कम एक केन्द्र खोला जायगा। इस्पात की पूर्ति, परिवहन और वितरण की पक्की व्यवस्था की जायेगी।

तृतीय योजना में उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार निश्चित किए गये है (कोष्ठ में दिये गये आँकडे द्वितीय योजना काल के है) :—

खाद्यान्न १० से १०।। करोड टन तक (७।। करोड टन);
तिलहन ६२ से ६५ लाख टन तक (७२ लाख टन);
गन्ना ६० से ६२ लाख टन तक (७२ लाख टन);
कपास ७२ लाख गांठ (५४ लाख गांठ,;
जूट ६५ लाख गांठ (५५ लाख गांठ);
नारियल ५ अरब ७५ करोड़ (४ अरब ५० करोड);
सुपारी एक लाख टन (६३ हजार);
काजू डेढ लाख टन (७३ हजार टन);
काली मिर्च ३० हजार टन (२६ हजार टन),
हल्दी २,६२० टन (२,२६० टन),
लाख ६२ हजार टन (५० हजार टन),
तम्बाकू सवा तीन लाख टन (तीन लाख टन),
चाय ८५ करोड़ पौंड (७२ करोड ५० लाख पौंड),
काफी ८० हजार टन (४५ हजार टन);
रबर ४५ हजार टन (२६ हजार ४०० टन)।

तृतीय योजना में खेती के विकास के लिए कई मदों में धन रखा गया है :—
खेती और सम्बद्ध कार्यों के लिए सवा छः अरब,
सामुदायिक विकास और सहकार चार अरब,
बडी और मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजनाओं के लिए साढे छः अरब, और
रासायनिक खाद के उत्पादन के लिए २ अरब ४० करोड।
निजी क्षेत्र द्वारा खेती पर आठ अरब रुपये खर्च किए जाने का अनुमान है।

तीसरी योजना पर लोक सभा में २२ अगस्त सन् १९६० से पर्याप्त चर्चा हुई, परन्तु उस सम्पूर्ण चर्चा में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकला। क्योंकि सम्भवतः संसद सदस्यों ने या तो योजना की रूपरेखा का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं किया था या उनके सामने आलोचना के अलावा दूसरा विकल्प न था। फिर भी कृषि योजना की सफलता के लिए निष्ठावान कर्मचारियों की आवश्यकता है, जो निस्वार्थ भाव से इन योजनाओं की पूर्ति में लगन से कार्य कर जनता का विश्वास सम्पादन करें। दूसरे, इस समय *सिंचाई की उपलब्ध-सुविधाओं का पूर्णतम् उपयोग नहीं हो रहा है, अतः उनका निम्नतम् व्यय पर अधिकतम् उपयोग बढाने के लिए सक्रिय प्रयत्न किये जायें।* तीसरे, देश की विशाल शहरी जन-संख्या को चीन की भाँति देश हित के कार्यों में न्यूनतम् २ घन्टे प्रति सप्ताह अनिवार्य रूप से श्रम पर लगाया जाय, अन्यथा "६० वर्ष से कम आयु वाले सभी काम करने योग्य व्यक्तियों पर 'श्रम कर' (Labour Levy) लगाया जाय।"* यदि सार्वत्रिक विकास करना है तो मानवी श्रम को चीन की भाँति उपयोग में लाना होगा। साथ ही, जनता को भी देश प्रेम से प्रेरित होकर हमारे *सार्वत्रिक विकास में तन, मन, धन से जुट जाना चाहिए। तभी चिरवाञ्छित सफलता सम्भव है।*

———

* Second Five Year Plan : Some Suggestions—Mohanlal Saxena, page 38-42.

अध्याय १८

कृषि मूल्य का स्थिरीकरण

(Stabilisation of Agricultural Prices)

"अनिश्चित मान्मूत और कूर मूल्य-व्यवस्था के बीच भारतीय कृषक आर्थिक पद के दलदल में नीचे ही धँसता गया।"

— टी० एन० रामास्वामी।

कृषि सुधार का मुख्य उद्देश्य उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि तथा किसानो की कार्यक्षमता का पर्याप्त विकास करना है, जिससे किसानो और कृषि मजदूरो का जीवन स्तर अधिकाधिक ऊँचा हो। कृषि के सम्बन्ध मे जब हमारा उद्देश्य खेती के उत्पादन की मात्रा बढाना है, तब यह आशंका हो सकती है कि उत्पादन आवश्यकता से अधिक न हो। क्योकि ऐसी दशा मे वस्तुओ का मूल्य-स्तर कम हो जायगा तथा कृषको को अधिक उत्पादन के लिए पर्याप्त प्रेरणा न मिल सकेगी। कृषि-जन्य वस्तुओ का मूल्य उत्पादन की अधिकतम् सीमा निर्धारित करता है, अतः मूल्य निश्चित किए बिना अधिकतम् उत्पादन का होना असम्भव है। इतना ही नही, कृषि तथा उद्योग-धन्धो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के मूल्यो में एक विशेष प्रकार का सामजस्य आवश्यक है।

वर्षा की कमी या अधिकता, फसलो के रोग, बाढ आदि के कारण उत्पादन मे कमी या वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में कृषि वस्तुओ के मूल्य में अस्थिरता होने से किसानो की आय अनिश्चित रहती है। यह अनिश्चितता साधारणतः किसानो के विपक्ष मे ही अधिक होती है। अतः इस प्रकार की हानि के भय से किसानो की रक्षा करना परमावश्यक है। भारत मे लोगो के जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन कृषि है, अतः कृषि-जन्य वस्तुओ के मूल्य स्थिरता का महत्त्व और भी बढ जाता है, क्योकि किसान न तो सगठित ही है और न नए उत्पादन के ढगो को ही अपना सकते है और न अपनी पूँजी को खेती से हटा कर अन्य उद्योग-धन्धो मे ही लगा सकते है। किसान को प्रति वर्ष निश्चित मात्रा मे सरकारी मालगुजारी, लगान तथा ब्याज का भुगतान करना पडता है। यदि कृषि वस्तुओ के मूल्य मे निरन्तर परिवर्तन होता रहे तो किसान की आय मे अनिश्चितता रहेगी। भाव घटने पर लगान के भुगतान के पश्चात् किसान के पास उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अत्यन्त अपर्याप्त आय शेष रहेगी। इस कारण उसे ऋण ग्रस्त होना पडेगा, अतः वस्तुओ के मूल्य एक न्यायोचित स्तर पर स्थिर करने से किसान अपनी क्षमता बढाने तथा उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए

सदा उद्यत रहेगा। इस प्रकार कृषि व्यवस्था तथा आर्थिक ढाँचों के अन्य क्षेत्रों में स्थिरता लाई जा सकती है, जिससे देश की औसत आय में वृद्धि होगी। संक्षेप में, कृषि वस्तुओं के मूल्य की स्थिरता की योजना उत्पादक, किसान, मजदूरों और उपभोक्ताओं के हित में होनी चाहिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के आघातों की तीव्रता न्यूनतम करते हुए तत्सम्बन्धी सरकारी नीति निर्धारित होनी चाहिये।

खेती की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने में भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ योग देती हैं, जिससे किसानों को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं तथा खेती में निश्चित प्रकार के सुधारों का होना कठिन हो जाता है।

उचित मूल्य वह है जिससे उत्पादक कृषक की आय इतनी हो जाय कि वह सकुटुम्ब भली भाँति अपना जीवन निर्वाह कर सके तथा खेतिहर मजदूरों को इतनी मजदूरी दी जाय ताकि वे भी समाज के अन्य वर्गों की तुलना में रहन-सहन के एक उचित स्तर पर पहुँच सकें। कुछ विशेषताओं के कारण हम कृषि-वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में उनकी माँग और पूर्ति में सापेक्षिक शक्तियों पर निर्भर नहीं रहना चाहते। सामान्यतः बाजार में भिन्न-भिन्न किस्मों के अनुसार इन शक्तियों में से कोई भी एक अथवा कभी-कभी दोनों का प्रधान महत्व होता है। कभी-कभी परिस्थितियों की विशेषता के कारण इन सिद्धान्तों में परिवर्तन करने पड़ते हैं। भारत जैसे पिछड़े देश की खेती में क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है। फलस्वरूप बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए खाद्यान्नों तथा अन्य कृषि वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि प्रायः लागत पर ही हो सकती है। यही नहीं, युद्ध-काल में, अकाल में अथवा अन्य प्रकार की परिस्थिति में अन्न सङ्कट का हल निकालने के लिए ऊँची से ऊँची लागत पर अन्नोत्पादन बढ़ाना पड़ता है। भोजन मानव की प्रारम्भिक आवश्यकता है, अतः उसका उत्पादन किसी भी लागत पर करना अनिवार्य है। फिर भी उपभोक्ताओं की आर्थिक स्थिति का विचार करना आवश्यक है। अन्य उद्योगों में अलाभकर इकाइयाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं, परन्तु कृषि में इन्हीं कारणों से इनका नाश प्रायः असम्भव हो जाता है, अतः कृषि में एक ओर ऊँची लागत और दूसरी ओर उपभोक्ताओं को सस्ते भाव की समस्या का सामना करना पड़ता है। अतः इन दोनों में सामन्जस्य लाने के लिए उचित मूल्यों का निर्धारण एवं स्थिरीकरण आवश्यक है।

कृषि वस्तुओं के उत्पादन की लागत सर्वत्र समान नहीं होती, क्योंकि वह मिट्टी, जलवायु, फसलों की उपज, खेतों के क्षेत्र तथा उत्पादन में योग देने वाले अन्य कारणों की विभिन्नता से भिन्न-भिन्न होती है। इसका अनुमान तो तभी लगाया जा सकता है, जब इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक जाँच की जाय। इस समय तक राज्य-सरकारें अथवा उनके परामर्श-दाता यह निश्चय नहीं कर सके कि खेती के उत्पादन व्यय के अन्तर्गत कौन-कौन सी वस्तुओं का समावेश होना चाहिए तथा उनका ठीक-ठीक

अनुमान किस प्रकार लगाया जाय। अतः जब तक यह नहीं होता तब तक हमें इस सम्बन्ध में कोई न कोई निश्चित नीति अपनानी होगी, भले ही वह पूर्णरूपेण सन्तोषप्रद न हो। इस प्रकार की नीति में हमें कृषि वस्तुओं के मूल्य तथा उनकी लागत, दोनों में उचित सामंजस्य स्थापित करना होगा। इसलिए सबसे उचित मार्ग यह है कि हम ऐसे समय की लागत और मूल्य के ढांचे को लेकर आगे बढ़ें, जो सभी वर्गों के लिए न्यायोचित हो।

कृष्णमाचारी समिति—

इस समिति के अनुसार सन् १६२४-२५ से सन् १६२८-२६ तक के ५ वर्षों का समय आधारभूत काल बनाया जा सकता है, जो गत काल में सबसे उत्तम समय कहा जा सकता है। उचित मूल्य का निर्धारण दो सीमाओं के बीच होना चाहिए। न्यूनतम् तथा अधिकतम् मूल्य में यह आधुनिक आर्थिक परिस्थितियों द्वारा अनुमानित होंगे। उचित मूल्य किसी एक बिन्दु विशेष पर स्थिर नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। बाजार में वस्तुओं का थोक मूल्य इन दोनों सीमाओं के बीच में रहना चाहिये और जब तक वस्तुओं पर नियन्त्रण रहता है, किसी भी वस्तु का मूल्य, उचित सम मूल्य (Fair Parity Price) से कम नहीं होना चाहिए एवं इसी मूल्य पर सरकार को अन्न खरीदना चाहिये। सामान्यत. जब माँग और पूर्ति की सामान्य दशायें हों, वस्तुओं का मूल्य निश्चित ही उचित मूल्य से कम होगा।

न्यूनतम मूल्य निश्चित करते समय अन्य कई बातें भी ध्यान में रखनी होंगी, जैसे :—

(१) देश में वस्तुओं के औसत मूल्य,

(२) देश और विदेशों में वस्तुओं के औसत मूल्य,

(३) सरकार द्वारा किसी भी रूप में किसी वर्ग को आर्थिक सहायता, जैसे:—मालगुजारी में छूट अथवा अन्य करों में कमी,

(४) उत्पादन बढ़ाने के लिये नकद रूप में सहायता, तथा

(५) कृषि वस्तुओं के मूल्यों के स्थिरीकरण के लिए सरकार के पास उपलब्ध साधन। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इनका प्रभाव मूल्य पर पड़ता है, अतः मूल्य निर्धारण करते समय इन पर विचार करना ही होगा।

वस्तुतः बाजार में कृषि वस्तुओं का मूल्य किसी भी परिस्थिति में न्यूनतम स्तर से नीचे नहीं होना चाहिए। तथा स्तर की सीमा खेती की लागत के आधार पर निश्चित होनी चाहिए। इसे स्थाई लागत मूल्य कहते हैं। इसके विपरीत परिस्थिति होने पर ग्रामीण आर्थिक जीवन में उथल-पुथल होने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त उद्योग धन्धों से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के मूल्य को वैदेशिक प्रभावों को

ध्यान में रखकर एक विशेष सीमा के नीचे न गिरने देना चाहिए, क्योंकि उसका प्रभाव कृषि वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ेगा।

यह न्यूनतम मूल्य फसल के बोने के पहले ही निश्चित तथा घोषित कर देना चाहिए तथा बाद में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि न्यूनतम मूल्य देश के सभी भागों के लिए समान हो। जब तक देश में याता-यात के सुलभ साधनों का अभाव है तथा वस्तुओं के बिक्री आदि में काफी व्यय होता है, तब तक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में वहाँ की परिस्थितियों के आधार पर निश्चित किए हुए मूल्य समान नहीं हो सकते और न किसी भी वस्तु की किस्म सभी स्थानों में पूर्णतया समान हो सकती है। श्रेणी की विभिन्नता के कारण किसी भी वस्तु की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए भिन्न-भिन्न न्यूनतम् मूल्य निश्चित करने होंगे।

उपभोक्ताओं के हित में यह आवश्यक है कि कृषि वस्तुओं का थोक भाव एक निश्चित सीमा के ऊपर न जाने पावे। यह अधिकतम् मूल्य वस्तु के न्यूनतम् मूल्य के आधार पर ही निश्चित किया जाय। व्यापारिक पद्धतियों के अनुसार वस्तुओं को गोदाम में रखने का खर्च तथा कालान्तर में उनकी मांग और पूर्ति में होने वाले परि-वर्तनों को ध्यान में रखना आवश्यक है। न्यूनतम और अधिकतम मूल्य में इतना अधिक अन्तर न हो जिससे सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिले और न इतना कम हो कि बाजार पर बुरा प्रभाव पड़े। निश्चय ही अधिकतम मूल्य उचित समता मूल्य से कम न होना चाहिए। इसे न्यूनतम मूल्य के लगभग २५% अधिक की सीमा अथवा उचित समता मूल्य के स्तर में, जो भी ऊँचा हो, उसके बराबर निश्चित करना चाहिये। अधिकतम मूल्य फसलों के तैयार होने के पहले ही घोषित कर दिया जाय तथा उसमें एक वर्ष तक कोई परिवर्तन न हो। इसे प्रत्येक क्षेत्र के लिए वहाँ के न्यूनतम मूल्यों के आधार पर निश्चित करना होगा। इसे निर्धारित करते समय वस्तु के उचित औसत गुण (Fair Average Quality) को आधार बनाना चाहिए। वस्तु की भिन्न भिन्न श्रेणियों के लिए आवश्यकतानुसार मूल्य में परिवर्तन करना उचित है।

उचित मूल्य निश्चित कर उनको देश में लागू करने के लिए यह आवश्यक होगा कि सरकार उस मूल्य पर बाजार से वस्तुएँ खरीदने अथवा बाजार में वस्तुएँ बेचने के लिए तैयार रहे, जिससे बाजार का मूल्य उचित मूल्य से भिन्न न होने पाये। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर 'करों' अथवा 'कोटों' द्वारा नियन्त्रण रखना चाहिए और यदि इसमें भी असफलता हो तो सरकार स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करना आरम्भ कर दे। दूसरे देशों से भी वस्तुओं का आदान-प्रदान इस मूल्य-प्रणाली के अनुसार ही हो। इतना ही नहीं, देश में कृषि-मजदूरों की मजदूरी तथा किसानों के लगानों पर भी पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखा जाय। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह भिन्न-भिन्न फसलों के क्षेत्र पर सर्वत्र नियन्त्रण रखने तथा भूमि प्रबन्ध एवं कृषि कार्य करने वालों की कार्यक्षमता को एक स्तर से नीचे न गिरने देने का प्रयत्न करे।

अभी सरकार को उचित मूल्य के निश्चय करने तथा उसे स्थिर करने का कोई अनुभव नहीं है, यह कार्य करने के लिए सरकार किसी समिति या आयोग की नियुक्ति करे, जो वस्तुओं के उचित मूल्य निर्धारण करने तथा उन्हें लागू करने के लिए जिम्मेवार हो।

मूल्य स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते है :—

(१) उन देशों में जहा साख का समुचित विकास है, प्रायः सरकार की मौद्रिक तथा आयात-निर्यात सम्बन्धी नीतियाँ स्थिरीकरण में सम्पन्न हो जाती हैं। किन्तु भारत अभी तक एक अविकसित राष्ट्र माना जाता है, जहाँ साख एवं बैंकिंग व्यवस्था सुसगठित नहीं है, अतः भारत सरकार की ये नीतियाँ व्यापार-चक्र को रोकने मे अधिक सफल नहीं हो सकती। स्थिति को देखते हुए देश मे निम्न कार्य अधिक सफल हो सकते हैं :—

(अ) सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित करना—अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण कमेटी के अनुसार इस ओर कार्य होना आरम्भ हो गया है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते—इसके द्वारा सदैव वस्तुओं के आयात-निर्यात एवं व्यापारिक लेन-देनों द्वारा स्थिति काबू मे रह सके और कृषि-मूल्यों में उच्चावचन न हो।

(स) कृषकों की कृषि सम्बन्धी समस्याओं को दूर करना और उन्हे अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना।

(२) अधिकतम् तथा न्यूनतम् मूल्य निश्चित करना।

(३) सम्पूर्ण देश मे राज्यों के आधार पर एक केन्द्रीय सस्था स्थापित की जाय, तो उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण रखे और खाद्यान्नों का आर्थिक स्थिति के अनुसार मूल्य स्थिर करे, जिससे कृषकों और उपभोक्ताओं को लाभ हो। इस सुझाव से सकट के समय, जबकि कृषकों को कम दाम मिलता है, उन्हे निश्चित मूल्य द्वारा सहायता मिलती है और ऊँचे भाव चढ जाने पर उन्हें एक प्रकार का टैक्स देना होता है। यह सुझाव केवल उन खाद्यान्नों के लिए हो जो बहुत आवश्यक हैं, जैसे—गेहूँ, चावल आदि।

गिरते हुए मूल्यों को थोड़ा सा सहारा हीनार्थ वित्त प्रबन्ध (Deficit Financing) द्वारा भी मिल सकता है, किन्तु यह अभी विवादास्पद ही है। भारत की द्वितीय पंच वर्षीय योजना ने कृषि मूल्यों को गिरने से रोका है, किन्तु उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने से यह स्थिति बदल सकती है।

कृषि वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी सरकारी नीति की सफलता के लिए सरकार निम्न कार्य करे :—

(१) खेती मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की बिक्री का उचित प्रबन्ध तथा संगठित बाजारों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) ऋण देने के कार्य पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय, जिससे ऋण-दाता उचित मूल्य से कम भाव पर किसानों से वस्तुयें न खरीद सकें।
(३) खेती के लिए समुचित अर्थ व्यवस्था हो।
(४) भू-प्रबन्ध तथा कृषि व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन किये जायें, जिससे कृषि उद्योग उन्नतिशील आर्थिक ढांचे के अनुकूल हो सके।
(५) कृषि मजदूरों के लिए न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की जाय।
(६) किसान अपनी कार्यक्षमता को एक विशेष स्तर पर अवश्य बनाये रखे तथा भूमि का अधिकाधिक उपयोग करे। भविष्य में 'ग्रामीण उत्पादन समिति' द्वारा इस कार्य के पूर्ति की आशा की जाती है।
(७) भूमि का उत्पादन तथा किसानों की क्षमता बढ़ाने के लिए सरकार सभी प्रकार सहायता दे।
(८) किसानों में शिक्षा का प्रसार किया जाय तथा रेडियो, सिनेमा आदि साधनों द्वारा उनमें प्रचार करके उन्हें आत्म-विश्वासी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कम आय वाले लोगों को सस्ते भाव पर सरकारी सहायता द्वारा अन्न देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

उक्त सुझावों पर यदि कार्य किया जाता है तथा कृषि वस्तुओं का प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन किया जाता है तो भारत में उचित कृषि मूल्यों का निर्धारण सम्भव होकर उनका स्थिरीकरण हो सकेगा। इससे भारतीय कृषक एवं कृषि व्यवसाय प्रगति-सिंहासन पर आरूढ़ होकर देश की अर्थ-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जायगा।

कृषि मूल्यों के सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन के प्रतिनिधि श्री डगलस इर्समिगर के विचार माननीय हैं।* "गाँव के किसानों को उत्पादन वृद्धि के लिए प्रोत्साहित करने तथा उन्हें प्रेरित करने के लिए एक राष्ट्रीय नीति के रूप में राष्ट्र को प्रति वर्ष बोआई के न्यूनतम् ६ मास पहिले बुनियादी अनाजों के भाव स्थिर कर देने चाहिए। यदि किसान को बोआई के समय यह ज्ञात हो कि फसल के बाद सरकार द्वारा गारन्टी किये गये विक्रय-मूल्य क्या होंगे तो वह आसानी के साथ अपनी कृषि योजना बना सकता है। उस समय वह यह भी जान सकेगा कि उसे अपना कितना धन सुधरे हुए बीजों, उर्वरकों, कृषि साधनों, खेती के उन्नत औजारों, सिंचाई, भूमिरक्षण आदि पर खर्च करना चाहिए। उस समय वह एक व्यापारी की भाँति अपने खर्च का अनुमान लगाने के साथ ही यह भी जान सकता है कि यदि ठीक से खेती की गई तो फसल भी अच्छी होगी, उत्पादन में वृद्धि होगी और उसे लाभ भी अच्छा होगा। लाभ के आश्वासन के साथ उसकी ज्यादा लगी पूंजी भी उसे खेती के परम्परागत तरीकों को छोड़ने और नई उन्नत पद्धतियों को अपनाने की प्रेरणा देगी।..................अतः विक्रय मूल्य गारन्टी की आवश्यकता है। इससे किसान को ज्ञात होना रहेगा कि फसल तैयार होने

* आर्थिक समीक्षा अक्टूबर ५, १९५८।

पर उसे उपज का कम से कम इतना मूल्य अवश्य मिलेगा। यदि स्थानीय मूल्य इस मूल्य से अधिक होगा तो किसान अपना माल ऊँची कीमत पर बेचेगा और स्थानीय मूल्य कम है तो सरकार पूर्व निर्धारित मूल्यों पर किसानों से स्वयं अनाज खरीदे।"

मूल्य स्थिरीकरण से लाभ—

संक्षेप में कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण से कृषक को निम्न लाभ होंगे :—

(१) कृषकों के शोषण का अन्त हो जायगा तथा उनका जीवन स्तर उन्नत होगा।

(२) पहिले से कृषि मूल्य निश्चित होने से कृषक अपनी कृषि योजना बना कर कृषि में सुधार करने के प्रयत्न करेगा।

(३) कृषि वस्तुओं के मूल्यों के स्थिरीकरण से देश के औद्योगिक उत्पादन के मूल्य भी निश्चित सीमा में ही रहेंगे, क्योंकि उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही मिलेगा।

(४) उपभोक्ताओं को निश्चित मूल्य पर कृषि वस्तुयें मिलने की सुविधा हो जावेगी। इससे अपने आय-व्यय का सन्तुलन वे इस प्रकार कर सकेंगे, जिससे उनका जीवन स्तर उन्नत हो सके।

(५) कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण से कृषकों के जीवन में जो अस्थिरता रहती है, उसका अन्त होकर उनमें उत्साह एवं प्रारम्भण वृत्ति का विकास होगा।

(६) कृषि की समृद्धि से राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी तथा देश का आर्थिक कलेवर निश्चित गति से प्रगति कर सकेगा।

(७) कृषि विक्रय सम्बन्धी कृषक की अनेक समस्याओं का समाधानपूर्ण हल हो सकेगा।

क्या हुआ ?—

इस सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि कृष्णमाचारी समिति ने कृषि मूल्य स्थिरीकरण के लिए कुछ सुझाव दिए थे। इन सुझावों को सन् १९४८ के कृषि मन्त्री सम्मेलन ने स्वीकृति दी, परन्तु उनको कार्यान्वित नहीं किया गया। इसके बाद सन् १९५७ में खाद्यान्न जाँच अथवा अशोक मेहता समिति ने भी सुझाव दिया था कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में प्रभावी मूल्य स्थिरीकरण नीति अपनाई जाय। इस हेतु सरकार खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन की स्थापना करे। इस सभा का प्रमुख कार्य एक व्यापारिक संस्था के रूप में मूल्यों को स्थिरता के लिए खाद्यान्न का क्रय विक्रय करना हो। इस हेतु वह अपने पास खाद्यान्न-संग्रह भी रखे। इसके साथ ही एक उच्च अधिकार युक्त मूल्य स्थिरीकरण सभा की स्थापना की जाय, जो मूल्य स्थिरीकरण का सामान्य नीति निर्धारण करे तथा उसे समय समय पर कार्यान्वित करने के कार्यक्रम निश्चित करे। सरकार को खाद्यान्नों के मूल्य परिवर्तनों की अद्यावधि जानकारी रहे, इस हेतु एक "मूल्य-

सूचना-विभाग'' की स्थापना का सुझाव भी समिति ने दिया था। इसके अलावा खाद्य मन्त्रालय तथा मूल्य स्थिरीकरण सभा को समय-समय पर सलाह देने के लिए एक गैर सरकारी सदस्यों की एक "केन्द्रीय खाद्य सलाहकार परिषद्" की स्थापना का सुझाव भी समिति ने दिया था। ये सुझाव दीर्घकालीन मूल्य स्थिरीकरण के लिए थे। अल्पकालीन अवधि में मूल्य स्थिरीकरण के हेतु समिति का सुझाव था कि खाद्यान्न वितरण समुचित मूल्य की दुकानों, सहकारी समितियों तथा नियोक्ता-संगठनों के माध्यम से किया जाय।

२६ व २७ अगस्त सन् १९६० को कृषि मंत्री सम्मेलन में खाद्यमन्त्री ने मूल्य स्थिरीकरण संगठन की स्थापना की ओर संकेत किया है, जो वास्तव में कृषक की आर्थिक उन्नति के लिए वाञ्छनीय ही है।*

परन्तु खाद्यान्न के मूल्य और व्यापारिक फसलों के मूल्यों में परस्पर निर्भरता है, इसलिए खाद्यान्नों का मूल्य स्थिरीकरण खाद्यान्न उत्पादन पर निर्भर रहेगा। इसलिये केवल खाद्यान्नों के मूल्यों के स्थिरीकरण के विषय में सोचना एक भूल होगी। वास्तव में कृषि-उपज के मूल्यों के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में यदि ये सुझाव क्रमशः कार्यान्वित किए जायें तो अधिक सफलता मिलेगी। इसलिए वर्तमान समय में समग्रीकृत (Integrated) मूल्य कलेवर का निर्माण होना चाहिये, जो विभिन्न व्यापारिक फसलों एवं खाद्यान्नों के मूल्यों के अनुपात में स्थिरता बनाए रखें और यदि सम्भव हो तो कृषि वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर और उपभोक्ता माल की कीमतों के अनुपात में भी स्थिरता स्थापित करें।

वर्तमान मूल्य नीति—

सरकार की वर्तमान मूल्य नीति विशेषतः खाद्यान्नों के मूल्यों को नियन्त्रित करने की रही है। इस हेतु सरकार ने निम्न कार्यवाही की :—

(१) उच्च स्तर पर खाद्यान्न का आयात चालू रखना।

(२) "समुचित मूल्य दुकानों" के माध्यम से बेचने के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न खरीदना तथा आन्तरिक खाद्यान्न प्राप्त करने का विस्तार।

(३) लाभखोरों एवं संग्रह प्रवृत्ति को रोकने के लिए कार्यवाही करना। इसमें विवेकात्मक (Selective) साख नियन्त्रण, अधिकतम् नियन्त्रण, मूल्य निर्धारण आदि बातों का समावेश होता है।

(४) खाद्यान्न के सम्बन्ध में दीर्घकालीन मूल्य नीति के अङ्ग के रूप में सरकार ने नवम्बर सन् १९५८ में "खाद्यान्न के राजकीय व्यापार" का निर्णय किया। इसका हेतु मूल्यों का ऐसा समुचित स्तर कायम करना है जिससे उत्पादक द्वारा प्राप्त मूल्य एवं उपभोक्ता द्वारा दिए गए मूल्यों में न्यूनतम् अन्तर रहे। सर्वप्रथम "न लाभ और न हानि" के

---

* नवभारत टाइम्स दिनांक २७, २८ व २९ अगस्त १९६०।

आधार पर चावल और गेहूँ का राजकीय व्यापार होगा। उत्पादक को उसकी उपज का न्यूनतम् मूल्य दिलाने के लिए सरकार एक एजेन्सी स्थापित करेगी, जो उत्पादकों से प्रत्यक्ष नियंत्रित मूल्य पर क्रय करेगी। ऐसे मूल्य साधारणतः एक राज्य अथवा एक प्रदेश में एक ही होंगे। अभी तक केवल उड़ीसा में १ जनवरी सन् १९५९ से खाद्यान्न नियन्त्रण आदेश लागू किया गया है, जिससे राज्य सरकार अधिकृत व्यक्तियों के माध्यम से चावल और पैडो खरीदेगी।[1]

तृतीय पंचीय योजना के अनुसार "मूल्य-नीति का उद्देश्य यह होगा कि मूल्य-स्तर में, विशेषतः आवश्यक उपभोक्ता माल के मूल्य स्तर में तुलनात्मक स्थिरता बनी रहे।.........खाद्यान्न की मूल्य नीति को शेष अर्थव्यवस्था की मूल्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में देखना होगा तथा विभिन्न क्षेत्रों में मूल्यों के बीच समुचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना होगा। मूल्य नीति की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन इस समय राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक समिति कर रही है,"[2] जिससे भविष्य में सुदृढ़ मूल्य नीति को अपनाया जा सके और सुदृढ़ मूल्य नीति ही कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण की दिशा में प्रथम एवं आवश्यक पग होगा।

---

1. Report on Currency & Finance 1959-60, Page 21-23
2. Third Five Year Plan—A draft outline, pp. 14-15.

अध्याय १९

सामुदायिक विकास योजनाएँ

(Community Development Projects)

"जब तक लाखों छोटे छोटे कृषक किसी योजना के ध्येय को स्वीकार कर उसके कार्यों में भाग नहीं लेते हैं और उसे अपनाकर आवश्यक त्याग नहीं करते हैं, तब तक किसी भी योजना के सफलता की तनिक भी आशा नहीं है।"

—अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति।

भारत की ८२·७% जनता गाँवों में रहती है और शेष १७·३% नगरों में। अन्य देशों में, जैसे—ब्रिटेन में लगभग ८०% कनाडा में ५६·४%, संयुक्तराष्ट्र में ५६·२% और फ्रान्स में ४९% जनता नगरों में रहती है। अतः हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा गाँवों में रहने वालों की संख्या सबसे अधिक है। इसी प्रकार व्यवसाय में भी सबसे अधिक भार खेती पर ही है।

व्यवसाय	१९२१	१९३१	१९४१	१९४९	१९५१
(अ) कच्चा माल तैयार करने वाले					
(१) खेती और पशु पालन	७३·१५	६५·६	६६·०	६७·७	
(२) खनिज	०·१७	०·२४	०·३	०·५	
	७३·३२	६५·३०	६६·३	६८·२	६९·८
(ब) तैयार माल की उत्पत्ति और व्यवसायों में (कल-कारखाने)					
(१) उद्योग-धन्धे	१०·४९	११·३८	१०·०	१३·६	१०·६
(२) यातायात	१·२७	१·६५	२·५	१·८	१·६
(३) वाणिज्य	५·७३	४·४	५·५	६·२	६·०
(स) सरकारी शासन, न्याय तथा अन्य कार्यों में	२·४३	२·५	३·०	६·५	१२·०
(द) अन्य					
(१) अपनी आय पर आश्रित	०·१५	०·१४	०·१५	३·२	
(२) घरेलू नौकर	१·४४	७·८	७·०		
(३) अन्य	२·५१	५·०५	४·०		
(४) अनुत्पादक	१·०४	१·०५	१·५		

उक्त तालिका से भारत की अर्थ-व्यवस्था में खेती की प्रधानता और महत्त्व स्पष्ट होता है। उद्योग धन्धों मे लगी हुई जनता का अनुपात केवल १०·६% है। इसमे सगठित उद्योग धन्धों का अनुपात केवल १·५% ही है। हमारी यह आर्थिक अवस्था अत्यन्त निराशापूर्ण है। क्योंकि जिस देश मे केवल खेती पर ही इतना अधिक प्रभार हो उसका आर्थिक कलेवर सदा डावाडोल रहने का भय रहता है।

सन् १९५१ मे नगरो और गाँवों मे रहने वाली जनता का अनुपात क्रमशः १७% और ८३% था। इस अनुपात मे कमी बहुत ही धीमी गति से हुई है :—

(कुल जन संख्या का प्रतिशत)

सन्	गाँवो में	नगरो मे	सन्	गाँवो मे	नगरो में
१८९१	९०·५	९·५	१९३१	८९·०	११·०
१९०१	९०·१	९·९	१९४१	८७·०	१३·०
१९११	९०·६	९·४	१९५१	८२·७	१७·३
१९२१	८९·८	·१०·२	१९६१	N.K.	N.K.

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों मे शहरो की जन-सख्या बढ रही है, परन्तु यहाँ अभी केवल १३,०१८ शहर हैं, जिनकी लोक सख्या ६,१८,७५,१२३ है। शेष ८३% जन सख्या ५,५८,०८९ गाँवो में रहती है। वास्तव मे भारत ग्राम प्रधान देश है। इसलिए भारत की समृद्धि ग्राम्य-जीवन स्तर की उन्नति मे है। पिछले तीस वर्षों से भारत में उद्योग-धन्धो का विकास हो रहा है, परन्तु ये अधिकतर शहरो मे हैं। सगठित उद्योगो ने कुटीर उद्योगों का नाश कर दिया है, जिससे कारीगर बेकार हो कर कृषि पर आश्रित हो गए हैं। कृषि पर जन सख्या का प्रभार बढ गया है और कृषि का स्वाभाविक सन्तुलन नष्ट हो गया है। कृषि भारतियो की उपजीविका का साधन ही नही वरन् किसानो के जीवन का अभिन्न अङ्ग है, जिससे उनका रहन-सहन, आचार-विचार, अभिलाषा, अर्थात् सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता है। साराश में, कृषि कार्य तथा ग्रामीण जीवन साधन साथ-साथ चलते हैं।

जीवन मे सबसे मुख्य वस्तु आय है, जिस पर मनुष्य का आहार-विहार निर्भर है। भारत के औसत व्यक्ति की आय इतनी कम है कि उसमें निर्वाह करना कठिन है। यहाँ के निवासियो की प्रति व्यक्ति औसत आय की कल्पना निम्न तालिका मे होगी :—*

* India—1960 Table 73.

	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु०)		प्रति व्यक्ति आय (रु०)	
	वर्तमान मूल्यों पर	१९४९-५० के मूल्यों पर	वर्तमान मूल्यों पर	१९४९-५० के मूल्यों पर
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६·९	२४६·९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३·९	२४८·५
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९,९७०	९,१००	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९,८२०	९,४६०	२६६·८	२५६·६
१९५३-५४	१०,४८०	१०,०३०	२८०·३	२६८·७
१९५४-५५	९,६१०	१०,२८०	२५४·२	२७१·९
१९५५-५६	९,९८०	१०,४८०	२६०·६	२७३·६
१९५६-५७	११,३१०	११,०००	२९१·५	२८३·५
१९५७-५८	११,३६०	१०,८३०	२८९·१	२७५·६

आय की विभिन्न देशों के साथ तुलना :—

देश	प्रति मनुष्य वार्षिक आय
आस्ट्रेलिया	३,३६५ रु०
इङ्गलैण्ड	२,८६५ रु०
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	७,३६५ रु०
कनाडा	४,३५० रु०
रूस	१,८०० रु०
भारतवर्ष	२८९·१ रु०
फ्रांस	२,४१० रु०
न्यूजीलैण्ड	४,२८० रु०

इतनी कम आय का फल यह होता है कि हम अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। कोई विदेशी किसान स्वप्न में भी इस प्रकार की शोचनीय अवस्था की कल्पना नहीं कर सकता। किन्तु मिट्टी की टूटी झोंपड़ियों में निवास करने वाला अर्द्धनग्न भारतीय किसान सदा अपने उदर-पूर्ति की चिन्ता में ही रहता है। हड्डियों का वह नर कंकाल, भूख की ज्वाला में दग्ध, टकटकी बाँधे किसी प्रकार अपने जीवन के दिन व्यतीत करता है।

यदि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को गरीबी अमीरी का सूचक माना जाये तो हमारे देहातों की तुलनात्मक आर्थिक अवस्था का पता निम्न आँकड़ों से लगेगा :—

स्रोत	देहातो की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	शहरों की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय
(१) डॉ० वी० के० आर० वी० राव (सन् १९३१)	४८ रुपया	१६२ रुपया	६५ रुपया
(२) नेशनल इनकम कमैटी (सन् १९५१)	१८० रुपया	४१६ रुपया	२२५ रुपया

इन आंकडो से स्पष्ट है कि एक औसत ग्रामीण एक औसत शहर वाले की अपेक्षा और एक औसत भारतीय की अपेक्षा लगभग दो तीन गुना गरीब है। कोई आश्चर्य नही कि १८० रु० की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, अर्थात् १४) रु० प्रति मास, लगभग ॥) आना प्रति दिन की आय वाले ग्रामीण निवासी का जीवन-स्तर पशुओ से भी गया गुजरा हो। अभी हाल मे हुई सरकारी खोज* ग्रामीण क्षेत्रो की आर्थिक दुरावस्था का नग्न चित्र उपस्थित करती है। इस खोज के अनुसार देहातो के हर परिवार मे बेकारी का औसत ५८% है और उन्हे दूसरो की निम्न आय पर निर्भर रहने के अलावा दूसरा कोई चारा नही है। ग्रामीण अपनी सीमित आय का एक बहुत बडा भाग, अर्थात् ६६·७% केवल भोजन पर ही खर्च करता है। इसके विपरीत जहाँ एक औसत भारतीय प्रति दिन लगभग ३॥ छटाँक दूध का उपयोग कर पाता है, वहाँ एक औसत ग्रामीण भारतीय को १ महीने मे २ सेर दूध, अर्थात् प्रति दिन १ छटाक से भी कम मिलता है।

अतः भारत की सर्वतोमुखी उन्नति की अपेक्षा हम तभी कर सकते है जब हमारे ग्रामीण बहुजन समाज की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति हो। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कृषि एव कृषक का महत्वपूर्ण स्थान होने से इनकी उन्नति का समावेश ग्रामीण उन्नति के प्रयत्नो मे ही होगा।

वर्तमान ग्रामोत्थान के प्रयत्न—

सन् १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ग्रामीण उत्थान के लिए दृढ प्रतिज्ञ हो गई और उसने यह अनुभव किया कि जन-सहयोग बिना गाँवो का पुनर्निर्माण नही हो सकता। अतः हमारी पच-वर्षीय योजना में गाँवो की आर्थिक उन्नति की ओर विशेष जोर दिया गया। फलतः देश मे सामुदायिक विकास योजनायें एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Service) कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया।

* National Sample Survey 1953, January.

सामुदायिक विकास योजनायें (Community Development Projects)—

सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यक्रम भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है, क्योंकि महात्मा गाँधी के सर्वोदय का आदर्श 'जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की भलाई' रखा गया था, यह उससे मिलता-जुलता है। परन्तु सर्वोदय की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है, क्योंकि इन योजनाओं की रूपरेखा में इनका उद्देश्य निम्न शब्दों में व्यक्त किया गया है : "अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिक से अधिक भलाई।" डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में सामुदायिक विकास एवं सामुदायिक विकास योजनाएँ, ये शब्द प्रयोग में नये हैं, परन्तु इनकी विचारधारा काफी पुरानी है। "विशेष क्षेत्रीय विकास की अपेक्षा बहुक्षेत्रीय विकास ही इनका मूलभूत आधार है।" सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्यक्रम ५ जनवरी सन् १९५२ से 'भारत-अमरीकी तान्त्रिक सहयोग' समझौते के बाद आरम्भ हुआ। इस समझौते में अमरीका ने इन योजनाओं पर होने वाले व्यय का कुछ भाग देने का वचन दिया है।

योजनों की व्याप्ति—

समस्त भारतवर्ष में ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्र चुने गये हैं, जिनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल लगभग ५०० वर्गमील है और हर क्षेत्र में लगभग ३०० गाँव हैं। प्रत्येक क्षेत्र में औसतन १·५ लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि तथा २·७ लाख जन संख्या है। इस प्रकार कुल ५५ क्षेत्रों के लगभग १६,००० गाँवों में १२० लाख की आबादी है, जिसका क्षेत्रफल १५० लाख एकड़ भूमि है। इन योजनाओं के साथ-साथ कुछ 'विकास खण्ड' या 'पायलट प्रोजेक्ट' का भी आयोजन है। हर खण्ड में औसतन १०० गाँव और ६० ७० हजार जन-संख्या है। प्रत्येक खण्ड को ५ ५ गाँवों के समूह में विभक्त किया गया है। प्रत्येक गाँव समूह एक ग्रामस्तर कर्मचारी का कार्य क्षेत्र होगा।

इन सबका उद्देश्य गाँवों की ऊबड़-खाबड़ आर्थिक व्यवस्था को एक नियन्त्रित व्यवस्था का रूप देना है। सदियों से हमारे गाँव बिना योजना के अपनी पुरानी गति से चलते आ रहे हैं। उनमें इस योजना के अनुसार पुनर्जीवन और जागरण की हवा भरना ही इनका काम है।

सामुदायिक विकास क्षेत्रों के प्रकार—

इन विकास क्षेत्रों के मोटे रूप से दो प्रकार हैं :—(१) शुद्ध (Basic) और (२) मिश्रित (Composite)। शुद्ध क्षेत्रों में काम वहाँ हो रहा है जहाँ पहले से ही एक छोटा उप-नगर (Semi-town) है और मिश्रित प्रकार वहाँ है जहाँ नये सिरे से उस क्षेत्र में एक उप-नगर या ग्राम एवं उप-नगर (Rural-cum-urban Centre) का निर्माण होगा। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध प्रकार के क्षेत्रों का व्यय कम होगा और मिश्रित का अधिक, किन्तु पहले का विकास-कार्य अधिक शीघ्र-गामी होगा, क्योंकि शुद्ध प्रकार में पहले से ही जीवन की कुछ सुविधाएँ वगैरह प्राप्त हैं। यही कारण है कि सीमित पूँजी, अधिक सुविधाओं और शीघ्रता के विचार से ५५ क्षेत्रों

मे लगभग ४३ क्षेत्र, अर्थात् ९०% शुद्ध प्रकार के और शेष १०% मिश्रित प्रकार के क्षेत्र है ।

विकास का कार्यक्रम—

(१) कृषि तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्रो में—परती तथा नयी भूमि को कृषि योग्य बनाना, तालाब, नहरें, कुँओ तथा नल-कूपो द्वारा सिंचाई का आयोजन करना; जिससे योजना काल मे कम से कम आधी भूमि के लिए सिंचाई के साधन उपलब्ध हो जायें । उत्तम बीज तथा बिकाऊ खादें सुलभ करना, भूमि के उपयोग तथा उत्तमतर कृषि के ढग मे विकास करना, प्राविधिक सूचनाओ, कृषि के उत्तम औजार, बाजार तथा वित्तीय सुविधाओ का आयोजन, मिट्टी का पर्यवेक्षण तथा भूमि का क्षेत्र विस्तार, प्राकृतिक तैयार खादो के उपयोग के लिए प्रोत्साहन, पशु-सुधार एव सहकारिता का प्रसार तथा यथासम्भव प्रत्येक गाँव अथवा ग्राम-समूह मे बहुमुखी सहकारी समिति की स्थापना करना, जिसका सदस्य प्रत्येक कुटुम्ब का एक व्यक्ति अवश्य होना चाहिए ।

(२) यातायात—ग्रामो मे इस प्रकार सडको का निर्माण किया जायगा, जिससे प्रत्येक ग्राम विकास क्षेत्र से सम्बन्धित किया जा सके । इस प्रकार की सडकें एक ग्राम से दूसरे ग्राम की दिशा मे ½ मील तक लम्बी होगी और इनका निर्माण ग्रामीणो के ऐच्छिक श्रम द्वारा होगा । अन्य सड़कें सरकारी व्यय मे निर्मित होगी । इसी प्रकार यातायात सुधार मे मानवी श्रम की महत्ता एव ग्रामीणो के सहयोग पर ही अधिक जोर दिया गया है ।

(३) शिक्षा—शिक्षा के अन्तर्गत सामाजिक, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के विकास का आयोजन है । यही नही, काम करने वाले बच्चो की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जायगा । युवको के कल्याण का सवर्द्धन होगा तथा शिक्षा की प्रत्येक अवस्था मे व्यवसाय सम्बन्धी तथा प्राविधिक प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया जायगा । कारीगरो तथा प्रविधिको (Technicians) को उत्तमतम् प्रविधि से अवगत करने के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था होगी ।

(४) स्वास्थ्य—प्रत्येक योजना क्षेत्र मे ३ प्राथमिक चिकित्सा इकाइयाँ (Health Units) होगी, जो विकास खण्डो में होगी । इसके अतिरिक्त योजना क्षेत्र की एक सहायक चिकित्सा इकाई होगी, जिसके अन्तर्गत एक अस्पताल तथा एक चल औषधालय होगा, जो पूरे क्षेत्र मे घूमता रहेगा । क्षेत्रो मे स्वास्थ्य-सगठन का उद्देश्य गाँवो मे अधिकाधिक स्वच्छता तथा पीने के लिए उत्तम पानी का प्रबन्ध, मनुष्यो तथा जानवरो के मल-मूत्र एव मृतक के अन्तिम सस्कारो की उचित व्यवस्था, चिकित्सा का प्रबन्ध, जनता को स्वच्छ रहन-सहन तथा अच्छे भोजन के बारे मे शिक्षा देना आदि होगा ।

(५) सहायक धन्धे—इसके अन्तर्गत कुटीर तथा लघु ग्रामीण उद्योग-धन्धो का विस्तार किया जायगा, जिससे गाँवो के बेकार तथा अर्द्ध बेकार ग्रामीण

लोगों को काम मिल सके। यहाँ देहातों की जन-संख्या का विषम वितरण ठीक करने का उचित प्रबन्ध है।* सामुदायिक विकास में इस विषमता को दूर करने का प्रबन्ध एक निश्चित योजना द्वारा करने का संकल्प है। गांव के ६०% परिवारों को खेती और सहायक उद्योगों में, १२% को कला कारीगरी, और घरेलू धन्धों में, १०% शहरों के छोटे उद्योगों में और १६% दूसरे कामों में काम देने की योजना है, जैसे--यातायात, पोस्टऑफिस, ग्राम-शिक्षा, नाई, धोबी, मोची आदि--और शेष २% आवारागर्दों के लिए सुरक्षित रखे (Reserved) हैं।

(६) भवन-निर्माण—गाँवों में उत्तम प्रकार के भवन-निर्माण के विषय में प्रदर्शन तथा शिक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। जो गाँव घने बसे होंगे, उनमें नए स्थानों पर भवन-निर्माण को प्रोत्साहन दिया जायगा। इसके साथ ही पार्कों तथा खेल के मैदानों की भी व्यवस्था की जायगी।

(७) प्रशिक्षा—योजना को कार्यान्वित करने के लिए कर्मचारियों, अधिकारियों तथा निर्देशकों की शिक्षा के लिए देश में अमेरिका की 'फोर्ड फाउण्डेशन' नामक संस्था की सहायता से ३० केन्द्र खोले जायेंगे, जिनमें एक साथ ७०० व्यक्तियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध होगा। प्रशिक्षण की अवधि ६ मास होगी, जिसमें योजना के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पहलुओं पर प्रकाश डाला जायगा।

(८) सामाजिक कल्याण—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दृश्य तथा श्रवणीय (Audo-visual) प्रणाली के अनुसार ग्रामों में मनोरंजन संस्थाएँ, खेल कूद, मेले आदि की व्यवस्था होगी और तत्सम प्रदर्शनों द्वारा ग्रामीण जीवन को सुखी तथा मनोरंजक बनाने का प्रयत्न होगा।

कार्य-प्रगति का समय विभाजन (Timing of Operations)

कम्यूनिटी प्रोजेक्टस् पूरा होने का समय तीन साल आंका गया है, इन तीन वर्षों को ५ अवस्थाओं में बाँटा गया है।

(१) रूप-रेखा (Conception)—यह आरम्भकाल है, जिसमें हर प्रोजेक्टस् क्षेत्र की स्थानीय परिस्थितियों के अध्ययन के बाद विकास की रूपरेखा तैयार होगी। यह कागजी योजना का समय है, क्योंकि स्थानीय कठिनाइयों और सुविधाओं को *ध्यान में रख कर ही विकास की योजना तैयार* हो सकती है। योजना का अर्थ ही पहिले से एक निश्चित योजना तैयार कर लेना है। यह अवस्था तीन महीने की है।

(२) कार्यारम्भ (Initiation)—कागजी रूप-रेखा तैयार होने के बाद

---

* विगत नेशनल सैम्पल सर्वे के अनुसार औसत ५·२१ आदमियों के एक ग्रामीण परिवार में केवल २५% लोग कमाने वाले हैं, १७% लोग अपने लिए कुछ कमाने वाले और शेष ५८% लोग बेकार और दूसरों पर निर्भर रहने वाले हैं।

इसमे कार्य शुरु किया जाता है । योजना के हर विभाग में काम चालू हो जाता है। यह अवस्था ६ महीने की है।

(३) प्रगतिपूर्ण सम्पादन (Operation)—यह सबसे कार्यशील समय है, जिसमें विकास क्षेत्र की हर इकाई मे खूब जोर-शोर से काम चलेगा। इसीलिये इसको तूफानी कार्य-क्रम का समय भी कहा गया है। यह अवस्था १८ मास की है।

(४) सघनन (Consolidation)—इस अवस्था मे विशेषज्ञ और स्थानीय कर्मचारी विकास कार्य को ठोस रूप देंगे। इस क्षेत्र के विषय मे स्थापित प्रशासन को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न होगा। यह अवस्था ६ मास की है।

(५) अन्तिम अवस्था (Finalisation)—चौथी अवस्था तक कार्य प्रगति ठोस हो जाने और स्वावलम्बन की क्षमता आ जाने पर इस अवस्था में केन्द्रीय और राज्य सरकार के विशेषज्ञ एक निर्देशक रूप में क्षेत्र में रहेंगे और यह देखेंगे कि स्थानीय प्रशासन स्वावलम्बी हो गया है अथवा नहीं। जब यह क्षमता स्थानीय प्रशासन मे आकर, विकास कार्यक्रम एक साधारण दिनचर्या का रूप धारण कर लेगा, तब विशेषज्ञ दूसरे क्षेत्रों मे चले जायेंगे। यह अवस्था तीन महीने की है।

इस प्रकार तीन वर्ष में पूरी होने वाली इन पांच अवस्थाओं मे सामुदायिक विकास योजनायें विकास और स्वावलम्बन को गति देंगी और क्षेत्र अपनी इस गति से प्रगति करते रहेंगे।

इसमें विभाजन का अर्थ निश्चित समय मे निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति करना है। यदि योजना के अनुसार काम होता गया तो हमारे गाँवों का वर्तमान रूप बदल कर वे आधुनिक सभ्य विश्व के साथ एक रूप होकर चल सकेंगे। प्रगति उनकी दिनचर्या होगी तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों के बीच भी वे तूफान मे वट वृक्ष की भाँति अटल रह कर फलेंगे और फूलेंगे। इस प्रकार छोटे-छोटे स्वतन्त्र और स्वावलम्बी गणतन्त्र स्वरूप गांव प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहेंगे।

सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन—

योजना की समुचित व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय सामुदायिक विकास मन्त्रालय है। इसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय समिति है इस समय स्वयं योजना आयोग ही केन्द्रीय समिति का कार्य कर रहा है। इस समिति का कार्य प्रमुख नीति निर्धारण, सामान्य निरीक्षण तथा कार्य सचालन करना होगा। इस समिति के अन्तर्गत एक योजना प्रबन्धक होगा, जो देश भर में सामूहिक योजना के नियोजन, निर्देशन तथा समन्वय के लिए जिम्मेदार होगा तथा इस कार्य में भिन्न-भिन्न राज्यों के उपयुक्त अधिकारियों से परामर्श करेगा। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री समिति होगी, जिसके अन्तर्गत सरकार के उच्च, योग्य तथा अनुभवी अधिकारी होंगे, जो प्रबन्ध, वित्त, कर्मचारी आदि योजना से सम्बन्धित अनेक विषयों पर सलाह देंगे।

प्रत्येक राज्य में राज्य-विकास समिति होगी, जिसमें राज्य के मुख्य मन्त्री तथा ऐसे मन्त्री, जिन्हे वे आवश्यक समझेंगे, सम्मिलित होंगे। इस समिति का कार्यवाह राज्य विकास-कमिश्नर होगा। विकास-कमिश्नर पर ही राज्य में योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी है। यही समिति राज्य मे सामूहिक नियोजन का पथ-प्रदर्शन करेगी। केन्द्रीय समिति राज्यो के विकास कार्यक्रमो पर देख-रेख करेगी एवं उनका समन्वय स्थापित करेगी।

जिलों मे सामूहिक योजना के निरीक्षण का उत्तरदायित्व एक जिला-विकास अधिकारी का होगा, जो राज्य-विकास कमिश्नर के आधीन होगा। जिले में उसे सलाह देने के लिए एक जिला विकास बोर्ड होगा, जिसमे सामूहिक योजना से सम्बन्धित सरकार के सभी विभागो के अधिकारी होंगे। इस समिति का अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री जिला-विकास-अधिकारी होगा।

वित्त व्यवस्था—

पंच-वर्षीय योजना में सामूहिक योजनाओं के लिए ९० करोड रुपये व्यय करना निश्चित हुआ था। साथ ही, भारत और अमरीका के बीच हुए औद्योगिक सहयोग समझौते के अनुसार भारत को सामूहिक योजनाओं के लिए ४ करोड़ रुपए की डालर सहायता सामग्री, औद्योगिक तान्त्रिक सहायता के रूप मे होगी। इस ४ करोड़ में से (जो कि राज्य सरकारों को दिया जायगा) ५५% रुपया ऋण के रूप मे है। इस राशि के भुगतान के बाद वह फण्ड "ब" मे जमा हो जायगा, जो फिर अन्य सामुदायिक विकास योजनाओ को आरम्भ करने में व्यय होगा। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो की सहायतार्थ अनावर्त्तक व्यय का ७५% तथा आवर्त्तक व्यय का ५०% देगी, परन्तु ऐसे व्यय को अधिकतम राशि ६ करोड रुपया प्रति वर्ष होगी।

इसके साथ ही उत्पादक कार्यों, यथा—सिचाई, भूमि सफाई आदि के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को आवश्यक राशि ऋण रूप मे दी जाती है, जो व्याज सहित देय होती है।

अमरीकी सहायता के अलावा फोर्ड फाउन्डेशन भी भारत को इस कार्य-क्रम के लिए आर्थिक सहायता दे रहा है। श्री नेहरू और फोर्ड फाउन्डेशन के अध्यक्ष एवं संचालक की वार्ता के फलस्वरूप यह तय हुआ—फोर्ड फाउन्डेशन की ओर से प्रथम दो वर्षों में प्रशिक्षण का पूर्ण व्यय, तीसरे वर्ष के लिए व्यय का ५०% और चौथे वर्ष मे कुल व्यय का ३३⅓% मिलेगा। इस अवधि के बाद फोर्ड फाउन्डेशन इन चालू प्रशिक्षण केन्द्रों को आर्थिक सहायता नही देगा।

इसके अलावा इन योजनाओं में जनता भी वित्तीय अभिदान तथा श्रम देती है। ३० मार्च सन् १९५६ तक जनता का अभिदान ७४·५६ करोड रु० अर्थात् कुल सरकारी व्यय (१४०·८६ करोड रु०) के ५०% से अधिक रहा।[1]

कार्यारम्भ—

इस कार्य का श्रीगणेश २ अक्टूबर सन् १९५२ को ५५ सामुदायिक विकास क्षेत्रों में एक साथ कार्य प्रारम्भ होने से किया गया। इनमें १८,४५६ गाँवों की २६,४५४ वर्ग मील क्षेत्रफल में रहने वाली १,४७,६०,००० जनता को लाभ होगा।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड बनाये गये :—

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
विकास खण्ड—					
सामुदायिक विकास	२४७	५३	—	—	३००
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५१	२५३	३९६	९००
योग	२४७	३०४	२५३	३९६	१,२००
ग्राम संख्या—					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,९९३	—	—	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	२५,१००	२५,३००	३९,६००	९०,०००
योग	२५,२६४	३२,७९३	२५,३००	३९,६००	१,२२,९५७
जन-संख्या (लाख)—					
सामुदायिक विकास	१६४	४०	—	—	२०४
राष्ट्रीय विस्तार-सेवा	—	१६६	१६७	२६१	५९४
योग	१६४	२०६	१६७	२६१	७९८

इन योजनाओं के प्रारम्भ से ही इनका समावेश प्रथम पंच-वर्षीय योजना में किया गया था। इस हेतु योजना में सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के ३ वर्षों के लिए ९६·४ करोड रु० का आयोजन था। परन्तु योजना की अवधि में ५२·४ करोड रु० व्यय हुए तथा शेष ४४·१ करोड रु० दूसरी योजना में व्यय किये जायेंगे।[2]

---

1 India—1960, page 212.

2 Hindusthan Year Book—Sarcar, p 502, 1960.

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना—

प्रथम योजना में सन् १९५२ से जब यह कार्यक्रम प्रारंभ हुआ तब से १,२०० विकास खण्ड प्रारम्भ किये गये, जिनके अन्तर्गत १२३ हजार ग्रामों के लगभग ८ करोड़ लोगों को लाभ रहा है। इनमें से ७०० गहन स्वरूप के अथवा सामुदायिक विकास खण्ड हैं।

दूसरी योजना के कार्यक्रम के अनुसार योजना अवधि में सम्पूर्ण देश को राष्ट्रीय विस्तार खण्डों की सेवाओं का लाभ मिलेगा तथा इनमें से ४०% खण्डों को सामुदायिक विस्तार खण्डों में परिवर्तन किया जायगा। यदि योजना की अवधि में अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं तो ५०% विस्तार खण्डों का सामुदायिक विकास खण्डों में परिवर्तन किया जायगा। संक्षेप में, ३,८०० राष्ट्रीय विस्तार खण्ड योजना अवधि में चालू होंगे, जिनमें से १,१२० को सामुदायिक खण्डों में बदला जायगा। योजना की अवधि में साधारण कार्यक्रम के साथ ही निम्न पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

- (अ) ग्राम और लघु-उद्योगों का विकास, इसका हेतु, अतिरिक्त आय का प्रबन्ध और ग्रामीण रोजगारी की वृद्धि करना,
- (आ) सहकारी क्रियाओं का विकास,
- (इ) युवा एवं युवतियों के लाभ के कार्यक्रम में गहनता लाना, तथा
- (ई) आदिवासी क्षेत्रों में गहन प्रयत्न।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक एवं राष्ट्रीय विस्तार खण्डों के निम्न लक्ष्य हैं :—

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड	सामुदायिक विकास खण्डों मे परिवर्तन
१९५६–५७	५००	—
१९५७–५८	६५०	२००
१९५८–५९	७५०	२६०
१९५९–६०	९००	३००
१९६०–६१	१,०००	३६०
योग	३,८००	१,१२०

वित्तीय आयोजन--

साधारण मार्ग दर्शन के लिए ऐसा विचारा गया है कि प्रत्येक राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड पर ४ लाख और प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड पर १२ लाख रु० व्यय होगा। इसके अनुसार ऐसा अनुमान है कि केन्द्र द्वारा संचालित योजनाओं पर १२ करोड़ और राज्य की योजनाओं पर १८८ करोड़ रु० व्यय होगा। इस हेतु जो २०० करोड़ रु० का आयोजन है उसका वितरण निम्नवत् आयोजित किया गया है :—

(१) व्यक्ति एवं सामग्री (खण्ड हेड क्वार्टर)	५२	करोड़ रु०
(२) कृषि (पशुपालन, कृषि विभाग, सिंचाई, भूमि सफाई)	५५	,,
(३) सवादवाहन	१८	,,
(४) ग्रामीण कला-कौशल	५	,,
(५) शिक्षा	१२	,,
(६) सामाजिक शिक्षा	१०	,,
(७) स्वास्थ्य एवं ग्रामीण सफाई	२०	,,
(८) *गृह-व्यवस्था (खण्ड कर्मचारी एवं ग्रामीण)*	१६	,,
(९) सामुदायिक विकास विविध (केन्द्र)	१२	,,
योग	२००	,,

योजना की प्रगति (१ अप्रैल सन् १९५९)—[1]

इन योजनाओं के लिए भारत अमरीकी तांत्रिक सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९५२-५३ से १४.२४ मिलियन डालर की सहायता आवश्यक सामग्री के आयात के लिए प्राप्त हुई। इसमें से १,१५० मिलियन डालर की सामग्री १५ दिसम्बर सन् १९५७ तक प्राप्त हो चुकी है। इसी प्रकार फोर्ड फाउन्डेशन भी प्रशिक्षण सम्बन्धी सहायता निश्चित कार्यक्रम के अनुसार दे रहा है तथा १५ 'पायलट' प्रोजेक्ट फोर्ड फाउन्डेशन द्वारा ही चलाये गये हैं।

आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए ५ वर्ष के लिए विशेष कार्यक्रम के अनुसार ४३ विशेष बहुमुखी खण्ड आरम्भ किये गये हैं, जिनकी वार्षिक बजट राशि २७ लाख रु० है। इस राशि मे १५ लाख रु० गृह-मन्त्रालय ने दिये हैं।[2]

इसके अलावा अन्य क्षेत्रों मे जो कार्य हुआ है उसकी कल्पना अगले पृष्ठ की तालिका से होगी :—

---

1 India 1960, page 213.

2 India 1959.

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता (१ अप्रैल सन् १९५९)

	प्रथम पच-वर्षीय योजना मे	द्वितीय योजना मे				
		१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९	योग	महायोग
(१) कृषि—						
अच्छे बीजो का वितरण (हजार मन)	४,५३७	३,७४१	५,२५०	६,९८८	१५ ९७९	२०,५१६
रसायनिक खाद वितरण ,,	६,२७८	६,४०५	१३,२९०	१५,८५५	३८,५५०	४७,८२८
कृषि प्रदर्शन (हजार)	१,१४१	१,५११	१,७०२	२,२९८	५,५२५	६,६९३
(२) पशु-पालन (Husbandry)—						
अच्छे साडो का प्रदाय (सख्या)	११,८०१	११,९३२	१४,९९०	१६,५८४	४३,५०६	५५,३०७
अच्छे पक्षियों का प्रदाय (,,)	१,९२,९०८	१,४५,३७७	१,८६,७६०	२,७५,७२७	६,०७,८६४	८,००,७७२
(३) स्वास्थ्य एवं ग्रामीण स्वच्छता—						
कुंओ का निर्माण (संख्या)	३९,९२७	२८,१४२	३८,३५२	४५,४२०	१,११,८१४	१,५१,७५१
कुंओं का जीर्णोद्धार (,,)	५९,५२९	४०,६५१	५९,२३६	६४,९६०	१,६४,८४७	२,२४,३७६
(४) सामाजिक शिक्षण—						
प्रौड शिक्षा केन्द्र आरम्भित (सख्या)	४१,४६७	२०,६६६	३१,१९५	२८,७०९	८०,५७०	१,२२,०३७
प्रशिक्षित प्रौढ़ संख्या (हजार)	१,०२४	६२०	७९६	१,०५८	२,४७४	३,४९८
ग्राम शिविर किए (सख्या)	N. A.	N. A	९,०५१	२१,३११	३०,३६२	N. A.
प्रशिक्षित ग्राम सहायक सख्या (हजार)	N. A.	N. A.	३९८	१,१०७	१,५०५	N. A.
(५) संवादवाहन एवं यातायात—						
कच्ची सड़को का निर्माण (मील)	३२,८१८	१९,०१७	२२,५२१	२४,०६७	६५,६०५	९८,४२३

जन-सहयोग एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम—

"३१ मार्च सन् १९५९ तक भूमि, नगर एवं श्रम के रूप में जनता ने ७४·५९ करोड रु० का सहयोग दिया, जबकि सरकारी व्यय १४०·८६ करोड रु० हुआ, अर्थात् इन योजनाओं में जनता का ५०% सहयोग प्राप्त हुआ।"*

इसी समय ग्राम सेवकों (VLW) के प्रशिक्षण के लिए ९७ विस्तार प्रशिक्षण केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १९५९ तक ३६,५७७ ग्राम सेवकों को प्रशिक्षण दिया गया है। कृषि की आधारभूत शिक्षा के लिए ७८ आधारभूत कृषि विद्यालय तथा १८ कृषि वर्कशॉप हैं। इसी प्रकार ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण के लिए विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रों से सम्बद्ध ३५ गृह अर्थशास्त्र कक्ष (Wings) तथा २ केन्द्र हैं, जहाँ सितम्बर सन् १९५९ तक १,५०० ग्राम सेविकाओं ने प्रशिक्षण लिया। इसके अलावा २७ प्रशिक्षण केन्द्र समूह-स्तर कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए आरम्भ करने की स्वीकृति दी गई है।

सामाजिक शिक्षा सगठनों के १३ खण्ड स्तरीय विस्तार अधिकारियों के लिए ८ (सहकारिता) तथा ११ (औद्योगिक) प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

स्वास्थ्य से सम्बन्धित कर्मचारियों की शिक्षा के लिए ३ प्रशिक्षण केन्द्र, सहायक नर्सों और दाइयों की शिक्षा के लिए ६६ संस्थाएँ, स्त्री स्वास्थ्य विजिटरों के लिए ९ तथा मिडवाइफों के लिए ६ केन्द्र हैं।

कार्यक्रम में भाग लेने वाले गैर सरकारी व्यक्तियों की प्रशिक्षा के लिए भी योजना बनाई गई। ग्राम सहायकों के लिए प्रत्येक ग्राम सेवक क्षेत्र में शिविर लगाये जाते हैं, जहाँ विशेष रूप से प्रशिक्षित स्टॉफ प्रशिक्षण देता है। गाँव लौटने पर ग्राम सहायक अपने साथियों की सहायता करता है। राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय सरकार सरकार द्वारा एवं क्षेत्रीय तथा राज्य स्तरों पर राज्य सरकारों द्वारा 'सेमिनार' का आयोजन होता है। गाँव के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए भी १ माह की अवधि के शिविर लगाये जाते हैं। ३१ मार्च सन् १९५९ तक इन शिविरों में १९ लाख ग्राम सहायकों का प्रशिक्षण हुआ।

विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्रों के आचार्य एवं अध्यापकों की शिक्षा के लिए ट्रेनर्स ट्रेनिंग इस्टीट्यूट, राजपुर (देहरादून) की स्थापना की गई है। इसी में जिला पंचायत अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। प्रशासकीय एवं तकनीकी प्रमुख (Key) व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए "सेंट्रल इस्टीट्यूट ऑन कम्यूनिटी डेवेलपमेंट" की स्थापना मसूरी में की गई है। यहाँ पर कार्यक्रम के सामाजिक पहलू तथा समूह पद्धतियों (Group methods) का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इस प्रकार १ अप्रैल सन् १९५९ तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत

---

* India—1960, p 212.

२,५४८ खण्ड बन चुके हैं, जिनमें ३,३६,५१८ गाँवों को १७'३ करोड़ जनसंख्या को लाभ मिलता है[1] :—

प्रदेश	खण्ड-संख्या प्रथम चरण	द्वितीय चरण	योग	प्रभावित जनता (हजार)	ग्राम	वर्ग मील क्षेत्र
आन्ध्र प्रदेश	१६१	६१	२२२	१५,६७४	१८,८०३	५०,८२१
आसाम	४२	२७	६९	३,७६६	१२,२८७	२२,७०६
बिहार	२५८	३८	२९२	१६,६२२	३८,७८४	२३,२६०
बम्बई	२११	८४	२९५	१६,६५२	३७,६१९	६१,६४४
जम्मू-काश्मीर	४८	८	५२	२,३५८	५,८४२	४७,५६२
केरल	५५	१८	७३	६,७३०	८६२	५,९९६
मध्य-प्रदेश	१५१	७२	२२३	१३,८२३	४२,७२३	८०,२०५
मद्रास	१०९	५८	१६७	१४,१६०	८,६९१	२२,८८८
मैसूर	९९	३७	१३६	१०,८५३	१४,५१३	५०,७३७
उड़ीसा	११९	२४	१४३	९,२०६	३१,४०८	३०,६८५
पंजाब	९०	४३	१३३	९,२९७	१८,१३२	२५,७०३
राजस्थान	८६	३३	११९	७,८३५	१८,३०७	५५,५१८
उत्तर-प्रदेश	३१७½	८९½	४०७	२६,४५६	५७,६९२	५५,७२३
प० बंगाल	१२३	२३	१४६	१०,८९३	१९,९१९	१५,८५२
मध्य प्रदेश	५१	२०	७१	२,६२६	१७,८६५	२६,९११
योग	१,६१६½	६३१½	२,५४८	१,७३,०९१	३,३६,५१८	६,०६,०११

बलवन्तराय मेहता समिति—

सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों की क्रियाओं के प्रध्ययन के लिए श्री बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में दिसम्बर सन् १९५६ में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की गई थी। इसका उद्देश्य विभिन्न कार्यक्षेत्रों को दी गई प्राथमिकता तथा कार्यक्रम में मितव्ययिता एवं कार्यक्षमता के सम्बन्ध में अध्ययन करना था। इस समिति ने अपनी प्रतिवेदना जनवरी सन् १९५८ में भारत सरकार को प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशों के अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम में संशोधन किए गए।

अभी तक यह कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास के नाम से दो खण्डों में विभाजित था, परन्तु मेहता समिति ने यह सिफारिश की थी कि विकास कार्यक्रम को इनके बजाय पहले अध्याय और दूसरे अध्याय में बाँट दिया जाए। श्री

[1] India—1960 : Table 105.

मेहता का ख्याल था कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो मे साधनो की कमी के कारण विकास कार्यों मे रुकावट पैदा होती थी, इसलिए उन्होने इस भेद को हटाने की राय दी ।[1]

अप्रैल सन् १९५६ मे सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति की बैठक हुई थी, जिसमें यह तय किया गया कि विकास कार्य क्रम के पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के दो अध्याय हो । इसके लिए पहले पाँच वर्षों मे १२ लाख और दूसरे मे ५ लाख रु० की व्यवस्था की जाए ।

राष्ट्रीय विकास परिषद ने केन्द्रीय समिति के निर्णय का समर्थन किया और यह भी तय किया कि एक प्रारम्भिक अध्याय भी हो, जिसमे एक वर्ष तक खेती पर विशेष ध्यान दिया जाए । इस एकीकृत कार्य-क्रम के तीन चरण होगे, जिनकी अवधि क्रमशः १, ५ एव ५ वर्ष की होगी । ।

दूसरी आयोजना मे सन् १९६१ तक सारे देश को राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास कार्य के अन्तर्गत लाने की बात कही गयी थी, परन्तु राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह निर्णय किया है कि सन् १९६१ के बजाय सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम पूरा हो ।

विभिन्न प्रतिवेदनो के अनुसार सामुदायिक विकास कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया है । इसका श्रीगणेश सबसे पहिले आन्ध्र-प्रदेश ने १ जुलाई सन् १९५८ को किया और इन खण्डो के विकास कार्य की जिम्मेदारी गैर सरकारी सस्थाओ को सौंपी । अन्य राज्य भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं ।

सामुदायिक कार्यक्रम के मूल्याङ्कन संगठन की रिपोर्ट—[2]

इस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे मूल्याकन सगठन ने जो सातवी रिपोर्ट ११ जून सन् १९६० को दी उसकी बातें निम्न है :—

रिपोर्ट मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का व्यापक रूप से मूल्याकन करने की दिशा मे यह पहला प्रयास है । यह रिपोर्ट १८ चुने हुए सामुदायिक विकास खण्डों की प्रगति के सर्वे पर आधारित है । सन् १९५९-६० मे इनमे से किसी भी क्षेत्र को कही भी असाधारण सफलता नही मिली । कुछ क्षेत्रो के विकास खण्डो मे थोडी प्रगति हुई है, किन्तु इसके विपरीत दूसरे क्षेत्रो मे बिलकुल प्रगति नही हुई । कुल मिलाकर सफलता कम ही है, जिसे पर्याप्त नही कहा जा सकता । सक्षेप मे, "सामुदायिक विकास का काम जिस रूप मे चल रहा है उसमे अच्छाइयाँ भी है और बुराइयाँ भी । इसकी त्रुटियो से ऐसा प्रतीत होता है जैसे काम मे पूरा मेल नही है । वह जनता का नही सरकार का कार्यक्रम है और वास्तविक सफलताओ पर नही, अपितु भविष्य की आशाओ पर टिका हुआ है ।

1 भारतीय समाचार, सितम्बर १५, १९५८, पृ० ५१७ ।
2 भारतीय समाचार, जुलाई १, १९६०, पृ० ३६१—३७१ ।

"सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह है कि गाँवों के लोग स्वावलम्बी बनें। किन्तु जिन सामुदायिक विकास खण्डों का अध्ययन किया गया उनमें से अधिकांश में इस उद्देश्य के प्रति जनता का भाव अभी तक सामान्यतः अनुकूल नहीं है।"

सामुदायिक विकास-सम्मेलन—

सामुदायिक विकास का सार्वदेशिक सम्मेलन ६ जून से ११ जून सन् १९६० को हुआ। इस सम्मेलन में सामुदायिक विकास मन्त्री श्री डे ने कहा कि "सामुदायिक विकास का कार्य बहुमुखी है। यह योजना का अन्तिम अङ्ग है। इसलिए हमें तीसरी योजना को ध्यान में रखकर इसके कार्यक्रम पर विचार करना चाहिये।"

सम्मेलन के निर्णय और सिफारिशें—

कृषि विभाग और विस्तार कर्मचारियों का कार्यभार सामान्य भाँति के रूप से हल्का करना चाहिए। अभी तक उनका मुख्य कार्य यही रहता है कि वे किसानों के जरूरत की चीजें खरीदें, गोदाम में रखें और बिक्री का प्रबन्ध करें।

रसायनिक खाद, सुधरे बीजों के वितरण की जिम्मेदारी सहकारी समितियों को सौंपी जाय। किन्तु जो लोग सहकारी समितियों के सदस्य नहीं हैं उन्हें भी खाद दिलाने का और वितरण-व्यवस्था पर देख-रेख रखने का कार्य तकनीकी कर्मचारियों का ही होना चाहिए।

कृषि विभाग सहकारी समिति के कर्मचारियों और प्रगतिशील कृषकों को बीज-संवर्द्धन की तकनीकी जानकारी और क्वालिटी कन्ट्रोल का परीक्षण देने की विशेष व्यवस्था करें। साथ ही कृषकों को फसल की रक्षा के उपाय और समय आदि के बारे में बराबर सलाह देता रहे।

भूमि-विकास योजनाओं के लिए अतिरिक्त जन-शक्ति प्राप्त करने के लिए पंचायत, सहकारिताएं आदि जन-सङ्गठन किसान वर्ग में ही नेतृत्व की भावना भरें, जिससे कृषि विकास में उनका अधिक से अधिक योग प्राप्त हो सके।

उपज में शीघ्र वृद्धि करने की आवश्यकता पर बल देते हुए यह सिफारिश की कि विकास खण्डों में उपज की प्रगति के आधार ही बजट-कोष से खण्डों को रुपया दिया जाय और जो खण्ड उत्पादन कार्यक्रम में यथेष्ठ प्रगति न करें, उन्हें सुविधा-कार्यक्रम (Amenities Programme) के लिए धन न दिया जाय। साथ ही, तीसरी योजना में उपज बढ़ाने के लिए खण्डों को अधिक धन देने की सिफारिश की गई। इस समय प्रथम चरण के खण्ड को कृषि, लघु-सिंचाई एवं भूमि सुधार के लिए ३·६० लाख रु० मिला है। इसे ४·५ लाख रु० किया जाय।

सम्मेलन का सुझाव है कि जो क्षेत्र कृषि विकास के समन्वित कार्यक्रम के अन्तर्गत हैं, उनमें ग्रामोद्योग तथा लघु-उद्योगों के कार्यक्रमों की गति बढ़ाई जाय, जिससे इन क्षेत्रों में किसानों की आय बढ़ने से वस्तुओं की माँग भी बहुत बढ़ेगी।

सम्मेलन ने ५ से १० सामुदायिक विकास खण्डो के लिए एक-एक उद्योग केन्द्र स्थापित करने का सुझाव स्वीकार किया। ये केन्द्र इस वर्ष खुल जायेंगे, ऐसी आशा है। इनमे ग्रामीणो के रेडियो सेट, ट्रैक्टर और सिचाई के पम्पो की मरम्मत आदि के लिए एक-एक वर्कशॉप होगी।*

आगामी कार्यक्रम—

सामुदायिक विकास मन्त्रालय ने अप्रैल सन् १९६० में २०० पूर्व-विस्तार खडो को मध्य-चरण के खडो मे बदलने की तथा २२२ पूव-विस्तार खड खोलने की अनुमति दी है। ये निम्नवत् है :—

प्रदेश	पूर्व विस्तार खण्डो का प्रथम चरण में परिवर्तन	नये पूर्व विस्तार खण्ड
आन्ध्र	१८	२२
बिहार	२३	२९
बम्बई	२४	३३
मध्य प्रदेश	१५	१८
मद्रास	१३	१६
उडीसा	१२	१६
पजाब	७	९
उत्तर प्रदेश	४३	४६
पश्चिमी बङ्गाल	१५	—
मैसूर	१०	१२
राजस्थान	८	१०
केरल	५	७
मणिपुर, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश	३	२
उत्तर पूर्व सीमान्त अभिकरण	४	२

राज्य सरकारें पूर्व विस्तार खण्डो को प्रथम चरण के विकास खण्ड बनाते समय यह ध्यान में रखेंगी कि उन गाँवो के लोग आत्मनिर्भर हैं या नही। साथ ही, ऐसे क्षेत्रो को प्राथमिकता दी जायगी जहाँ गेहूँ और धान की खेती अधिक होती है तथा जहाँ सिचाई की सुविधाएँ एवं वर्षा भी अच्छी होती है। इसी प्रकार नए पूर्व विस्तार खण्ड खोलने में उक्त बातो के साथ ही यह सुझाव है कि ग्रामदान मे दिए गये गाँवों या जहाँ पिछडी जातियो के लोग अधिक है उनको प्राथमिकता दी जाय। परन्तु यह प्रयत्न हो कि विकास खण्डो के अन्तर्गत सभी जिले आ जाएँ तथा पूर्व-विस्तार खण्ड पुराने

* भारतीय समाचार—जुलाई १, १९६०, पृ० ३९९-९७।

विकास खण्डों के, कृषि या पशु विज्ञान विद्यालयों अथवा विस्तार खण्ड ट्रेनिंग केन्द्रों के आस-पास हों।[1]

इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक ४ लाख गाँवों में ३,१०० विकास खण्ड हो जायेंगे तथा अक्टूबर सन् १९६३ तक सम्पूर्ण देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का विस्तार हो जावेगा। तीसरी योजना के अन्त में देश में प्रथम चरण के २,१०० दूसरी चरण के २,००० तथा १,००० विकास खण्ड ऐसे होंगे जो १० वर्ष पूरा कर चुके होंगे। इस हेतु तीसरी योजना में ४०० करोड़ रु० का आयोजन है।[2]

निष्कर्ष—

इन प्रयत्नों के साथ ग्रामीण जन-सहयोग तथा कर्मचारियों की कार्यक्षमता एवं लगन यदि उचित परिमाण में मिलती रहे, तो अवश्य ही हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण होकर वे सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन की भित्ति का कार्य सम्पादन कर भारत का अधिकतम आर्थिक विकास करने में सफल होंगे। इस ओर भारत सेवक समाज संस्था का कार्य बहुत प्रशंसनीय है, जो कि सर्वाङ्गीण आर्थिक विकास के लिए कृषकों को नये सूत्र में बाँध रही है तथा कृषि एवं ग्रामीण विकास के अनेक कार्यक्रमों को हाथ में ले रही है। साथ ही, मूल्याङ्कन संगठन की रिपोर्टों में उपस्थित त्रुटियों को दूर करने की भी आवश्यकता है, जिससे "यह बीज एक विशाल वटवृक्ष के रूप में परिवर्तित होकर ग्रामीण जनता का आर्थिक एवं सामाजिक-स्तर उन्नत करने में सहायक हो।"

---

1. भारतीय समाचार-मई १५, १९६०।
2. Third Five Year Plan—Draft Outline, p. 153.

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

अगस्त सन् १९३९ में हेसियन और कच्चे जूट की कीमतें निश्चित एवं नियन्त्रित की गई और ३ सितम्बर सन् १९३९ से द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही उद्योग को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि कच्चा जूट एवं जूट की वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं तथा माँग भी बढ़ी। इसलिए उद्योग पुनः अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करने लगा तथा सभी प्रकार के नियन्त्रण उद्योग से हटा दिये गये। परन्तु सन् १९४० में जूट की वस्तुओं की माँग कम हो गई, जिससे उद्योग को अपने काम के घन्टे और करघों की सख्या कम कर उत्पादन को सन्तुलन मे रखना पड़ा। दूसरे, अमरीका, मित्र राष्ट्रीय देश तथा भारत सरकार ने उद्योग से नियन्त्रित मूल्यों पर खरीद प्रारम्भ की, जिससे उद्योग प्रथम विश्व-युद्ध की भाँति लाभ न कमा सकी। इस अवधि में उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित करने वाली निम्न घटनाएँ हुईं—(१) कोयला एव विद्युत शक्ति की कमी, (२) यातायात असुविधाएँ, तथा (३) सन् १९४३ का बंगाल-अकाल। इन आपत्तियों एव ऊँच-नीच से उद्योग केवल अपने मजबूत सगठन के आधार पर ही बच सका। इसलिए जूट-उद्योग जाँच समिति ने इस उद्योग के आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिकन की सिफारिश की है।

भारत का विभाजन एवं रुपये का अवमूल्यन—

सन् १९४७ में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे ने उद्योग को गहरी चोट लगी, क्योंकि अच्छे जूट की पैदावार करने वाला पूर्वी बगाल का प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, जो कुल जूट उत्पादक क्षेत्र का ७२% था। जूट के कारखाने भारत के हिस्से में रहे। इससे भारत के जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या खड़ी हो गई, जिसके लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ा। भारत सरकार भी इस मामले में सतर्क थी, जिससे भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे और जूट कृषि-क्षेत्र का विस्तार हुआ :—

सन्	जूट का कृषि क्षेत्र	जूट की फसल (हजार गाँठें)[1]
१९४७–४८	६५१ हजार एकड़	१,६६६
१९४८–४९	८३४ ,,	२,०५५
१९४९–५०	१,१६३ ,,	३,०८९
१९५०–५१	१,४५३ ,,	*३,३०१
१९५१–५२	१,९५१ ,,	४,६७८
१९५५–५६	१,७३९ ,,	४,१९८
१९५६–५७	१,९०८ ,,	४,२८८
१९५७–५८	१,७४० ,,	४,०५३
१९५८–५९	१,८२७ ,,	५,१७८[2]

1. India 1960 and Amrit Bazar Patrika, "Golden Fibre Supplement", Feb. 1958.
2. अन्तिम अनुमान—India 1960.

द्वितीय भाग

II PART

५९.३ करोड़ रुपए की आय हुई। यह भारत के आर्थिक कलेवर में उद्योग का महत्त्व प्रदर्शित करती है।

पटसन उद्योग की वर्तमान अवस्था की कल्पना निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

उत्पादन एवं निर्यात

वर्ष	कच्चे जूट की खपत (हजार गांठें)	उत्पादन (हजार टन)	निर्यात (हजार टन)
१९५४	५,३८४	९२७.७	८४०.६
१९५५	५,९८१	१,०२७.२	८४९.१
१९५६	६,३४१	१,०९२.८	८६१.५
१९५७	६,१५२	१,०२६.९	८६४.५
१९५८	६,१४५	१,०६१.८	८१५.८
१९५९ (जून अक्टूबर)	५,०५४	८९९.९	६४३.१ (जून सितम्बर)

कच्चे माल का उत्पादन भारत में बढ़ाने के कारण हमारी पाकिस्तानी जूट आयात पर निर्भरता जो पहले ७१% थी वह अब केवल ५% रह गई है। पटसन के सम्बन्ध में जो संशोधन हो रहे हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारतीय जूट किसी भी तरह पाकिस्तानी जूट से निम्न कोटि का नहीं है। पटसन उद्योग पर विदेशी माँग का प्रभाव अधिक है, इसलिए जूट के नवीन उद्योगों के सम्बन्ध में सन् १९४८ से जूट-टैक्नोलॉजी आवश्यक अनुसन्धान कर रही है। इन अनुसन्धानों की सफलता से विदेशी माँग के कारण होने वाले उतार-चढ़ाव न्यूनतम होकर उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता न घटाते हुए परिवर्तनशील स्थिति में भी अपना मिलान करने में सफल हो सकेगा।

जूट उद्योग का उत्पादन एवं निर्यात देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५७ व १९५८ में उद्योग के निर्यात कम रहे। परन्तु सन् १९५९ से स्थिति में सुधार होने लगा। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) संख्यात्मक (Quantitative) आत्मनिर्भरता के कारण कच्चे माल की पूर्ण उपलब्धि,

(२) कताई एवं तैयार माल बनाने के यन्त्रों का आधुनिकीकरण, तथा

(३) उत्पादक इकाइयों के समग्रीकरण से विवेकीकरण।

जूट मिलों में अभी तक ६०% मिलों का आधुनिकीकरण हो गया है। इस हेतु मिलों ने अपने निजी साधन तथा राष्ट्रीय विकास निगम से प्राप्त ऋणों का उपयोग किया। इस हेतु रा० वि० निगम ने ४.६० करोड़ रु० के ३२ ऋण दिए। इस समय उद्योग के २०% मिलों का आधुनिकीकरण हो रहा है तथा सम्पूर्ण उद्योग का आधुनिकीकरण तीसरी योजना के अन्त तक हो जायगा। अभी तक १०,००० करघों के

अध्याय १

भारतीय उद्योगों का विकास

(Development of Indian Industries)

भारतीय उद्योगो की प्राचीन स्थिति अत्यन्त गौरवास्पद थी, इसमे किसी को किसी प्रकार की शंका नही है। परन्तु भारतीय उद्योगो के अतीत को देखने से पूर्व इस विषय के अध्ययन के हेतु जो कालखन्ड बनाए गये, उनकी त्रुटि का उल्लेख यहां पर अनिवार्य हो जाता है। सन् १८५७ के पूर्व एवं सन् १८५७ के पश्चात् इन दो काल खंडों में अतीत का विभाजन तात्विक दृष्टि से दोषपूर्ण है, क्योकि किसी भी देश का विकास किसी निश्चित रेखा से दो कालखडो मे विभाजित नहीं किया जा सकता। भारत मे यह तथ्य विशेष रूप से लागू होता है। इसलिए यदि हम भारतीय उद्योगो की स्थिति १६ वी शताब्दी के प्रारम्भिक दशको मे क्या थी तथा आगे चलकर उसमें शक्तिशाली घटको के परिणाम किस प्रकार हुए, उनसे हमारी औद्योगिक स्थिति तथा औद्योगिक कलेवर मे किस प्रकार परिवर्तन हुए, इसका विश्लेषण करें तो अनुचित न होगा? इतना ही नही, प्रत्युत कुछ सही अर्थ मे भारतीय उद्योगो का अध्ययन करने के लिए उनको सन् १८६० के पूर्व की स्थिति तथा सन् १८६० के पश्चात् की स्थिति का अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा। कारण, इङ्गलैण्ड की १८ वी शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति से होने वाले परिवर्तन सन् १८६० मे पूर्ण हुए और क्रमशः उसके बीज अन्य देशो मे भी फैलने लगे, विशेषतः भारत मे। क्योकि भारत अंग्रेजो के राजकीय अधिकार मे था और इस अधिकार का इङ्गलैण्ड की आर्थिक उन्नति के लिए अंग्रेज पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे।

भारतीय उद्योग सन् १८५७-६० के पूर्व—

१६ वीं शताब्दी के आरम्भ मे भारतीय उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारतीय कुटीर उद्योगो की बनी हुई वस्तुएँ विदेशो मे निर्यात की जाती थी। इस कारण भारतीय श्रमिक एवं उद्योगो की कुशलता का परिचय विश्व के कोने-कोने मे विदित हो गया, जिसका प्रमाण इतिहास से मिलता है। हां, एक बात अवश्य है कि भारतीय उद्योगो मे यन्त्रो का उपयोग न होते हुए सम्पूर्ण औद्योगिक क्रियाएँ कारीगर अपने हाथ से ही तथा अपने घरो में अथवा राजा नवाबों द्वारा सचालित कारखानो में करते थे। ट्रॅवर्नियर नामक यात्री, जिसने मुगल काल मे भारत यात्रा की थी, सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध मे लिखता है—"भारत-निर्मित वस्तुएँ इतनी सुन्दर होती थी कि वे तुम्हारे हाथ में हैं, इसका ज्ञान क्वचित ही होता था और वस्त्र अत्यन्त कोम-

सता से बुने जाते थे। १ पौंड रुई से २५० मील लम्बा कपड़ा बुना जाता था।" जहाज उद्योग के सम्बन्ध में श्री अशोक मेहता ने लिखा है—"समुद्री यातायात एवं जहाज निर्माण में भारत का उचाक था। जब वास्को-डिगामा भारत में आया तब उसने देखा कि यहाँ के जहाजी नौवहन में इतने पारगत थे जितना वह स्वयं भी नहीं जानता था।" औद्योगिक आयोग (सन् १६१८) अपने वृत्तलेख में लिखा है—'आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का जन्म-स्थान यूरोप जब असभ्य जातियों का निवास स्थान था, उस समय यहाँ के शासकों की सम्पत्ति एवं शिल्पियों की उच्च कला के लिए भारत विख्यात था। इसी की पुष्टि एडवर्ड थॉर्नटन नामक अंग्रेज इतिहासकार ने भी की है—"नील नदी की घाटी में जब पिरामिड देखने को न मिलते थे, तब आधुनिक सभ्यता के केन्द्र इटली और ग्रीस जगली अवस्था में थे, उस समय भारत वैभव और सम्पत्ति का केन्द्र था।[1] इस प्रकार भारतीय कुटीर उद्योग उन्नति के शिखर पर थे तथा भारत सभ्यता एवं सम्पत्ति का केन्द्र था, इसलिए सदियों तक विदेशियों के आकर्षण का एक विषय बना रहा।

परन्तु भारतीय उद्योगों की अवनति का आरम्भ भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के आगमन से प्रारम्भ हो जाता है। ईस्ट इन्डिया कम्पनी प्रारम्भ में तो केवल इसी हेतु से आई थी कि जिससे भारतीय उद्योग निर्मित माल के विदेशों में निर्यात द्वारा वह काफी लाभ कमावे। उसकी इस नीति में क्रमशः परिवर्तन होने लगा, जिससे भारतीय कुटीर उद्योगों की अवनति होने लगी। इस नीति का मूल उद्देश्य ही यह हो गया कि भारत कच्चा माल निर्माण करने वाला एवं निर्मित माल का आयात करने वाला एक देश हो जाय। इस नीति से भारतीय कुटीर-उद्योग नष्ट प्राय हो गये, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं[2] :—

(१) भारतीय राजा एवं नवाबों का अन्त।
(२) नवीन सामाजिक वर्गों का उदय।
(३) ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं औद्योगिक नीतिः—
(अ) मुक्त व्यापार नीति।
(ब) भारी अन्तर्प्रदेशीय कर।
(४) भारतीय माल के विरुद्ध इङ्गलैंड में वैधानिक प्रतिबन्ध।

उपरोक्त शक्तिशाली घटकों के कारण "१६ वीं शताब्दी के आरम्भ में (भारतीय) औद्योगिक स्थिति स्थिर थी, जिस पर विदेशी माँग की प्रतिक्रिया होती रही। परम्परागत औद्योगिक व्यवसायों में परिवर्तन कठिनतम् होने में तथा जाति प्रथा के कारण ये उद्योग चालू रहे। क्योंकि इनमें तान्त्रिक शिक्षा, कुशलता तथा परम्परागत विशेष वस्तुओं के निर्माण की शिक्षा मिलती रही।"[3]

---

1 History of British Empire in India—Edward Thornton.
२ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—कुटीर उद्योग का अध्याय।
3. *Economics Development of Br. Overseas Empire*—Knowles.

आधुनिक उद्योगों का विकास—

एक ओर तो ब्रिटिश कूटनीति के फलस्वरूप भारतीय प्राचीन कुटीर-धन्धों की स्थिति चिन्ताजनक हो रही थी और दूसरी ओर आधुनिक उद्योगों का पूँजीवादी पद्धति से श्रीगणेश हो रहा था। आधुनिक उद्योगों में दो प्रकार के उद्योगों का समावेश होता है—बगीचा उद्योग और कारखाना उद्योग। इनमें से बगीचा उद्योग यूरोपीय देशों के ट्रॉपिकल क्षेत्रों में बहुत होता था, इसलिए इसी का आरम्भ भारत में सर्व प्रथम हुआ और यहीं से भारतीय स्रोतों का विदोहन यूरोपवासियों द्वारा होना आरम्भ हुआ।[1] परन्तु इस उद्योग के अलावा यूरोपवासियों का हाथ भारत के औद्योगिक विकास में लगभग सन् १८५० तक बहुत ही नगण्य रहा। यूरोपवासियों की भारत में औद्योगिक निष्क्रियता के लिए निम्न कारण थे :—

(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए यूरोपवासियों पर भारतीय भूमि खरीदने के लिए लगाये गए प्रतिबन्ध, जिससे यूरोपीय लोग यहाँ पर स्थायी-रूप में भूमि नहीं खरीद सकते थे।

(२) सन् १८३३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारतीय व्यापार पर एकाधिकार।

(३) आन्तरिक यातायात साधनों का अभाव, जिससे माल के यातायात के लिये सुविधायें नहीं थीं और सड़कों आदि के अभाव के कारण बाजारों का विकास भी नहीं हो सका था।

(४) घनी आबादी का न होना।

इन कारणों से सन् १८६० के पहले भारत में इण्डिगो उद्योग के अलावा बगीचा उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगों का अभाव था। परन्तु जैसे-जैसे उपरोक्त कठिनाइयों का निवारण होता गया, यूरोपीय लोगों के द्वारा स्थापित आधुनिक ढङ्ग के निर्माणी उद्योगों का विकास होने लगा। इस प्रकार आधुनिक उद्योगों में बगीचा उद्योग ही एक ऐसा उद्योग था जो १६वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोपियनों द्वारा संचालित था तथा इण्डिगो के बनाए हुए रंगों का निर्यात-व्यापार ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहुत बड़े पैमाने पर करती थी।[2] सन् १८३५ से चाय के बगीचे का उद्योग आरम्भ हुआ तथा इसे फलता-फूलता देखकर सन् १८५२ से अन्य यूरोपीय भी इस उद्योग को अपनाने लगे। फलतः इस उद्योग की जड़ें सन् १८५० तक दृढ हो गईं, अतः "यह कहा जा सकता है कि वर्तमान चाय उद्योग की नींव सन् १८५६ से सन् १८५६ के बीच डाली गई"[3] और यह उद्योग विकसित हो गया। चाय-बगीचों की संख्या जो सन् १८५० में १ थी वह सन् १८७१ में २९५ हो गई। बगीचों का क्षेत्रफल एवं चाय

1. The Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil, p. 45, 4th Edition.

2. Ibid.

3. Ibid. p. 48.

की पैदावार इन्ही वर्षों मे क्रमशः १,८७६ एकड से ३१,३०३ एकड तथा पैदावार २,१६,००० पौंड से ५२,५१,१४३ पौड हो गई । कॉफी उद्योग १७वी शताब्दी मे मूर-व्यापारियो द्वारा दक्षिण भारत मे आरम्भ किया गया था। परन्तु सन् १८४० तक, अर्थात् जब तक यूरोपियनो ने इस उद्योग को हाथ मे नही लिया तब तक इसका महत्त्वपूर्ण स्थान नही था। इस प्रकार वास्तव मे कॉफी उद्योग का आरम्भ सन् १८४० मे हुआ, परन्तु उद्योग की प्रगति सन् १८६० से सन् १८७६ के वर्षों में ही हुई ।

इस प्रकार सन् १८५० के पूर्व भारत में इण्डिगो उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का अभाव था, जिनकी स्थापना एवं विकास वास्तविक रूप में सन् १८६० से सन् १८८० की अवधि मे ही हुआ । सन् १८५० के पूर्व बगीचा उद्योग के अलावा अन्य उद्योगो का पूर्ण अभाव था । इसका यह तात्पर्य नही कि अन्य उद्योगो की स्थापना के प्रयत्न ही नही हुए । प्रयत्न तो हुए, परन्तु इक्के-दुक्के प्रयत्न सफल रहे तथा अन्य पूर्णतः असफल रहे, जैसे—रीलिंग यन्त्रो का श्रीगणेश ईस्ट इण्डिया द्वारा किया गया ; इस उद्योग ने कुछ काल तक काफी प्रगति की। इसी प्रकार सन् १८२० के लगभग सेराम पेपर मिल की स्थापना हुई, जिसने काफी उन्नति की । इसी प्रकार इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के बीज यूरोपियनो द्वारा भारत मे भी लाए गए, फलतः सन् १८३२ मे भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास जहाजों की सख्या ७ थी तथा भाप के इन्जनो का उपयोग कोयले की खानो, आटे की चक्कियों, सिल्क रीलिंग आदि में होने लगा था ।* परन्तु सन् १८५० के पूर्व उद्योगो के विकास मे बाधक शीघ्र एव आधुनिक यातायात के साधनों का अभाव एक प्रमुख कारण था । भारत मे सन् १८४६ में सर्वप्रथम बम्बई से कल्याण तक (३३ मील) रेल मार्ग बनाए गए। इसके बाद कलकत्ते से रानीगज (१२३ मील) तथा मद्रास से अर्कोनम (३३) मील के रेल मार्ग बने और क्रमशः राजनैतिक एव आर्थिक स्वार्थ की दृष्टि से ब्रिटिश शासको ने रेल मार्ग का जाल बिछाना आरम्भ किया । फलस्वरूप कोयला खान उद्योग तथा अन्य निर्माणी उद्योगो का विकास हुआ ।

सन् १८५७-१८६० के उपरान्त—

रेल्वे एवं भाप से चलने वाले जहाजी यातायात की सुलभता के कारण माल के आयात-निर्यात में सुलभता हो गई तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री का आयात भी होने लगा । रेल्वे का विकास एव यातायात की सुलभता के कारण भारत में सन् १८५१ मे पहिला वस्त्र कारखाना—दी बॉम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग क० खोला गया, जिसने सन् १८५४ में उत्पादन आरम्भ किया । परन्तु सन् १८७० तक इसकी प्रगति धीमी रही, क्योंकि रुई की कीमतें ऊँची थीं, विशेषतः

* Development of Capitalistic Enterprise in India—Buchanan.

अमेरिकी गृह-युद्ध के कारण। इसके बाद स्थिति में सुधार होते ही इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १८८६ में भारत में ९६ वस्त्र कारखाने थे, जिनमें ४३,००० व्यक्ति १३,००० कर्घों तथा १४,९३,००० चर्खों (Spindles) पर काम करते थे। रेलों के विकास के साथ ही इन्जीनियरिंग तथा कोयला-खान उद्योग का विकास और वस्त्र कारखानों से सम्बन्धित अन्य सहायक उद्योगों की स्थापना एवं विकास होने लगा। सन् १८५४ में ही आधुनिक ढङ्ग पर पटसन उद्योग की स्थापना की गई तथा सन् १८६३-६४ से उद्योग की अच्छी तरह उन्नति होने लगी। इस प्रकार सन् १८८० तक भारत में वस्त्र, पटसन एवं कोयला-खान उद्योग ही महत्वपूर्ण उद्योग थे। इन उद्योगों के विकास के साथ कुटीर उद्योगों को गहरी चोट पहुँची तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा थी ही, जिससे उनकी और भी अवनति होने लगी। इन उद्योगों में वस्त्र उद्योग के अलावा अन्य उद्योगों के विकास के लिए पूँजी एवं साहस ही कारणी-भूत था।

सन् १८८० से सन् १९१४ तक इन उद्योगों ने काफी प्रगति की तथा इनकी प्रगति में सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने बल दिया। फलतः वस्त्र कारखाने एवं पटसन के कारखानों की संख्या क्रमशः ५८ से २६४ एवं २२ से ६४ हो गई। इसी प्रकार कोयले का उत्पादन १२,९४,२२१ टन से १,५७,३८,१९३ टन हो गया तथा अन्य खान-उद्योगों का विकास होने लगा। परन्तु यह औद्योगिक विकास इतना सीमित था जो कुटीर उद्योगों से विस्थापित जन-संख्या को काम नहीं दे सकता था। इस कारण जनता ने औद्योगिक विकास के लिए आवाज उठाई, जिसकी पुष्टि दुर्भिक्ष आयोग सन् १८८० तथा सन् १९०१ ने की थी, परन्तु ब्रिटिश शासन ने ध्यान नहीं दिया। फलतः सन् १९०५ में राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ हुआ। इससे अनेक छोटे-मोटे उद्योगों की स्थापना हुई, परन्तु अपर्याप्त पूँजी, अनुभव हीनता, ब्रिटिश शासन की व्यापारिक-साम्राज्यवादी एवं मुक्त-व्यापार नीति के कारण वे विदेशी प्रतिस्पर्धा में न टिक सके। स्वदेशी आन्दोलन के साथ विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा तथा कांग्रेस ने भारतीय उद्योगों को सरकारी सहायता एवं संरक्षण देने की आवाज बुलन्द की। आर्थिक आँकड़ों* के अनुसार सन् १८९५ तक इस प्रकार विकसित होने वाले अन्य उद्योगों में ऊनी वस्त्र उद्योग तथा कागज उद्योग का भी बड़े उद्योगों में उल्लेख किया गया था। क्योंकि इस वर्ष में ६ ऊनी वस्त्र तथा ८ कागज के कारखाने थे, जिनमें क्रमशः ३,००० और ३,५०० श्रमिक काम करते थे। इन उद्योगों के अलावा रेल्वे एवं जहाजी यातायात के विकास के साथ भारत में इन्जीनियरिंग उद्योग तथा लोहा एवं पीतल फाउन्ड्री तथा टैनिंग का उद्योग भी विकसित हो रहा था। इस प्रकार सन् १८६० के उपरान्त सन् १८९५ तक भारतीय उद्योग काफी उन्नति कर चुके थे और "यदि इसी उत्साह से हमारे

---

* Financial & Commercial Statistics of India.

पूँजीपति अपने मार्ग का अनुसरण करते तो वे औद्योगिक निर्माण मे असफल नही हो सकते थे।"*

सन् १८८७ से भारत में कोयले के साथ ही पैट्रोलियम तथा मैंगनीज उद्योग का विकास हुआ, जो सन् १६१४ तक काफी अच्छी स्थिति प्राप्त कर चुके थे। पेट्रोल का उत्पादन सन् १८६६ मे १,५०,४६,२८६ गैलन था, जो सन् १६१४ मे २५,६३,४२,७१० गैलन हो गया। इसी प्रकार मैंगनीज उद्योग सन् १८६२ में प्रारम्भ हो गया था। परन्तु इसकी उन्नति केवल सन् १६००के बाद ही हुई, जब रूस-जापानी युद्ध के कारण रूस से मैंगनीज का निर्यात बन्द हो गया था। इससे इस भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन मिला, फलतः मैंगनीज का उत्पादन सन् १६०७ में ६ लाख टन से भी अधिक हो गया। इस प्रकार भारत मैंगनीज का विश्व मे एक बड़ा उत्पादक हो गया। इसके अलावा अन्य खान उद्योगो का विकास भी इस अवधि मे होने लगा, जैसे—नमक, साल्ट पीटर, अभ्रक, स्वर्ण आदि। इसी प्रकार लोह खानो के विदोहन के प्रयत्न भी सन् १६०७ से होने लगे थे, परन्तु इसका सफल प्रयत्न केवल सन् १६११ मे टाटा द्वारा टाटा आयरन एण्ड स्टील क० की स्थापना से किया गया, जिसने सन् १६१४ मे उत्पादन आरम्भ किया।

इस प्रकार भारत में आधुनिक उद्योगो का विकास १६वीं अर्द्ध-शताब्दी के के बाद विशेषतः यूरोपीय पूँजी एवं यूरोपीय विशेषज्ञो द्वारा किया गया। इस अवधि में शक्कर, चमडे की सफाई तथा अन्य छोटे-मोटे उद्योग भी आरम्भ किये गये। परन्तु ये उद्योग विदेशी वस्तुओ की प्रतियोगिता मे न टिक सके। भारत मे विशेषतः वे ही उद्योग सफलता से उन्नति कर सके, जिन उद्योगो को देशी माग एव नैसर्गिक विकास के स्रोत उपलब्ध थे तथा विदेशी प्रतियोगिता का भय न था। इस धीमी प्रगति के लिए विशेष रूप से सरकार की औद्योगिक विकास मे अरुचि, मुक्त-व्यापार नीति, तान्त्रिक शिक्षण सुविधाओ का अभाव, विदेशी प्रतिस्पर्धा, पर्याप्त विनियोग पूँजी का अभाव, देश के व्यापारिक एव औद्योगिक स्रोतो का अज्ञान, अकुशल श्रमिक, उद्योगों का असन्तुलित विकास तथा विदेशी पूँजी एव साहस का एकाधिकार प्राप्त उद्योगो मे हित ये प्रमुख कारण थे।

सन् १६११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय भारत में ७,११३ कारखाने थे, जिनमे १० से अधिक व्यक्ति काम करते थे, परन्तु इनमें ४,५६६ कार-खाने ऐसे थे, जिनमे यान्त्रिक अथवा अन्य शक्ति का उपयोग होता था। इसी गणना के अनुसार उद्योगो पर निर्भर जन सख्या २१,०१,८२४ थी, जिसमे से बगीचा उद्योग वस्त्र उद्योग, खान उद्योग तथा यातायात सम्बन्धी उद्योगो मे क्रमशः ८,१०,४०७,

---

* That Indi. has now fairly entered upon the path which, if pursued in the same spirit which has animated its capitalists hitherto, can not fail to work out its Industrial Salvation

—Essays on Indian Economics—Ranade,

१,५७,५६६, २,२४,०८७ तथा १,२४,११७ व्यक्ति काम करते थे, अर्थात् औद्योगिक जन-संख्या का ८१% भाग केवल इन चार बड़े उद्योगों में था।[1] इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने तक भारतीय उद्योगों ने अनेक कठिनाइयों के बीच पर्याप्त प्रगति की थी।[2]

प्रथम विश्व युद्ध में और उसके बाद—

प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने ही आरम्भ में भारतीय उद्योगों को धक्का लगा, क्योंकि यातायात साधनों का नियोजन प्रतिरक्षा के लिए होने से औद्योगिक यातायात में असुविधाएँ होने लगीं। साथ ही, औद्योगिक आवश्यक माल के आयात में अड़चनें उपस्थित हो गईं तथा अनेक उद्योगों के लिए, जैसे—कोयला, मैंगनीज एवं वस्त्र उद्योग के निर्यात में अड़चनें आ गईं परन्तु यह युद्ध का तत्कालीन प्रभाव था। इसके बाद भारतीय उद्योगों पर युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति की जिम्मेदारी आ गई। कीमतें बढ़ने लगी, जिससे उद्योगों ने काफी लाभ कमाये तथा भारत का निर्यात व्यापार युद्ध-काल में काफी बढ़ गया और धीरे-धीरे विनिमय दर भी बढ़ती गई। परन्तु बढ़ती हुई विनिमय दर से युद्ध-काल में हमारे विदेशी व्यापार पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं हुआ। इस अवधि में भारतीय उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला, परन्तु यन्त्रादि के आयात एवं विशेषज्ञों के अभाव के कारण उद्योगों का विकास नहीं हुआ। इस युद्ध से जो भारतीय उद्योगों को लाभकर बात मिली वह यह कि भारत सरकार ने सुरक्षा की दृष्टि से इन उद्योगों का महत्त्व पहिचाना तथा सन् १९१६ में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं की जांच एवं सिफारिश करने के लिए औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने सन् १९१८ में अपनी रिपोर्ट रसायनिक तथा तान्त्रिक अनुसन्धान, औद्योगिक एवं तान्त्रिक शिक्षा के समुचित संगठन द्वारा उद्योगों को प्रत्यक्ष एवं सक्रिय सहायता देने की सिफारिश की। युद्ध के लिए माल बनाने तथा आवश्यक माल खरीदने के लिए सन् १९१७ में इण्डियन म्युनिशन्स बोर्ड तथा स्टोर्स परचेज डिपार्टमेन्ट की स्थापना हुई। इन सब क्रियाओं से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला तथा औद्योगिक विकास के लिए उन्हें अच्छा अवसर मिला।

सन् १९१९ में युद्ध समाप्त होते ही व्यापारिक क्रियायें बढ़ने लगी तथा माँग बढ़ने के साथ ही उद्योगों ने विकास योजनाएँ बनाना आरम्भ किया, जिससे नये उद्योगों

---

1. Industrial Evolution of India—Gadgil 4th Edn. 114-115.

2. "The growth of large factory fram 1890 until the world war was fairly steady in all fields Cotton spindles more than doubled. cotton power-looms quadrupled, jute looms increased four and half times and coal-rising six times; while the extension of railways continued at the rate of about 800 miles per annum."—*Development of Capitalistic Enterprise in India*—Buchanon, pp. 139-40.

की स्थापना तथा पुराने उद्योगों का विकास होने लगा। फलतः सन् १६१६-२० एवं सन् १६२०-२१ में क्रमशः ६०५ एवं ६६५ नई कम्पनियों की रजिस्ट्री हुई, जिनकी अधिकृत पूंजी क्रमशः २७५ एवं १४६ करोड रुपये थी। इस प्रकार युद्ध पूर्व जहाँ भारत में २,६८१ कम्पनी जिनकी चुकता पूंजी ७६ करोड रुपये थी, वे बढकर सन् १६१८-१६ में २,७१३ हो गईं, जिनकी चुकता पूंजी १०६ करोड रुपये थी। यही संख्या सन् १६२१-२२ में ४,७८१ हो गई तथा इनकी चुकती पूंजी २२३ करोड रुपये थी।[1] इसी प्रकार बम्बई की वस्त्र निर्माणियों ने सन् १६१८ से सन् १६२१ के चार वर्षों मे क्रमशः २३·७, ४०.१, ३५·२ तथा ३०·१% लाभांश बाँटा और यही स्थिति अन्य उद्योगों की थी, जिससे उनके अंशो के बाजार मूल्य बढने लगे। यही स्थिति दीर्घकाल तक न रह सकी और सन् १६२० मे मन्दी आने से पाँसा पलटने लगा। इसी अवधि मे विनिमय दर भी गिरने लगी तथा भारतीय व्यापारियों के आदेशानुसार माल का आयात आरम्भ हो गया, जिससे भारतीय व्यापारियों को हानि हानि हुई तथा व्यापारिक अनिश्चितता आ गई। इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध के बाद मन्दी आई, जिसमे औद्योगिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई। इसके लिये सरकार की चलन नीति भी जिम्मेवार थी। औद्योगिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा उद्योगो को सहायता देने के हेतु भारत सरकार ने मुक्त व्यापार-नीति का परित्याग किया तथा औद्योगिक समिति की सिफारिशों के अनुसार फिस्कल कमीशन की नियुक्ति (सन् १६२१) की, जिसने भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक (Discriminating) सरक्षण देने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार लोहा एवं इस्पात उद्योग को सन् १६२३ मे, वस्त्र उद्योग को सन् १६२६ मे तथा कागज उद्योग को सन् १६२७ में सरक्षण दिया गया। फलतः ये उद्योग विदेशी प्रतियोगिता में अपना सफल विकास तथा सुदृढ सगठन कर सके। इस संरक्षण के कारण सूती वस्त्र निर्माणियों की सख्या ३३४ (सन् १६२६-२७) से बढकर ३३६ (सन् १६३०-३१) हो गई तथा इसमें ३,६५,४७५ व्यक्ति काम करते थे। युद्ध के बाद पटसन उद्योग ने भी काफी प्रगति की, क्योंकि पटसन-निर्माणियों की सख्या ७० (सन् १६१४-१५) से बढकर ६८ (सन् १६२६-३०) हो गई तथा इस उद्योग मे सन् १६२६-३० मे ३,४३,२५७ व्यक्ति काम करते थे।[2] वस्त्र, लौह एवं इस्पात तथा पटसन उद्योग के साथ ही अन्य उद्योगों का भी विकास होता गया, जैसे—शक्कर, कागज, सीमेन्ट, कोयला, इञ्जीनियरिङ्ग आदि। मन्दी का समय वैसे तो औद्योगिक विकास के लिये अनुकूल नही होता, फिर भी सरक्षण, औद्योगिक कच्चा माल सस्ता होने तथा मजदूरी के निम्न स्तर के कारण भारतीय उद्योगों ने प्रगति की। परन्तु औद्योगिक विकास मे सरकार ने प्रत्यक्ष किसी प्रकार से भाग नही लिया, इस कारण आशातीत उन्नति न हो

1. Industrial Evolution of India—D. R. Gadgil, pp. 226 27.
2. Ibid, pp. 240-42.

सकी। सन् १९३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना से उन्होंने देश के औद्योगिक भविष्य को आशाप्रदायी बनाने के लिये एक उद्योग-मन्त्री सम्मेलन बुलाया, जिसके प्रस्तावों के अनुसार राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण हुआ। इस समिति ने विभिन्न विषयों पर छानबीन कर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये, जिनसे प्रथम पंच-वर्षीय योजना को मौलिक सामग्री मिली।

इसके अलावा सन् १९३५ में औद्योगिक विकास जो युद्ध पूर्व केन्द्रीय विषय था वह प्रान्तीय कक्ष में दिया गया। फलतः प्रान्तों ने उद्योग विभागों की स्थापना की। इन विभागों का कार्य प्रान्तीय उद्योगों को विकास के लिए आवश्यक जानकारी एवं सहायता देने का था। परन्तु उन्होंने सक्रिय कार्य कुछ भी नहीं किया, क्योंकि इनके पास औद्योगिक सहायता के लिए पर्याप्त धन का अभाव रहा। इसी कारण अखिल भारतीय रसायन सेवा योजना (All India Chemical Service Projects) का परित्याग किया गया। परन्तु उद्योगों को सहायता देने के लिए केन्द्रीय फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट देहरादून में खोला गया। इसी प्रकार प्रान्तों ने भी अपने कक्ष में कुछ कार्यवाही की, जैसे—टेक्नोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट कानपुर, रिसर्च टेनरी कलकत्ता, सोप इन्स्टीट्यूट मद्रास आदि। मत्स्य-उद्योग के लिए मद्रास में मत्स्य-विभाग भी खोला गया। उद्योगों को आर्थिक सहायता भी प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत देने का प्रबन्ध किया गया।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया तथा सरकार को प्रतिरक्षा की दृष्टि से भारत के औद्योगीकरण के महत्त्व से परिचित कराया। मुक्त व्यापार नीति का अन्त तथा विवेकात्मक संरक्षण नीति का श्रीगणेश हुआ। औद्योगिक विकास प्रान्तीय कक्ष का विषय हो गया तथा प्रान्तीय सरकारों ने उद्योगों को सहायता देने के लिए अधिनियम बनाये और औद्योगिक एवं तान्त्रिक शिक्षा का किंचित प्रबन्ध किया। सारांश में, प्रथम विश्व युद्ध के बाद यद्यपि गुणात्मक दृष्टि से औद्योगिक विकास बहुत कम किन्तु संख्यात्मक दृष्टि से भारत का औद्योगिक विकास तत्कालीन परिस्थिति में सन्तोषजनक रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल—

सन् १९३९ में विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही योरोपीयन आयात कम हो गये, जिससे भारतीय उद्योगों को प्रतियोगिता का भय न रहा। फलतः भारतीय उद्योगों का काफी विकास हुआ, क्योंकि इन्हीं पर युद्ध-सामग्री की पूर्ति की जिम्मेदारी आ गई थी। परन्तु आधारभूत तथा पूँजीगत उद्योगों (Capital Goods Industry) का अभाव होने से भारत वांछनीय प्रगति न कर सका। फिर भी युद्ध-काल में भारत के औद्योगिक विकास के लिए तथा युद्ध कार्य के लिए आवश्यक वैज्ञानिक साधनों की पूर्ति के लिए 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान सभा' का निर्माण किया गया। इसी प्रकार शस्त्रास्त्र की कमी दूर करने के लिए चेटफील्ड्स आयोग की सिफारिशों के अनुसार

ऑर्डनेन्स फैक्टरीज का विकास एवं आधुनिकीकरण किया गया। युद्ध-काल में भारतीय जहाज उद्योग की दृढ स्थापना के लिए विशाखापट्टम में सन् १६४२ मे जहाज निर्माण उद्योग की स्थापना की गई, जिसमे सरकारी सहायता भी उपलब्ध थी। इसी प्रकार बंगलोर के हवाई जहाज उद्योग का विकास करने को सरकार ने २३ करोड़ रु० की सहायता दी तथा हवाई जहाजो की पूर्ति के लिए आदेश दिए।

तान्त्रिक कुशलता का विकास करने के लिए सरकार ने 'तान्त्रिक शिक्षा योजना' द्वारा तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध किया तथा उच्च शिक्षा के लिए बेविन योजना के अन्तर्गत शिक्षार्थियो को सयुक्त राज्य मे भेजा जाने लगा, परन्तु युद्ध के पश्चात् बेविन योजना का अन्त कर दिया गया। इसी के साथ औद्योगिक सहायता एव विकास के लिए अनेक समितियाँ बनाई गई तथा सन् १६४० मे सरकार ने अल्यूमीनियम, रसायन, स्टील पाइप आदि कुछ विशेष उद्योगो की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिए तत्परता दिखाई।

इसके बाद भारत मे औद्योगिक विकास के साधनो का निरीक्षण तथा औद्योगिक तान्त्रिक सहायता देने की दृष्टि से सन् १६४२-४३ मे सर हैनरी ग्रैंडी की अध्यक्षता मे एक अमेरिकन तान्त्रिक मिशन आया। इसने भारतीय युद्ध उत्पादन के अच्छे श्रीगणेश की ओर सकेत करते हुए मत दिया कि भारत मे इन उद्योगो का इतना विकास हो सकता है कि भारत मध्य एव सुदूर पूर्व मे अच्छा शस्त्र गृह (Arsenal) बन सकता है। इस हेतु आवश्यक तान्त्रिक सहायता अमेरिका से मिलेगी ऐसा विश्वास श्री ग्रैंडी ने दिलाया।

युद्धोत्तर काल (सन् १६४५–६०)—

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत ने द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे सरकारी प्रोत्साहन मिलने से सराहनीय प्रगति की। साथ ही, इस युद्ध से यह भी सिद्ध हो गया कि देश के औद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना होगा। फलस्वरूप २१ अप्रैल सन् १६४५ मे भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे :—

(१) देश के उपलब्ध स्थानो के अधिकतम् विदोहन से राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि करना। ऐसी अतिरिक्त सम्पत्ति सामाजिक दृष्टि से समानता से वितरित करना,

(२) देश को प्रतिरक्षा के लिए अच्छी तरह सुदृढ बनाना,

(३) उच्च एव स्थायी स्तर पर रोजगारी को प्रोत्साहन देना,

(४) यदि विकास के लिए पर्याप्त निजी पूँजी न मिली तो देश के २० बड़े उद्योगो का नियन्त्रण तथा अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जायगा, जैसे—हवाई जहाज, मोटर, रसायन, लोहा एव इस्पात, प्राइम-मूवर्स, ट्रासपोर्ट, वेहिकल्स, विद्युत यत्र, मशीन टूल्स, विद्युत रसायन (Electro-chemicals), नॉनफेरस धातु आदि।

युद्धोत्तर काल मे भारत सरकार ने सन् १९४५ मे अन्तरिम प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की तथा औद्योगिक उपक्रमो को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन अर्थप्रदाय के लिए औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल की योजना बनाने का कार्य हाथ मे लिया। औद्योगिक शोध एव योजना समिति ने १० अगस्त सन् १९४५ को अपने प्रतिवेदन में राष्ट्रीय-शोध-परिषद् तथा देश मे राष्ट्रीय-शोध-प्रयोगशालाओ का जाल बिछाने की सिफारिश की। इसके अलावा औद्योगिक क्षेत्र मे अन्य महत्त्वपूर्ण कदम उठाए, जैसे—श्रमिक गृह निर्माण योजना, सामाजिक बीमा आदि।

सन् १९४६ से अनेक राजनैतिक उलट फेर हुए तथा मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए सरकार की कर-नीति ऐसी रही जिससे उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। दूसरे, युद्ध-काल मे औद्योगिक यन्त्र सामग्री का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने के कारण वह जीर्ण-शीर्ण हो गई थी और उत्पादन व्यय अधिक हो रहा था। मजदूरो के असन्तोष ने भी युद्ध के बाद जोर पकडा। इन सब परिस्थितियो के सामूहिक परिणाम-स्वरूप औद्योगिक उत्पादन गिर रहा था। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) पूंजीगत सामग्री की प्राप्ति मे कठिनाई।
(२) श्रमिको मे असन्तोष।
(३) यातायात की असुविधाएं।
(४) कच्चे माल की कमी तथा।
(५) राजनैतिक अशांति एव दङ्गो के कारण विनियोग क्रियाओ मे शिथिलता।

इसके बाद जनवरी सन् १९४७ मे अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई तथा सन् १९४७ के बजट में व्यापार लाभ कर लगाया गया। इससे उद्योगो को प्रोत्साहन न मिलते हुए औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत परिणाम हुआ*:—

वर्ष	सामान्य सूचनाक	कोयला	शक्कर	रंग आदि	सीमेंट	कांच	सूत	कपड़ा
१९४७	९७·५	१०३·९	९७·६	१००·५	९३·९	६५·५	९४·८	९५·०
१९४८	१०८·९	१०३·२	११६·५	९३·०	१७०·७	७१·६	१०५·९	११०·५
१९४९	१०६·३	१०८·०	१०८·५	८०·५	१५६·३	३९·५	९९·४	९९·९
१९५०	१०५·२	११०·८	१०५·८	७२·८	१६९·४	१०९·५	८५·९	९३·८

विभाजन का परिणाम—

इसके बाद अगस्त सन् १९४७ मे भारत को अग भंग स्वतन्त्रता मिली, यद्यपि आर्थिक कारणो से भारत विभाजन नही हुआ था फिर भी उसके आर्थिक परिणाम दूरगामी हुए और आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र मे नई समस्याएं उपस्थित हो गईं।

* Ministry of Commerce & Industry and marketing abstract of statistics June 1951 E. Base=100.

(१) देश मे खाद्यान्न की कमी पहिले से ही थी, जो तीव्रतर हो गई ।

(२) वस्त्र एवं पटसन उद्योग को कच्चा माल प्राप्त करने की कठिनाई उपस्थित हुई । इससे इन दो उद्योगो के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पडा ।

(३) रेल यातायात पर विस्थापितो के आवागमन की जिम्मेवारी आ गई, जिससे औद्योगिक माल के यातायात मे कठिनाई प्रतीत होने लगी ।

(४) अधिकाश कुशल (Skilled) श्रमिक इस्लामी होने के कारण भारतीय उद्योगो को कुशल श्रमिको का अभाव प्रतीत होने लगा ।

(५) पाकिस्तान बन जाने से भारतीय उद्योगो के हाथ से एक बहुत बडा बाजार क्षेत्र निकल गया ।

धीरे धीरे राजनैतिक परिस्थिति पर काबू पाने के बाद राष्ट्रीय सरकार ने औद्योगिक उत्पादन बढाने तथा औद्योगिक नीति मे सुधार करने के हेतु दिसम्बर सन् १९४७ मे त्रिदलीय उद्योग परिषद् का आयोजन किया । इसमे उद्योग, व्यापार, श्रम एव सरकार के प्रतिनिधि थे । इस परिषद् मे श्रम एव पूँजी में तीन वर्ष के लिए समझौते सम्बन्धी तथा श्रमिको की स्थिति एव उनकी मजदूरी के तथा पूँजी के समुचित पारिश्रमिक के निर्धारण के लिए उचित व्यवस्था करने का प्रस्ताव मान्य किया गया । साथ ही उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने निम्न सुविधाएँ दी :—

(१) सन् १९४८-४९ के बजट मे उद्योगो को कर से मुक्ति,

(२) तीन वर्ष से कम आयु वाले नए कारखानो (उद्योगो) को उनकी पूँजी पर ६% लाभाश तक आय-कर से मुक्ति,

(३) नई इमारत, यन्त्र औजार आदि पर तथा तीन पाली में काम करने वाले कारखानो को तत्कालीन दर से दुगुनी घिसावट की अनुमति,

(४) यन्त्र सामग्री तथा अन्य आवश्यक पूँजीगत माल के आयात कर मे ५०% छूट, औद्योगिक कच्चे माल को आयात-कर से पूरा मुक्ति तथा आयात करो मे कमी ।

इन सुविधाओ से सन् १९४८ मे औद्योगिक उत्पादन युद्ध पूर्व औद्योगिक उत्पादन से १५% अधिक हो गया । यही सन् १९४७ मे युद्ध पूर्व स्तर से ५% कम था ।[1] इसके लिए केवल लोह एव इस्पात तथा कोयला उद्योग अपवाद थे ।

७ अप्रैल सन् १९४८ को भारतीय ससद मे औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमे सरकार की औद्योगिक नीति के प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट किए गए तथा उद्योगो का निजी एव सरकारी क्षेत्रो मे विभाजन किया गया ।[2] फलस्वरूप औद्योगिक

---

1. Hindusthan Year Book 1949
२. विशेष निवेचन के लिए "औद्योगिक नीति" अध्याय देखिए ।

उत्पादन बढ़ता रहा, जिसके निर्देशाक सन् १९४६, १९५० एवं सन् १९५१ में क्रमशः १०६·३, १०५·२ एवं ११७·४ मे।

भारत मे अनुकूल औद्योगिक वातावरण करने के लिए देश में अनेक औद्योगिक एव तकनीकी प्रशिक्षणालय तथा औद्योगिक अनुसन्धान के लिए खोज-शालाएँ (Research Laboratories) खोली गई हैं। खोज-कार्य की देख-रेख के लिए केन्द्रीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की स्थापना भी की गई है, जो वैज्ञानिक खोजो का औद्योगिक क्षेत्र मे उपयोग करने का प्रथम प्रयास है। इसके अन्तर्गत अनेक अनुसन्धान शालाएँ स्थापित की गई हैं। इसके अन्तर्गत २५ संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इसके अन्तर्गत एक औद्योगिक सम्बन्ध समिति है, जो उद्योगों से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें अनुसन्धानों के उपयोग की सलाह देती है। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन के प्रमाणीकरण के लिए इण्डियन स्टैन्डर्डस् इंस्टीट्यूट भी है, जिसने अभी तक ४०० से अधिक प्रमाप निश्चित किये हैं।

देश मे उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए निम्न अर्थ प्रदायक संस्थाओं की स्थापना की गई है, जो उद्योगो को प्रत्यक्ष दीर्घकालीन, मध्यावधि आर्थिक सहायता देती हैं :—

(१) अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९४८)
(२) राज्य औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल (१९५१)
(३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४)
(४) राष्ट्रीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (१९५५)
(५) लघु-उद्योग निगम (१९५५)
(६) पुनर्वित्त निगम (१९५८)
(७) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् (१९५७)

साथ ही देश मे सन् १९५१ से आर्थिक नियोजन शुरू हो गया है तथा आज दूसरी पंच-वर्षीय योजना की पूर्ति के बाद भारत तीसरी पंच-वर्षीय योजना मे पदार्पण कर रहा है। साथ ही नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुसार उद्योगो का सचालन एवं नियन्त्रण देश तथा जन-हित की दृष्टि से करने के लिए सन् १९५१ मे उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम भी बनाया गया है। इसके अलावा देश की परिवर्तनशील अवस्था के अनुसार औद्योगिक नीति मे सन् १९५६ में सशोधन किए गए हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठा रही है। फलस्वरूप औद्योगिक विकास भी तेजी से हो रहा है, जिससे विश्व के औद्योगिक देशो में भारत का आठवाँ क्रमांक है। प्रथम योजना काल में हमारा औद्योगिक उत्पादन सन् १९५१ की अपेक्षा ३८% से बढ़ा।[1] दूसरी योजना मे उत्पादन वृद्धि निम्नवत रही :—[2]

1 Hindusthans Year Book 1960.
2. Eastern Economist : Jan. 1, 1960. page.

वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि	वर्ष	पूर्व वर्ष से वृद्धि
१९५२	३·६%	१९५६	८·३%
१९५३	१·९%	१९५७	३·५%
१९५४	६·९%	१९५८	१·७%
१९५५	८·४%	१९५९ (अर्द्ध वर्ष)	५ ९%

औद्योगिक विकास की आधुनिक प्रवृत्तियाँ—*

भारत की नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक उपक्रम दो श्रेणियों मे रखे गए है : निजी और सरकारी। यद्यपि कुछ उपक्रम निजी क्षेत्रों मे रखे गए है फिर भी ऐसे उपक्रमो के विकास की अन्तिम जिम्मेवारी राज्यो पर होगी। विशेषतः जब *निजी क्षेत्र ऐसे उद्योगो का विकास करने के लिए अयोग्य हो,* परन्तु केवल सन्नियमों से ही वाछित सफलता नही मिलती। निजी क्षेत्र सर्वसाधारण औद्योगिक नीति का एक अङ्ग (Adjunct) है और उसे सरकार के निरीक्षण एव नियन्त्रण मे कार्य करना है। इस प्रकार निजी क्षेत्र को बेलगाम स्वतन्त्रता नही है। फिर भी आजकल निजी क्षेत्र में कुछ ऐसे विकास हो रहे है जिन पर सरकार ने गम्भीरता से इस दृष्टि से सोचने की आवश्यकता अनुभव की है कि कही औद्योगिक विकास एवं नियन्त्रण अधिनियम का उद्देश्य तो असफल नही हो रहा है।

एक उद्योग निजी स्वमित्व मे होते हुए भी राष्ट्रीय उद्योग है और राष्ट्रहित मे ही उसका सचालन होना चाहिए। आजकल कुछ व्यक्ति विदेशियो के ख्याति प्राप्त उपक्रमो के हित ले रहे है और ऐसे व्यक्तियो को वास्तविक रूप मे न तो औद्योगिक अनुभव ही है और न औद्योगिक प्रशिक्षण ही मिला है। वे केवल पूँजीपति है और औद्योगिक *क्षेत्र मे पदार्पण कर रहे हैं।* उदाहरणार्थ, जेसप एण्ड कम्पनी और ब्रिटिश इण्डिया कॉर्पोरेशन के कुछ कारखाने।

इन लोगो मे कल्पनाशील प्रारम्भण (Imaginative Initiative) का अभाव है, जो औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। केवल उद्योग के स्वामित्व के हस्तान्तरण से कोई व्यक्ति उद्योगपति नही बन सकता। अपितु उसे औद्योगिक पृष्ठ भूमि, प्रशिक्षण एवं दृष्टिकोण चाहिये, जिससे वह औद्योगिक आकर्षण बन सके।

दूसरे, ऐसे व्यक्ति नव-प्राप्त उद्योगो के आधुनिकीकरण एव विवेकीकरण के विरोध मे हैं, *किन्तु ये उद्योग पुराने होने के नाते इनकी यन्त्र सामग्री काफी पुरानी हो* चुकी है, जिसका आधुनिक यन्त्र सामग्री से विस्थापन होना आवश्यक है। इनका विचार है कि चूंकि इन उद्योगो को खरीदने मे इन्होंने पर्याप्त पूँजी लगाई है, इसलिये इनको पर्याप्त लाभ कई वर्षों तक मिलना ही चाहिए, अर्थात् ये उद्योग की समृद्धि की

* Modern Review, May 1957, page 339-340.

कपड़े का निर्यात

वर्ष	मिलियन गज में	वर्ष	मिलियन गज में
१९४७	२६६	१९५४	८३४
१९४८	३४४	१९५५	७३५
१९४९	४०६	१९५६	७२१
१९५०	१,१२२	१९५७	७८६'३९
१९५१	५८०	१९५८	५४३'७०
१९५२	५८६	१९५९	५४९'१७
१९५३	६२८		

इतना ही नहीं, प्रत्युत सन् १९५३ में विश्व में वस्त्र निर्यात में जापान का क्रमांक पहिला था। ऐसी अवस्था में हमारे वस्त्र निर्माताओं के सामने आज दो समस्याएं हैं:—(१) अपने वर्तमान निर्यात-बाजार कायम रखना तथा (२) देशी बाजार में सफल प्रतियोगिता। इस हेतु उद्योग को अपनी उत्पादनशीलता को बढ़ा कर उत्पादन की लागत कम करने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। क्योंकि आज 'उत्पादक-बाजार' न रहते हुए 'उपभोक्ता-बाजार' हो गया है, इसलिए उत्पादन तन्त्र में सुधार एवं वैज्ञानिकता की अतीव आवश्यकता है। साथ ही, श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए तान्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है। इस दिशा में भारतीय टेक्सटाइल एसोसिएशन को अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरे, वस्त्र-उद्योग पर लगाए गए अनेक करों से वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ़ जाती हैं, अतः इन करों में भी कमी होनी चाहिए। विदेशी निर्यात बढ़ाने के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कमेटी भी काफी प्रयत्नशील है।

(४) हाथ कर्घा एवं मिलों में सामंजस्य—हाथ-कर्घा उद्योग एवं मिल-उद्योग में सामंजस्य होना भी आवश्यक है, परन्तु इस सामंजस्य के लिए मिल-उद्योग पर करों (Cess) का बोझा लादकर हाथ-कर्घा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित नहीं है। क्योंकि इससे मिलों के वस्त्र उत्पादन की कीमतें बढ़ेंगी। हाँ, उत्पादन की कुछ किस्में अवश्य हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखी जा सकती हैं। परन्तु यह सामंजस्य अधिक घनिष्ट होना चाहिए, इसलिये भारत सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति में यह स्पष्ट किया है कि हाथ कर्घों की तांत्रिक विधि में सुधार किया जायगा तथा वर्तमान हाथ-कर्घों का विस्थापन क्रमशः शक्ति संचालित कर्घों से किया जायगा, जिससे यह उद्योग मिल उद्योग से प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति बढ़ा सके। इस नीति का स्वागत सभी क्षेत्रों में हुआ है।

(५) पर्याप्त कच्चे माल का अभाव—भारत के विभाजन से लम्बे रेशे

की रुई पर्याप्त मात्रा मे नहीं मिलती, फलतः भारत को इजिप्त, अमरीका, अफ्रीका आदि देशो से महँगे दामो पर रुई खरीदनी पड़ती है। इस दिशा मे भी स्वय-निर्भर होने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं और लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन के प्रयोग भी हो रहे हैं। इससे यह आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक रुई के सम्बन्ध मे देश स्वयं निर्भर हो जायगा। दूसरे, रुई की कीमतो पर भी उचित नियन्त्रण आवश्यक है, जिससे उत्पादन-लागत न बढे।

डी० एस० जोशी समिति—

सन् १६५६ में जब यह उद्योग संकट से गुजर रहा था तब उद्योग की जाच करने के लिए भारत सरकार ने टैक्सटाइल कमिश्नर श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी।[1] इस समिति ने अन्तरिम रिपोर्ट मे उत्पादन कर कम करने की सिफारिश की थी।

इन अन्तरिम सिफारिशो पर भारत सरकार ने तत्काल ही कार्यवाही की तथा उत्पादन करो मे संशोधन, सूत निर्यात की सुविधाएँ आदि दी गई है, जिससे मिलो के पास स्टॉक संग्रह न हो। इसी प्रकार सूत-निर्माण की सन् १६६१ तक की नीति भी घोषित की गई।[2]

समिति की अन्य प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

(१) मिलो के पास स्टॉक बढने का कारण विभिन्न किस्मो के उत्पादन मे असन्तुलन है, इसलिए सस्ती किस्मो की जगह उपभोक्ताओ की रुचि के अनुकूल रगे हुए, छपे हुए, ब्लीच किये हुए तथा अच्छी किस्म के कपडो का अधिक उत्पादन किया जाय।

(२) बन्द कारखानो के सम्बन्ध मे समिति की राय है कि जिन कारखानो के पास अपर्याप्त एव रद्दी यन्त्र हैं उनको उसी स्थिति मे चालू न किया जाय, किन्तु उनका विस्थापन सुसज्जित इकाइयो से किया जाय।

(३) उद्योग की कार्यक्षमता बढाने के लिए 'सलाहकार समिति' की स्थापना की जाय, जिसमे सभी हितो तथा प्रमुख सूती वस्त्र केन्द्रो का प्रतिनिधित्व हो। यह (i) उद्योग की विभिन्न इकाइयो की कार्य प्रणाली को प्रभावित करने के लिए टैक्सटाइल कमिश्नर को सलाह देगी। (ii) टैक्सटाइल कमिश्नर को उद्योग की सीमान्त एव उप सीमान्त इकाइयो का परीक्षण करने एव उनकी उन्नति के लिए सुझाव देने मे भी सहायता देगी। समिति को उद्योग के सम्बन्ध मे अद्यावधि जानकारी देने के लिए टेक्सटाइल कमिश्नर के कार्यालय मे एक 'विशेष सर्वे कक्ष' के सुदृढ सगठन की सिफारिश भी की गई है।

---

1. Journal of Industry and Trade, July 1958
2. भारतीय समाचार : १५ दिसम्बर सन् १६५८।

(४) अ—जिन मिलों के प्रबन्ध में गैरजिम्मेवारी है अथवा जहाँ उनकी कमजोरी की जड़ें गहरी हैं, ऐसी मिलों की प्रारम्भिक जाँच करने एवं उनको सरकारी नियन्त्रण में लेने के लिए 'उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम' की सम्बन्धित धाराएँ लागू की जायें। इनका उद्देश्य प्रबन्ध अथवा स्वामित्व पर नियन्त्रण करने का होना चाहिए।

(४) ब—सरकार द्वारा लिए गए कारखानों के प्रबन्ध के लिए एक स्वायत्त निगम की स्थापना पर्याप्त पूँजी से की जाय, जिसकी संचालक सभा में अनुभवी एवं सर्वहितैषी मिल मालिक, जिम्मेवार श्रम-नेता, तान्त्रिक तथा कुशल प्रबन्धकों को मार्गपित किया जाय। इस कॉर्पोरेशन का प्रबन्ध एवं संचालन आदर्श पद्धति पर हो तथा उसको निजी कारखानों की अपेक्षा कोई अधिक सुविधाएँ न दी जायें।

(५) सीमान्त इकाइयों को संकट से बचाने के लिए समिति ने उद्योग-विकास एवं नियमन अधिनियम का संशोधन करने की सिफारिश की है, जिससे समाप्ति आवेदन (Winding up Petition) के होते हुए भी सरकार उस पर नियन्त्रण कर सके।

(६) इस वर्ष स्पिन्डलों की संख्या १३·०३ मिलियन है, जो १·५ मि० स्पिन्डलों से बढ़ जावेगी, जिससे सूत का उत्पादन बढ़ेगा। परन्तु देशी खपत में कोई वृद्धि अपेक्षित नहीं है, इसलिए अधिक सूत को निर्यात करने की तथा इस हेतु दीर्घ-कालीन निर्यात नीति अपनाने की सिफारिश की है।

साथ ही, यह भी सिफारिश की है कि यद्यपि मिलों को स्पिन्डलों के लिए लाइसेंस दिए गए हैं, फिर भी इस प्रणाली की प्रत्येक की स्थिति जाँच करके बन्द किया जाय, जिसमें सूत का उत्पादन नियन्त्रित किया जा सके।

(७) समिति ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए भी सुझाव दिए हैं।[1]

इन सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया है तथा उन पर क्रमशः कार्यवाही कर रही है।

वस्त्र उद्योग का वर्तमान संकट (१९६०)—

निम्न तालिका से सूती वस्त्र उद्योग के उत्पादन की कल्पना होती है :—[2]

वर्ष	सूत (लाख पौंड)	कपड़ा (लाख गज)	वर्ष	सूत (लाख पौंड)	कपड़ा (लाख गज)
१९५२	१४,४९२	४५,०८६	१९५७	१७,९०१	५३,१७४
१९५३	१५,०५१	४८,७८६	१९५८	१६,८५४	४९,२७०
१९५४	१५,६१०	४९,९७३	१९५९	१७,२२८	४९,२५४
१९५५	१६,३०४	५०,९४५	१९६० (जन०)	१,४४१	४,१७८
१९५६	१७,७१२	५३,०६६	१९६० (फर०)	१,३८८	४,०२८

1. Amrit Bazar Patrika, July 26, 1958
२. उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त सन् १९६०।

इससे स्पष्ट है कि उद्योग की प्रगति सन् १९५८ में बाधित हुई। इस वर्ष कपड़े का स्टॉक मिलों के पास जमा रहा और अनेक मिलों को आर्थिक हानि भी हुई, जिससे १६ मिल बन्द हुए। इसी प्रकार सन् १९५९ में भी ३० मिल बन्द रहे, परन्तु कर सुविधायें, उत्पादन करों में छूट, सरकार की सक्रिय आर्थिक सहायता आदि के कारण सन् १९५९ में मिलों ने पूर्ण क्षमता से कार्य किया, जिससे उत्पादन बढ़ा। परन्तु सन् १९६० फिर से वस्त्र उद्योग के लिए संकट का वर्ष रहा।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था के दसवें वर्ष में देश में "वस्त्र संकट" समझ में आने वाली बात नहीं है। यह बात जरूर है कि जनमत के दबाव से भारतीय सूती मिल संघ (इण्डियन काटन मिल्स एसोसियेशन) ने यह घोषणा कर दी है कि महीन, मोटे और मध्यम दर्जे के कपड़े के मूल्य में दस प्रतिशत से साढ़े २७ प्रतिशत तक की कटौती की जायगी। तथापि यह भी सत्य है कि सिर्फ मूल्य में कटौती से मूल समस्या का समाधन नहीं होता। वस्तुतः आज की स्थिति के लिये सरकार और वस्त्र निर्माता दोनों जिम्मेदार हैं।

यह सर्व विदित है कि देश के सगठित उद्योगों में वस्त्र-उद्योग सबसे आगे है। फिर यह संकट क्यों?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें कपड़े की समस्या की गहराइयों में जाना पड़ेगा। मूल बात तो यह है कि हमारे देश में उपभोक्ताओं का हित राजनीति का शिकार बन गया है। विज्ञान के इस युग में हाथ मशीन का मुकाबला नहीं कर सकता, दूसरे शब्दों में, मशीन द्वारा निर्मित वस्तु हाथ की बनी चीज से काफी सस्ती बैठेगी। इसी प्रकार मिलों में जिस पैमाने पर उत्पादन हो सकता है, हाथ से चलाये जाने वाले उपकरणों द्वारा नहीं हो सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि कुछ मामलों में हाथ का काम मिल के काम से श्रेष्ठ होता है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ व्यापक उत्पादन की जरूरत हो, वहाँ मिलों से काम लिया जाय और जहाँ उत्कृष्टता वांछित हो, वहाँ हाथ की कुशलता दिखाने का अवसर दिया जाये। हमारे देश में कपड़े के निरन्तर अभाव की जड़ में इन दो उत्पादन-पद्धतियों का असन्तुलित विकास ही है।

हाथ करघा और मिल—

प्रथम पंच-वर्षीय आयोजना के अन्तर्गत ४७,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि वास्तविक उत्पादन ५०,००० लाख गज हुआ था। दूसरे आयोजना काल में पहले ५५,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने का लक्ष्य रखा गया था, जिसमें से १०,००० लाख गज कपड़ा निर्यात के लिये रख छोड़ने का इरादा था। लेकिन जून सन् १९५६ में भारत सरकार ने अपनी संशोधित वस्त्र उत्पादन नीति घोषित की, जिसके अनुसार सन् १९६०-६१ तक मिलों में ५३,५०० लाख गज, अम्बर चर्खा सूत से ३,००० लाख गज तथा हाथ-करघों पर २२,००० लाख गज कपड़ा तैयार करने की व्यवस्था की गई और १,५०० लाख गज का एक

और कोटा भविष्य मे वितरण के लिए रखा गया। इस प्रकार सन् १९६०-६१ तक कपड़े का कुल उत्पादन ८४,००० लाख गज तक ले जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसमे से १०,००० लाख गज कपड़ा निर्यात के लिए अलग रखने का विचार था। इसका अर्थ यह हुआ कि देश मे खपत के लिए लगभग ७४,००० लाख गज कपडा उपलब्ध होगा। लेकिन वास्तविक उपलब्धि इससे कम रही है।

दूसरी आयोजना की प्रगति पर सन् १९५८-५९ के लिए प्रकाशित आयोग की रिपोर्ट के अनुसार कपड़े का उत्पादन इधर गिर गया है। सन् १९५७ में ५३,१७० लाख गज कपड़ा तैयार हुआ था, जो सन् १९५८ मे घटकर ४९,२२५ लाख गज रह गया। सन् १९५९ में उत्पादन बढा है। सन् १९६० के प्रथम ६ महीने के लिए प्राप्त सूचनानुसार मिलों का उत्पादन सामान्य स्तर पर चलता रहा है। सन् १९६० के जून तक मिलों का उत्पादन २४,५१० लाख गज रहा, जबकि सन् १९६० की इसी तिमाही में २४,४५० लाख गज कपडा बनाया। यदि उत्पादन की यह सुधरी हुई गति बनी भी रही, तो भी इस वर्ष के अन्त तक मिल-उत्पादन निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच सकेगा, इसमे सन्देह है।

वर्तमान संकट का एक और कारण है। वह है प्रति व्यक्ति खपत का गलत लक्ष्य। सन् १९५५ में यह विचार व्यक्त किया गया था कि सन् १९६१ तक देश में प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत २२ गज तक पहुँच जानी चाहिए। इस लक्ष्य के समर्थन में तब कई तर्क प्रस्तुत किए गए थे और सन् १९५८ तक अधिकारी वर्ग इसी लक्ष्य पर अड़ा हुआ था। लेकिन इसके बाद अधिकारियों का विश्वास डोलने लगा। सन् १९५९ में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत का लक्ष्य २०·३ गज रखने से भी काम चलेगा। अब इस लक्ष्य को और घटा दिया गया है और खयाल है कि सन् १९६६ तक प्रति व्यक्ति खपत १८·५ गज रखना ही सम्भव हो सकेगा। यह इस सदी के तीसरे दशक (सन् १९३०-३९) की घनघोर मन्दी के समय की औसत खपत से सिर्फ २·५ गज अधिक है और सन् १९४८-४९ के औसत से १·५ गज ऊँचा।[१]

कपड़े की सम्भावित और वाछनीय खपत के सम्बन्ध में सरकार की यह ढुलमुल नीति दीर्घकालिक दृष्टि से उपभोक्ताओं के लिए हानिकर प्रमाणित हुई है। एक ओर तो विकास-अभियान के कारण लोगों की जेब में पैसे ज्यादा आ रहे हैं, दूसरी ओर कपड़े जैसी महत्त्वपूर्ण उपभोग्य वस्तु की उपलब्धता को जानबूझकर संकुचित करने का प्रयास किया जा रहा है। सन् १९३०-३९ की तुलना में पैसे की उपलब्धता जहाँ ४०० से ५००% तक बढ गयी है, वहाँ कपड़े की खपत की सुविधा में सिर्फ लगभग १३% वृद्धि आज की मँहगाई का अपना आप में एक बड़ा सबूत है।

उत्पादन नीति—

जैसा कि उपर्युक्त आँकडों को देखने से स्पष्ट हो जायेगा, हमारे देश मे मिल-उत्पादन पर अंकुश लगाकर हाथकरघा को प्रमुखता देने का अस्वाभाविक प्रयत्न किया

जा रहा है। जहाँ तक अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने का प्रश्न है, हाथकरघे के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु साथ साथ यह भी मानना पडेगा कि हाथकरघे पर उत्पादित कपडा मिल कपड़े के मुकाबले कभी सस्ता नहीं हो सकता। हां, खास-खास प्रकार के कपडे तैयार करने मे हाथ करघा का अपना महत्त्व है। जैसे, मद्रासी लुंगिया, रेशमी कपडा, भारी किनारी की साड़िया, दो-सूती, चादरें और तौलिये, दरी और कालीन बनाने का काम हाथकरघे को पूर्ण रूप से सौंपा जा सकता है। इन चीजो का उपयोग जिस वर्ग के लोग करते हैं, वे इनकी ऊँची कीमतें भी दे सकते हैं। लेकिन अल्प-वित्त-भोगियो को जानबूझकर ऊँचे दाम चुकाने को बाध्य करना एक नैतिक अपराध ही माना जायेगा। यहाँ इस बात पर प्रकाश डालने की जरूरत नहीं कि हाथकरघा उद्योग को खडा रखने के लिए केन्द्रीय राजस्व को प्रति वर्ष करोडो रुपए से हाथ धोना पड़ता है।

वर्तमान 'वस्त्र-संकट' का कारण, जैसा कि केन्द्रीय वाणिज्य और उद्योगमन्त्री ने बताया है, देश में इस बार उत्पादन में गिरावट ही है। उधर मिल उद्योग का कहना है कि क्योकि छोटे रेशे की रुई की कमी है, इसलिए मोटे कपडे का उत्पादन गिर गया है। इसलिए इस प्रकार के कपडे के दाम चढ गये हैं। यदि यह तर्क ठीक है तो बाजार मे माग अधिक और सप्लाई कम होने से भाव बढ सकते थे। लेकिन मिलो ने स्वयं ही इसके दाम क्यों चढा दिए हैं, निश्चय ही इस संकट के लिए भविष्य के बारे मे हमारे अविश्वास और मुनाफाखोरी की मनोवृत्ति ही जिम्मेदार है और सरकार ने रुई आयात-नीति मे विलम्ब करके आग मे घी डालने का काम किया है, जो घोषणा अब की गयी है, यदि वह कुछ पहले ही की जाती, तो शायद भावो की तेजी को कुछ हद तक लगाम लग सकती थी।

दीर्घकालिक लक्ष्य—

इसी सिलसिले मे यहा भी उल्लेख कर दिया जाये कि तीसरी आयोजना मे कुल ९३,००० लाख गज (मिल ५८,००० लाख गज और हाथकरघा तथा शक्ति-चालित करघा ३५,००० लाख गज) उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया है, उसके बंटवारे पर फिर से विचार करना आवश्यक है। सिर्फ सिद्धान्त के नाम पर अपनी क्षमता को सीमित करना आज की परिस्थिति में हमारे लिए घातक ही प्रमाणित होगा। निर्यात के मोर्चे पर चीन हमारा तगडा प्रतिद्वन्द्वी बनता जा रहा है। यदि चीन का उत्पादन स्तर यही बना रहा, तो वह दिन दूर नहीं, जब सिर्फ निर्यात मे ही नहीं, बल्कि प्रति व्यक्ति आतरिक खपत के मामले मे भी वह हमे पीछे छोड देगा। वैसे भी, जनकल्याणकारी होने का दावा करने वाली सरकार का कर्त्तव्य जनसामान्य का जीवन-स्तर उन्नत करना ही होना चाहिए, सिद्धान्त के नाम पर उसकी सम्भव प्रगति को अवरुद्ध करना नहीं।*

---

* नवभारत टाइम्स : अगस्त १३, १९६०।

[२] लोहा एवं इस्पात उद्योग

भारत के आधारभूत उद्योगों में लोहा एवं इस्पात सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग है। इस उद्योग के बिना कृषि एवं अन्य किसी उद्योग के विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सामग्री नहीं मिल सकती। साथ ही, इस उद्योग के अभाव में एक साधारण से कृषि यन्त्र, जैसे हल के लिए भी हमको विदेशों पर निर्भर रहना होगा। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास एवं प्रगति के लिए तो यह उद्योग आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है ही, परन्तु राजनैतिक सुरक्षा में भी इस उद्योग की महत्ता कम नहीं है। इसलिए वर्तमान युग को यदि लोहा एवं इस्पात युग कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उगम एवं विकास—

भारत प्राचीन काल से ही इस उद्योग में निपुण रहा है। इसका उदाहरण दिल्ली के पास लोह-स्तम्भ से मिलता है, जो २,००० वर्ष पहले बनाया गया था। श्री बॉल के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण आज के बड़े बड़े कारखानों में भी होना असम्भव है। भारतीय इस्पात-उद्योग के लिए दमास्कस्ब्लेड्स का उदाहरण सभी को विदित है, जो विश्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। भारत की कैंची, चाकू आदि वस्तुओं का निर्यात इङ्गलैण्ड को होता था। परन्तु प्राचीन इतिहास की पृष्ठ-भूमि में आज हम देखते हैं कि भारत में लोहा एवं इस्पात की बहुत कमी है। भारत की लोहा एवं इस्पात की वार्षिक खपत २½ लाख टन है, जहाँ वार्षिक उत्पादन केवल १ लाख टन है, *परन्तु विदेशी सत्ता एवं प्रभुत्व के कारण इस उद्योग की अवनति हुई, जिस ओर* १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतियों ने कोई ध्यान नहीं दिया।

लोहा एवं इस्पात उद्योग की स्थापना के असफल प्रयत्नों का आरम्भ १७वीं शताब्दी के अन्त में हुआ, परन्तु मोट्टी तथा फरकुहार (Mottee & Farquhar) ने सन् १७७९ में लोहा तथा इस्पात बनाना आरम्भ किया। इसके पश्चात् सन् १८०८ में श्री डंकन ने मद्रास में लोहा-स्रोत खोज कर अपना कारखाना खोला। तत्पश्चात् सन् १८२५ में गोसियाह हीथ (Gosiah Heath) ने मद्रास में कारखाना खोला, जिसके लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आर्थिक सहायता दी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अनेक कठिनाइयों से असफल रहा, फलतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे खरीद कर सन् १८७४ तक असफलता से चलाया। फिर सन् १८७५ में *'बारकपुर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना की गई, परन्तु यह* किसी प्रकार ६ वर्ष तक चली और फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इसे खरीद लिया। दो वर्ष के बाद इस कारखाने का आधुनिकीकरण *किया गया* तथा नाम भी बदल कर *'दी बंगाल आयरन एन्ड स्टील* कम्पनी' रखा गया। यह पहला कारखाना है, जिसने आधुनिक पद्धति से पिग आयरन का उत्पादन शुरू किया, *परन्तु यह कम्पनी इस्पात का उत्पादन करने में असफल रही।*

लोहा एवं इस्पात के उत्पादन का सफल एवं उल्लेखनीय प्रयत्न सर जे० एन० टाटा का रहा, जिन्होंने अपने २० वर्ष के अथक परिश्रम तथा जर्मन एवं अमरीकी

विशेषज्ञों की सहायता से साकची (आज का जमशेदनगर) में सन् १६०८ मे अपना कारखाना खोला। इन्ही के प्रयत्नों से एशिया के लोहा एव इस्पात उद्योग में भारत को गौरव प्राप्त है। इस विख्यात कारखाने का नाम 'दी टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी' (TISCo) है। इस कारखाने मे सन् १६११ मे पिग आयरन तथा सन् १६१३ में इस्पात का उत्पादन हुआ और सन् १६१६ में इसने पूर्ण उत्पादन क्षमता प्राप्त कर ली। इसकी सफलता के पश्चात् सन् १६१८ में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हीरापुर मे, जो आसनसोल से ४ मील है, हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद स्थापित कारखानों में यह पहिला कारखाना था। इसके बाद सन् १६२१ में यूनाइटेड स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ एशिया (मनोहरपुर) तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (भद्रावती) की स्थापना सन् १६२३ मे हुई।

प्रथम विश्व युद्ध—

सन् १६१४ में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ जाने से हमारे लोह एवं इस्पात उद्योग को मन माँगा वर मिला, जिससे उद्योग को प्रोत्साहन मिला। क्योंकि इस उद्योग पर फौजी रेलो के लिये रेल की पटरी, स्लीपर्स इत्यादि का प्रदाय मेसोपोटामिया, पैलेस्टाइन, पूर्वी अफ्रीका आदि मे करने को जिम्मेवारी आई। इस कारण उद्योग को असीमित लाभ हुये। इन लाभो के कारण अन्य तीन उपरोक्त उद्योगों की स्थापना हुई। इन लाभो का सदुपयोग कर टाटा ने अपनी कुशल नीति का परिचय दिया और सन् १६१७ में अपनी विकास योजना बना कर सन् १६४२ मे पूरी की। इन लाभो के कारण ही भारत मे बंगाल और मद्रास में अनेक फाउन्ड्री वर्क्स की स्थापना की गई। फलस्वरूप आज भारत मे १३४ ऐसे कारखाने (Rolling Mills) हैं, जो लोहा एव इस्पात क्षेप्यक (Scrap Billets) से ९,००,००० टन का वार्षिक उत्पादन कर रहे है।

संरक्षण—

युद्धोत्तर काल में उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा, इसलिये सरकार ने सरक्षण की माँग की। सन् १६२१-२२ के फिस्कल कमीशन की सिफारिश के अनुसार जुलाई सन् १६२३ मे प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति हुई, जिसने रिपोर्ट में लिखा है :—"सरक्षण के अभाव मे यह उद्योग भविष्य में अनेक वर्षों में भी विकास नही कर सकता और सम्भव है कि फौजी एवं सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस उद्योग का कही अन्त न हो जाय, इसलिये इस उद्योग को सरक्षण लेने का पहिला अधिकार है।" फलस्वरूप सन् १६२४ मे उद्योग को तीन वर्ष के लिये संरक्षण देने के लिये इस्पात संरक्षण कानून बना। इस कानून से इस्पात के आयात मूल्य पर ४० प्रतिशत कर लगाया गया तथा आर्थिक सहायता भी दी गई। आरम्भ में यह सहायता ५० लाख रुपये वार्षिक थी, परन्तु विदेशी इस्पात का मूल्य गिरने से यह सहायता राशि और बढा दी गई तथा संरक्षक-आयात कर भी बढाये गये। इस सहायता से उद्योग द्रुत गति से विकास करने लगा

तथा आयात भी कम हुये। सन् १६२६–२७ में प्रशुल्क सभा द्वारा इस उद्योग की पुनः जाँच हुई तथा सिफारिशें की गई कि इस उद्योग को संरक्षण अधिक समय के लिये मिले। इसलिये सन् १६२८ मे उद्योग को ७ वर्ष तक संरक्षण देने के लिये इस्पात संरक्षक (संशोधन) कानून बना। इस कानून मे ब्रिटिश तथा नॉन ब्रिटिश इस्पात के आयात-करों में भिन्नता थी। सन् १६३३ मे पुनः उद्योग की जाँच कर संरक्षण अवधि बढा दी गई। इस प्रकार संरक्षण के कारण उद्योग की उत्पादनशीलता सन् १६१४ में १,६२,२७२ टन पिग आयरन से सन् १६३५ मे १३,४३,००० टन हो गई थी। इस उद्योग को सन् १६४७ तक संरक्षण मिलता रहा, जिसको चालू रखने के लिये उद्योग ने पुनः मांग नही की, इसलिये प्रशुल्क सभा की सिफारिश के अनुसार उद्योग को सन् १६४७ से संरक्षण नही है। परन्तु सन् १६४७ में जो संरक्षण-कर थे, वे अब आय-कर (Revenue) हो गये हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं युद्धोत्तर काल—

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ होते ही जहाजी कठिनाइयो के कारण विदेशी आयात रुक गए, जिससे इस उद्योग पर विविध किस्मो का फौलाद* तैयार करने की एवं पूर्ति की जिम्मेवारी आ गई। इसे उद्योग ने पूरी तरह निभा कर अपनी कार्य-क्षमता का परिचय दिया। इधर देशी मांग भी थी, जिसको पूरा करने की जिम्मेवारी थी ही, परन्तु इन विविध मांगों को पूरा करने की दशा में यह उद्योग न होने से सरकार को इस पर नियन्त्रण लगाना पड़ा। सन् १६४१ में युद्ध की मांग पूर्ति करने के लिए टाटा ने जमशेदपुर मे व्हील टायर एण्ड एक्सल प्लांट की स्थापना की, जिससे रेल के पहिये भी भारत में बनने लगे। (*यहाँ पर यह ध्यान रहे कि ऐसे प्रयत्न पहिले भी अन्य कारखानो द्वारा किये गये थे, परन्तु वे असफल रहे। यह प्लांट 'दी जमशेदपुर इञ्जीनियरिंग एण्ड मशीन मैन्यूफेक्चरिंग कम्पनी' के नाम से विख्यात है।* टाटा की सफलता एवं अथक प्रयत्नों के कारण ही सिंघभूमि स्थित ईस्ट इण्डियन रेलवे वर्कशॉप भी टाटा के नियन्त्रण में १ जून सन् १६४५ से हो गया। इसमें बॉइलर और लोकोमोटिव का उत्पादन होता है। इसी प्रकार रेल के डिब्बो का लोहे का ढाँचा बनाने वाला सिंघभूमि वर्कशॉप; जिसे सरकार ने सन् १६२७ में पेनिन्सुला लोकोमोटिव कम्पनी से खरीदकर ईस्ट इण्डिया रेलवे को दे दिया था, वह सन् १६४३ में बन्द हो गया। इसे युद्ध-काल में फौजी उपयोग के लिए सुरक्षा विभाग ने ले लिया। युद्ध के बाद जब सरकार इसे बन्द करने का विचार कर रही थी तो टाटा ने इसे १६ वर्ष के लिए खरीद लिया तथा *'टाटा लोकोमोटिव एण्ड इञ्जीनियरिंग कम्पनी' के नाम से चालू* किया। इस कम्पनी ने सन् १६५१ में १२५ बॉइलरों का उत्पादन किया। इतनी प्रगति के बाद भी इस उद्योग का वर्तमान इस्पात उत्पादन बहुत कम है, जो भारतीय आवश्यकता के लिए अधूरा है।

* *e. g.* high speed steels, hot-die steels, tap-steels, nickel-chrome steels, special steels for shear blades and punches, die steels for the mints, armour piercing steels, wheels and tyres

मूल्य नियन्त्रण—

जैसा ऊपर कहा गया है, युद्ध के कारण यह उद्योग देशी मांग को पूरा करने में असमर्थ रहा, जिससे इस्पात की कीमतें बढ़ने लगीं, इसलिए सरकार को इस उद्योग के उत्पादन पर मूल्य-नियन्त्रण लगाना पड़ा। वैसे तो १ अक्टूबर सन् १६३६ से सुरक्षा विभाग की सम्पूर्ण खरीद नियन्त्रित कीमतों पर ही होती थी। परन्तु व्यापारिक कीमतों पर नियन्त्रण नहीं था, इसलिए १ जुलाई सन् १६४४ में इन पर भी नियन्त्रण लगाया गया। इसी प्रकार लोहा एवं इस्पात कारखानों के उत्पादन का अंश-वितरण (Rationing) भी किया, जिससे ये वस्तुएं केवल परमिट लेने पर ही मिल सकती थीं। इस नियन्त्रण के अनुसार इस्पात की उच्चतम कीमत निश्चित कर दी गई, परन्तु उत्पादकों को अपनी अलग रिटेन्शन कीमतें रखने की स्वतन्त्रता थी। रिटेन्शन मूल्य से जितना विक्रय मूल्य अधिक होता था उतनी राशि से सरकार ने आयात में सहायता देने के लिए एक निधि बनाया। सन् १६१६ में टाटा, मैसूर आयरन स्टील वर्क्स तथा स्कॉब[1], इन निर्माताओं के इस्पात के रिटेन्शन मूल्य प्रशुल्क सभा ने दो वर्ष के लिये निश्चित किए थे। इनमें समयानुसार परिवर्तन किए जाते हैं।

१ अप्रैल सन् १६५५ से ३१ मार्च सन् १६५६ तक की अवधि के लिए मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के रिटेन्शन मूल्य में २ रु० प्रति टन की वृद्धि की गई है। इसी अवधि के लिए इस कारखाने में निर्मित लोहे के ठोकों के रिटेन्शन मूल्य में १ रु० प्रति टन की वृद्धि हुई है। इसके पूर्व रिटेन्शन मूल्य ४२५ रु० प्रति टन था।[2]

उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—

भारत के लोहा एवं इस्पात की वर्तमान स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक है, जिसकी कल्पना निम्न तालिका से होगी :—

वर्ष	पिग आयरन (हजार टन)	स्टील का उत्पादन (हजार टन)
१६५०	१,५६२·४	१,००४·५
१६५१	१,७०८·८	१,०७६·४
१६५२	१,६८४·८	१,१०२·८
१६५३	१,६५४·८	१,०१७·६
१६५४	१,७६२·८	१,२४३·२
१६५५	१,७५६·८	१,२६०·०
१६५६	१,८०७·८	१,३१६·४
१६५७	१,७८६·८	१,३४६·४
१६५८	२,००३	१,३००·०
१६५६	—	१,७७०·०[3]

१. स्टील कॉर्पोरेशन ऑफ बंगाल।
२. भारतीय समाचार, मई १५, १६६०।
३. भारतीय समाचार जुलाई १, १६६०।

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गई। *यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—*

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक सरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा सरक्षण के अभाव मे चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि मे आवश्यक है तो सरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नही होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष मे ४२ उद्योगों की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ मे प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, *जिससे अन्तरिम अवधि मे स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके* तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगो को जिनकी सरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हे इस तिथि के बाद सरक्षण देने के सम्बन्ध मे जाँच करना।

(२) देश मे निर्मित वस्तुओ के उत्पादन मूल्यो की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) *सरक्षित उद्योगो की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे सरक्षण करो* अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे सरक्षण करों अथवा सहायता मे सशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर सरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे: – मूल्यानुसार एव निश्चित करो का विभिन्न वस्तुओ पर लगाये गये प्रशुल्क करो का मूल्यांकन एवं विदेशो को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, सयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगो पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एव पूर्व स्थापित उद्योगो की जाँच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

1. *Hindustan Year Books*
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

सन् १६५६ तथा ७ जून सन् १६६० को दो ग्रॉक्सीजन प्लाट चालू हो गए, जो दैनिक २०० टन ग्रॉक्सीजन तैयार करेंगे। इसी प्रकार इस्पात के पाइप बनाने का यन्त्र भी लगाया जा रहा है, जो प्रति मास ८,६०० से ३१,००० टन तक पाइप का उत्पादन करेगा। यह मशीन सितम्बर सन् १६६० तक चालू होने की ग्राशा है।[1]

सरकारी क्षेत्र में दूसरा कारखाना भिलाई (मध्य-प्रदेश) मे रूस के तान्त्रिक सहयोग मे बन रहा है। यहा पर २४ दिसम्बर सन् १६५६ से इस्पात का उत्पादन आरम्भ हो गया तथा मई सन् १६६० तक १ लाख टन इस्पात की सिल्लिया तैयार हुई इनमें से ८८,००० टन देश के रि-रोलिंग मिलों को भेजी जा चुकी है।[2] इस कारखाने की पूँजीगत लागत १३० करोड़ रु० होगी, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७,७०,००० टन स्टील तथा ३ लाख टन पिग आयरन होगी।

तीसरा कारखाना दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) में ब्रिटिश स्टील निर्मातात्रों के तांत्रिक सहयोग मे खोला गया है। इसकी पूँजीगत लागत १३७ करोड़ रु० तथा वार्षिक उत्पादन क्षमता ३·५० लाख टन पिग आयरन और ७·६० लाख टन स्टील होगी।[3] इस कारखाने की पहिली भट्टी २५ अप्रेल सन् १६६० को चालू हुई तथा इस्पात उत्पादन का प्रथम महत्वपूर्ण चरण आरम्भ हुआ। ऐसी ८ भट्टिया इस कारखाने में लगाई जावेंगी। एक भट्टी एक बार मे २०० टन इस्पात उत्पादन करेगी।[4] इसी प्रकार दूसरी भट्टी ३० जून सन् १६६० को चालू होगई। इससे इस कारखाने मे ११,००० टन इस्पात पिंड का उत्पादन हुआ तथा २७ जून सन् १६६० को तैयार इस्पात सिल्लों की पहिली खेप पश्चिमी बगाल और पूर्वी पंजाब की रोलिंग मिलों को भेजी गई।

इन तीनो कारखानों का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लि० के नियन्त्रण मे होता है। ये तीनों ही कारखाने पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण में हैं तथा इनकी अधिकृत एवं चुकता पूँजी ३०० करोड़ रु० है।

तीसरी योजना में—

दूसरी योजना काल में ६० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, जिससे ४५ लाख टन इस्पात का तैयार सामान बनाया जायगा। दूसरी योजना मे इस्पात का उत्पादन बढाने के कार्यक्रम मे जमशेदपुर, बर्नपुर एवं भद्रावती के कारखानो के विस्तार की व्यवस्था थी। इसके सिवा सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों में आरम्भ मे १० लाख टन इस्पात पिण्ड बनाने का लक्ष्य था, परन्तु उसमे बढती हुई माँग के अनुसार परिवर्तन किया गया है, जिससे उपरोक्त लक्ष्य के साथ ही ७·५० लाख टन ढलवा लोहा बनाने का लक्ष्य भी पूरा हो जाय।

तीसरी योजना मे सन् १६६५-६६ मे विक्री के लिए ७३ लाख टन तैयार

१. भारतीय समाचार—जुलाई १, १६६०।
२ भारतीय समाचार—जून १५, १६६०।
3 India—1960.
४ भारतीय समाचार—जून १, १६६०।

बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगो को तीव्र गति से विकास करने की सुविधाएँ देने के लिए एक संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हो। इसका निम्न कार्य हो :—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलो की जाँच।

(स) संरक्षण दर तथा आयात करो के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क सुविधाओ की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ मे भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नही दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.) का भविष्य निश्चित नही होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा। अतः प्रशुल्क सुविधाओ के आदान प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारो के सम्बन्ध मे, भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हो, उनके विषय में सरकार को निम्न बातो की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(i) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमे तत्सम् वस्तुओ के साथ विश्व बाजारो मे प्रतियोगिता है।

(ii) वस्तुएँ ऐसी है जिनको विश्व-बाजारो मे अन्य देशो के प्रति-वस्तुओ की प्रतियोगिता का भय है।

(iii) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओ को ऐसी सुविधायें मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का लक्ष्य :—

(i) पूँजीगत वस्तुओ पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिये।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। तदनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (टैरिफ कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य है, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग मे न्यूनतम् एवं अधिकतम् सदस्यो की संख्या ३ व

लैबोरेटरीज की स्थापना भी की गई है। इन गतिविधियों से स्पष्ट है कि भारत एशिया में लोह एवं इस्पात का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र होगा।

[३] पटसन उद्योग

आज का 'डॉलर कमाने वाला' जूट उद्योग १६वीं शताब्दी मे महत्त्वपूर्ण कुटीर उद्योग ही था। १६वीं शताब्दी मे भारत से संयुक्त राज्य को जूट तथा जूट उत्पादन के निर्यात का विदेशी व्यापार मे बड़ा हाथ था, जिसकी आमदनी पर ही बङ्गाल की अधिकतर जनता का पालन होता था। इसका श्रेय ईस्ट इण्डियन कम्पनी को ही देना होगा, क्योंकि इसी कम्पनी के प्रयत्नो से निर्माणी उद्योग का कच्चा माल तथा रेशे की भाँति पटसन विश्व-परिचित हुआ। फलतः भारत के कुटीर-धन्धों का बुना हुआ माल विदेशो मे जाने लगा तथा विशेषज्ञ जूट की वस्तुओं का निर्माण बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हुए। यह समस्या डंडी (स्कॉटलैंड) मे हल हुई, जहाँ सर्व प्रथम सन् १८३२ मे यन्त्रो की सहायता से जूट का माल बनने लगा। यन्त्रो से उत्पादन के साथ कुटीर निर्मित जूट के माल का महत्त्व जाता रहा, फिर भी माल्दा, रंगपुर (बङ्गाल) आदि जिलो में आज भी जूट के थैले, बैडमिंटन-नेट्स आदि बनाये जाते है। वर्तमान उद्योग एवं प्राचीन कुटीर-उद्योग मे केवल एक विशेषता है कि प्राचीन उद्योग जहाँ देश की आन्तरिक माँग पर ही निर्भर था, वहाँ वर्तमान उद्योग विदेशी माँग पर ही अधिक निर्भर है। यह इस ओर संकेत है कि यदि उद्योग की वर्तमान समस्यायें समुचित रीति से हल नही हुई तो उद्योग का अस्तित्त्व खतरे मे पड जायगा।

उगम एवं विकास—

भारत मे शक्तिचालित यन्त्रो का प्रथम उपयोग सन् १८५५ मे आरम्भ हुआ। जूट की कताई के लिये जॉर्ज ऑकलैंड ने कलकत्ते से १० मील दूर हुगली नदी के किनारे 'रिभा' नामक स्थान मे पहिला कारखाना खोला। इसके ४ वर्ष बाद सन् १८५६ मे बुनाई के लिए शक्ति-सचालित कर्घे का उपयोग 'दी बोर्नियो कम्पनी' द्वारा किया गया, जिसका नाम बाद मे 'बड़ा नगर कम्पनी' रख दिया गया। इससे भारत मे यन्त्र निर्मित जूट की वस्तुयें, थैले इत्यादि बनने लगे तथा उद्योग का विकास होने लगा।*

१८८५	६,७००	कर्घे
१६००	१५,३३६	,,
१६१०	३१,७५५	,,
१६२०	४०,४७७	,,
१६३०	५८,६३६	,,
१६४०	५५,३८६	,,
१६४१	६५,७२०	,,

* इस संख्या में केवल दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन के सदस्यों के ही कर्घे हैं।

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि उद्योग के प्रारम्भिक १० वर्षों में (सन् १८५४ से सन् १८६४ तक) केवल बोर्नियो कम्पनी की ही स्थापना हुई, परन्तु सन् १८६४ के पश्चात् उद्योग का विकास होता गया, क्योंकि बङ्गाल (भारत) के पास जूट की फसल का एकाधिकार था। फिर भी सन् १८५४ तक ऐसी कोई मिल नहीं थी, जो डन्डी से प्रतियोगिता कर सके, इसलिये सन् १८५४ तक एशिया, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि बाजारों की माँग को पूरा करने वाला यही एकमात्र केन्द्र था। आधुनिक सङ्गठित कारखानों की स्थापना होते ही भारत को कई लाभ थे, जिससे डन्डी से जूट का एकाधिकार भारत ने छीन लिया। जूट की फसल का भारत को एकाधिकार, जूट-फसल की पृष्ठ-भूमि में मिलों की स्थापना व केन्द्रीयकरण तथा कलकत्ते से सभी स्थानों के लिए उपलब्ध व्यापारिक जल-मार्ग, ये कारण प्रमुख थे। फलस्वरूप सन् १८७६ तक भारत ने आस्ट्रेलिया, एशिया तथा कुछ अंश में अमरीकी बाजारों को भी हथिया लिया। सन् १८६४ से सन् १८८२ तक मिलों की सख्या २२ हो गई थी, जिनमें २७,४९४ व्यक्ति काम करते थे तथा स्पिन्डल्स एवं कर्घों की सख्या क्रमशः ७७,८४० एवं ४,७४६ थी। इन मिलों में से १७ मिलें तो कलकत्ते के आस-पास होने से उनको कच्चे माल तथा निर्यात दोनों ही की सुविधायें मिलती थीं। इस प्रकार इस उद्योग का विकास योरोपीय पूँजी एवं नियन्त्रण में सङ्गठित ढङ्ग पर होता गया। विदेशी माँग के कारण मिलों की संख्या भी बढ़ती गई, जो क्रमशः सन् १८८५, सन् १८९० तथा सन् १८९५ में २४, २७ तथा २९ हो गई। सन् १८९५ में जूट-उद्योगों में कुल २,०१,२१७ स्पिन्डल्स, १०,०४८ कर्घे तथा ७५,१५७ व्यक्ति काम करते थे। मिलों की स्थापना इस अवधि में कलकत्ते के आस-पास ही हुई, फलतः २९ मिलों में से २६ बड़ी मिलें कलकत्ते के आस-पास तथा शेष ३ बङ्गाल के अन्य भागों में थीं। जूट मिलों की सख्या में इतनी वृद्धि नहीं हुई, जितनी कि स्पिन्डल्स और लूम्स में देखने को मिलती है। सन् १८९५ से सन् १९१४ की अवधि में कृषि में मन्दी रही, जिससे कृषि पर निर्भर उद्योगों को क्षति पहुँची। परन्तु जूट-उद्योग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और मिलों की सख्या २९ (सन् १८९५) से बढ़कर सन् १९१३-१४ में ६४ हो गई, जिनमें २,१६,२८८ व्यक्ति, ३६,०५० कर्घे तथा ७,४४,२८९ स्पिन्डल थे।

इस उद्योग के सन् १८८५ से सन् १९१४ तक के विकास से स्पष्ट है कि (i) उद्योग का संगठन अच्छा रहा, जो कृषि मन्दी के प्रभाव से अछूता रहा। (ii), उद्योग ने मिलों की बाढ़ की अपेक्षा कर्घों एवं स्पिन्डल्स की वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया। (iii) श्रमिकों के अनुपात की अपेक्षा स्पिन्डल्स एवं कर्घों की संख्या बढ़ती गई, जो इस बात का प्रतीक है कि उद्योग ने श्रम-व्यय को यन्त्रों के उपयोग से कम कर उद्योग को मितव्ययी बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। परन्तु इसका विकास बढ़ते हुए निर्यातों के कारण ही हुआ। सन् १९०५-०६ की मन्दी का उद्योग पर अप्रत्यक्ष परिणाम अवश्य हुआ, क्योंकि कृषि निर्यात लगभग बन्द हो जाने से बारदाने की माँग गिर गई थी। दूसरी ओर, अमरीका और जर्मनी जूट के माल पर सरक्षण

करों द्वारा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दे रहे थे तथा कच्चा जूट का कर-मुक्त आयात कर रहे थे। इसका प्रभाव उद्योग पर होना चाहिए था, परन्तु वह न होते हुए कच्चे जूट तथा जूट-वस्तुओं का निर्यात बढ़ता ही रहा।[1]

प्रथम विश्व युद्ध-काल—

जूट की विशेष स्थिति के कारण इस युद्ध मे भी इस उद्योग ने बहुत लाभ कमाये। युद्ध के कारण यन्त्र-सामग्री का आयात बन्द हो जाने से नई मिलों की स्थापना नहीं हो सकती थी और दूसरी ओर, युद्ध-जन्य बढ़ती हुई माँग की पूर्ति की जिम्मेवारी उद्योग पर ही थी। इसलिए सरकार ने फैक्टरी एक्ट की कुछ धाराओं से इस उद्योग को छूट दी, जिससे वर्तमान मिलों की उत्पादनशीलता बढ़ाना सम्भव हो। इस अवधि मे उद्योग ने अधिकतर सरकारी आदेशों के अनुसार माल की पूर्ति की। युद्ध के अन्तिम वर्षों में सरकार द्वारा कच्चे जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया। भारतीय मिलों मे कच्चे जूट की युद्ध पूर्व वार्षिक खपत ४४ लाख गाँठें थी, जो युद्ध काल के (सन् १९१५ से सन् १९१८ तक) चार वर्षों मे औसतन् ५५ लाख गाँठें वार्षिक होगई थी। इन दिनों कच्चे जूट की कीमतें तथा मजदूरी की दर समान रही, लेकिन जूट की कीमतें बढ़ती गईं। इससे जूट-कारखानों को सन् १९१५ से सन् १९१८ तक के चार वर्षों मे क्रमशः ५,८७,५४९ एवं ७३% लाभ मिला।[2]

युद्धोत्तर जूट-उद्योग—

ऊँच नीच और तेजी-मन्दी का घटनाचक्र सदा ही रहता है, फिर जूट उद्योग कैसे अछूता रहता? (i) युद्ध समाप्त होते ही जूट-उद्योग पर सकट के बादल मडराने लगे, क्योंकि युद्ध-जन्य आदेश आना बन्द हुए, जिससे माँग कम हो गई। (ii) कच्चे जूट की कीमतें तथा श्रम व्यय बढ़ने लगा। (iii) युद्ध-काल मे कमाये गये असीमित लाभ से नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों ने अपना विस्तार आरम्भ किया, क्योंकि युद्ध समाप्त होने से वस्त्र आयात सुलभ हो गये थे। (iv) कोयले की कमी प्रतीत हो रही थी। तथा (v) महत्त्वपूर्ण कारण विश्व-व्यापी व्यापारिक एव औद्योगिक मन्दी की लहर थी। इन कारणों से उद्योग संकट मे आ गया तथा परिस्थिति सुलझाने के लिए काम के घन्टे कम किये गये तथा कम कर्घों का उपयोग होने लगा। यह स्थिति सन् १९२९ तक रही। इस अवधि मे मिलों की सख्या ९५ हो गई, जिनमे ११,४०,४३५ सिलिन्डस्, ५३,९०० कर्घे तथा ३,४३,२८७ व्यक्ति काम करते थे। सन् १९२९ से सन् १९३९ तक उद्योग को ऊँच-नीच का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप अगस्त सन् १९३९ में बगाल की प्रान्तीय सरकार ने कच्चा जूट तथा हेसियन के मूल्य निश्चित कर दिये।

---

1. Industrial Evolution of India by D. R. Gadgil.
2. Review of the trade of India, (1917-18), p. 21.

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

अगस्त सन् १९३९ में हेसियन और कच्चे जूट की कीमतें निश्चित एवं नियन्त्रित की गईं और ३ सितम्बर सन् १९३९ से द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही उद्योग को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि कच्चा जूट एवं जूट की वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं तथा माँग भी बढ़ी। इसलिए उद्योग पुनः अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करने लगा तथा सभी प्रकार के नियन्त्रण उद्योग से हटा दिये गये। परन्तु सन् १९४० में जूट की वस्तुओं की माँग कम हो गई, जिससे उद्योग को अपने काम के घण्टे और करघों की संख्या कम कर उत्पादन को सन्तुलन में रखना पड़ा। दूसरे, अमरीका, मित्र राष्ट्रीय देश तथा भारत सरकार ने उद्योग से नियन्त्रित मूल्यों पर खरीद प्रारम्भ की, जिससे उद्योग प्रथम विश्व-युद्ध की भाँति लाभ न कमा सकी। इस अवधि में उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित करने वाली निम्न घटनाएँ हुईं—(१) कोयला एवं विद्युत शक्ति की कमी, (२) यातायात असुविधाएँ, तथा (३) सन् १९४३ का बंगाल-अकाल। इन आपत्तियों एवं ऊँच-नीच से उद्योग केवल अपने मजबूत संगठन के आधार पर ही बच सका। इसलिए जूट-उद्योग जाँच समिति ने इस उद्योग के आधुनिकीकरण तथा वैज्ञानिकन की सिफारिश की है।

भारत का विभाजन एवं रुपये का अवमूल्यन—

सन् १९४७ में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे ने उद्योग को गहरी चोट लगी, क्योंकि अच्छे जूट की पैदावार करने वाला पूर्वी बंगाल का प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, जो कुल जूट उत्पादक क्षेत्र का ७२% था। जूट के कारखाने भारत के हिस्से में रहे। इससे भारत के जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या खड़ी हो गई, जिसके लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ा। भारत सरकार भी इस मामले में सतर्क थी, जिससे भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे और जूट कृषि-क्षेत्र का विस्तार हुआ :—

सन्	जूट का कृषि क्षेत्र	जूट की फसल (हजार गाँठें)[1]
१९४७–४८	६५१ हजार एकड़	१,६६६
१९४८–४९	८३४ ,,	२,०५५
१९४९–५०	१,१६३ ,,	३,०८९
१९५०–५१	१,४५३ ,,	३,३०१
१९५१–५२	१,९५१ ,,	४,६७८
१९५५–५६	१,७३९ ,,	४,१९८
१९५६–५७	१,९०८ ,,	४,२८८
१९५७–५८	१,७४२ ,,	४,०५२
१९५८–५९	१,८२७ ,,	५,१७८[2]

1. India 1960 and Amrit Bazar Patrika, "Golden Fibre Supplement", Feb. 1958.
2. अन्तिम अनुमान—India 1960.

इसलिए सरकार को निम्न कार्यवाहियाँ करनी पड़ीं :—पाकिस्तान से कच्चे जूट के आयात सम्बन्धी समझौता, कच्चे जूट की खरीद के अधिकतम् मूल्य तथा देशी उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्न। पाकिस्तान से व्यापारिक समझौते के अनुसार सन् १९४७, सन् १९४९ तथा सन् १९५० में क्रमशः ५०, ४० तथा ७·२३ लाख गाँठों का आयात करना था। परन्तु पाकिस्तान ने अपनी चालबाजी से किसी समझौते का पूरी तरह पालन नहीं किया। इसी बीच सितम्बर में भारतीय रुपए का अवमूल्यन सन् १९४९ में हुआ और दूसरी ओर पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से जूट प्राप्त करने की समस्या फिर उपस्थित हो गई, जिसमें विवश होकर भारत को पाकिस्तानी रुपए की दर १००=१४४ भारतीय रुपए में माननी पड़ी। इस समस्या के कारण भारत जूट की फसल पैदा करने में आत्म निर्भर हो रहा है, जिसकी खेती आजकल पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास में हो रही है। उद्योग की वार्षिक खपत ६२ लाख गाँठें है, अतः शेष के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १९६०-६१ तक यह उत्पादन ५५ लाख गाँठ करने की योजना है, परन्तु मूल्यों की कमी के कारण सन् १९५९-६० में जूट का कृषि क्षेत्र कम हो गया तथा निसर्ग की प्रतिकूलता के कारण इस वर्ष में जूट का उत्पादन ४३ लाख गाँठें होगा, ऐसा अनुमान है। इस कारण सम्भवतः सन् १९६०-६१ तक योजना के लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है।[1]

तीसरी योजना में जूट उत्पादन का लक्ष्य ६५ लाख गाँठें है तथा जूट-उत्पादक राज्य जूट के कृषि क्षेत्र को सीमित कर जूट की किस्म एवं प्रति एकड़ जूट की उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। यह कार्यक्रम बिहार में तीसरी योजना में लागू होगा। इस कार्यक्रम के अनुसार तीसरी योजना के अन्त तक लगभग २॥ लाख एकड़ भूमि में अच्छे किस्म के जूट की खेती होगी। जूट की खेती के उन्नत तरीकों की जानकारी कराने के लिए लगभग ५,००० किसानों को प्रशिक्षित किया जायगा।[2]

वर्तमान अवस्था—

भारतीय पटसन-उद्योग आज भी अधिकतर योरोपीय प्रबन्ध में है। आज भारत में पटसन के कारखानों एवं प्रेसों (Jute Press) की कुल संख्या ११६ है, जिनमें से १०९ बंगाल में, ३ उत्तर-प्रदेश में, ३ बिहार में तथा १ मध्य-प्रदेश में है। जूट-निर्माणियों के प्रादेशिक विभाजन से यह स्पष्ट है कि पटसन-उद्योग का केन्द्रीयकरण बंगाल में ही है। इस उद्योग की स्थायी पूँजी २,२९४ लाख एवं कार्यशील पूँजी ४,३१६ लाख रुपए है, जिसमें विदेशी पूँजी केवल १,५०७ लाख रुपये है। उद्योग में अधिकतर पूँजी भारतीय ही है। पटसन के निर्यात करों से भारत को सन् १९४८-४९ से सन् १९५१-५२ के चार वर्षों में क्रमशः ६·३, ८·८, २३·६ तथा

1. Commerce Annual number, p 209.
2. नवभारत टाइम्स, अगस्त २२, १९६०।

५९·३ करोड रुपए की आय हुई। यह भारत के आर्थिक कलेवर में उद्योग का महत्व प्रदर्शित करती है।

पटसन उद्योग की वर्तमान अवस्था की कल्पना निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

उत्पादन एवं निर्यात

वर्ष	कच्चे जूट की खपत (हजार गांठें)	उत्पादन (हजार टन)	निर्यात (हजार टन)
१९५४	५,३८४	९२७·७	८४०·६
१९५५	५,९८१	१,०२७·२	८४९·१
१९५६	६ ३४१	१,०९२·८	८९१·५
१९५७	६,१५२	१,०२९·९	८६४·५
१९५८	६,१४५	१,०६१·८	८१५·८
१९५९ (जून अक्टूबर)	५,०१४	८६९·६	६४३·१ (जून सितम्बर)

कच्चे माल का उत्पादन भारत मे बढ़ाने के कारण हमारी पाकिस्तानी जूट आयात पर निर्भरता जो पहले ७५% थी वह अब केवल ५% रह गई है। पटसन के सम्बन्ध में जो संशोधन हो रहे हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारतीय जूट किसी भी तरह पाकिस्तानी जूट से निम्न कोटि का नही है। पटसन उद्योग पर विदेशी मांग का प्रभाव अधिक है, इसलिए जूट के नवीन उद्योगों के सम्बन्ध में सन् १९४८ से जूट-टैक्नॉलॉजी आवश्यक अनुसन्धान कर रही है। इन अनुसन्धानों की सफलता से विदेशी मांग के कारण होने वाले उतार-चढ़ाव न्यूनतम होकर उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता न घटाते हुए परिवर्तनशील स्थिति में भी अपना मिलान करने मे सफल हो सकेगा।

जूट उद्योग का उत्पादन एवं निर्यात देखने से यह स्पष्ट होता है कि सन् १९५७ व १९५८ मे उद्योग के निर्यात कम रहे। परन्तु सन् १९५९ से स्थिति मे सुधार होने लगा। इसके लिए निम्न कारण प्रमुख थे :—

(१) संख्यात्मक (Quantitative) आत्मनिर्भरता के कारण कच्चे माल की पूर्ण उपलब्धि,

(२) कताई एवं तैयार माल बनाने के यन्त्रों का आधुनिकीकरण, तथा

(३) उत्पादक इकाइयों के समग्रीकरण से विवेकीकरण।

जूट मिलों मे अभी तक ६०% मिलों का आधुनिकीकरण हो गया है। इस हेतु मिलों ने अपने निजी साधन तथा राष्ट्रीय विकास निगम से प्राप्त ऋणों का उपयोग किया। इस हेतु रा० वि० निगम ने ४·९० करोड रु० के १२ ऋण दिए। इस समय उद्योग के २०% मिलों का आधुनिकीकरण हो रहा है तथा सम्पूर्ण उद्योग का आधुनिकीकरण तीसरी योजना के अन्त तक हो जायगा। अभी तक १०,००० कर्घों के

लिए पर्याप्त धुनाई, कताई आदि यन्त्रों का १०·५ करोड़ रु० की लागत से आधुनिकीकरण किया गया है।

विवेकीकरण के अन्तर्गत अनार्थिक इकाइयों के श्रमिक एवं उत्पादन का स्थानान्तरण अधिक कार्यक्षम इकाइयों में किया गया तथा कई मिलें बन्द की गईं। फिर भी उद्योग का सकल उत्पादन प्रभावित नहीं हुआ। जो मिलें बन्द हुई उनका हस्तान्तरण दूसरी कार्यक्षम मिलों में उत्पादन अधिक मितव्ययिता से केन्द्रीकृत करने के लिए हुआ। इसके अलावा मिलों ने विशेषीकृत माल का उत्पादन गत कुछ वर्षों से आरम्भ किया है, जिसकी माँग विदेशों में भी काफी है। साथ ही, हमारी अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ ही देश में भी पैकिंग सामग्री की माँग बढ़ रही है, जो पटसन उद्योग के स्थायी भविष्य की ओर संकेत है।*

वर्तमान समस्याएँ—

श्री के० डी० जालान (अध्यक्ष इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन) के अनुसार :—"हम दुर्लभता के जाल से अब मुक्त हो चुके हैं, फिर भी परिमाण की अपेक्षा किस्म की अच्छाई के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना होगा।" आज भारत की एकाधिकार स्थिति का लोप हो गया है, पाकिस्तान तथा अन्य देशों में जहाँ जूट की भाँति अन्य रेशों की फसलें होती हैं वहाँ भी उनका तैयार माल बनाने के कारखाने खोले जा रहे हैं, जिनको भारत से भी सस्ते दर पर कच्चा जूट पड़ेगा।" इससे स्पष्ट है कि उद्योग की निम्न मुख्य समस्यायें हैं :—

(१) अच्छे किस्म के कच्चे जूट की फसल की पैदावार।
(२) जूट की प्रतिवस्तु (Substitutes) का भय।
(३) पाकिस्तानी प्रतियोगिता का भय।

(१) कच्चे जूट की कमी—भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनवरत प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे हमारी पाकिस्तान पर निर्भरता काफी कम हो गई है। परन्तु आज उद्योग को कच्चे माल की कमी है, जिससे पूर्ण उत्पादन-क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा है। क्योंकि इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी के अनुसार वर्तमान आवश्यकता ७२ लाख गाँठ है, जबकि देशी उत्पादन केवल ४३·० लाख गाँठ है। अतः पटसन की पैदावार बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता है। तीसरी योजना में कच्चे जूट का उत्पादन ६५ लाख गाँठों तक बढ़ाने की योजना है तभी हम कच्चे माल के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो सकेंगे।

(२) जूट की प्रतिवस्तु का भय—यह भारत को पहिले से ही डर था, क्योंकि प्रत्येक देश आत्म-निर्भर होना चाहता है। इसलिए उद्योग को द्विविध तैयारी करनी होगी :—माँग कम होने की दशा में उत्पादन परिवर्तन करने की तथा माँग बढ़ाने के लिए विपणि-खोज की।

---

* Commerce Annual number, 1959, page 138.

एवं सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक था और तटकर आयोग की सभी शर्तों को पूरा करता था, इसलिए इसे संरक्षण मिला। वस्त्र उद्योग को सन् १९२७ से सन् १९४७ तक, शक्कर उद्योग को सन् १९३१ से सन् १९५० तक संरक्षण दिया गया। इस प्रकार लोहा इस्पात, वस्त्र, शक्कर व कागज तथा दियासलाई उद्योगों को संरक्षण मिला, जिससे देश आत्म निर्भर हो सके।

भारत मे दियासलाई उद्योग को सस्ता श्रम प्रदाय एवं वृहत् घरेलू बाजार प्राप्त था, इसलिए इस उद्योग पर १।।) प्रति ग्रॉस प्रशुल्क आयात कर लगाने की सिफारिश प्रशुल्क सभा ने की। इस सिफारिश को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा दियासलाई पर पहिले से ही (सन् १९२२) इसी दर पर जो आयात कर था, उसे सन् १९२८ में संरक्षण कर मे बदल दिया। परन्तु दियासलाई उद्योग पर उत्पादन कर लगाते ही उसका संरक्षण आयात कर भी बढा दिया गया। इस कारण भारत में दियासलाई उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की है। इसी कारण आज भारत मे ५० दियासलाई के कारखाने है, जिनमें १६,००० व्यक्ति काम करते है तथा उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८,००,००० बक्सों की है।

भारी रसायनिक उद्योग का विकास भारत में नवीन है। इस उद्योग को संरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क सभा ने जांच कर दो सिफारिशें की—(i) रेलभाड़ा कम करना तथा (ii) उद्योग को ७ वर्ष के लिये संरक्षण। परन्तु भारत सरकार ने पहिली सिफारिश को ठुकरा दिया और दूसरी सिफारिश की संरक्षण की अवधि को घटा कर ३ वर्ष किया, अर्थात् १ अक्टूबर सन् १९३१ से संरक्षण दिया, परन्तु वह भी १८ मास की अवधि मे बिना किसी उचित कारण के समाप्त कर दिया। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध काल मे इस उद्योग ने संरक्षण के अभाव में भी काफी प्रगति की तथा भारी रसायनों की मांग अब बढती जा रही है। सन् १९५१ में इस उद्योग के ४६ कारखाने एवं वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० टन थी, जो भारत की वार्षिक मांग के लिए अधूरी थी। सन् १९५३ में इसी उद्योग की उत्पादन क्षमता लगभग ७२,००० टन थी।

विवेकात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—

तटकर आयोग ने विवेकात्मक संरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन मे से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण संरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ।

(i) इस सम्बन्ध मे तटकर आयोग सन् १९२५ का कथन है—"संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की

(१) उत्पादन के अभिनवीकरण तथा बढ़ी हुई कार्यक्षमता द्वारा पुरानी मंडियो से अधिकतर प्रतिस्पर्धात्मिक शक्ति प्राप्त करना।

(२) बाजारो का विस्तार और जूट के सामान के लिए नए क्षेत्रो की खोज।

इस हेतु इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन ने विदेशों मे अपने कार्यालय एवं प्रतिनिधियो की नियुक्ति की है।

[४] शक्कर-उद्योग

उगम और विकास—

भारत मे सगठित ढङ्ग पर शक्कर का उत्पादन सर्व प्रथम सन् १९०३ में प्रारम्भ हुआ, परन्तु सन् १९३१ तक भारतीय बाजारो मे विदेशी शक्कर ही बहुतायत से आती थी तथा उस समय भारत मे छोटे-बड़े सब मिलाकर कुल ३२ कारखाने थे। इनका अस्तित्व भी खतरे मे था, क्योंकि वे विदेशी उद्योग के साथ स्पर्धा करने मे असमर्थ थे। साराश मे, यह उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे कुटीर उद्योग के रूप मे सगठित था और केवल कुछ थोड़े से ही आधुनिक सगठित कारखाने थे। इसलिये सन् १९३०–३१ मे इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च ने इस व्यवसाय की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया तथा उद्योग को प्रोत्साहन के लिये कुछ सुझाव दिये। इसलिए सन् १९३१ में उद्योग की जाँच के लिये प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की गई, फलतः सन् १९३१ मे शक्कर उद्योग सरक्षण अधिनियम स्वीकार हुआ और उद्योग को सरक्षण दिया गया। यह सरक्षण १५ वर्ष के लिये अर्थात् ३१ मार्च सन् १९४६ तक के लिये था, जिस अवधि मे उद्योग को अपनी प्रतियोगिता शक्ति बढानी थी।

इस अधिनियम से शक्कर आयात पर ७I) रु० प्रति हंड्रेडवेट के दर से संरक्षण कर लगा दिया गया, जिससे यह उद्योग तत्कालीन आर्थिक मन्दी के दुष्परिणामो से बचकर विदेशी प्रतियोगिता मे टिक सके। इससे इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। यहाँ पर यह ध्यान मे रहे कि इसके पूर्व शक्कर पर जो आयात कर था वह केवल रेवेन्यू कर के रूप मे था। सन् १९३० मे ही मूल्यानुसार कर के स्थान पर यह कर ६) प्रति हंड्रेडवेट ,कर दिया गया था, जो सरक्षण के बाद ७I) रु० हो गया। फलतः विदेशी शक्कर के आयात सन् १९३६–३७ में १६ हजार टन रह गये, जहाँ सन् १९३१ में १० लाख टन आयात थे। इससे सरकारी आय कम हो गई, जिसे पूरा करने के लिये तथा आधुनिक यन्त्रो से सुसज्जित कारखानों को उत्तेजना देने के लिए सरकार ने १I) प्रति हड्रेडवेट की दर से शक्कर उद्योग पर आबकारी कर लगाया। सरक्षण काल मे उद्योग की प्रगति तेजी से होती गई, जिससे शक्कर उत्पादन बढ गया तथा सन् १९३७ में गन्ने की उपज का कृषि क्षेत्र ४५ लाख एकड़ हो गया।

व	कारखानों की संख्या	उत्पादन
१९३१-३२	३२	५,००,००० टन
१९३२-३३	५७	६,४५,३८३ ,,
१९३३-३४	११२	७,१८,९०६ ,,
१९३४-३५	१३०	७,७१,६०० ,,
१९३६-३७	१३७	१२,३७,००० ,,

यह कर निम्नवत् था :—सन् १९१६ के पूर्व मूल्य के ५% तथा सन् १९१६ से १०%, सन् १९२१ से १५% तथा सन् १९३० मे ५५%। इसका परिणाम यह हुआ कि शक्कर का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो गया तथा शक्कर की कीमतें गिरने लगी। और भारतीय शक्कर कारखानो मे गला-काट प्रतिस्पर्धा होने लगी। इस प्रतियोगिता के निवारण तथा उत्पादनाधिक्य से होने वाली समस्याओ के हल के लिये इसी वर्ष 'शक्कर अभिषद्' (Sugar Syndicate) की स्थापना की गई। इसके अलावा उत्तर-प्रदेश एवं बिहार सरकार ने शक्कर-नियन्त्रण अधिनियम स्वीकृत किए, जिनके अनुसार कोई भी नया कारखाना लायसेंस प्राप्त किये बिना नही खोला जा सकता था। दूसरे, प्रत्येक शक्कर कारखाने को अभिषद् का सदस्य बनना भी अनिवार्य था। इसके बाद शक्कर उद्योग पर आवश्यक नियन्त्रण रखने के लिए सन् १९४० में शक्कर-आयोग की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं पश्चात्—

सन् १९३७ मे इस उद्योग की उस वर्ष में फिर से प्रशुल्क सभा ने जाँच की तथा यह सिफारिश की कि अन्य वर्तमान करो के अलावा शक्कर के विदेशी आयात पर ६।।।) प्रति हंड्रेडवेट की दर से प्रशुल्क कर लगाया जाय।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के समय शक्कर के १४५ कारखाने थे तथा उनका कुल उत्पादन १३,९३,२०० टन था। अर्थात् इस समय भी उद्योग के सामने उत्पादनाधिक्य की समस्या थी, इसलिए उत्तर प्रदेश एवं बिहार सरकारों ने शक्कर के उत्पादन को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक कारखाने के उत्पादन का कोटा निश्चित किया। साथ ही शक्कर के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सन् १९४२ के निर्यात प्रतिबन्धो को हटा दिया। परन्तु उत्पादन का कोटा केवल उत्तर-प्रदेश एवं बिहार राज्यो मे ही था, जिससे शक्कर उत्पादन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

वर्ष	कारखानो की संख्या	उत्पादन (हज़ार टन)
१९३९-४०	१४५	१३,९३·२
१९४१-४२	१५०	८,१८·५
१९४३-४४	१५१	१३,७४·०
१९४५-४६	१४५	१०,५५·८

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। यह जांच तीन सूत्रों को ध्यान मे रख कर होनी थी :—

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव मे चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि मे आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नही होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ मे अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष मे ४२ उद्योगो की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढांचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ मे प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, जिसमे अन्तरिम अवधि मे स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध मे जांच करना।

(२) देश मे निर्मित वस्तुओं के उत्पादन-मूल्यों की जांच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) संरक्षित उद्योगों की जांच द्वारा देखरेख करना, जिसमें संरक्षण करो अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे: – मूल्यानुसार एवं निश्चित करो का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करो का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, न्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जांच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चांदी का तार, इन

1. Hindustan Year Books
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

६ उद्योगो के संरक्षण को समाप्त करने तथा अन्य ३४ उद्योगो को संरक्षण देने की सिफारिश की।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

इसकी कार्य नीति मे स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगो के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति मे किसी प्रकार अच्छा न था। (i) इस नवीन नीति मे संरक्षण पाने वाले उद्योग का सगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था। इसमे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र मे नही आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की मांग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप मे स्थापना न हुई हो।* (ii) संरक्षण की दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओ तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय मे अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध मे पहिले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। (iii) सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगो को संरक्षण देने के सम्बन्ध मे यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पडे। परन्तु किसी भी अवस्था मे संरक्षण का भार जनता पर तो पडेगा ही और इसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता का भी हित होगा, इसलिए ऐसा एकांगी विचार अनुपयुक्त था। (iv) अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिये संरक्षण की सिफारिश नही कर सकती थी। इसमे उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध मे अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगो को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और इतनी थोड़ी अवधि में संरक्षण के परिणामो की जाँच भी ठीक रीति से नही हो सकती थी। परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा के संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस सभा ने आयात सरक्षक करो से संरक्षण देना पर्याप्त नही समझा। प्रत्युत कुछ उद्योगो की सहायता के लिए विकास कोष के निर्माण मे सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एव देशी उद्योगो के लिए पोषक है।

भारतीय तटकर आयोग सन् १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ (सन् १९४७) तथा हवाना चार्टर का उत्तरदायित्व देखते हुये भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसीलिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ में भारतीय-तटकर-आयोग की नियुक्ति की।

---

* भारतीय अर्थ शास्त्र की समस्यायें—पी० सी० जैन।

(५) इस उद्योग को संरक्षण से जो लाभ हुआ है, वह केवल मिल मालिकों को ही न मिलते हुए गन्ने की उपज करने वाले किसानों को भी मिला है। उद्योग एवं कृषि में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य किसी भी संरक्षित उद्योग में नहीं मिलता।

पंच-वर्षीय योजनायें—

पहिली योजना में शक्कर के कारखानों की संख्या १६० तथा १५'४ लाख टन का उत्पादन लक्ष्य था, बढ़ती हुई माग के कारण यह १८ लाख टन किया गया है।

गन्ने का उपयोग

वर्ष	उत्पादन ('००० टन)	गन्ने का का औसत उपयोग ('००० टन)			
		शक्कर	गुड	खंडसारी	अन्य
१९५२-५३	४६'७८६	२५'३६	५३'५२	३'३६	१७'७३
१९५३ ५४	४३'८७३	२२'१६	५५'८२	३'२४	१८'७५
१९५४-५५	५६'६२३	२८'००	८०'६३	३'००	१८'३७
१९५५ ५६	५६'३१७	३१'६३	४७'६२	२'८५	१७'६०
१९५६-५७	६६'६६८	३१'१६	४७'७७	२'५४	१८'५०
१९५७ ५८	६३'६५४	३०'८०	४५'५५	५'३०	१८'३५

पंच-वर्षीय योजना की अवधि में शक्कर का उत्पादन निम्न रहा :—

वर्ष	कारखाने	उत्पादन ('००० टन)
१९५१	१३९	१,११४'८[1]
१९५२		१,४९४'०
१९५३		१,२९१'२
१९५४		१,०८८'०
१९५५		१,५९४'८
१९५६	१४३	१,८५६'४
१९५७	१६६	२,००७'६
१९५८	१५०	२,००६'४
१९५९	१६४	१,९१६'०[2]

द्वितीय पंच वर्षीय योजना में शक्कर उत्पादन का लक्ष्य २२'५ लाख टन तथा तीसरी योजना में ३० लाख टन रखा गया है।[3] परन्तु दूसरी योजना के अन्त तक लक्ष्य पूरा हो सकेगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सन् १९६० में फिर से शक्कर की कमी का अनुभव हो रहा है और इसलिए सरकार को शक्कर का पुनः

1. Journal of Industry & Trade, April 1960.
2. भारतीय समाचार जून १, १९६०।
3. Third Five Year Plan—A Draft Outline

सहायता देना वांछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को सरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) सरक्षण के लिए कोई एक शर्त ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त है तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध है, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को सरक्षण देते समय यह संपूर्ण देशी माग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के सरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) सरक्षित उद्योगो के उत्पादन का कच्चे माल की भांति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक संरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि दानों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे है अथवा नए हैं उनको सरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगो को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को सरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी सदा एवं सरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतो के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हो। इसी प्रकार सरक्षित उद्योगो के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को सरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफारिशें—

(१) सरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

प्रदेशों में किया जाय जहाँ गन्ने की खेती होती है क्योंकि भारतीय किसान अशिक्षित हैं और वे प्रकाशित अनुसन्धानों से प्रत्यक्ष लाभ नहीं उठा सकते।

(ii) शक्कर व्यवसाय के लिए गन्ने का उत्पादन एवं गन्ने में शक्कर का परिमाण बढ़ाने के लिए जो खोज हो उसकी ओर सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिए एवं अधिक व्यय करना चाहिए, परन्तु वर्तमान अवस्था में यह नहीं हो रहा है। उदाहरणतः उत्तर-प्रदेशीय सरकार को पिछले १० वर्ष में गन्ने के कर से १,०७७ लाख रुपये की आय हुई, जिसका केवल १० प्रतिशत ही सुधार कार्य (तथा बहुधा अधिकारियों के वेतन) में व्यय किया गया। सरकार को चाहिए कि गन्ने के कर से जो आय हो उसकी सम्पूर्ण राशि गन्ने की उपज सुधारने के कार्य में खर्च करे। इस हेतु इस आय को पृथक निधि में 'शक्कर एवं गन्ना सुधार कोष' में रखा जाना चाहिए, क्योंकि "यदि वे (बिहार एवं उत्तर-प्रदेशीय सरकार) शक्कर व्यवसाय को कामधेनु समझ कर, उससे जितना चाहे उतना दूध देने की आशा करें तो एक समय आयगा जब इन प्रदेशों का शक्कर-उद्योग अनार्थिक हो जायगा एवं क्रमशः महत्त्व खो बैठेगा।" इसलिए इस उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए समुचित आयोजन करना चाहिए।

(iii) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ सुगर टैक्नॉलॉजी, कानपुर में हाल ही में एक अनुसन्धान हुआ है, जिसके अनुसार मोलासेस से प्लास्टिक बनाया जा सकता है, जो अन्य क्रियाओं द्वारा बनाये गये प्लास्टिक से अच्छा होता है। अतः इस अनुसन्धान का प्रत्यक्ष उपयोग करके शक्कर व्यवसाय के अन्तर्गत प्लास्टिक उद्योग का विकास किया जाय तो इससे शक्कर उद्योग मितव्ययी होकर उसका आर्थिक कलेवर सुदृढ़ हो सकेगा।

(iv) अभी तक मोलासेस के सम्बन्ध में मूल्य-निर्धारण करने की प्रथा नहीं है, जिसे अपनाना चाहिए। इसमें प्रान्तीय डिस्टीलरीज को एक निश्चित दर पर ही मोलासेस दिये जा सकें तथा उनका कोटा भी निर्धारित किया जाय। इसी प्रकार शक्कर, गुड़ एवं खड़सारी शक्कर के मूल्यों का निर्धारण करने समय सरकार जिस प्रकार शक्कर के विभिन्न उत्पादन घटकों को विचार में लेती है, उसी प्रकार खड़सारी एवं गुड़ की कीमतों का निर्धारण भी करे। इससे इन तीनों उद्योगों में परस्पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित होकर वे प्रतियोगी नहीं रहेंगे।

———

अध्याय ५

संगठित उद्योग : २

(Organised Industries—2)

[१] कागज-उद्योग

भारत मे प्राचीन काल से ही कागज हाथ से बनाया जाता था। संगठित ढङ्ग पर सबसे पहला कारखाना सन् १७१६ में डॉ० विलियम केरी ने तजावर जिले के ट्रांकुवार मे स्थापित किया, परन्तु इसकी विशेष प्रगति नही हुई। इसके बाद सन् १८६७ में दूसरा *कागज का कारखाना बैली पेपर मिल, बेली (बङ्गाल) में स्थापित किया गया,* जिसका एकीकरण टीटागढ पेपर मिल में सन् १६०३ मे हो गया। इस कारखाने की स्थापना के कारण ही आगे नये कारखाने खोले गये, जिनमें आज भारत के महत्त्वपूर्ण कागज निर्माता टीटागढ पेपर मिल की स्थापना, सन् १८८४ मे केवल तीन मशीनों से हुई थी। इस प्रकार इस उद्योग का प्रारम्भ हुआ। यातायात, कच्चे माल एवं *विद्युत शक्ति की दृष्टि से उद्योग का केन्द्रीयकरण बङ्गाल मे रानीगंज के आस-पास के* क्षेत्रों मे हुआ है।

विकास—

यद्यपि कागज बनाने का पहिला कारखाना सन् १७१६ मे स्थापित हुआ, फिर भी इसका विकास बेली पेपर मिल की स्थापना (सन् १८६७) से ही वास्तविक रूप में प्रारम्भ होता है। क्योंकि इसी कारखाने की सफलता से आगे अनेक मिलों की स्थापना हुई। इस उद्योग के विकास का इतिहास धूप-छाँव का इतिहास है। अनेक बाधाओं से टक्कर लेते हुए किसी प्रकार उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रख सका।

प्रथम विश्व-युद्ध—

सन् १६१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध हुआ, तब उद्योग को आयात की कमी के कारण अप्रत्यक्ष रूप से विकास के लिए गुञ्जाइश मिली। फलस्वरूप सन् १६१८ में नेहट्टी मिल की स्थापना हुई, जिसने सन् १६२२ से उत्पादन आरम्भ किया। इस प्रकार युद्ध के प्रारम्भ के समय भारत मे कुल ५ कागज मिलें थी, जिनकी उत्पादन-क्षमता ३०,००० *टन तथा वार्षिक उत्पादन २७,००० टन था। युद्ध के कारण उद्योगों को* प्रोत्साहन तो अवश्य मिला, परन्तु युद्ध समाप्त होते ही उद्योग की प्रतियोगिता एवं युद्धोत्तर मन्दी का सामना करना असम्भव हो गया। फलतः सन् १६२४ में उद्योग

ने संरक्षण की मांग की और उसे प्रारम्भिक स्थिति में ७ वर्ष के लिए संरक्षण दिया गया।

युद्धोत्तर-काल—

सन् १६२४ मे संरक्षण मिलने के कारण उद्योग ने अपनी उत्पादनशीलता बढाई, जिससे उद्योग का वार्षिक उत्पादन सन् १६३१ मे ४४,६०० टन हो गया। इसके बाद सन् १६३१ मे प्रशुल्क सभा ने उद्योग की फिर से जांच की तथा अपनी रिपोर्ट मे यह बताया कि संरक्षण की अवधि मे उद्योग ने सन्तोषप्रद प्रगति की है। इसके साथ ही उद्योग को आगामी ७ वर्ष के लिए (अर्थात् सन् १६३८ तक) संरक्षण देने की सिफारिश की। इस अवधि मे केवल पेपर मिलो की संख्या ही नही बढी, अपितु उत्पादन की किस्मे भी बढ गई। सन् १६३१ मे जहाँ केवल ५ कारखाने थे, वहाँ सन् १६३७ मे १० कारखाने हो गये, जिनका वार्षिक उत्पादन इन्ही वर्षों मे क्रमशः ४८,५३१ तथा ५३,८११ टन था। इस अवधि मे केवल लिखने एवं छपाई का कागज ही मिलो ने नही बनाया, अपितु विशेष किस्मो का कागज, जैसे—बैंक पेपर, ब्लाटिंग पेपर, स्टॉबोर्ड आदि का निर्माण भी किया।

भारत मे स्टॉबोर्ड बनाने का सबसे पहिला कारखाना सन् १६३० में सहारनपुर में खोला गया, जिसने सन् १६३२ मे उत्पादन-कार्य प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे इस कारखाने को तीव्र प्रतियोगिता का विशेषतः जापानी प्रतियोगिता का सामना करना पडा। फिर भी भारतीय कारखानो के स्टॉबोर्ड का उत्पादन सन् १६३७ मे ८,००० टन हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं बाद में—

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व-युद्ध छिड जाने से उद्योग के विकास को अवसर मिला। फलतः भारत मे आज स्टॉबोर्ड बनाने वाले १८ कारखाने है, जिनका वार्षिक उत्पादन ३०,००० टन तथा उत्पादन-क्षमता ५०,००० टन है, जबकि देशी मांग केवल २५,००० टन ही है। इसी प्रकार पेपर-बोर्ड के लिये भारत सन् १६३७ तक विदेशी आयात पर ही निर्भर था, जो सन् १६३७-३८ मे १०,००० टन था। परन्तु युद्ध के कारण पेपर-बोर्ड बनाने को भी प्रोत्साहन मिला और आज भारत मे पेपर-बोर्ड बनाने वाला सबसे बडा कारखाना दी रोहतास इण्डस्ट्रीज लि०, डालमियांनगर (बिहार) है तथा भारत मे पेपर-बोर्ड का वार्षिक उत्पादन २४,००० टन है, जो देशी मांग के लिए पर्याप्त है।

क्राफ्ट पेपर का उपयोग पैकिंग के लिए अधिक होता है। इसके लिए भारत विशेषतः स्केन्डिनेविया पर निर्भर था। इस किस्म के कागज का सन् १६३७-३८ मे १३,८०४ टन आयात हुआ। परन्तु युद्ध में आयात बन्द हो जाने से देशी उद्योग को प्रोत्साहन मिला, जिससे ओरियन्टल पेपर मिल ने इस किस्म का कागज बनाना आरम्भ किया। इसका वार्षिक उत्पादन सन् १६५१ मे १५,००० टन तथा उत्पादन-

उद्योग हो गया। इस कारण गावों मे बेकार रहने वाली जनता शहरों के विकसित उद्योगों मे काम के लिए आने लगी। इस प्रकार भारत में विभिन्न परिस्थितियों मे श्रमिक वर्ग का उदय हुआ तथा इनकी सख्या प्रथम विश्व-युद्ध के कारण तीव्र गति से बढ़ती गई, क्योंकि इन युद्धों के कारण ही अग्रेजी शासन मे भारतीय उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत मे औद्योगिक श्रमिकों के आकडे सबसे पहले सन् १८९२ में लिए गये थे, जब इनकी सख्या ३,१६,७१६ थी और सन् १९५७ मे यही ३०,८७,९६४ थी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग, जिसमे सबसे अधिक श्रमिक काम करते है, वह कारखाना उद्योग है।[1] भारत के श्रमिकों के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ की रिपोर्ट मे लिखा है:—"सन् १९२१ मे कृषि श्रमिकों की सख्या २१५ लाख थी, जो सन् १९३१ की जन-गणना मे ३१५ लाख हो गई, जिसमे ५३० लाख भूमि विहीन थे। इस प्रकार इण्डियन फ्रेंचाइज समिति के अनुसार सन् १९३१ मे २५० लाख श्रमिक कृषि के अलावा अन्य उद्योगों मे थे। इस प्रकार भारत के विभिन्न उद्योगों मे मे लगे हुए ९.५४ करोड कर्मचारियों मे से ५६५ लाख श्रमिक है, जो अपनी उपजीविका का साधन मजदूरी ही समझते है।"[2]

श्रमिकों का वितरण—

भारत की ३५.८६ कोटि जन सख्या की दृष्टि से औद्योगिक श्रमिकों की सख्या एव उसका कृषि-निर्भर जन सख्या से अनुपात सकेत करता है कि भारत की आर्थिक दशा अविकसित है। सन् १९४६ मे कारखानों के श्रमिकों की कुल सख्या २४,३३,९८८ थी।[3]

कारखाना उद्योग मे सन् १९५६ मे सभी राज्यों मे दैनिक औसत श्रमिकों की संख्या २८,८२,३०६ और रेल उद्योग में १०,५४,८०८ थी। श्रमिकों की सबसे अधिक सख्या कारखाना उद्योग मे थी, जिनमे से केवल बम्बई मे ६,६८,२५१ श्रमिक थे। खान उद्योग के श्रमिकों मे सबसे अधिक श्रमिक कोयला उद्योग मे है, जिनकी सख्या जुलाई सन् १९५७ मे ३,७०,२४४ थी। कारखाना उद्योग मे भी इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग अधिक महत्वपूर्ण है, जिसमे नवम्बर सन् १९५८ मे ७,६८,५०६ श्रमिक दैनिक औसतन थे, जिनकी सख्या सन् १९५३ मे ७,८३,९५४ थी।[4]

इस प्रकार आज भी भारत में सबसे अधिक श्रमिक निर्माणी उद्योग मे लगे हुए है तथा इनकी सख्या मे देश के औद्योगीकरण के साथ वृद्धि होगी, अतः इनकी विशेषताएं देखना भी आवश्यक है।

---

1 Labour in India & India 1960
2 "Industrial Labour in India"—I.L.O. Report of 1938, p 30.
3 India 1957 Table CLXX & CLXIX
4. India 1959.

इस अवधि मे कागज उद्योग की प्रगति की कल्पना निम्न तालिका से होगी:—

विभिन्न किस्मों के कागज का उत्पादन[1] (टनो मे)

वर्ष	१९५१	१९५१	१९५३	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७
किस्म							
(१) छपाई एवं लिखने का कागज	७१२६०	१९४२८	९५६२८	१०२८७६	११९४९६	१२२१८८	१२६-२६
(२) रैपिंग कागज	२५४८८	२१५४०	२११४४	२४१५६	२८३२०	३०९२४	३८०१६
(३) विशेष किस्मों का कागज	३१२०	२८२०	३४२०	४७८८	५६०४	५७७२	७२००
(४) पट्ठा	२४०४३	२१७२०	१९५१२	१३५०८	३१४४४	३३७२०	३८४००
(५) कुल उत्पादन	१३१९१६	१३७५०८	१३९७०३	१४५३२८	१८४८८४	१९३४०४	२१०१३२
(६) कारखानों की संख्या	१८	१८	१९	२०	२०	२३	

दूसरी योजना के अन्तर्गत उद्योग का विकास कार्यक्रम निम्नवत है :—

		न्यूज प्रिंट	कागज और पट्ठा
अनुमानित उत्पादन क्षमता	(३१-३-५६)	—	२,२०,०००
,, उत्पादन	(१९५५-५६)	—	१,८०,०००
,, आवश्यकता	(१९६०-६१)	१,२०,०००	३,५०,०००
उत्पादन क्षमता	(,,)	३०,०००	४,५०,०००
उत्पादन	(,,)	३०,०००	३,५०,०००

प्रथम योजना की अवधि मे भारत मे सन् १९५३ मे नेपा पेपर मिल्स की स्थापना हुई, जो न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाला पहिला कारखाना है। इसमे जनवरी सन् १९५५ से उत्पादन आरम्भ हुआ। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०,००० टन तथा सन् १९५८-५९ का उत्पादन २१,८३८ टन है। उसके पूर्व के तीन वर्षों में (सन् १९५५-५६ से सन् १९५७-५८) इसका उत्पादन क्रमशः ३,४५५, १३,५३४ तथा १४,१४५ टन था।[2] दूसरी योजना मे न्यूजप्रिंट की उत्पादन क्षमता ६०,००० टन करने का लक्ष्य रखा है। इस हेतु राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की सहायता से दो नए कारखानो की स्थापना होनी थी, जिनकी प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता ३०,००० टन तथा ६ करोड रुपये पूंजी विनियोग होना था। "ये योजनाएं तेजी मे कार्यान्वित की जा रही है। ये योजनाएं सरकार के विचाराधीन है, जो आयात की हुई लुगदी से प्रति दिन १०० टन न्यूजप्रिंट तैयार करेगी। इसी प्रकार १० टन प्रति दिन न्यूजप्रिंट उत्पादन करने वाली मिलो की स्थापना के भी ३-४ सुझाव है।"[3]

1. Second Five Year Plan—A Draft Outline.
2. India—1960, भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।
३. आर्थिक समीक्षा—मार्च ११, १९६०, पृष्ठ ८-९।

दूसरी योजना के प्रारम्भ में स्ट्रॉबोर्ड और मिलबोर्ड की २३ इकाइयां जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ७०,००० टन थी, इस क्षेत्र मे ६ नई इकाइयां और ६ नई स्कीमो को जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ४५ से ५० हजार टन है, लाइसेंस दिए गये हैं। इनके कार्यान्वित होने पर स्ट्राबोर्ड और मिलबोर्ड बनाने वाले कारखानो की उत्पादनक्षमता १,२०,००० टन हो जावेगी। कुछ नई इकाइयो को भी इसलिए लाइसेंस दिया गया है और १,२०,००० टन की उत्पादनक्षमता का लक्ष्य पूरा हो चुका है। स्ट्राबोर्ड और मिलबोर्ड का सम्पूर्ण यन्त्र सयत्र देशी साधनों द्वारा तैयार होने से उद्योगों को इस क्षेत्र मे प्रवेश करने का प्रोत्साहन मिला है। इस कारण नई इकाइयों को मुक्त रूप से लाइसेंस दिए जा रहे है।

एक इकाई सिगरेट-कागज तैयार कर रही है। व्यापार और उद्योग मे काम आने वाली दूसरी प्रकार के पतले कागज की माग भी बढ रही है, जिसे बनाने का काम अभी हाल ही मे एक मिल ने आरम्भ किया है। इसी प्रकार की दूसरी मिल को भी लाइसेंस दिया गया है।

वर्तमान स्थिति—

भारत मे कागज उद्योग का विकास विशेष महत्त्व रखता है। भारत में कागज की प्रति व्यक्ति खपत २ पौंड है, जबकि अमरीका मे ४१८ पौंड और यूरोपीय देशो तथा जापान में १०० से २२२ पौंड तक है। दूसरी योजना के लक्ष्यों के अनुसार कागज और पट्ठे की उत्पादन-क्षमता ५,३०,००० टन (लक्ष्य ४,५०,०००) टन हो गई है और ३,२०,००० टन उत्पादन का लक्ष्य भी सन् १९६०-६१ तक पूरा हो जावेगा। इस प्रकार इस उद्योग के वर्तमान स्थिति की कल्पना निम्न तालिका से होगी:—

	संख्या	उत्पादन-क्षमता (वार्षिक)	
(१) कागज उत्पादन करने वाले वर्तमान कारखाने (१-२-१९६०)	२२	३,२४,०००	टन
(२) कारखाने जिनमे उत्पादन प्रारम्भ होने वाला है	७	३३,८४०	,,
(३) (i) कागज की बडी इकाइयां जिन्हें लाइसेंस दिए गए	७	१,४१,५००	,,
(ii) कागज उद्योग की बड़ी इकाइयां जिन्हे विस्तार के लिए लाइसेंस दिए गए	६	१,०१,५००	,,
(४) (i) कागज उद्योग की छोटी इकाइयां जिन्हें नई इकाइयो के लिए आयात लाइसेंस मे सम्मिलित किया गया	१२	३१,०००	,,

(ii) कागज उद्योग की छोटी इकाइयां जो स्वीकृत हुई है	१७	४१,२२०	टन
(iii) कागज उद्योग की छोटी इकाइयाँ जिन्हे पर्याप्त विस्तार के लिए लाइसेंस दिए गए	२	७,०२०	,,
		६,८८,२८०	,,

तीसरी योजना मे उत्पादन-क्षमता का लक्ष्य ६ लाख टन तथा उत्पादन का लक्ष्य ७ लाख टन रखा गया है। सन् १६५६ मे कागज का उत्पादन २,६२,००० टन हुआ। फिर भी भारत मे आज कागज की कमी है और उसकी माँग बढती जा रही है। विदेशी विनिमय की कठिनाइयो के कारण कागज के आयात पर नियन्त्रण रखा गया है, इसलिए उद्योग को उत्पादन-क्षमता बढाने की दिशा मे ही प्रयत्न न करते हुए वर्तमान यन्त्र-सयन्त्रो से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने की ओर ध्यान देना चाहिए।[1] क्योकि तीसरी योजना मे कागज की माँग और बढेगी।

उद्योग की समस्याएँ एवं समाधान—

(१) यन्त्रों का आधुनिकीकरण—कागज के कारखानो में अधिकाशतः पुराने यन्त्रो का ही उपयोग हो रहा है। आजकल कुछ कारखानो मे आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त पूँजी लगाई गई है, क्योकि उत्पादको ने यह अनुभव किया कि आधुनिक यन्त्रो से पूरा लाभ उठाने के लिए कारखाने की उत्पादन-क्षमता मे अधिकतम सीमा तक वृद्धि करनी होगी।

(२) कागज उद्योग के यन्त्रों का निर्णय—कागज कारखानो के अधिकाश यन्त्र तथा कागज के निर्माण मे प्रयोग में आने वाली कुछ चीजों तक का आयात करना पडता है। इसलिए तृतीय पचवर्षीय योजना में कागज के कारखानो के यन्त्रो के सम्बन्ध मे निम्न लक्ष्य रखे है :—[2]

(करोड रु०)

कागजी मिल यन्त्र	यन्त्र का प्रमाप आकार (टन प्रति दिन)	लक्ष्य (१६६५-६६) यन्त्रो की सख्या	यन्त्रो का मूल्य (इसमें विद्युत का समावेश नही है)
(i) बडे यन्त्र	५०	४	६ ५ से ७·०
(ii) छोटे यन्त्र	१०	४	

भारत मे यद्यपि मशीनरी के कुछ हिस्से बनाए जाते हैं, किन्तु आवश्यक यन्त्र सयन्त्रो का उत्पादन अभी तक सगठित ढङ्ग से नही हुआ है। गत २-३ वर्षो से इस

१ आर्थिक समीक्षा : १६ मार्च १६६० से।

2 A Draft Outline—Third Five Year Plan.

दिशा में खोजात्मक और प्रारम्भिक कार्य हुआ है। भारत सरकार ने हाल ही में ५० से १०० टन प्रति दिन उत्पादन करने वाले बड़े पैमाने के कागज उद्योगों के प्लान्टों के निर्माण सम्बन्धी ६ योजनाएं मान्य की हैं और आशा है कि अगले ३-४ वर्षों में कागज उद्योग के लिए आवश्यक प्लान्ट एवं साज सज्जा देश में निर्माण हो सकेगी।*

(३) कच्चे माल की समस्या—कागज के उत्पादन के लिए प्रमुख रूप में बांस तथा सबाई घास का उपयोग होता है। दूसरी योजना में कागज एवं पट्ठे का उत्पादन लक्ष्य ६ लाख टन रखा गया है, जिसके लिए १६ लाख टन बांस लगेगा। सबाई घास भारत में बहुत थोड़ी मात्रा में मिलती है। इन दोनों की ही कमी अनुभव की जा रही है, इसलिए भारत सरकार ने वनों के प्रमुख निरीक्षक (Inspector General of Forests) की अध्यक्षता में एक समिति बनाई है, जो कच्चे माल की पूर्ति को ध्यान में रखकर कागज उद्योग के विकास की आधारभूत योजना प्रस्तुत करेगी। यह समिति बांस के तथा अन्य कच्चे माल के विदोहन के लिए उपाय करेगी तथा सेल्यूलोज की प्राप्ति बढ़ाने के लिए उपाय बतायेगी। इन्हीं कार्यों के लिए स्थायी रूप से एक वन आयोग (Forestry Commission) बनाने की योजना है, जो उद्योग के विकास के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की योजनाओं एवं प्रयत्नों में सामंजस्य लायेगी।

कच्चे माल के दूसरे प्रसाधनों में पटसन और कपास के तंतुएं और काठ भी हैं। इसके सिवा कपड़ा उद्योग के खराब चिथड़े, रद्दी कागज और इसी प्रकार के कच्चे माल के उपयोग में लाने की आवश्यकता है। नई स्वीकृत इकाइयों को इस कच्चे माल का सघन उपयोग करना होगा। इससे वे लुगदी की आवश्यकताओं की पूर्ति में अच्छी स्थिति में रहेंगी।

(४) अनुसन्धान—आज यह उद्योग ऐसी स्थिति में है जिसमें उसे किसी एक उद्यम में एक से अधिक कच्चे माल को विभिन्न वस्तुओं में बदलना होगा। विदेशों में अपनाए गए तरकीबों को भी इस उद्योग में अपनाना होगा। उद्योग के अनुसन्धान संगठनों द्वारा कुछ कार्य हुआ है। इस हेतु शीघ्र सहकारी अनुसन्धान कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है, जिससे सघन अनुसंधान एवं उसका उपयोग हो कर उद्योग दृढ़ आधार पर स्थायी हो सके।

(५) लुगदी और लुगदी बनाने की इकाइयाँ—रेयन श्रेणी की लुगदी जो विस्कोस सूत, स्टेपल फाइबर और सेलोफ्रेन बनाने के लिए आवश्यक है, हमारे यहाँ आयात की जाती है, जिसकी वार्षिक लागत ४ करोड़ रु० तथा तादाद ४०,००० टन है। इसकी आवश्यकता सन् १९६१ तक ७४,००० टन और तीसरी योजना के अन्त तक १,१०,००० टन होगी। रेयन लुगदी के उत्पादन में देवदार और सरों के वृक्ष की छाल आवश्यक है जो यहाँ आसानी से उपलब्ध नहीं है। इस हेतु सस्त लकड़ी का उपयोग

* आर्थिक समीक्षा: मार्च १६, १९६०, पृ० १०।

करने की देश मे काफी प्राविधिक उन्नति हुई है। रेयन लुगदी के उत्पादन में दूसरे प्रकार का कच्चा माल उपयोग में लाने के प्रयत्न हुए हैं। इनमे अधिक उपयोगी कच्चा माल बास है। केरल में इस श्रेणी की लुगदी प्रति दिन १०० टन उत्पादन की योजना कार्यान्वित हो रही है। मैसूर राज्य के उत्तरी कानरा जंगलो मे प्राप्त बास के प्रसाधनों पर आधारित दूसरी योजना सरकार द्वारा मान्य की गई है तथा तीन और योजनाओं के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है। इन सब योजनाओ के कार्यान्वित होने पर सन् १९६३ तक देश रेयन लुगदी के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भर हो जायगा।

इसी प्रकार रद्दी कागज, चिथडे, भूसा आदि कच्चे माल की लुगदी पर चलने वाली छोटी इकाइयाँ स्थापित की जा रही हैं। अभी तक १०,००० टन लुगदी का आयात कागज उद्योग करता है। इन इकाइयो को लगभग वार्षिक १५,००० टन लुगदी की २-३ वर्ष तक आवश्यकता होगी। आसाम लुगदी मिल (उत्पादन क्षमता ३०,००० टन) का कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ हो रहा है। इसके सिवा डाग जगलो में उत्पन्न बास से वार्षिक १५,००० टन लुगदी बनाने की एक योजना सरकार ने स्वीकार की है। इन योजनाओं की पूर्ति पर देश आत्म निर्भर हो जायगा।

इस प्रकार सरकार इस उद्योग को सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है और इसी हेतु कागज उद्योग के लिए विकास परिषद् का निर्माण भी किया गया है, जो उत्पादन, वितरण, प्रशिक्षण, अनुसन्धान, कार्यक्षमता आदि विभिन्न अगो पर अधिक जिम्मेवारी के साथ विचार कर उद्योग की विविध समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करेगी। इससे स्पष्ट है कि उद्योग का भविष्य ज्योतिर्मय है।*

[२] सीमेंट उद्योग

वर्तमान युग में वायुयानो के उतरने के लिए सीमेट कान्क्रीट की सड़क, यन्त्रों की स्थापना मे, मकान बनवाने मे, यातायात एव अन्य विकास योजनाओ मे सीमेन्ट का स्थान महत्त्वपूर्ण है। देश के औद्योगीकरण एव विकास योजनाओ की पूर्ति के लिए लोहे एव इस्पात तथा कोयले के साथ मे ही सीमेंट का भी महत्त्व है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस महत्त्व के होते हुए भी भारत मे सन् १९०४ तक इस उद्योग की स्थापना के प्रयत्न नही हुए और आज भी अपने वर्तमान उत्पादन से, जो सन् १९५९ में ६८·१४ लाख टन है, यह उद्योग भारतीय माँग को पूरा करने मे असफल है।

उगम एव विकास—

भारत मे पोर्टलैंड सीमेट बनाने का पहिला कारखाना सन् १९०४ मे मद्रास राज्य में खोला गया था, परन्तु वह असफल रहा। इसके ९ वर्ष बाद पोरबन्दर में

* भारत का कागज उद्योग—केन्द्रीय उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह (आर्थिक समीक्षा—मार्च ११, १९६०)।

अध्याय ८

भारतीय श्रमिकों की गृह समस्या

(Housing Problem of Indian Labour)

"भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है। उनके रहने के स्थान मैलीकुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।"

—नेहरू

"मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।"

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जिसमें समस्याओं की कमी नहीं है। इसलिए एक भाषण के दौरान में श्री नेहरू ने कहा था :—"भारत में प्रत्येक मनुष्य ही एक समस्या है।" तो फिर ऐसी स्थिति में जहाँ हमारा औद्योगिक विकास नवीन है, वहाँ पर श्रमिकों के आवास की समस्या होनी ही चाहिए। यह एक ऐसी समस्या है, जो आज केवल श्रमिकों तक ही सीमित न रहते हुये प्रत्येक मध्यवर्गीय कुटुम्ब की समस्या हो गई है।

गृह-समस्या का हल आवश्यक—

गृह-समस्या का समुचित हल होना भी आवश्यक है, क्योंकि गृह समस्या का अथवा निवास स्थानों की कमी एवं उनकी अनुपयुक्तता का प्रभाव मानव की कार्य-क्षमता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके काम के अनुसार अच्छा तथा सुविधाजनक मकान रहने के लिए न मिले, तब तक वह एकाग्रता से काम नहीं कर सकता और न कौटुम्बिक वातावरण ही उसे मिल सकता है। घर के आस-पास का वातावरण भी उसके लिए पोषक होना चाहिए। कारण, मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास स्थान का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही शहरों का विकास होते हुए भी गृह-समस्या आज अत्यन्त जटिल है। क्योंकि किसी भी शहर में आज रहने के लिए पर्याप्त एवं सुविधाजनक मकान नहीं मिलते और यदि मिलते भी हैं तो उनका किराया इतना अधिक होता है कि जो साधारण आय वाले व्यक्ति की शक्ति के बाहर होता है। मजदूरों की हालत तो साधारण मध्यवर्गीय समाज से भी बदतर है। कानपुर में पं० नेहरू ने २ अक्टूबर सन् १९५२ को श्रमिकों के निवास स्थान का निरीक्षण करते हुये कहा था:—"भारतीय श्रमिकों की निवास-समस्या

दी सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी—

दी इण्डियन सीमेंट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन की सदस्य-कारखानों ने जो सहयोग दिया, उससे एसोसियेशन को यह विश्वास हुआ कि यदि वे अपने उत्पादन की बिक्री केन्द्रीय संगठन से करेंगे, तो विक्रय व्यय में मितव्ययिता होकर सीमेंट की कीमत कम हो सकती है। इसलिए सन् १९३० में दी सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी लि० की स्थापना की गई और मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन खतम कर दिया गया। इस नई संस्था ने प्रत्येक सदस्य निर्माता की उत्पादन-क्षमता के अनुसार बिक्री का कोटा निश्चित कर दिया, जिसकी बिक्री इस संस्था के माध्यम से होने लगी। इससे प्रतियोगिता का अन्त तो हुआ ही और वितरण व्यय में भी मितव्ययिता हुई। यातायात आदि के खर्च कम होने से सीमेन्ट की बिक्री की कीमत भी निश्चित कर दी गई, जिससे उपभोक्ताओं को भी लाभ हुआ। मार्केटिङ्ग कम्पनी की सफलता एवं प्रभावी नियन्त्रण के कारण सन् १९३४ में चार और सीमेंट निर्माणियों ने इसकी सदस्यता प्राप्त की, जिससे सीमेंट की कीमतें २५% कम हो गईं।

दी एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज लि०—

उद्योग के विभिन्न निर्माताओं के सहयोग से निर्माताओं ने उद्योग को सुसंगठित ढङ्ग पर संचालन करने के हेतु तथा वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सीमेंट का उत्पादन एवं वितरण मितव्ययी बनाने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। इस हेतु पी० ई० दिनशॉ ने विभिन्न सीमेंट कम्पनियों के समावेशन (Merger) की एक योजना बनाई। तदनुसार सोनेवैली पोर्टलैंड सीमेंट कम्पनी के अलावा सभी तत्कालीन कम्पनियों के समावेश से सन् १९३६ में दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड की स्थापना हुई। इस कम्पनी के निर्माण से भारत के एक राष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण उद्योग का सङ्गठित ढङ्ग पर विकास होने लगा। यहाँ पर यह ध्यान रहे कि यह सब टेरिफ बोर्ड के सुझावों के ही अनुसार हुआ था। इस प्रकार विभिन्न कम्पनियों के परस्पर सहयोग के कारण सन् १९३० से सन् १९३६ तक के ६ वर्षों में सीमेंट की कीमतें १० रु० प्रति टन कम हो गईं, जो उपभोक्ताओं के हित में ही था।

इसके पश्चात् सन् १९३८ में डालमियां समूह की सीमेंट निर्माणियों ने ए० सी० सी० कम्पनी से तीव्र प्रतियोगिता शुरू की। इनके साथ वार्तालाप होते होते सन् १९४० में समझौता होकर इन दोनों समूहों के उत्पादन की केन्द्रीय बिक्री के लिए सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी फिर कार्य करने लगी। इन दो समूहों के अलावा चार और कम्पनियां भी सीमेंट उत्पादन कर रही हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध और सीमेंट—

३ सितम्बर सन् १९३९ में दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ा। युद्ध प्रारम्भ होते ही सभी वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं, जिससे सीमेंट का उत्पादन तथा पैकिङ्ग व्यय भी बढ़ गया। फलतः सीमेंट की कीमतें भी बढ़ीं। युद्ध-काल में इस उद्योग पर इण्डस्ट्रीज

१ बरामदा, रसोईघर, गुसलखाना तथा खेल-कूद के मैदान की व्यवस्था है। इस दिशा में जमशेदपुर, बर्नपुर, जे० सी० मिल्स, टी० पी० टू० फैक्टरी एवं एलिगन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर, सीमेन्ट कम्पनी, बामोर, डालमियाँ नगर तथा एम्प्रेस मिल्स एवं मॉडेल मिल्स, नागपुर का उल्लेख किया जा सकता है। टाटानगर मे तो सम्पूर्ण नगर की रचना श्री टाटा द्वारा अपनी पूँजी से की गई है। इसके अलावा बम्बई, कलकत्ता तथा कानपुर की नगरपालिकाओं तथा इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने भी कुछ काय किया है। परन्तु भारत की इस समस्या को विशालता की दृष्टि से ये प्रयत्न समुद्र मे पानी की कुछ बूँदो की भाँति ही है, अतः इनमे सुधार के व्यापक कार्यक्रम सरकार, नियोक्ता तथा श्रम-सघो द्वारा निर्धारित किये जाने चाहिए।

सरकार की गृह-निर्माण योजना—

घरो की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४७ में एक गृह-निर्माण योजना बनाई थी। परन्तु पूँजी की कमी तथा अधिक खर्चीली होने के कारण इस योजना को छोड दिया गया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५०-५१ के बजट मे श्रमिक गृह-निर्माण के लिए बम्बई प्रान्त के लिए १६ लाख रुपये तथा पंजाब, मध्य-भारत बिहार एवं उडीसा के लिए १० लाख रुपए का आयोजन किया। फिर भी इस कार्य को प्रोत्साहन देकर समस्या का हल होना आवश्यक था।

इसलिए अगस्त सन् १९५२ मे केन्द्रीय सरकार ने एक नई गृह-निर्माण योजना बनाई तथा सन् १९५२-५३ के बजट मे ६ करोड रुपये का प्रबन्ध था। इस राशि मे से ७·१६ करोड रुपये औद्योगिक गृह-निर्माण तथा शेष राशि वर्तमान गन्दे श्रमिक आवासो (Slums) की स्वच्छता के लिए व्यय होना था। इस योजना के अनुसार विभिन्न राज्यो में २८,५०० औद्योगिक गृह-निर्माण होने थे, जिसके लिए इस राशि में से ऋण एवं सहायता दी जाती है। इस हेतु गृह-निर्माण का विभाजन तीन वर्गों मे किया गया था: —

(अ) जो राज्य सरकारो अथवा वैधानिक सस्थाओं (जैसे इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट आदि) द्वारा बनाये जाते।

(ब) जो नियोक्ताओ द्वारा बनाये जाते।

(स) जो सहकारी गृह-निर्माण-समितियों द्वारा बनाये जाते।

पहिले वर्ग के मकानो के लिए केन्द्रीय सरकार लागत का ५०% मूल्य सहायता के रूप मे तथा शेष ५०% २५ वर्ष मे भुगतान किये जाने वाले ऋण के रूप में देती थी। दूसरी एवं तीसरी श्रेणी में आने वाले मकानो के लिए सरकारी सहायता

वर्ष	सीमेंट उत्पादन (हजार टन)	अस्बेस्टॉस सीमेंट शीट (हजार)
१९५०	२,६१२·४	८६·४
१९५१	३,१९५·६	८२·८
१९५२	२,५३७·६	८७·६
१९५३	३,७८०·०	७९·६
१९५४	४,३९८·०	३९·२
१९५५	४,४८७·२	१०४·४
१९५६	४,९२८·४	१२०·०
१९५७	५,६०१·६	१५८·४
१९५८	६,०६८·०	—
१९५९	६,८१४·०	—

स्पष्ट है कि सन् १९५७ में सीमेंट उद्योग ने प्रगति की है। सन् १९५७ में उत्पादन क्षमता एवं उत्पादन ६५·६ लाख और ५६·१ लाख टन रहा, जब कि सन् १९५६ में यही क्रमशः ५६ और ४९ लाख टन था।

दूसरी योजना में ५४ नवीन योजनायें स्वीकृत की गई हैं, जिनमें से २१ योजनायें नए कारखानों की स्थापना तथा ३९ योजनायें वर्तमान कारखानों के विस्तार की हैं, जिससे वार्षिक उत्पादन क्षमता १ करोड़ टन होगी। इनमें से ११ विस्तार योजनाओं की पूर्ति तथा ४ नये कारखानों की स्थापना सन् १९५८ के अन्त तक हो जायगी; जिससे देश की उत्पादन क्षमता में १८ लाख टन की वृद्धि होगी। इसके सिवा ११ और योजनायें सन् १९५९ के अन्त तक पूरी होंगी जिनसे इस तिथि तक कुल उत्पादन क्षमता १०४ लाख टन वार्षिक होगी।[1] इसके साथ ही देश में सफेद सीमेंट बनाने की योजना भी है। इस हेतु प्रयोगिक यन्त्र हैदराबाद की प्रादेशिक अनुसन्धानशाला में लगाये गये हैं।[2] दूसरी योजना के अन्त तक उद्योग की उत्पादन क्षमता एवं उत्पादन का लक्ष्य १२० लाख और १०० लाख टन निर्धारित किया है।

इस प्रकार सन् १९५९ में देश में ३२ कारखाने थे, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८२·५ लाख टन थी, जो दूसरी योजना के अन्त तक १०९·२ लाख टन हो जायगी। सीमेंट कारखानों को बढ़ाने के लिए अमेरिका के भिन्न सहयोग मिशन और विकास ऋण निधि से विदेशी मुद्रा ली गई है। अनुमान है कि सन् १९६२ तक देश के कारखानों से ही देशी माँग की अधिकांश पूर्ति होने लगेगी।

1. *Journal of Industry and Trade : July 1958, p. 950.*
2. भारतीय समाचार : १ अक्टूबर सन् १९५८।

सीमेंट का निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। निर्यात के लिए जो ४ लाख टन सीमेंट रखा गया था उसमे से जनवरी सन् १९६० के अन्त तक ३,०१,४१० टन सीमेंट निर्यात करने की कार्यवाही हो चुकी है और लगभग २३६ हजार टन सीमेंट निर्यात हो चुका है।[१]

तीसरी योजना मे सन् १९६५ ६६ तक सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य १३० लाख टन रखा गया है, जबकि सन् १९६० ६१ में सीमेंट का लक्ष्य ८८ लाख टन प्राप्त करने की आशा है। यह लक्ष्य सन् १९६०-६१ में जो उत्पादन स्तर अनुमानित है उससे ५०% वृद्धि का परिचायक है।

इस प्रगति से स्पष्ट है कि यह उद्योग भविष्य मे विदेशी विनिमय अर्जन करेगा और साथ ही देश की बढ़ती हुई माग की पूर्ति भी भली-भाँति कर सकेगा।

[३] कोयला उद्योग

प्रत्येक देश को औद्योगिक प्रगति के लिये कोयला और लोहा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। द्वितीय पच-वर्षीय योजना मे जहाँ तीन लौह एवं इस्पात के कारखाने खोलने की योजना है वहीं इस उद्योग के लिए आवश्यक कोयले की भी पर्याप्त व्यवस्था होना आवश्यक है, क्योंकि यह महत्त्वपूर्ण औद्योगिक ईंधन (Fuel) है। इसलिए साधारणतः उद्योगो की स्थापना कोयले के समीपस्थ क्षेत्रों में ही होती है। देश की औद्योगिक शक्ति का अनुमान आजकल उस देश मे प्राप्त होने वाली कोयले की मात्रा से लगाया जाता है।

वर्तमान स्थिति—

कोयले के उत्पादन मे भारत का विश्व मे आठवाँ स्थान है, परन्तु भारतीय कोयला अन्य देशो की अपेक्षा निम्न कोटि का है। भारत में कोयले के प्रमुख क्षेत्र रानीगज और झरिया हैं। भारत की कुल खानो मे से ७०% खानें केवल रानीगंज और झरिया मे ही हैं, जहाँ से लगभग ८०% कोयला प्राप्त होता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोयला उद्योग अधिक प्रगति कर रहा है, जो इस उद्योग के वार्षिक उत्पादन से स्पष्ट होता है :—

वर्ष	उत्पादन[२] ('०० टन)	वर्ष	उत्पादन (लाख टन)
१९५०	३१,९९२	१९५५	३८२*
१९५१	३४,२०८	१९५६	३९४*
१९५२	३६,२२८	१९५७	४३५*
१९५३	३५,८४४	१९५८	४५३*
१९५४	३६,७९८	१९५९	४७८·३०†

१. भारतीय समाचार—अप्रैल १५, सन् १९६०।

2. Hindusthan Year Book 1951—Sarkar.

* India 1960.

† भारतीय समाचार—जून १५, १९६०।

दूसरी योजना की पूर्ति पर कोयले का वार्षिक उत्पादन लक्ष्य ६०० लाख टन रखा गया है। अर्थात् २२० लाख टन कोयले की अपेक्षित वृद्धि में से १०० लाख टन वृद्धि निजी क्षेत्र में अपेक्षित है। सन् १९५६ में राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना की गई है जो सरकारी क्षेत्र के कोयला-उत्पादन के लिए जिम्मेवार है। यह निगम ११ राज्य कोयला-खानों में (इनमें आन्ध्र की सिंगरेनी कोयला खदान का समावेश नहीं है) ७ लाख टन अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने में सफल हुआ। सिंगरेनी खदान से कोयले का उत्पादन सन् १९५५ के १५.२ लाख टन से सन् १९५८ में २१.२ लाख हो गया। इसके सिवा अनेक नई कोयला खानों में उत्पादन प्रारम्भ हो गया है।

श्रेष्ठ कोयले के सीमित भण्डार—

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार भारत में नॉन-कोकिंग कोयला लगभग ३,९६५ करोड़ टन है, जो हजारों वर्ष तक काम देगा। मेटार्लजिकल कोल कन्जर्वेशन समिति के अनुसार उच्च कोटि का कोकिंग कोयला ३,२६६ लाख टन है। स्पष्ट है कि हमारे कोल बनाने के कोयले के भंडार सीमित हैं। इसलिए सरकार को काफी चिन्ता है, क्योंकि इस्पात के तीनों कारखानों का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है और कोयले की कमी के कारण उनको तथा अन्य उद्योगों को करोड़ों रुपये की हानि हो रही है। हमारे भूगर्भ-शास्त्री *निश्चयपूर्वक यह कहने में असमर्थ हैं कि कि हमारे कोकिंग कोयले के भण्डार कितनी* सदियों तक चल सकेंगे। भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग (Geological Survey) कोयले के भण्डारों का नये सिरे से आकलन कर रहा है, जिससे इस सम्बन्ध में सही जानकारी प्राप्त हो सके।

अतः भारत सरकार ने आम कोयले के भण्डारों का अधिक मितव्ययिता से *उपयोग करने के लिये निम्न कदम उठाये हैं:—*

(अ) बढ़िया कोयले का उत्पादन सीमित करना।

(आ) धातुशोधन के अलावा अन्य कार्यों में इस कोयले का प्रयोग रोकना।

(इ) कोयले की धुलाई को प्रोत्साहन देना, जिससे उसमें राख का अंश कम हो और पहिले तथा दूसरे ग्रेड का धोया हुआ कोयला धातुशोधन कार्यों के लिये उपयोग में लाया जा सके।

(ई) कोयला निकालने के बाद जो खानें खाली हो गई हैं उन्हें रेत आदि से भरना, जिससे शेष कोयला सुगमता से निकाला जा सके।

इन उपायों को अधिक तेजी से काम में लाया जायगा, जिससे सन् १९६० तक जब इस्पात के तीनों नये कारखानों को पर्याप्त मात्रा में कोकिंग कोयला सुलभ हो और धातुशोधन के अतिरिक्त अन्य कार्यों में इस कोयले का उपयोग वस्तुतः समाप्त हो जाय।

द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना में—

इस योजना में कोयले के वार्षिक उत्पादन में २.३ करोड़ टन की वृद्धि करने

का लक्ष्य है, जिससे सन् १६६०-६१ में वार्षिक उत्पादन ६ करोड़ टन हो। वर्तमान वार्षिक उत्पादन ४·३ करोड़ टन है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न कोयला क्षेत्रों में निम्न प्रकार से उत्पादन बढ़ाने की योजना है :—

कोयला	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	योग
रानीगंज	२·५०	३·४४	५·६४
झरिया	—	३·५०	३·५०
करनपुरा	४·००	०·५६	४·५६
बोकारो	०·५०	—	०·५०
कोरबा	४·००	—	४·००
कोरिया और रीवा	२·५०	०·५०	३·००
सिंग्रैनी	१·५०	—	१·५०
योग	१५·००	८·००	२३·००

विवेकीकरण—

कोयले के उत्पादन में मितव्ययिता लाने के लिए छोटी-छोटी खानों का एकीकरण करने की योजना है। इसी प्रकार कोक वाशिंग समिति (सन् १६५३) की सिफारिशों के अनुसार कोयले की कोटि में गिरावट रोकने के लिए कोयले की धुलाई के लिए ४ कारखानों (Cool washeries) का आयोजन है, जिनमें से १ वाशिंग प्लांट कारागली में स्थापित किया गया है, जो मई सन् १६५८ में चालू हो गया है। शेष तीन वाशिंग प्लांट दूसरी योजना के अन्त तक चालू हो जायेंगे।[†]

इसी प्रकार दुर्गापुर कोक ओवन (Oven) प्लांट की स्थापना प० बंगाल सरकार ने प० जर्मनी की फर्म के सहयोग से की है, जो मार्च सन् १६५६ में चालू हो गया है। यह दुर्गापुर इस्पात कारखाने को कोकिंग कोल का प्रदान करेगा। इस कारखाने की क्षमता १,००० टन तथा लागत ७·५ करोड़ रुपये है। इसी प्रकार निजी क्षेत्र की कोयला खदानों का उत्पादन सन् १६५५ के ६० लाख टन से सन् १६५६ में ४०० लाख टन से भी अधिक हो गया है। कोयले की कमी की दृष्टि से *बहुमुखी मरकॉट लिग्नाइट* प्रोजेक्ट, नेवेली की स्थापना की गई है, जो ३५ लाख टन वार्षिक लिग्नाइट का उत्पादन करेगा। इसका उपयोग २·५ लाख किलोवाट शक्ति, ३·८ लाख टन कार्बोनाइज्ड ब्रिकेट (Briquettes) और १,५२,००० टन *यूरिया के उत्पादन में होगा*। इस योजना में कुल विनियोग ६८·८ करोड़ रुपये का होगा, किन्तु दूसरी योजना पर ५२ करोड़ व्यय किया जायगा। इस हेतु स्थापित नेवेली लिग्नाइट कारपोरेशन ने योजना को दिसम्बर सन् १६५६ में अपने हाथ में लिया, जो इस समय १६·६ करोड़ रुपये की

[†] Commerce : 24th May 1958.

लागत का खदान कार्य कर रहा है। लिग्नाइट का उत्खनन सन् १९६१ के प्रारम्भ में शुरू हो जायगा।[1]

इस प्रकार द्वितीय पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य इस उद्योग का युक्तिपूर्ण संगठन करना है। इसकी आवश्यकता कोयले के प्रादेशिक वितरण तथा धातुशोधन के लिए उच्च कोटि के कोयले को सुरक्षित करने की दृष्टि से भी है। कोयले के प्रादेशिक उत्पादन में वृद्धि होने से रेलें समीपस्थ कोयला क्षेत्र से माल को निर्दिष्ट स्थान तक जल्दी से जल्दी पहुँचा सकेंगी और रेलें कोक बनाने का बढ़िया कोयला बचा सकेंगी। क्योंकि रेलें लम्बी यात्रा में भाप कोयला भाप बनाने के लिए प्रयोग करती हैं अथवा दुर्गम प्रदेशों में जाने में। जब माल कम दूर ढोना होगा तो वे योजना के अनुसार घटिया कोयले का ही उपयोग करेंगी।

कोयला खदानों का पुनर्गठन—

कोयले के स्रोतों में फिजूलखर्ची के निवारण के लिये तथा कोयले की उत्पादन पद्धति में सुधार करने के लिये कोयले की खानों का एकीकरण द्वारा पुनर्गठन करने की योजना बनाई है। झरिया में ७३४ और रानीगंज में ६६६ ऐसी खदानें हैं जिनका मासिक उत्पादन १०,००० टन से भी कम है। इतना ही नहीं, अपितु अनेक में आवश्यक यन्त्र एवं सामग्री एवं तन्त्रज्ञों की कमी है, जिससे वे वैज्ञानिक एवं नियोजित पद्धति से कोयले का विदोहन नहीं कर सकतीं। इसलिए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये इन खदानों का पुनर्गठन अनिवार्य हो गया है। इस पर विचार करने के लिये सन् १९५५ में कोयला खदान एकीकरण समिति की नियुक्ति की गई थी। इस समिति ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं, जिसके अनुसार जिन खदानों का मासिक उत्पादन १०,००० टन से कम, क्षेत्र १०० एकड़ से कम तथा जिनमें कोयले का संग्रह ५० से कम वर्षों के लिये है उनका एकीकरण किया जायगा।[2]

तीसरी योजना में—

योजना आयोग का अनुमान है कि इस्पात, थर्मल शक्ति एवं रेल्वे के लक्ष्यों के आधार पर तीसरी योजना के अन्त तक कोयले की माँग ९७ मि० टन होगी। इसके अनुसार तीसरी योजना में ३७ मि० टन की उत्पादन में वृद्धि होना चाहिए, क्योंकि दूसरी योजना के अन्त में कोयले का उत्पादन लक्ष्य ६० मि० टन रखा गया था। किन्तु यह लक्ष्य योजना की अवधि में पूरा होने की सम्भावनाएँ नहीं हैं। यद्यपि दूसरी योजना में निजी क्षेत्र की वर्तमान खदानों से ही अतिरिक्त उत्पादन पर्याप्त हुआ है फिर भी तीसरी योजना के लक्ष्य की पूर्ति के लिए नई खदानों को खोलना होगा। इस हेतु अधिक प्रयत्न एवं पूँजी विनियोग की आवश्यकता होगी।

कोयला कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण हेतु स्टील उद्योग के लिए कोकिंग कोयले

---

1. India—1960.
2. Amrit Bazar Patrika . May 1958

का तथा रेल्वे एवं कुछ अन्य उद्योगो के लिए उच्च कोटि के नॉन कोकिंग कोयले का प्रदाय करना होगा। यद्यपि इन उद्योगो की तीसरी योजना मे कोयले की सही आवश्यकता के सम्बन्ध मे निश्चित जानकारी नही है। फिर भी अनुमान है कि इन उद्योगो को तीसरी योजना में ११ मि० टन कोकिंग कोयला तथा १० मि० टन नॉन-कोकिंग कोयले की अतिरिक्त आवश्यकता होगी। यह रानीगंज एवं झरिया की निजी क्षेत्र की कोयला खदानो से ही प्रमुख रूप मे पूरी हो सकेगी। अन्य कोयले का अतिरिक्त उत्पादन विशेष रूप से करनपुरा (बिहार), मध्य-प्रदेश, उडीसा और आन्ध्र की कोयला खदानों से होगा। इस हेतु सरकारी क्षेत्र के कोयला उत्पादन के लिए १३८ करोड रु० तथा बोकारो स्टील प्लांट की योजना राशि (२०० करोड रु०) मे कुछ राशि का आयोजन है।[1]

भारतीय कोयला परिषद् की बैठक में कोयले की उत्पादन वृद्धि एवं उसकी किस्म तथा इस हेतु आवश्यक तक्नीकी विशेषज्ञो एवं इञ्जीनियरों की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया।[2] इस प्रकार कोयला उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्न हो रहे हैं, जिससे भारत का औद्योगिक उत्पादन कोयले की कमी के कारण प्रभावित न हो सके।

उद्योग की समस्याएँ—

(१) भारतीय श्रमिक की उत्पादनशीलता कम है, जो प्रति व्यक्ति (Per man shift) ०·४१ टन है, जिसमें वृद्धि की आवश्यकता है। इसलिये कोयला खदानों का अधिक यन्त्रीकरण करना होगा तथा श्रमिको को अपनी उत्पादनशीलता बढाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे स्रोतों का मितव्ययितापूर्ण उपयोग हो सके।

(२) तन्त्रज्ञो की कमी—प्रत्येक स्तर पर आवश्यक तन्त्रज्ञो की कमी है, जो वर्तमान प्रशिक्षण सुविधाओं से पूरी नही हो सकती, इसलिये वर्तमान प्रशिक्षण विद्यालयो एवं महाविद्यालयो का विस्तार होना चाहिए। साथ ही, राज्य सरकारों की कोयला खदानो की सायं कक्षाओं में प्रशिक्षितों की संख्या बढाई जानी चाहिये। निम्न स्तर के कुशल कर्मचारियो की कमी को दूर करने के लिये सामंजस्यपूर्ण प्रयत्न होना चाहिये, जिससे सभी खदान उद्योगो की मांग पूरी हो सके।

---

1. Thrid Five Year Plan—Adraft outline, page 211-12.
२. भारतीय समाचार, जून १, १९६०

अध्याय ६

भारतीय तटकर नीति

(Indian Fiscal Policy)

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में यह सिद्धान्त मान्य कर लिया गया है कि राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास में प्रगतिशील एवं सक्रिय भाग ले। प्रत्येक देश की सरकारी औद्योगिक नीति का यह प्रमुख भाग रहा है कि सरकार अपने राष्ट्रीय साधनों के अनुसार एवं देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेती है। देश के औद्योगीकरण को गति देने में सरकार की तटकर नीति महत्त्वपूर्ण होती है। इसी दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति के अनुसार :—"सरकार की प्रशुल्क नीति ऐसी रहेगी, जिससे अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतम उपयोग हो सकेगा तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित प्रभार भी नहीं रहेगा।"* परन्तु इसके पहिले भारत सरकार की नीति क्या थी, यह देखना होगा।

सन् १६२१ के पूर्व—

सन् १६२१ में भारत पर विदेशी सत्ता का केवल राजनैतिक ही नहीं, अपितु आर्थिक पंजा भी था। भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति का संचालन इङ्गलैण्ड में बैठ कर भारत सचिव करता था। तत्कालीन आर्थिक नीति की विशेषता भारत का आर्थिक शोषण कर अंग्रेजी उद्योगों को बल देने में थी। इसलिए उस समय भारत जैसा विशाल बाजार इङ्गलैण्ड के उद्योगों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो। फलतः भारतीय शासन की मुक्त व्यापार नीति रही, जिसमे विदेशी निर्माता मजे से भारतीय उद्योगों का गला घोट सकते थे, क्योंकि सन् १८६० तक तो भारत में उद्योगों का विकास ही नहीं हुआ था और जो कुछ थोड़ा सा था भी, वे विदेशी माल की प्रतियोगिता में असमर्थ थे। इसके अलावा भारत में औद्योगिक विकास आधुनिक ढंग पर होने के पहिले से ही विदेशी निर्माताओं ने विशेषतः इङ्गलैंड ने अपना आसन जमा लिया था। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति होने के पूर्व कुछ समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से भारतीय कुटीर-उद्योगों को बल मिला, परन्तु यह नीति अधिक काल तक न टिक सकी। इस प्रकार भारत में पूर्णरूपेण मुक्त-व्यापार नीति का ही अवलम्ब किया गया, जो सन् १८८२ से सन् १८६४ तक रही।

---

* India—A Government of India Publication.

सन् १८६४ में एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ रही थी। अतः सरकार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८६४ में ५% आयात कर लगाना पड़ा। परन्तु रेलवे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। आयात कर के लगाते ही लकाशायर एवं मैनचेस्टर के मिल-मालिकों ने हायतोबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एव इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपड़े के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओं को न मिले। इस प्रकार आयात कर की पूर्ति उत्पादन करों से होती थी, जिससे उसका लाभ किसी भी प्रकार से भारतीय उद्योगों को न मिले। यह नीति सन् १६१६ तक रही तथा उसका पालन भी कड़ाई के साथ किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे प्रोत्साहन के अभाव में न पनप सके और भारत अधिकाश रूप मे कच्चे माल का निर्यात करने वाला कृषि प्रधान देश रह गया।

प्रथम युद्ध-काल मे (1) भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने, आयात बन्द होने तथा युद्ध-जन्य आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण शासकों को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुई। (11) भारत में सन् १६०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें मजबूत होने लगी, जिससे अँग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। (111) जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था; उसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। (1v) युद्ध के संचालन में भारत से व्यक्ति, सामग्री तथा धन में जो सहायता मिली, उसके फलस्वरूप सन् १६१७ में मॉंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। (v) सन् १६१६ के *औद्योगिक आयोग* ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध मे छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमे कहा—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास मे सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"[1] औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था :— "औद्योगिक जिम्मेदारी लेने के लिए सरकार अपने पास वैज्ञानिक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगों को सलाह दे सकें।" परन्तु अभाग्यवश आयोग की सिफारिशों को ताक में रखा गया।[2]

भारत मे जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अँग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १६१७ मे मॉंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। इसमे भारतीयो को 'स्वयं निर्णय' का,

1. Irdustrial Commiss'on, 1916.
2. Indnstrialization—P. S. Loknathan, p. 6.

अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति में संशोधन एवं सुधार करने का अधिकार मिला, जो भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पहला कदम था।

भारतीयों को स्वयं निर्णय का अधिकार देने के लिये सन् १९१९ में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल के परीक्षण के समय संयुक्त प्रवर-समिति ने यह मत दिया :— "भारत एवं इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धों को अन्य किसी बात से इतना खतरा नहीं है जितना कि भारत की तटकर नीति से, जिसका संचालन व्हाइटहॉल में ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिए होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमें सन्देह नहीं। इस समस्या का समुचित हल तभी सम्भव है, जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा से दिया जा सकता है।"* फिर भी यह स्वतन्त्रता प्रत्यक्ष कार्य प्रणाली में सीमित थी, यद्यपि प्रतिज्ञा (Convention) की दृष्टि से आर्थिक नीति के सम्बन्ध में भारत पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरी ओर साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग होने के नाते साम्राज्य की नीति के बन्धन में भी था।

तटकर आयोग (Fiscal Commission) सन् १९२१—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १९२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर इब्राहीम रहिमत उल्ला थे। आयोग का प्रमुख हेतु सभी हितों को ध्यान में रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करना, शाही अधिमान के सिद्धान्त को लागू करने की वांछनीयता पर राय देना तथा इस सम्बन्ध में सिफारिशें करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ में सरकार को प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश की। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जांच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होने हुए भी इसमें उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएँ बहुत है। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उसमें स्पष्ट है कि भारत प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े।

---

* Tariffs & Industry—by John Mathai.

साराश मे, उद्योगों मे विवेकात्मक संरक्षण नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्हीं उद्योगो को सरक्षण दिया जा सकता था, जो निम्न शर्तें पूरी करते हो :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हो, जैसे— कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत घरेलू बाजार। ये लाभ विभिन्न उद्योगो की दृष्टि से विभिन्न सापेक्ष (Relative) महत्त्व के होंगे; किन्तु उनके सापेक्षिक महत्त्व की जाँच कर निर्धारण करना होगा। उद्योगो की सफलता उनको प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभों पर निर्भर है। ऐसा कोई भी उद्योग जिसको ऐसे तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नही है, उनके साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता नही कर सकता। इसलिए भारतीय उद्योगो को सरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को सरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास सरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके। यह एक निर्विवाद उप सिद्धान्त (Corollary) है, जिस आधार पर सरक्षण की सिफारिश की गई। सरक्षण का प्रमुख हेतु ऐसे उद्योगों का विकास करना है, जो सरक्षण के अभाव में विकसित नहीं हो सकते थे अथवा उनका विकास तीव्र गति से न होता।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—सरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय, "जो अन्ततः संरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो। इस शर्त की पूर्ति की सम्भावना आँकने के लिए पहिली शर्त के अनुसार 'नैसर्गिक लाभों' के सम्बन्ध मे सावधानी से विचार करना होगा। संरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगो को अस्थायी संरक्षण देना है, जो अन्ततः संरक्षण के बिना अपने बल पर खड़े हो सकें।"

सरक्षण के इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अलावा तटकर आयोग ने सरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर संकेत किया है, जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। सरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय मे कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा आधार-भूत उद्योगो को किसी भी दशा मे संरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशो से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश स्पर्धात्मक अवमूल्यन से निर्यात करते हों, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग की सरक्षण के सम्बन्ध मे आवश्यक जाँच करने के लिए, प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग

शक्ति प्रदान की जाय।" अर्थात् उद्योगों का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी नहीं आँका गया, जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग से अथवा भारी रासायनिक उद्योग सम्बन्धी अविवेकपूर्ण नीति से स्पष्ट है। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग के संरक्षण के लिए जब सन् १९२४ में जाँच की गई तो उसे संरक्षण इसलिए नहीं दिया गया कि वह अन्ततः संरक्षण के अभाव में नहीं टिक सकता। सन् १९२८ में जब इस उद्योग ने पुनः संरक्षण की माँग की और प्रशुल्क सभा ने उसके उत्पादन व्यय तथा कीमतों की जाँच की तब यह मत दिया कि उद्योग स्वयं निर्भर हो नहीं होगा अपितु उसे अधिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही संरक्षण काफी होगा कि सन् १९२७ में मैग्नेशियम क्लोराइड से जो आयात कर हटा लिया था, उसे फिर संरक्षण कर के रूप में लगा दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि इस नीति की प्रत्यक्ष कार्यवाही में कितनी कठिनाई होती है।[1]

(ii) भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध में लगाई गई शर्तें भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जब इङ्गलैंड और जापान के वस्त्र उद्योग देश में रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ़ हो सके तो भारतीय उद्योगों पर ही ऐसी शर्तें क्यों ?

(iii) तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग सभाएँ नियुक्त की, जिनके सभासदों में समय-समय परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सकी, जिसका स्थायी रूप से अनुकरण होता। यह इस नीति का सबसे बड़ा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक संरक्षण नीति के अन्तर्गत :—"अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगों को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उसने उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अलावा किसी प्रकार से उनकी सुरक्षा नहीं की। साधारणतः प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।"[2]

संरक्षण नीति का मूल्यांकन—

संरक्षण नीति का मूल्यांकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति संरक्षण की अवधि में अबाधित रही हो। (i) भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् १९३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा। (ii) प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हुए बिना नहीं रहा। फिर भी इस नीति के विरोध में जो आक्षेप है तथा जिस

1 Tariffs & Industry—Dr John Mathai, pp 11-12.
2. B. P. Adarkar—The Indian Fiscal Policy.

की श्रेणी में होगा। दूसरे, श्रम अपील अदालतों को भंग किया गया तथा त्रिमूखी न्यायालयीन व्यवस्था की गई :—(अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय तथा (स) राष्ट्रीय न्यायालय तथा इन तीनों के क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार को इन निर्णयों में परिवर्तन करने का अधिकार है तथा ऐसे परिवर्तन की आज्ञाएँ केन्द्रीय सरकार को संसद के समक्ष १५ दिन में प्रस्तुत करना होगा, जिन्हें मान्यता देने, न देने का अधिकार संसद को है। इस प्रकार अन्तिम निर्णायक संसद ही है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित के आधार पर ही कर सकेगी।

इस संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना लखनऊ में तथा औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना धनबाद और नागपुर में की गई है। नागपुर का न्यायालय श्रम न्यायालय का कार्य भी करता है। इसके अलावा दिल्ली में भी एक एड-हॉक औद्योगिक न्यायालय है। राज्य सरकारों के क्षेत्र में उनके न्यायालय तथा श्रम न्यायालय हैं।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

औद्योगिक सम्बन्धों को अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग लेने की नीति की योजना में सिफारिश की गई थी, इसलिए इसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल विदेशों में भेजा गया था। इस दल की सिफारिशों पर जुलाई सन् १९५७ में भारत श्रम-सम्मेलन में विचार हुआ तथा उनको कार्य रूप में लाने के लिए सन् १९५८ जनवरी फरवरी में एक प्रतिनिधिक सेमिनार में एक आदर्श समझौता किया गया।

इस समय २३ उद्योगों में ऐसी व्यवस्था है तथा १५ उद्योग प्रयोगात्मक तौर पर इसे अपनाने के लिए सहमत हुए हैं।* इस हेतु उत्तर-प्रदेश में प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था भी की गई है।

औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार के लिए जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं उनसे यह विश्वास है कि परिस्थिति में अवश्य सुधार होगा।

(ब) श्रम-संघ
(Trade Unions)

श्रम की अनेक विशिष्टताओं में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि श्रम एक स्थायी वस्तु नहीं है, जिसको संग्रह किया जा सके। प्रत्येक श्रमिक को अपना श्रम प्रति दिन किसी न किसी कार्य के लिये करना ही होगा। यदि वह यह चाहे कि आज मजदूरी न करते हुए इकट्ठा कल ही कर ले तो यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि बीते हुए कल की मजदूरी खत्म हो जाती है। इस विशेषता के कारण श्रमिकों में सौदा

* *India 1960.*

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गई। *यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :—*

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि में आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये *पुनर्निर्माण हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके* तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध मे जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन मूल्यों की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) *संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे संरक्षण करों* अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे: - मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एवं पूर्व स्थापित उद्योगों की जाँच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मैग्नेशियम क्लोराइड तथा चाँदी का तार, इन

---

1. *Hindustan Year Books*
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

हैं, जो अपने सङ्गठन के उद्देश्यों से विचलित होकर स्वार्थ मात्र बन जाते हैं। श्रम-संघ तो वास्तव में श्रमिकों के लिये, देश के लिए एवं उद्योग के लिए अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं, यदि वे अपने ध्येय के अनुसार उसे प्राप्त करने का वैधानिक मार्ग अपनावें।

भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—

श्रम-संघ श्रमिकों में एकता-भाव एवं सामूहिक-शक्ति जागृत कर परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बनाया हुआ एक संघ है। ऐसे श्रमिक संघ देश में कई हो सकते हैं—प्रत्येक उद्योग के अलग अलग अथवा अनेक उद्योगों का एक। श्रम-संघों का विकास इङ्गलैंड आदि पाश्चात्य देशों में तो औद्योगिक-क्रान्ति के बाद ही होने लगा था। क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्षेत्र में नई नई समस्याएँ पैदा कीं, जिनमें से एक श्रम-संघों की भी थी। परन्तु भारत में श्रम संघों का उगम और विकास केवल गत ३४ वर्षों में ही हुआ है।

श्रम-संघों का उगम एवं विकास—

भारत में श्रमिक संघों के बीज डालने का प्रमुख श्रेय श्री लोखण्डे को है, जिन्होंने सन् १८८४ में बम्बई के कारखाने के श्रमिकों का एक सम्मेलन कराया तथा श्रमिकों की ओर से तत्कालीन श्रमिक आयोग (Labour Commission) के समक्ष मजदूरों की माँग प्रस्तुत की। इन माँगों में श्रमिकों का एक दिन का साप्ताहिक विश्राम, दोपहर में आधा घन्टे का विश्राम तथा श्रमिकों की हानि पूर्ति करने की माँगें प्रमुख थीं। इसके बाद सन् १८९० में बम्बई में मिलहैण्ड्स् एसोसिएशन नामक श्रमिक-सगठन श्री लोखण्डे के सभापतित्व में बनाया गया। परन्तु इसके बाद औद्योगिक मन्दी आ जाने के कारण श्रमिक संगठनों में शिथिलता आ गई और एक तरह से इस आन्दोलन को पूर्ण विराम हो मिला। इसके बाद सन् १९०४ में जब औद्योगिक समृद्धि पुनः होने लगी तो इस आन्दोलन को बढ़ावा मिला और सन् १९१० में कामगार-कल्याण संघ की स्थापना हुई। इन्होंने कामगार समाचार नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित किया। इस प्रकार आरम्भ में जो श्रमिक-सगठन हुए, उनका हेतु श्रमिक-आयोग अथवा श्रमिक समितियों के समक्ष श्रमिकों की माँगें प्रस्तुत करना ही रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिक-आन्दोलन का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जब श्रमिक सगठनों ने नियोक्ताओं के विरुद्ध अपनी माँगें पूरी करने के लिए सामूहिक मोर्चा लेना शुरू किया। इस समय श्रमिकों की काम करने की दशाएँ अच्छी नहीं थीं, कीमतें बढ़ रही थीं और मजदूरी कम थी तथा विश्व में श्रमिक आन्दोलन का जोर था। इधर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन भी जारी पर था। इन विशेष परिस्थितियों के कारण श्रमिकों को अपनी निश्चितता एवं अयोग्यता की जानकारी हुई और सन् १९१८ में श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास में पहला लेबर यूनियन स्थापित किया, जिसके सदस्य सूती वस्त्र उद्योग के कामगार थे। इस सगठन ने श्रमिकों का दुःख दर्द

इसके बाद सन् १९२९ में उन्होंने दूसरी विशाल हड़ताल की, जिसके लिए जांच-अदालत भी बनाई गई। इस अदालत ने गिरणी कामगार संघ को हड़ताल के लिये जिम्मेदार ठहराया। इस बदनामी के कारण इस आन्दोलन को गहरी चोट पहुँची। सन् १९२९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पूरी तरह से कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गया। परन्तु आन्तरिक मतभेद के कारण नम्र दल के श्रमिक-संघों ने इस कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्री जोशी की अध्यक्षता में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना की तथा रेल्वेमेंस फेडरेशन भी अलग हो गया। फिर भी एकता के प्रयत्न होते रहे और श्री वी० वी० गिरि (सन् १९३७ में मद्रास के श्रम मन्त्री) के प्रयत्नों से इसका एकीकरण पुनः अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में हुआ।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध हुआ, जिससे इस कांग्रेस में फिर मतभेद होकर श्री एम०एन० राय के नेतृत्व में इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना हुई, जिसने सरकार को सहयोग देकर हड़तालों को रोका। पहली कांग्रेस (A.I T U.C.) पर फिर भी कम्युनिस्टों का ही अधिकार रहा और युद्ध के बाद उन्होंने हड़ताली रूप धारण किया, जिससे श्रमिक अशान्ति बढ़ी। कांग्रेस ने सन् १९४७ में एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की, जो इस समय सबसे बड़ा श्रमिक-संगठन है। इस संगठन का उद्देश्य हड़तालों की अपेक्षा समझौते की पद्धति में श्रम सुविधायें दिलवाना है। इसके बाद समाजवादी पक्ष के नेतृत्व में हिन्द मजदूर सभा की स्थापना भी हुई। इस बीच इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर का अन्त हो गया, परन्तु इसमें जो श्रम संघ थे तथा जो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये थे वे हिन्द मजदूर सभा में नहीं मिले, अपितु उन्होंने सन् १९४९ में अपना एक अलग संगठन—युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाया।

इस प्रकार भारत में चार प्रमुख अखिल भारतीय श्रम संघ हैं :—

नाम	सम्बन्धित श्रम संघ		सदस्य संख्या*	
	१९५८	१९५९	१९५८	१९५९
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C.)	७२७	६१७	९,१०,२२१	९,७१,७४०
(२) अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I T.U.C)	८०७	५५८	५,३७५६७	४,२२,८५१
(३) हिन्द मजदूर सभा (H.M.S.)	१५१	११९	१,९२,९४२	२,०३,७६८
(४) युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U.T.U.C)	१८२	२३७	८२,००१	१५९,१०९
योग	१८६७,	१५३१	१७ २२ ७३१	१७,५७,४६८

* India—1960, Table 257

सहायता देना वाञ्छनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उनके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को संरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) संरक्षण के लिए कोई एक बात ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफ़ारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय यह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के संरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) संरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक संरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा यह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति में हैं अथवा नए हैं उनको संरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी मात्रा एवं संरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हों। इसी प्रकार संरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को संरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफ़ारिशें—

(१) संरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने की सुविधाएँ देने के लिए एक संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हों। इसका निम्न कार्य हो :—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलों की जाँच।

(स) संरक्षण कर तथा आयात करों के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क सुविधाओं की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ में भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.) का भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा। अतः प्रशुल्क सुविधाओं के आदान प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारों के सम्बन्ध में, भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हों, उनके विषय में सरकार को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(i) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमें तत्सम् वस्तुओं के साथ विश्व बाजारों में प्रतियोगिता है।

(ii) वस्तुएँ ऐसी है जिनको विश्व-बाजारों में अन्य देशों के प्रति-वस्तुओं की प्रतियोगिता का भय है।

(iii) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं को ऐसी सुविधायें मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का ध्येय :—

(i) पूँजीगत वस्तुओं पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिये।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। तदनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (टेरिफ कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य है, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग में न्यूनतम् एवं अधिकतम् सदस्यों की संख्या ३ व

(१) श्रम-सघो मे बाहरी व्यक्तियो का प्रवेश सीमित करना ।
(२) निश्चित शर्तो पर श्रम-संघों को वैधानिक मान्यता देना ।
(३) श्रम सघो के कार्यकर्त्ताओ की उत्पीड़न (Victimisation) से रक्षा करना ।
(४) श्रम-सघो के निजी स्रोतो से उसके आर्थिक आधार मे सुधार करना (मजबूती लाना)। इन सुधारो से श्रम-सघो के वर्तमान महत्वपूर्ण दोषो का निवारण हो सकेगा ।

राष्ट्र-निर्माण में श्रम-संघ—

राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र मे भी राष्ट्रीय श्रम-सघो का गहरा प्रभाव पडता है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने ब्रिटेन के विकास मे काफी महत्वपूर्ण भाग लिया है। ब्रिटिश लेबर पार्टी का एटली मन्त्रि-मण्डल वहाँ की राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का राजनैतिक पहलू था। इसी प्रकार अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर तथा दी फ्रेंच कॉन्फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स अपने देश के आर्थिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डालते हैं। भारत मे भी श्रम-सघ नेता श्री जोशी के प्रयत्नो से ही सन् १६२६ मे श्रम सघ अधिनियम पास हुआ। श्रम-सघो ने कुछ हद तक श्रमिको का शैक्षणिक एवं शारीरिक उन्नति करने में भी सफलता प्राप्त की है तथा आज के चुनाव मे भी श्रमिको का महत्वपूर्ण भाग है। श्रम सघो को चाहिए कि वे श्रमिको में बचत की आदत निर्माण करने के हेतु सहकारी समितियो की स्थापना करें। वहा से उन्हे जीवनावश्यक वस्तुएं सस्ती दरो पर दी जायं तथा ये उनको गृह-निर्माण मे भी सहायक हो। इसी प्रकार श्रम उपनिवेशों मे श्रम-सघ विभिन्न प्रकार के मनोरंजनादि साधनो का आयोजन कर श्रमिको की लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, श्रमिकों के मानसिक एव शारीरिक स्तर को उन्नत कर सकते है। ऐसे लोकप्रिय श्रम-सघ ही श्रमिकों के हितो मे सरकारी नीति को भी झुकाने में सफल हो सकेंगे।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १६२६—

श्रमिक एवं नियोक्ता अथवा नियोक्ता एव नियोक्ताओ के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के हेतु बनाए गए किसी सघ की रजिस्ट्री कराने का आयोजन इस अधिनियम द्वारा किया गया। दो अथवा दो मे अधिक श्रमिकों के फेडरेशन की रजिस्ट्री भी इस अधिनियम के अन्तर्गत हो सकती है। रजिस्टर्ड श्रम संघो को निम्न अधिकार हैं :—

(१) रजिस्टर्ड सघो का समामेलित अस्तित्व एवं स्थायी उत्तराधिकार हो जाता है। ऐसे श्रम सघ चल एव अचल सम्पत्ति रख सकते हैं तथा अनुबन्ध भी कर सकते हैं।

(२) रजिस्टर्ड श्रम-सघ किसी समझौते से सम्बन्धित किसी षड्यन्त्र या

(३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री-मूल्य।

(४) मांग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर।

(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति सन् १९४७ की पूर्व संरक्षण नीतियों से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिये पोषक है। क्योंकि :—(i) वर्तमान आयोग का कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक है, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस कारण प्रशुल्क सभाएं चाहते हुये भी कुछ न कर सकती थी। (ii) उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा, केवल यह देखना है कि उद्योग देश हित में है अथवा नहीं। (iii) सुरक्षात्मक एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई भी शर्त नहीं है, जो देश की सुरक्षा, औद्योगीकरण तथा स्वय निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है। (iv) युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिए संरक्षण देने के लिये प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं पर निर्भर रहेगा। (v) पहिले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिसमें देर होती थी, परन्तु अब सरकार को प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों पर कार्यवाही की रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी। और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति की परिचायक है, जिसमें भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference)—

'शाही अधिमान' की विचारधारा काफी पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १९०२ में हुआ। इसका अवलम्बन १७वीं एवं १८वीं शताब्दी में इङ्गलैंड में अनिवार्य रूप से होता था। ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीति का यह एक अंग था, जिसमें मातृ-देश (Home Country) के निर्यातों के करों में छूट दी जाय, परन्तु यह अनिवार्यता आगे की नीति में नहीं थी। अपितु उसमें प्रत्येक देश अपनी प्रशुल्क नीति में स्वतन्त्र था, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के विभिन्न देशों से होने वाले आयात पर प्रशुल्क सुविधायें दी जाती थीं, जिससे साम्राज्य के व्यापार का अधिकतम विकास हो। ये सुविधायें साम्राज्य के उपनिवेशों में परस्पर आधार पर दी जाती थीं। इस प्रकार शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढ़ाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।"

विकास एवं हेतु—

शाही अभिमान की विचारधारा का महत्त्व १९वीं शताब्दी में अधिक स्पष्ट रीति से सामने आया, जब श्री० जोसेफ चेम्बरलेन ने इस नीति का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किया। राजनैतिक दृष्टि से प्रशुल्क सुविधाओं के परस्पर आदान-प्रदान से साम्राज्य के सदस्य देशों में एकता एवं सहकारिता की भावना बढ़ेगी तथा साम्राज्य का संगठन सुदृढ होगा। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश साम्राज्य की आर्थिक शक्ति में अपना भाग देगा, जिससे वह आर्थिक दृष्टि से स्वयं निर्भर होगा, जो सुरक्षा की दृष्टि से अधिक वांछनीय है। शाही अभिमान के इन पक्षों का समर्थन करते हुए श्री जोसेफ चेम्बरलेन ने कहा था:—"इस तरह के व्यापारिक संघ की साम्राज्य में स्थापना होना केवल पहिला ही नहीं, अपितु प्रमुख कदम है। इसके अलावा हमारे हेतु की पूर्ति के लिए एक निर्णायक कदम है, जो किसी भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ के दिमाग में आया है।" इसमें सर चेम्बरलेन का हेतु साम्राज्य के देशों की एकता एवं सहकारिता की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने का था।

क्रियात्मक पहलू—

प्रथम विश्व युद्ध काल में जब साम्राज्य के देशों में घनिष्ठता बढ़ गई, तब सन् १९१७ में शाही युद्ध सम्मेलन तथा सन् १९२३ में शाही आर्थिक सम्मेलन में इस नीति का समर्थन किया गया। फलस्वरूप सन् १९२२ में साम्राज्य के लगभग २६ देशों में यह नीति अपनाई जा रही थी। इन सब सम्मेलनों एवं सुविधाओं तथा इङ्गलैंड में मुक्त व्यापार नीति का परित्याग (सन् १९३२ में) होने के कारण, सन् १९३२ के शाही आर्थिक सम्मेलन, ओटावा में इस नीति को साम्राज्य के अधिक देशों ने अपनाया। इस सम्मेलन में ही ओटावा समझौते पर भारत और इङ्गलैंड ने हस्ताक्षर किये तथा परस्पर माल के आयात-निर्यात पर प्रशुल्क सुविधायें देने का प्रस्ताव स्वीकृत किया।

भारत और शाही अभिमान—

सन् १९०३ में यह प्रश्न भारत के सामने सर्व प्रथम आया तब भारत ने इस नीति को अपनाने का विरोध किया। भारत की आर्थिक स्थिति तथा विदेशी व्यापार का रुख देखते हुए इस नीति से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना ही अधिक थी। क्योंकि भारत में अधिकतर पक्के माल का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात् होता था, जो भारत की दृष्टि से अवांछनीय तथा औद्योगिक दृष्टि से खतरनाक था। इसीलिए इस नीति के सम्बन्ध में तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्जन ने कहा था:—"भारत के पास साम्राज्य को देने के लिए कुछ है, अधिक नहीं और उसे अल्प लाभ होगा एवं हानि ही अधिक होगी।" सन् १९१७ में भी जब यह प्रश्न फिर से उपस्थित हुआ, भारत ने इस नीति को अपनाने से इन्कार किया। परन्तु सन् १९२२ के तटकर आयोग को जब इम्पीरियल प्रीफरेंस के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कहा गया

तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' अपनाने की सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें थीं—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिसमें सन् १९२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ में ब्रिटिश उगम की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गईं। इसके पहले भी भारत से ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी। जैसे—सन् १९१८ में चाय के निर्यात कर में छूट, सन् १९१९ में चमड़े के निर्यात करों में १०% की छूट आदि। परन्तु अन्त में सन् १९३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिसमें भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उससे इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजी की दासता माननी पड़ी। फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रसंघ अधिमान के रूप में कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में श्री० टी० टी० कृष्णमाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एवं प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकर नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट

* Loksabha Debate on 25-9-54

सन् १८९४ में एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ रही थीं। अतः सरकार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८९४ में ५% आयात कर लगाना पड़ा। परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। आयात कर के लगाते ही लंकाशायर एवं मैनचेस्टर के मिल-मालिकों ने हायतोबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एवं इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपड़े के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओं को न मिले। इस प्रकार आयात कर की पूर्ति उत्पादन करों से होती थी, जिससे इसका लाभ किसी भी प्रकार से भारतीय उद्योगों को न मिले। यह नीति सन् १९१६ तक रही तथा इसका पालन भी कड़ाई के साथ किया गया। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे प्रोत्साहन के अभाव में न पनप सके और भारत अधिकांश रूप से कच्चे माल का निर्यात करने वाला कृषि प्रधान देश रह गया।

प्रथम युद्ध-काल में (i) भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने, आयात बन्द होने तथा युद्ध-जन्य आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण सामग्री की अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। (ii) भारत में सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें मजबूत होने लगी, जिससे अंग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। (iii) जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था; इसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। (iv) युद्ध के संचालन में भारत से व्यक्ति, सामग्री तथा धन में जो सहायता मिली, उसके फलस्वरूप सन् १९१७ में मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। (v) सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमें कहा—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"[1] औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था:—"औद्योगिक जिम्मेदारी लेने के लिए सरकार अपने पास वैज्ञानिक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों की पर्याप्त नियुक्ति करे, जो उद्योगों को सलाह दे सकें।" परन्तु अभाग्यवश आयोग की सिफारिशों को ताक में रखा गया।[2]

भारत में जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अंग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १९१७ में मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। इसमें भारतीयों को 'स्वयं निर्णय' का,

1. Industrial C mmiss'on, 1916.
2. Industrialization—P. S. Loknathan, p. 6.

अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति में संशोधन एवं सुधार करने का अधिकार मिला, जो भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर पहला कदम था।

भारतीयों को स्वयं निर्णय का अधिकार देने के लिये सन् १६१६ मे गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल के परीक्षण के समय संयुक्त प्रवर-समिति ने यह मत दिया :—"भारत एवं इङ्गलैंड की सरकार के सम्बन्धों को अन्य किसी बात मे इतना खतरा नहीं है जितना कि भारत की तटकर नीति से, जिसका संचालन व्हाइटहॉल से ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिए होता है और आज भी यही विश्वास है, इसमें सन्देह नहीं। इस समस्या का समुचित हल तभी सम्भव है, जब भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का अविच्छिन्न भाग होने के नाते भारत की आवश्यकता के अनुसार प्रशुल्क व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी जाय, जिसका विश्वास एक प्रतिज्ञा से दिया जा सकता है।"* फिर भी यह स्वतन्त्रता प्रत्यक्ष कार्य प्रणाली में सीमित थी, यद्यपि प्रतिज्ञा (Convention) की दृष्टि से आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे भारत पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरी ओर साम्राज्य का अविच्छिन्न अङ्ग होने के नाते साम्राज्य की नीति के बन्धन में भी था।

तटकर आयोग (Fiscal Commission) सन् १६२१—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १६२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर इब्राहीम रहिमत उल्ला थे। आयोग का प्रमुख हेतु सभी हितों को ध्यान मे रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करना, शाही अधिमान के सिद्धान्त को लागू करने की वांछनीयता पर राय देना तथा इस सम्बन्ध मे सिफारिशें करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १६२२ मे सरकार को प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश की। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जांच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी इसमे उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएं बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी है। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उसमे स्पष्ट है कि भारत प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने मे समर्थ है। ऐसी स्थिति मे भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े।

---

* Tariffs & Industry—by John Mathai.

साराश मे, उद्योगों मे विवेकात्मक संरक्षण नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्हीं उद्योगों को सरक्षण दिया जा सकता था, जो निम्न शर्तें पूरी करते हों :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हो, जैसे—कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत-घरेलू बाजार। ये लाभ विभिन्न उद्योगों की दृष्टि से विभिन्न सापेक्ष (Relative) महत्त्व के होगे; किन्तु उनके सापेक्षिक महत्त्व की जाँच कर निर्धारण करना होगा। उद्योगों की सफलता उनको प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभों पर निर्भर है। ऐसा कोई भी उद्योग जिसको ऐसे तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नहीं है, उनके साथ समान शर्तों पर प्रतियोगिता नहीं कर सकता। इसलिए भारतीय उद्योगों को सरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को सरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास सरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके। यह एक निर्विवाद उप सिद्धान्त (Corollary) है, जिस आधार पर सरक्षण की सिफारिश की गई। सरक्षण का प्रमुख हेतु ऐसे उद्योगों का विकास करना है, जो सरक्षण के अभाव में विकसित नहीं हो सकते थे अथवा उनका विकास तीव्र गति से न होता।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—सरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय, "जो अन्ततः सरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो। इस शर्त की पूर्ति की सम्भावना आँकने के लिए पहिली शर्त के अनुसार 'नैसर्गिक लाभो' के सम्बन्ध मे सावधानी से विचार करना होगा। संरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देना है, जो अन्ततः संरक्षण के बिना अपने बल पर खड़े हो सकें।"

संरक्षण के इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अलावा तटकर आयोग ने संरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर संकेत किया है, जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। संरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय मे कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा आधार-भूत उद्योगों को किसी भी दशा मे संरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशो से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश स्पर्धा-त्मक अवमूल्यन से निर्यात करते हों, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग को संरक्षण के सम्बन्ध मे आवश्यक जाँच करने के लिए, प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग

ने की थी। यह सभा उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह देगी।

शाही अभिमान (Imperial Preference) के सम्बन्ध में आयोग ने *'शर्त सहित शाही अभिमान' की सिफारिश की। इस नीति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन को* प्रशुल्क करों के सम्बन्ध में कुछ छूट दी जाय, परन्तु ऐसी छूट की आशा भारत ग्रेट ब्रिटेन से न करे। जहाँ तक साम्राज्य के अन्य देशों का सम्बन्ध था, ये सुविधाएँ परस्पर आधार पर हों। अर्थात् यदि भारत को अन्य देश सुविधाएँ देते हैं, तो भारत भी अन्य देशों को सुविधाएँ दे, अन्यथा नहीं।

विवेकात्मक संरक्षण नीति कार्य रूप में—

आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी सन् १९२३ से संरक्षण की नीति अपनाई। संरक्षण के लिये सबसे पहले माँग करने वाला लोहा एवं इस्पात-उद्योग था, परन्तु साथ ही अन्य उद्योग भी थे। इस सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने एवं संरक्षण की सिफारिश करने के लिए जुलाई सन् १९२३ में प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति की गई।

इस सभा ने सर्व प्रथम इस्पात-उद्योग तथा जिन उद्योगों में इस्पात का कच्चे माल की भाँति उपयोग होता है, ऐसे उद्योगों की जाँच की। इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग, कागज, बाँस, दियासलाई, शक्कर, भारी रसायन आदि अन्य उद्योगों की जाँच की, जिन्हें संरक्षण दिया गया। इसी प्रकार कोयला, सीमेंट, काँच और तेल उद्योग की जाँच भी प्रशुल्क सभा ने की थी, परन्तु इनको संरक्षण नहीं दिया। इस प्रकार सन् १९२३ से सन् १९३९ तक प्रशुल्क सभा ने ५१ उद्योगों का जाँच की, जिनमें नये प्रार्थी उद्योग तथा संरक्षण की पुनः प्राप्ति के लिये आवेदन तथा अन्य तान्त्रिक जाँचों का समावेश है। इन विविध जाँचों के फलस्वरूप ३५ वर्तमान उद्योगों को संरक्षण दिया गया, १० को नहीं दिया तथा ६ उद्योगों को संरक्षण देने से इन्कार किया गया।

इन विभिन्न संरक्षित उद्योगों में लोहा एवं इस्पात तथा उससे सम्बन्धित *उद्योगों को संरक्षण के लिए सर्व प्रथम सन् १९२४ में जाँच की गई। बाद में संरक्षण* चालू रखने के लिये सन् १९२६, १९३०, १९३३, १९३५ तथा सन् १९३७ में जाँच की गई। परन्तु सन् १९४७ में लोहा एवं इस्पात उद्योग को संरक्षण नहीं दिया गया और न इस उद्योग ने संरक्षण की माँग ही की। इस प्रकार इस महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योग को सन् १९२४ से सन् १९४७ तक संरक्षण मिला। इस अवधि में उद्योग ने अपना आसन स्थिर कर उत्पादन में भी उल्लेखनीय प्रगति की।* यह उद्योग आधारभूत

* देखिए तालिका—Tariffs & Industry—Dr John Mathai

वर्ष	इस्पात	कॉटन पीस गुड	गन्ने से शक्कर	दियासलाई	कागज
१९२२-२३	१३१००० टन	१७२५मि० गज	२४००० टन	८०००००ग्रोस	२४००० टन
१९३९-४०	१०७०००० ,,	४०१३ ,, ,,	१२४२००० ,,	२२०००० ,,	७०००० ,,

एवं सुरक्षा की दृष्टि से ग्रावश्यक या और तटकर ग्रायोग की सभी शर्तों को पूरा करता था, इसलिए इसे सरक्षण मिला। वस्त्र उद्योग को सन् १९२७ से सन् १९४७ तक, शक्कर उद्योग को सन् १९३१ से सन् १९५० तक संरक्षण दिया गया। इस प्रकार लोहा इस्पात, वस्त्र, शक्कर व कागज तथा दियासलाई उद्योगों को संरक्षण मिला, जिससे देश ग्रात्म निर्भर हो सके।

भारत मे दियासलाई उद्योग को सस्ता श्रम प्रदाय एवं वृहत् घरेलू बाजार प्राप्त था, इसलिए इस उद्योग पर १॥) प्रति ग्रॉस प्रशुल्क ग्रायात कर लगाने की सिफारिश प्रशुल्क सभा ने की। इस सिफारिश को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा दियासलाई पर पहिले से ही (सन् १९२२) इसी दर पर जो ग्रायात कर था, उसे सन् १९२८ में संरक्षण कर मे बदल दिया। परन्तु दियासलाई उद्योग पर उत्पादन कर लगाते ही उसका सरक्षण ग्रायात कर भी बढा दिया गया। इस कारण भारत में दियासलाई उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की है। इसी कारण ग्राज भारत मे ५० दियासलाई के कारखाने है, जिनमें १६,००० व्यक्ति काम करते है तथा उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८,००,००० बक्सों की है।

भारी रसायनिक उद्योग का विकास भारत में नवीन है। इस उद्योग को संरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क सभा ने जाँच कर दो सिफारिशें की —(i) रेलभाडा कम करना तथा (ii) उद्योग को ७ वर्ष के लिये संरक्षण। परन्तु भारत सरकार ने पहिली सिफारिश को ठुकरा दिया और दूसरी सिफारिश की सरक्षण की ग्रवधि को घटा कर ३ वर्ष किया, ग्रर्थात् १ ग्रक्टूबर सन् १९३१ से सरक्षण दिया, परन्तु वह भी १८ मास की ग्रवधि मे बिना किसी उचित कारण के समाप्त कर दिया। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध काल मे इस उद्योग ने सरक्षण के ग्रभाव में भी काफी प्रगति की तथा भारी रसायनों की माँग ग्रब बढती जा रही है। सन् १९५१ में इस उद्योग के ४६ कारखाने एवं वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० टन थी, जो भारत की वार्षिक माँग के लिए ग्रधूरी थी। सन् १९५३ में इसी उद्योग की उत्पादन क्षमता लगभग ७२,००० टन थी।

विवेकात्मक संरक्षण नीति की ग्रालोचना—

तटकर ग्रायोग ने विवेकात्मक संरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन मे से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह सरक्षण प्राप्त करने का ग्रधिकारी है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण सरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुग्रा।

(i) इस सम्बन्ध मे तटकर ग्रायोग सन् १९२५ का कथन है—"संरक्षण को ग्रार्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को सरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की

शक्ति प्रदान की जाए।'' अर्थात् उद्योगों का महत्व देश के हित की दृष्टि से कभी नहीं आंका गया, जैसा कि मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग से अथवा भारी रसायनिक उद्योग सम्बन्धी अविवेकपूर्ण नीति से स्पष्ट है। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। मैग्नेशियम क्लोराइड उद्योग के संरक्षण के लिए जब सन् १९२४ में जाँच की गई तो उसे संरक्षण इसलिए नहीं दिया गया कि वह अन्ततः संरक्षण के अभाव में नहीं टिक सकता। सन् १९२८ में जब इस उद्योग ने पुनः संरक्षण की माग की और प्रशुल्क सभा ने उसके उत्पादन व्यय तथा कीमतों की जाँच की तब यह मत दिया कि उद्योग स्वयं निर्भर ही नहीं होगा अपितु उसे अधिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही संरक्षण काफी होगा कि सन् १९२७ में मैग्नेशियम क्लोराइड में जो आयात कर हटा लिया था, उसे फिर संरक्षण कर के रूप में लगा दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि इस नीति की प्रत्यक्ष कार्यवाही में कितनी कठिनाई होती है।[1]

(ii) भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध में लगाई गई शर्त भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जब इङ्गलैंड और जापान के वस्त्र उद्योग देश में रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ़ हो सके तो भारतीय उद्योगों पर ही ऐसी शर्त क्यों ?

(iii) तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग सभाएँ नियुक्त की, जिनके सभासदों में समय-समय परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सकी, जिसका स्थायी रूप से अनुकरण होता। यह इस नीति का सबसे बड़ा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक संरक्षण नीति के अन्तर्गत :—' अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगों को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उसमें उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अलावा किसी प्रकार से उनकी सुरक्षा नहीं की। साधारणतः प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।''[2]

संरक्षण नीति का मूल्यांकन—

संरक्षण नीति का मूल्यांकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति संरक्षण की अवधि में अबाधित रही हो। (i) भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् १९३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा। (ii) प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ व्यवस्था पर हुए बिना नहीं रहा। फिर भी इस नीति के विरोध में जो आक्षेप है तथा जिस

1. Tariffs & Industry—Dr John Mathai, pp 11-12.
2. B. P. Adarkar—The Indian Fiscal Policy.

आर्थिक परिस्थिति से भारत जा रहा था, उसके होते हुए भी भारतीय उद्योगों ने संरक्षण की अवधि में काफी प्रगति की है।

(i) सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी मे जब अन्य देशों मे उत्पादन गिर रहा था उस समय भी भारत के प्रमुख उद्योगो का उत्पादन स्थिर रहा और कुछ उद्योगों का बढा भी। औद्योगिक उत्पादन की यह स्थिरता संरक्षण के कारण ही रही। (ii) इससे मन्दी के दुष्परिणामो से भारतीय उद्योगो की रक्षा हुई तथा विकास तीव्र गति से होता गया। इस्पात, कागज, दियासलाई आदि संरक्षित उद्योगो ने अपनी उत्पादन-शक्ति बढाकर देश में होने वाले आयात कम किये। इससे देश के विदेशी विनिमय की बचत हुई। (iii) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल आदि की पूर्ति (जैसे— रुई, बाँस एवं बाँस की लुगदी, गन्ना आदि) आवश्यकताएं बढाने से कृषकों को लाभ हुआ तथा देश में रोजगारी के अवसर बढे। संरक्षित उद्योग-क्षेत्र में नए-नए कारखाने खोले गये तथा उनसे सम्बन्धित सहायक उद्योगों का विकास भी हुआ। ये लाभ विवेकात्मक संरक्षण नीति की सफलता के परिचायक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि सरकार उद्योगो को संरक्षण देने मे इतनी शर्तें न रखती तो सम्भवतः देश मे आधारभूत उद्योगो का विकास तेजी से होता। परन्तु यह साम्राज्य-वादी नीति के विरोध में था और भारत सरकार केवल सीमित क्षेत्र मे ही कार्य कर सकती थी।

द्वितीय-विश्व युद्ध एवं युद्धोत्तर संरक्षण नीति—

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ते ही आयात कम हो गये तथा भारतीय उद्योगो पर युद्ध-जन्य माँग की पूर्ति करने की जिम्मेवारी आ गई। युद्ध के कारण आयात बन्द होने एवं माँग बढने से भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन मिला, जिससे संरक्षण की कोई आवश्यकता न रही। युद्ध काल मे भारतीय उद्योग युद्ध के सफल सचालन मे अधिकतम योग दे सकें, इसलिए भारत ने सन् १९४० मे यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर काल मे वर्तमान उद्योगो तथा युद्ध काल मे स्थापित नये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का भय होने पर सरकार संरक्षण देगी। युद्ध के समय जो उद्योग संरक्षण पा रहे थे, उनका संरक्षण चालू रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव से, जिससे सुरक्षा के खतरे बढ गये थे तथा युद्ध के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, उससे देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया। "उच्च आर्थिक शक्ति एवं विकसित तथा कार्यक्षम औद्योगिक कलेवर जिस देश में है, केवल वही देश अपनी सुरक्षा अथवा हमला कर सकता है।"* इसी दृष्टि से युद्धोत्तर औद्योगिक नीति की घोषणा अप्रैल सन् १९४५ मे हुई। इस नीति के अनुसार नवम्बर सन् १९४५ में युद्धकालीन प्रमुख उद्योगो की जाँच के लिए २ वर्ष के लिये एक

* Industrialization—by P. S. Loknathan.

अस्थायी प्रशुल्क सभा की स्थापना की गई तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। यह जांच तीन सूत्रों को ध्यान मे रख कर होनी थी :—

(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नही।

(२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव मे चालू रहेगा ?

(३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि मे आवश्यक है तो सरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नही होगा ?

इस सभा ने सन् १९४५ मे अगस्त सन् १९४७ के १½ वर्ष मे ४२ उद्योगो की जाच की,[1] परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढांचा बदल गया। इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ मे प्रशुल्क सभा का तीन वर्ष के लिये पुनर्निर्माण हुआ, जिसमे अन्तरिम अवधि मे स्थायी तटकर नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा निम्न कार्य और दिया गया।

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी सरक्षण अवधि ३१-३-१९४७ को समाप्त होती थी, उन्हे इस तिथि के बाद सरक्षण देने के सम्बन्ध मे जाँच करना।

(२) देश मे निर्मित वस्तुओ के उत्पादन-मूल्यो की जाँच करना[2] तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) सरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिसमें संरक्षण करो अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे सरक्षण करों अथवा सहायता मे सशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एव उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसेः – मूल्यानुसार एवं निश्चित करो का विभिन्न वस्तुओ पर लगाये गये प्रशुल्क करो का मूल्याकन एवं विदेशो को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओ का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगो पर होने वाला प्रभाव देखना।

समिति ने नये एव पूर्व स्थापित उद्योगो की जांच की तथा शक्कर, लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज, मॅग्नेशियम क्लोराइड तथा चांदी का तार, इन

---

1. Hindustan Year Books
2. यह कार्य पहिले Commodities Prices Board करते थे।

६ उद्योगों के संरक्षण को समाप्त करने तथा अन्य ३४ उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश की।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

इसकी कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगों के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था। (i) इस नवीन नीति में संरक्षण पाने वाले उद्योग का सगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था। इसमें कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र में नहीं आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की मांग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप से स्थापना न हुई हो।* (ii) संरक्षण की दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओं तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय में अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध में पहिले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। (iii) सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पड़े। परन्तु किसी भी अवस्था में संरक्षण का भार जनता पर तो पड़ेगा ही और उसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता का भी हित होगा, इसलिए ऐसा एकांगी विचार अनुपयुक्त था। (iv) अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिये संरक्षण की सिफारिश नहीं कर सकती थी। इसमें उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध में अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगों को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और इतनी थोड़ी अवधि में संरक्षण के परिणामों की जाँच भी ठीक रीति से नहीं हो सकती थी। परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा के संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस सभा ने आयात करों से संरक्षण देना पर्याप्त नहीं समझा। प्रत्युत कुछ उद्योगों की सहायता के लिए विकास कोष के निर्माण में सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एवं देशी उद्योगों के लिए पोषक है।

भारतीय तटकर आयोग सन् १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ (सन् १९४७) तथा हवाना चार्टर का उत्तरदायित्व देखते हुये भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसीलिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ में भारतीय-तटकर-आयोग की नियुक्ति की।

---

* भारतीय अर्थ शास्त्र की समस्यायें—पी० सी० जैन।

आयोग का कार्य निम्न बातों को ध्यान में रख कर प्रमुल्क नीति निश्चित करना था :—

(१) पिछले आयोग की नीति, उसके परिणाम एवं क्रियाओं की जाँच करना।

(२) भविष्य में उद्योगों को सरक्षण देने की नीति निश्चित करना :—

(अ) इस नीति का व्यवहार में लाने के लिए सुझाव देना।

(ब) इस नीति की कार्यवाही से सम्बन्धित अन्य सुझाव देना।

(३) भारत की विदेशी आर्थिक जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में विचार करना।

(४) आयोग को यह देखना था कि उसकी सिफारिशें भारतीय सविधान एव भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा से विसगत न हों।

इस आयोग ने अपना कार्य २५ जून सन् १९४९ को आरम्भ किया और २५ मई सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :—

आर्थिक उन्नति की रूपरेखा—

आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान में रख कर यह मान लिया है कि भारत में योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इसी आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं। इस आयोग ने प्रशुल्क सरक्षण को भारत के आर्थिक विकास का प्राथमिक साधन मान लिया है तथा यह आर्थिक विकास की योजना के अनुरूप होगा।

सरक्षण के लिए निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की है :—

(१) योजनाबद्ध क्षेत्र के उद्योगों को तीन समूहों में बाँटना चाहिए :—

(अ) सुरक्षा एव अन्य सुरक्षात्मक (Strategic) उद्योग।

(ब) आधारभूत एव मूल उद्योग।

(स) अन्य उद्योग।

पहिले समूह के उद्योगों को किसी भी स्थिति में राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से सरक्षण देना चाहिए, फिर उसका जनता पर भार कितना ही क्यों न हो। दूसरे समूह के उद्योगों के सम्बन्ध में प्रशुल्क अधिकारियों को यह अधिकार हो कि वे ऐसे उद्योगों को दिये जाने वाले सरक्षण का स्वरूप एव उसका परिमाण, ऐसी सहायता अथवा सरक्षण सम्बन्धी शर्तें एव प्रतिबन्धों का निर्णय करें तथा किस हद तक सरक्षित उद्योग इन शर्तों को पूरा करते है, यह देखें। तीसरे समूह के उद्योगों को सरक्षण देते समय निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय : (अ) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ, (आ) उद्योग की वास्तविक अथवा सम्भवनीय लागत, (इ) उद्योग का समुचित समय में विकास होने की सम्भावना तथा (ई) सरक्षण के बिना उसके सफल सचालन की सम्भावना। इसके साथ ही यदि उद्योग को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सरक्षण अथवा

सहायता देना वांछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को सरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) सरक्षण के लिए कोई एक शर्त ही आवश्यक न हो, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है। इसलिए आयोग ने सिफ़ारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध है, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एव पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को सरक्षण देते समय यह संपूर्ण देशी माग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के सरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) सरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक सरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन की माँग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति मे है अथवा नए हैं उनको सरक्षण मिलना चाहिये; विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को सरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इसकी सत्ता एव सरक्षण अवधि यथासम्भव कम हो, जो ५ वर्ष से अधिक न हो।

(४) संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाए जाएँ, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हों। इसी प्रकार सरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को सरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफ़ारिशें—

(१) सरक्षण-करों की वार्षिक आय के कुछ भाग से एक विकास-कोष

लगी। लङ्काशायर के वस्त्र-व्यवसायियों एवं डंडी के पटसन व्यवसायियों को दृष्टि से यह अधिनियम सन्तोषजनक नहीं था। इसलिए भारत सरकार ने सन् १६०७ में एक आयोग की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १६११ का फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ थीं :—

(१) यह विधान मौसमी कारखानों पर भी लागू किया गया।

(२) बच्चों के काम के ६ घन्टे प्रति दिन निर्धारित किये गये तथा उनकी आयु एवं शारीरिक योग्यता का प्रमाण आवश्यक कर दिया गया।

(३) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् घंटे १२ निश्चित किये गये, जिसमें ½ घन्टे का विश्राम सम्मिलित था।

(४) स्त्री मजदूरों से धुनाई कारखानों के अतिरिक्त अन्य कारखानों में रात को काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) इस अधिनियम से मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए भी काफी व्यवस्था की गई।

इस विधान को सन् १६१४-१६१६ के युद्ध-काल में कुछ शिथिल कर दिया गया था, परन्तु युद्धोत्तर-काल में श्रम-सङ्घ आन्दोलन ने जोर पकड़ा तथा सन् १६२० में भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ का सदस्य बना। इन दोनों घटनाओं से मजदूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए कानून की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलतः सन् १६२२ में चौथा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ :—

(१) २० अथवा इससे अधिक मजदूर एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानों पर यह लागू होता था।

(२) स्थानीय सरकार को अधिकार था कि वह इस विधान को किसी भी वर्कशॉप पर लागू कर सकती थी, जिसमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हों।

(३) बच्चों की कार्य करने की आयु १२ से १५ वर्ष तक निश्चित कर दी गई।

(४) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् दैनिक घन्टे ११ तथा साप्ताहिक घन्टे ६० निश्चित किये गये।

(५) सभी मजदूरों के लिए एक घन्टा दैनिक विश्राम निश्चित किया गया तथा कोई भी मजदूर लगातार १० दिन से अधिक दिन बिना छुट्टी के गैर हाजिर नहीं रह सकता था। साराशतः १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई।

(६) इसी प्रकार खतरनाक उद्योगों में १७ वर्ष से कम आयु के बच्चे एवं स्त्री मजदूरों से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इस विधान में कुछ थोड़े से संशोधन सन् १६२३ एवं सन् १६२६ में किए गये। तदुपरान्त मजदूरों की फैक्टरी में काम करने की स्थिति एवं तत्कालीन फैक्टरी

विधान का अध्ययन करने के उपरान्त सुझाव प्रस्तुत करने के लिए व्हिटले कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सन् १९३१ में अपनी रिपोर्ट दी। फलस्वरूप पाँचवाँ फैक्टरी एक्ट सन् १९३४ पास हुआ। इसकी मुख्य विशेषताएँ :—

(१) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानों में काम पर नहीं रखे जा सकते थे, परन्तु जो १२-१५ वर्ष आयु के होते थे उन्हें खतरनाक उद्योगों में नियुक्त नहीं किया जा सकता था।

(२) बाल-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे ५ निश्चित किए गये तथा उनसे रात में काम लेने पर रोक लगाई गई।

(३) वयस्क-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे १० तथा कुल साप्ताहिक घन्टे ५४ निश्चित किए गये। परन्तु दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने वाले कारखानों के लिए साप्ताहिक घन्टे ५६ नियत किए गये। मौसमी कारखानों के लिए साप्ताहिक काम के घन्टे ६० निश्चित किए गये। इस प्रकार इस अधिनियम में स्थायी एवं मौसमी कारखानों को विभक्त किया गया।

(४) १५ से १७ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों को 'युवा' की श्रेणी में रखा गया तथा डॉक्टरी प्रमाण-पत्र के बिना इनसे वयस्क व्यक्तियों का काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए अन्य आयोजन किए गये, जैसे— (अ) पीने के लिए स्वच्छ पानी, (ब) प्राथमिक औषधोपचार, (स) ५० से अधिक स्त्री मजदूर काम करने वाले कारखानों में झूले (Creches) लगाना, (द) कारखानों में नमी रखने (Artificial Humidity) का प्रबन्ध इत्यादि।

सन् १९३४ के फैक्टरी एक्ट में संशोधन करने के लिए सन् १९४६ में फैक्टरी संशोधन विधान पास हुआ। इस विधान के अनुसार :—

(१) स्थायी कारखानों के काम के साप्ताहिक घन्टे ४८ तथा मौसमी कारखानों के साप्ताहिक घन्टे ५० कर दिए गये।

(२) 'फैलाव' (Spread-over) का सिद्धान्त जो सन् १९३४ के फैक्टरी विधान द्वारा लागू किया गया था, उसका समय स्थायी कारखानों में एवं मौसमी कारखानों में क्रमशः १० और ११ घंटे कर दिया गया।

(३) अतिरिक्त मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अतिरिक्त मजदूरी की दर औसत मजदूरी की दुगुनी कर दी गई।

तदुपरान्त सन् १९४८ में उन सब फैक्टरी-एक्टों को रद्द कर दिया गया, जो उस समय तक पास किये गये थे तथा उनको एकत्रित कर नया फैक्टरी विधान बनाया। इस नये विधान की प्रमुख बातें हैं :—

(३) प्रतिनिधिक उचित विक्री-मूल्य।

(४) मांग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर।

(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति सन् १६४७ की पूर्व संरक्षण नीतियों से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिये पोषक है। क्योंकि :—(i) वर्तमान *आयोग का कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक है, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस* कारण प्रशुल्क सभाएँ चाहते हुये भी कुछ न कर सकती थी। (ii) उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा, केवल यह देखना है कि उद्योग देश हित में है अथवा नहीं। (iii) सुरक्षात्मक एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई भी शर्त नहीं है, जो देश की सुरक्षा, औद्योगी-*करण तथा स्वय निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है।* (iv) युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिए संरक्षण देने के लिये प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं पर निर्भर रहेगा। (v) पहिले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिससे देर होती थी, परन्तु अब सरकार को प्रशुल्क आयोग *की सिफारिशों पर कार्यवाही की रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी।* और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति की परिचायक है, जिससे भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

शाही अधिमान (Imperial Preference)—

'शाही अधिमान' की विचारधारा काफी पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १६०२ में हुआ। इसका अवलम्बन १७वीं एवं १८वीं शताब्दी में इङ्गलैंड में अनिवार्य रूप से होता था। ब्रिटिश शासकों की औपनिवेशिक नीति का यह एक अंग था, जिसमें मातृ-देश (Home Country) के *निर्यातों के करों में छूट दी जाय,* परन्तु यह अनिवार्यता आगे की नीति में नहीं थी। अपितु उसमें प्रत्येक देश अपनी प्रशुल्क नीति में स्वतन्त्र था, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के विभिन्न देशों में होने वाले आयात पर प्रशुल्क सुविधायें दी जाती थीं, जिससे साम्राज्य के व्यापार का अधिकतम *विकास हो। ये सुविधायें साम्राज्य के अन्तर्देशों में परस्पर आधार पर दी जाती थीं।* इस प्रकार शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।"

(१) जमीन के नीचे १३ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लेने के लिये रोक लगा दी गई।

(२) जमीन के ऊपर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों से साप्ताहिक ६० घण्टे से अधिक तथा जमीन के नीचे काम करने वाले वयस्क-श्रमिकों से ५४ साप्ताहिक घण्टों से अधिक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(३) स्थानीय सरकारों को यह अधिकार मिला कि वे स्त्री-मजदूरों को जमीन के नीचे काम कराने पर रोक लगा सकती थी।

इसके बाद ह्विटले कमीशन की सिफारिशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सन् १९३५ में खान-विधान में पुनः संशोधन किये गये। इसके अनुसार :—

(१) जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम के साप्ताहिक घण्टे ५४ तथा दैनिक १० घण्टे निश्चित किये गये।

(२) जमीन के नीचे काम करने वाले खान मजदूरों के दैनिक घण्टे ६ निश्चित किये गये और साप्ताहिक घण्टों की सीमा हटा दी गई।

(३) खान में अथवा खान पर काम करने वाले बाल श्रमिकों की न्यूनतम आयु १५ वर्ष निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार १५ से १७ वर्ष तक की आयु वाले श्रमिकों को बिना डाक्टरी प्रमाण पत्र के खानों में काम पर लेने की रोक लगा दी गई।

इस विधान में सन् १९३६, १९३७, १९४० तथा १९४६ में संशोधन हुए। इन संशोधनों के अनुसार :—

(१) यह विधान सभी खानों पर लागू होगा। इस विधान में 'खान' की स्पष्ट परिभाषा भी दी गई है।

(२) जमीन पर काम करने वाले खान श्रमिकों के दैनिक घण्टे १० तथा अधिकतम फैलाव १२ घण्टे निश्चित किया गया, जिसमें ६ घण्टे काम के बाद १ घण्टे का विश्राम भी सम्मिलित है। जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिकों के लिये यही समय ६ घण्टे है।

(३) सभी खान श्रमिकों के साप्ताहिक घण्टों की सीमा ५४ निश्चित की गई है। कोई भी व्यक्ति खान में एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता।

(४) स्त्री एवं पुरुष श्रमिकों के लिए अलग अलग लॉकर रूम एवं स्नान-गृहों का प्रबन्ध कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को मिला है। तदनुसार भारत सरकार ने आदर्श नियम (Pit Headbath Rules) बनाये है।

इन सम्पूर्ण विधानों का एकीकरण करने तथा उसको फैक्टरीज एक्ट सन् १९४८ के बराबरी में रखने के लिए, भारतीय खान अधिनियम सन् १९५२ में स्वीकृत

तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' अपनाने की सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें थीं—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क-सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार पर हो।

इस सिफारिश के होने हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिसमें सन् १९२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ में ब्रिटिश उगम की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गई। इसके पहले भी भारत में ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी। जैसे—सन् १९१८ में चाय के निर्यात कर में छूट, सन् १९१९ में चमड़े के निर्यात करों में १०% की छूट आदि। परन्तु अन्त में सन् १९३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिसमें भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उसमें इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजी की दासता माननी पड़ी। फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रमंडल-अधिमान के रूप में कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्री० टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एवं प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकर नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट

* Loksabha Debate on 25-9-54

करते हुए उन्होंने कहा—"वर्तमान समय में हमारा विचार संयुक्त राज्य को अधिमान देने की नीति परित्याग करने का नहीं है, क्योंकि इससे होने वाले लाभ हमारे पक्ष में हैं। ये अधिक न हों, परन्तु निश्चित हैं, इसलिए मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान समय में यदि हम शाही अधिमान नीति को बनाए रखते हैं तो भी भारत के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं।" इससे स्पष्ट है कि जब यह नीति भारत के विपक्ष में होगी, उसमें अवश्य ही देश-हित में परिवर्तन होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात सन् १६४६-५० के टटकर आयोगके सामने जब यह प्रश्न रखा गया, तब उसने यह निर्णय दिया :—"इन सुविधाओं के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह समझौता होने के कुछ मास पश्चात् ही द्वितीय युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसने सारी परिस्थति ही बदल गई।" साथ ही, उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर आयोग का मत है :—"भारत ने सन् १६३८-३६ में शाही अधिमान के अन्तर्गत समर्थित (Preferred) और असमर्थित (Non Preferred) माल के कुल निर्यात का ३४·१% ब्रिटेन को किया, जो सन् १६४८-४६ में २३·५% रह गया। इसी प्रकार समर्थित माल का निर्यात ४३·७% से २०·७% रह गया।" इससे स्पष्ट है कि समर्थित सामान के निर्यात के लिए भारत अब ब्रिटेन पर निर्भर नहीं है, जितना वह पहले था। दूसरे, भारत के कुल निर्यात माल में ७८% निर्यात समर्थित वस्तुओं का है, जो सन् १६३८-३६ में केवल ५८·२% था। यह प्रवृत्ति इस ओर संकेत करती है कि भारत के निर्यात व्यापार में अब शाही अधिमान का महत्त्व नहीं है और न ब्रिटेन को ऐसे अधिमान देने से भारत को कुछ विशेष लाभ ही है। स्पष्ट है कि अब भावी अधिमान नीति द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों के आधार पर अपनाई जाये, जिससे भारतीय हित की समान रूप से रक्षा हो।[1] इसी दृष्टि से टटकर आयोग ने किसी भी देश को अधिमान देते समय निम्न बातों को ध्यान में रखने की सिफारिश की है :—[2]

प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त करते समय—

(१) ऐसी वस्तुओं को सुविधाएँ मिलें, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में समान वस्तुओं से प्रतियोगिता हो। (२) ऐसी वस्तुएँ हों, जिन्हें बाजार में अन्य देशों से प्रतिवस्तु की प्रतियोगिता होती हो। (३) ऐसी वस्तुएँ कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुएँ हों।

प्रशुल्क सुविधायें देते समय—

(१) पूँजीगत वस्तुओं, (२) अन्य यन्त्र एवं यन्त्र-सामग्री, (३) आवश्यक कच्चे माल के आयात को सुविधायें दी जायें।

---

१. भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ—पी० सी० जैन।

2. R. B. I. Report on Currency & Finance 1950-51.

उद्योग हो गया। इस कारण गावो मे बेकार रहने वाली जनता शहरों के विकसित उद्योगों मे काम के लिए आने लगी। इस प्रकार भारत में विभिन्न परिस्थितियो मे श्रमिक वर्ग का उदय हुआ तथा इनकी संख्या प्रथम विश्व-युद्ध के कारण तीव्र गति से बढ़ती गई, क्योंकि इन युद्धो के कारण ही अग्रेजी शासन मे भारतीय उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत में औद्योगिक श्रमिकों के आंकडे सबसे पहले सन् १८६२ में लिए गये थे, जब इनकी संख्या ३,१६,७१६ थी और सन् १६५७ में यही ३०,८७,६६४ थी। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग, जिसमें सबसे अधिक श्रमिक काम करते है, वह कारखाना उद्योग है।[1] भारत के श्रमिकों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की रिपोर्ट मे लिखा है:—"सन् १६२१ मे कृषि श्रमिकों की संख्या २१५ लाख थी, जो सन् १६३१ की जन-गणना मे ३१५ लाख हो गई, जिसमे ८३० लाख भूमि विहीन थे। इस प्रकार इण्डियन फ्रंचाइज समिति के अनुसार सन् १६३१ मे २५० लाख श्रमिक कृषि के अलावा अन्य उद्योगो मे थे। इस प्रकार भारत के विभिन्न उद्योगो मे मे लगे हुए ६·५४ करोड कर्मचारियो मे से ५६५ लाख श्रमिक है, जो अपनी उपजीविका का साधन मजदूरी ही समझते है।"[2]

श्रमिकों का वितरण—

भारत की ३५·८६ कोटि जन संख्या की दृष्टि से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या एव उसका कृषि-निर्भर जन संख्या से अनुपात सकेत करता है कि भारत की आर्थिक दशा अविकसित है। सन् १६४६ मे कारखानो के श्रमिकों की कुल संख्या २४,३३,६८८ थी।[3]

कारखाना उद्योग मे सन् १६५६ मे सभी राज्यों मे दैनिक औसत श्रमिकों की संख्या २८,८२,३०६ और रेल उद्योग में १०,५४,८०८ थी। श्रमिकों की सबसे अधिक संख्या कारखाना उद्योग मे थी, जिनमे से केवल बम्बई मे ६,६८,२५१ श्रमिक थे। खान उद्योग के श्रमिकों मे सबसे अधिक श्रमिक कोयला उद्योग मे है, जिनकी संख्या जुलाई सन् १६५७ मे ३,७०,२४४ थी। कारखाना उद्योग मे भी इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमे नवम्बर सन् १६५८ मे ७,६८,५०६ श्रमिक दैनिक औसतन थे, जिनकी संख्या सन् १६५२ मे ७,८३,६५४ थी।[4]

इस प्रकार आज भी भारत में सबसे अधिक श्रमिक निर्माणी उद्योग में लगे हुए है तथा इनकी संख्या मे देश के औद्योगीकरण के साथ वृद्धि होगी, अतः इनकी विशेषताएं देखना भी आवश्यक है।

---

1 Labour in India & India 1960

2 "Industrial Labour in India"—I.L.O. Report of 1938, p 30.

3 India 1957 Table CLXX & CLXIX

4. India 1959.

आय, (२) मजदूरी की वर्तमान दरें, (३) उद्योग की उत्पादनशीलता तथा (४) मजदूरों की कार्य क्षमता, परन्तु यह विधेयक पास नहीं हो सका।

कुछ भी हो, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से मजदूरों को न्यायोचित मजदूरी देना समय की माँग है। यह मजदूरी निश्चित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि देश में रोजगारी के अवसर अधिकतम हों। साथ ही, वर्तमान मजदूरी की दरें एक दम न बढ़ाते हुए क्रमशः बढ़ानी चाहिए, जिससे मूल्यस्तर में स्थिरता रहे।

समुचित मजदूरी की दरें निश्चित करते समय योजना आयोग के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) श्रमिकों को राष्ट्रीय आय का उचित अंश मिले, इसलिये मजदूरी सम्बन्धी सभी सुधार सामाजिक सिद्धान्तों के अनुकूल हों तथा उनका हेतु आर्थिक विषमता अधिकतम् सीमा तक दूर करने का हो।

(२) जीवन मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिकों की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, मानसिक एवं शारीरिक आवश्यकताएँ, खतरों आदि की ओर ध्यान दिया जाय।

(३) विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों के कार्यभार का वैज्ञानिक निर्धारण किया जाय।

(४) इस सम्बन्ध में पिछड़े हुए क्षेत्रों को प्रधानता दी जाय।

(५) त्रिदल पद्धति पर केन्द्र एवं प्रान्तों में स्थायी-मुक्त सभाएँ बनाई जायँ, जो मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं का हल एवं परिस्थिति के अनुसार मजदूरी का मिलान करें।

उपसंहार—

इन सन्नियमों के होते हुए भी उनमें कतिपय दोष हैं, जैसे—एक ही विषय पर केन्द्रीय एवं राज्य सन्नियमों में विषमता, सन्नियमों का कड़ाई से पालन न होना। *अतः इस सम्बन्ध में केन्द्रीय आधार पर ही सन्नियम बनाये जायें तो अच्छा होगा तथा कम्पनी लॉ प्रशासन की तरह ही श्रम सन्नियम प्रशासन का निर्माण किया जाय तो इन अधिनियमों का कड़ाई से एवं पूरी तरह पालन हो सकेगा।*

———

करने से उद्योगो में लगाई जा सकती है। सन् १६५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की २५ करोड जन-सख्या कृषि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर है तथा शेष १० करोड जन-सख्या सगठित उद्योग, खान-उद्योग, यातायात, व्यापार एवं वाणिज्य पर निर्भर है, जिसमे स्पष्ट है कि एक ओर तो कृषि पर निर्भर जनता बढती जा रही है, जबकि कृषि योग्य भूमि मे उल्लेखनीय विकास नही हुआ है और दूसरी ओर औद्योगिक विकास हो रहा है। यहाँ पर काम करने के लिए योग्य श्रमिको का अभाव है।

(७) रहन-सहन का निम्न-स्तर—भारतीय श्रमिको के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त गिरा हुआ है। इसका कारण उनको कम मजदूरी मिलना है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जब तक उसके पास अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन न हो, अपने रहन-सहन का स्तर उन्नत नही कर सकता, अतः यह दोष श्रमिको का न होते हुए उस परिस्थिति का है, जिसमे वे पले एव रहते है। श्रमिको की आय की सूचना के अनुसार उनकी औसत आय सन् १६५६ मे केवल ११३ करोड रुपये वार्षिक थी।*

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता—

भारतीय श्रमिको की अक्षमता लोक-प्रसिद्ध विशेषता है, परन्तु भारतीय श्रमिको की अक्षमता का विचार करने के पूर्व हमे यह विचारना होगा कि क्या वास्तविक मे यह उनका दोष है? अक्षमता के कारणो का विचार करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमिको की कार्यक्षमता निम्नलिखित बातो पर निर्भर रहती है—जलवायु, मजदूरी की पद्धति, काम करने की परिस्थिति, उपयोग मे आने वाली यन्त्र-सामग्री, साधारण एव औद्योगिक शिक्षा, रहन-सहन का स्तर तथा श्रम प्रबन्ध। इन घटनाओ के विवेचन मे ही किसी देश के श्रमिको की अक्षमता अथवा कुशलता के विषय में निर्णय किया जा सकता है। इनमे से अनेक बाते तो ऐसी होती है, जो श्रमिको पर निर्भर न रहते हुए उद्योगपतियो अथवा निर्माताओ के ऊपर निर्भर रहती है। जैसे:— काम करने की परिस्थिति, काम के घण्टे, यन्त्र सामग्री, औद्योगिक शिक्षा एव श्रम प्रबन्ध। इनकी समुचित व्यवस्था की पूर्ण जिम्मेदारी नियोक्ताओ पर रहती है। इन्हीं घटको पर श्रमिको को काम करने में रुचि रहेगी अथवा नही, इसका निर्णय लिया जाता है, इसलिए यह कहना यथार्थ है कि किसी भी देश की "औद्योगिक क्षमता की जिम्मेदारी उद्योगपतियो पर होती है।" इस कसौटी पर यदि भारतीय श्रमिको की तुलना अन्य देशो के श्रमिको के साथ में की जाय तो भारतीय श्रमिको की काम करने की परिस्थिति तथा उनको दी जाने वाली सुविधाएँ अन्य देशो की तुलना में नही के बराबर हैं।

क्या भारतीय श्रमिक वास्तव में अकुशल है?—

अलेक्जेन्डर मेकरॉबर्ट के अनुसार अंग्रेज श्रमिक भारतीय श्रमिक मे ४ गुना

* India 1960.

अधिक कार्यक्षम है परन्तु इस प्रकार की व्यक्तिगत आधार पर की गई तुलना इतनी विश्वसनीय नहीं कही जा सकती, जितनी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की है। इस सम्बन्ध में हैराल्ड बटलर के निरीक्षण के अनुसार योरोपीय देशों की तुलना में भारतीय श्रमिकों की अक्षमता निर्विवाद सत्य नहीं है। इसके साथ ही भारतीय श्रमिकों को पूरी तरह अक्षम भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु कुछ उद्योगों में तो वह इतना कार्यक्षम है, जितना अन्य देशों का श्रमिक है। उदाहरणस्वरूप, टेक्सटाइल इण्डस्ट्री में साधारणतः प्रति श्रमिक एक करघे की देखभाल करता है, परन्तु अहमदाबाद तथा बम्बई की कुछ मिलों में एक श्रमिक २ से ६ यन्त्रों तक की देखभाल करता है। इस अवस्था में उसके काम के घण्टे कम और अधिक मजदूरी मिलती है। इसी प्रकार अन्य मिलों के प्रबन्धकों का भी यह कहना है कि लंकाशायर मिलों की तुलना में उनका उत्पादन ८५% होता है, परन्तु उनके श्रमिक शिक्षित होते हैं और साधारण श्रमिकों से उन्हें अधिक मजदूरी मिलती है। श्री बटलर का साधारण श्रमिकों के विषय में यह निष्कर्ष है कि भारतीय श्रमिक योरोपीय श्रमिकों की अपेक्षा २५% से ५०% कार्यक्षम है, जो भिन्न-भिन्न उद्योगों में भिन्न-भिन्न है। भारतीय अक्षमता के कारणों में श्री बटलर ने श्रमिकों की दरिद्रता, अस्वास्थ्य तथा निरक्षरता आदि कारणों को प्रमुख बताया है, जिनसे उनकी अक्षमता विश्व विख्यात हो गई है। भारतीय श्रमिकों से कार्यक्षमता की तभी आशा की जा सकती है, जब इन दोषों का निवारण होगा एवं कार्य करने की स्थिति में सुधार होगा।

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) अस्थाई प्रकृति —इस प्रवृत्ति के कारण श्रमिक फसल के समय, विशेष उत्सवों आदि के समय अपने गाँव जाते रहते हैं, जिससे भारत में अभी तक स्थायी श्रमिक-वर्ग का निर्माण नहीं हो सका है। इस प्रकार श्रमिकों का गाँवों के साथ सम्बन्ध रहता है और कारखानों में उनकी उपस्थिति पूरे वर्ष तक नियमित नहीं रहती, जिसका प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर होता है।

(२) निरक्षरता—भारतीय श्रमिक ही क्या अपितु ९०% भारतीय जनता अशिक्षित है। इस कारण उनमें जिम्मेदारी की भावना नहीं आती तथा उन्हें काम करना है, इस कारण ही वे काम करते हैं, अतः वे अपनी कार्यक्षमता को वांछित स्तर पर नहीं ला पाते। इसके साथ ही यन्त्रों पर काम करने के लिए थोड़ी बहुत औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। परन्तु भारतीय मिलों में औद्योगिक शिक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, न उम्मेदवारी प्रथा ही विशेष प्रचलित है। फलतः मजदूर को न तो साधारण शिक्षा ही मिलती है और न औद्योगिक शिक्षा ही। इस कारण श्रमिक कार्यक्षम नहीं हो पाते।

(३) दरिद्रता एवं रहन-सहन का निम्न स्तर—भारतीय श्रमिक गाँवों से शहरों के कारखानों में काम करने के लिए केवल अपनी आय बढ़ाने के लिए

अथवा साहूकारों से अपना पीछा छुड़ाने के लिए आते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी गिरी हुई होती है कि उनको जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी पूर्णतया नहीं मिलने पाती। इस कारण वे सदैव ऋण-भार से दबे रहते है। इसका मानसिक प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर बुरा होता है।

(४) कम मजदूरी—भारतीय श्रमिकों को मजदूरी इतनी कम मिलती है, जो उनके रहन सहन के व्यय के लिए अपर्याप्त होती है। फिर वह साधारण आराम की वस्तुएँ कहाँ से प्राप्त करें, कैसे अपना मनोरंजन करें तथा कार्यक्षमता को बढावें? इसके अलावा काम करने की परिस्थिति एवं कौटुम्बिक जीवन का अभाव ये दो उनके दैनिक जीवन के ऐसे पहलू है, जिस कारण वह अपना दुःख भूलने के लिए शराबखोरी में पड जाता है।

(५) अस्वास्थ्य—उपरोक्त कारणों से उसका मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य खराब होता है और जीवन स्तर नीचा होता है। इस कारण उसका जो भी साधारण स्वास्थ्य होता है, नष्ट हो जाता है, जिससे वह कार्यक्षमता का वांछित स्तर प्राप्त नहीं कर सकता।

(६) काम करने की परिस्थिति—इसमें श्रमिकों के काम के घण्टे, कारखाने में उनके लिए उपलब्ध सुविधाएँ आदि का समावेश होता है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय श्रमिकों के काम करने के घण्टे भारत की जलवायु की दृष्टि से बहुत अधिक होते है। यह मान भी लिया जाय कि पहले की अपेक्षा फैक्टरी एक्ट द्वारा काम के घंटे कम कर दिये गये हैं, फिर भी वे अधिक ही हैं। साथ ही, भारत में ऐसी बहुत कम मिलें है, जहाँ श्रमिकों के लिए आवश्यक सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था हो। इस कारण उनको मिलों में काम करने में रुचि नहीं रहती, जिससे उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है।

(७) श्रमिकों की दोषपूर्ण भर्ती—भारतीय कारखानों में मजदूरों की भर्ती करने का ढंग भी अजीबोगरीब है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भारत में नये श्रमिकों की भर्ती जॉबर करते हैं, जो श्रमिकों से भर्ती करने के लिए, उनकी तरक्की के लिए नजराना लेते हैं, जिससे बेचारा मजदूर जो पहले से ही कम मजदूरी पाता है, उनकी मजदूरी और भी कम हो जाती है। जॉबर की मर्जी पर ही अधिकांशतः मजदूरों को निकाल दिया जाता है, इसलिए भी मजदूरों को उन्हें खुश करने के लिए समय-समय पर उनके हाथ गरम करने पडते हैं। दूसरे, भर्ती करते समय श्रमिकों की साधारण शिक्षा, उनका अनुभव, उनकी रुचि इत्यादि बातों पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

(८) जलवायु—जलवायु का कार्यक्षमता पर बडा गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि लगातार काम करना सम्भव बनाने के लिये समशीतोष्ण जलवायु अधिक लाभकर होती है। इसके विपरीत गरम जलवायु काम करने में शिथिलता लाती है

तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी सुखकर नहीं होती। इस कारण भी भारतीय मजदूरों की कार्यक्षमता पर बुरा असर पड़ता है।

(९) गृह-समस्या—भारत में सभी बड़े-बड़े औद्योगिक शहरों में गृह-समस्या गम्भीर है। मजदूरों को रहने के लिये मकान हो क्या, बल्कि अलग अलग कमरे भी नहीं मिलते, जिसमें एक ही कमरे में ४ से ८ मजदूर तक रहते हैं। फिर ये कमरे कारखाने के आस पास हों, ऐसा भी नहीं है। इसमें मजदूरों को परेशानी तो होती ही है और साथ ही एक कमरे में इतने मजदूरों का रहना भी स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। इस वजह से उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(१०) दोषपूर्ण प्रबन्ध—दोषपूर्ण प्रबन्ध में श्रम-प्रबन्ध में परस्पर सहकारिता का अभाव, कार्य का अनुचित विभाजन, प्रबन्धकों का अनुचित व्यवहार तथा प्रबन्धकों की श्रमिकों के प्रति संकुचित धारणा तथा घिसी हुई यन्त्र-सामग्री आदि का समावेश होता है, जिस पर श्रमिकों की कार्यक्षमता निर्भर रहती है। दोषपूर्ण प्रबन्ध होने के कारण श्रमिकों पर अकुशलता की सारी जिम्मेवारी नहीं लादी जा सकती।

कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए सुझाव—

श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे औद्योगिक संगठन के उक्त दोषों को तथा श्रमिकों के दोषों को दूर करने का प्रयत्न हो। इनमें से श्रमिकों के दोषों को दूर करने के लिए निरक्षरता-विरोधी आन्दोलन शुरू होना चाहिए। मिलों की ओर से प्राथमिक विद्यालय खोले जाने चाहिये, जहाँ पर श्रमिकों के बालकों को एवं आश्रितों को मुफ्त शिक्षा मिलनी चाहिए। इसके साथ ही इन विद्यालयों में रात में वयस्क श्रमिकों की शिक्षा का प्रबन्ध भी होना चाहिए, जिससे वर्तमान एवं आगामी श्रमिक शिक्षित हो सकेंगे और उनके दृष्टिकोण का विकास होकर वे अधिक जिम्मेवारी से काम कर सकेंगे। इस प्रकार के प्राथमिक विद्यालय जे० के० मिल्स कानपुर ने जे० के० इण्डस्ट्रीज की ओर से देहातों में खोले हैं, परन्तु वर्तमान श्रमिकों के लिए कुछ नहीं किया। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य केवल टाटा इण्डस्ट्रीज में ही देखने को मिलता है, जहाँ श्रमिकों एवं कर्मचारियों को साधारण एवं औद्योगिक यान्त्रिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है। भारत सरकार ने भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य की है, परन्तु वह केवल कागजों में ही है।

श्रमिकों का जीवन-स्तर एवं स्वास्थ्य उन्नत करने के लिए उन्हें पर्याप्त मजदूरी मिलनी चाहिये। इस दिशा में सरकार आवश्यक न्यूनतम् मजदूरी एक्ट के अनुसार आवश्यक कदम उठा रही है, जिसमें श्रमिकों की न्यूनतम् मजदूरी उनके लिये पर्याप्त हो। इसके साथ ही श्रम-सुधार कार्य की ओर मिल मालिकों को अधिक ध्यान देना चाहिए। सन् १९२७ की इण्डियन टैरिफ बोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार इस दिशा में बम्बई की मिलों से बम्बई के आसपास की मिलों में भी अधिक सुधार कार्य हुआ है, जहाँ श्रमिक एवं नियोक्ताओं में परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे हैं। नियोक्ताओं को चाहिये कि वे अपनी

मिलो मे मजदूरो के लिए तथा स्त्री-मजदूरो के लिये आवश्यक सुविधायें प्रदान करें। मजदूरो के लिए सस्ते दरों पर कैण्टीन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यथासम्भव प्रत्येक मिल मे एक सहकारी उपभोक्ता समिति होनी चाहिए, जहाँ से श्रमिक सस्ती कीमत पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद सकें। मिल मालिको को आवश्यक पूँजी देकर सहयोग देना चाहिए। समिति से प्राप्त लाभ को श्रमिको को बाँट दिया जाय, जिससे उनकी आय मे वृद्धि होगी। श्रमिको की औद्योगिक शिक्षा के लिये सिनेमा का उपयोग अच्छी तरह से किया जा सकता है। श्रमिको का स्वास्थ्य सुधारने के लिये खेलो की सुविधा सभी श्रमिको को मिलनी चाहिये तथा मिल मे वार्षिक स्वास्थ्य प्रदर्शिनी होनी चाहिए, जिसमे केवल मिल के श्रमिक ही हिस्सा ले सकें। इनमे स्त्री-श्रमिक, पुरुष-श्रमिक, एवं श्रमिको के बच्चो के अच्छे स्वास्थ्य के लिये तीन तीन इनाम (अर्थात् ९ इनाम) दिये जाने चाहिए, जिससे प्रत्येक श्रमिक प्रतियोगिता की भावना से अपना स्वास्थ्य बनाने का प्रयत्न करेगा। कारखानो की इमारतें बनाते समय स्वच्छ हवा, प्रकाश, पानी इत्यादि की ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। वर्तमान मिलो मे इस ओर फैक्ट्री एक्ट द्वारा आवश्यक सुधार कर दिये गये है। गृह-समस्या सुलझाने के लिये समुचित प्रयत्न किये जाने चाहिये। इस दिशा मे भारत सरकार ने श्रमिको के लिये गृह योजना बनाई है, जो कार्यान्वित हो रही है।

इन प्रयत्नो से ही श्रमिको की कार्यक्षमता बढ सकेगी। 'भारतीय मजदूर अक्षम है' इसका यह अर्थ नही कि वह कार्यक्षम हो ही नही सकता। आवश्यकता प्रयत्नो की है। यह तभी हो सकता है जब मिल मालिक अपना वर्तमान रुख बदलकर श्रमिको के साथ सम्पर्क रखने का प्रयत्न करेंगे। इस दिशा मे सुधार करने के लिए राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं, जिनका यथास्थान विवेचन किया गया है।

———

अध्याय ८

भारतीय श्रमिकों की गृह समस्या

(Housing Problem of Indian Labour)

"भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है। उनके रहने के स्थान मैलीकुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।"

—नेहरू

"मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।"

भारत एक ऐसा विशाल देश है, जिसमे समस्याओं की कमी नहीं है। इसलिए एक भाषण के दौरान मे श्री नेहरू ने कहा था :—"भारत मे प्रत्येक मनुष्य ही एक समस्या है।" तो फिर ऐसी स्थिति मे जहाँ हमारा औद्योगिक विकास नवीन है, वहाँ पर श्रमिकों के आवास की समस्या होनी ही चाहिए। यह एक ऐसी समस्या है, जो आज केवल श्रमिकों तक ही सीमित न रहते हुये प्रत्येक मध्यवर्गीय कुटुम्ब की समस्या हो गई है।

गृह-समस्या का हल आवश्यक—

गृह-समस्या का समुचित हल होना भी आवश्यक है, क्योंकि गृह समस्या का अथवा निवास स्थानो की कमी एवं उनकी अनुपयुक्तता का प्रभाव मानव की कार्य-क्षमता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके काम के अनुसार अच्छा तथा सुविधाजनक मकान रहने के लिए न मिले, तब तक वह एकाग्रता से काम नहीं कर सकता और न कौटुम्बिक वातावरण ही उसे मिल सकता है। घर के आस-पास का वातावरण भी उसके लिए पोषक होना चाहिए। कारण, मनुष्य के स्वास्थ्य पर, उसके मानसिक विचार पर तथा जीवन-स्तर पर आवास स्थान का गहरा एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही शहरों का विकास होते हुए भी गृह-समस्या आज अत्यन्त जटिल है। क्योंकि किसी भी शहर में आज रहने के लिए पर्याप्त एवं सुविधाजनक मकान नहीं मिलते और यदि मिलते भी हैं तो उनका किराया इतना अधिक होता है कि जो साधारण आय वाले व्यक्ति की शक्ति के बाहर होता है। मजदूरों की हालत तो साधारण मध्यवर्गीय समाज से भी बदतर है। कानपुर में पं० नेहरू ने २ अक्टूबर सन् १९५२ को श्रमिकों के निवास स्थान का निरीक्षण करते हुये कहा था:—"भारतीय श्रमिकों की निवास-समस्या

बहुत ही जटिल है और उनके रहने के स्थान मैली-कुचैली गली (Slums) से अच्छे नहीं कहे जा सकते।" ऐसे मकानों में रहने वाले श्रमिकों से कभी कार्यक्षमता की आशा की जा सकती है, जिनको रहने के लिए न तो काफी जगह ही है और न स्वच्छ हवा, प्रकाश अथवा स्वास्थ्यप्रदायक वातावरण ही। इस समस्या को सुलझाने के लिये भारतीय उद्योगों ने किंचित भी ध्यान नहीं दिया है। यह समस्या उन शहरों में अधिक विकट है, जहाँ कारखानों के इर्द-गिर्द मजदूरों के उपनिवेश बनाने के लिए काफी खुली जगह अथवा मैदान भी नहीं है। हाँ, जहाँ पर मिलें ग्रामीण क्षेत्रों में अथवा अविकसित शहरों में बनाई गई हैं, वहाँ पर इस समस्या का हल सन्तोषजनक ढंग से किया जा सकता है।

बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े बड़े शहरों में तो श्रमिकों के मकानों की हालत बहुत ही खराब है, क्योंकि इन शहरों का विस्तार भी इतना अधिक हो गया है कि वहाँ पर एक इंच जगह भी फालतू मिलना असम्भव है। फिर जो जगह है भी उसकी कीमतें बहुत अधिक हैं, जो मजदूर नहीं खरीद सकता और न उसके पास इतना धन ही है कि स्वयं मकान के लिए जमीन आदि खरीद कर बनवा सके, न उद्योगपतियों ने ही इस ओर विशेष ध्यान दिया है। बम्बई में मजदूरों की चालें अत्यन्त ही अस्वास्थ्यकर हैं, जहाँ एक-एक कमरे में ६ ७ श्रमिक रहते हैं, जिन्हें न तो कौटुम्बिक वातावरण ही मिलता है और न स्वच्छ हवा एवं प्रकाश ही। इस सम्बन्ध में श्री हर्स्ट ने लिखा है :—"जिसमें से दो व्यक्ति भी एक साथ नहीं जा सकते, ऐसी तंग गली में घुमने के बाद इतना अंधेरा था कि हाथ के ढूँढने पर दरवाजा मिला। दिन के १२ बजे कमरे की यह दशा थी कि उसमें सूर्य प्रकाश किंचित भी नहीं था। दियासलाई जलाने पर मालूम हुआ कि उस कमरे में भी अनेक श्रमिक रहते हैं।" यह आँखें देखी बात है। ये चालें तीन अथवा चार मंजिल की बनी हुई हैं और कहीं कहीं एक कतार में तीन से चार तक कमरे होते हैं, जिनमें जाने के लिये २ फीट अथवा ३ फीट की गली कमरों की दो कतारों के बीच होती है। ऐसी दशा में उन कमरों में हवा एवं सूर्य-प्रकाश न हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि मकान बनाते समय ही हवा एवं प्रकाश के लिये बन्दी कर दी जाती जाती है। कलकत्ते की दशा भी बम्बई से अच्छी नहीं है।

ऐसी कोठरियों में रहने वाले श्रमिक बीमारी के जल्दी शिकार होते हैं और समय समय पर गावों में जाते रहते हैं, जिससे उपस्थिति में अनियमितता आती है, स्वास्थ्य खराब होता है तथा वे बुरी-बुरी आदतों में पड़ जाते हैं। क्या इन श्रमिकों से कार्यक्षम काम की आशा की जा सकती है?

गृह-समस्या के हल के प्रयत्न—

श्रमिकों की गृह-समस्या को समुचित हल करने का प्रयत्न अनेक उद्योगों ने किया है। *यहाँ पर श्रमिकों की स्थिति सन्तोषजनक है तथा उनको रहने के लिए अच्छे* मकानों की सुविधा भी दी गई है, जिसमें श्रमिक की हैसियत के अनुसार १ कमरा,

१ बरामदा, रसोईघर, गुसलखाना तथा खेल-कूद के मैदान की व्यवस्था है। इस दिशा में जमशेदपुर, बर्नपुर, जे० सी० मिल्स, टी० पी० टू० फैक्टरी एवं एलगिन मिल्स, कानपुर, जे० सी० मिल्स, ग्वालियर, सीमेन्ट कम्पनी, बामोर, डालमियाँ नगर तथा एम्प्रेस मिल्स एवं मॉडेल मिल्स, नागपुर का उल्लेख किया जा सकता है। टाटानगर में तो सम्पूर्ण नगर की रचना श्री टाटा द्वारा अपनी पूँजी से की गई है। इसके अलावा बम्बई, कलकत्ता तथा कानपुर की नगरपालिकाओं तथा इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट ने भी कुछ कार्य किया है। परन्तु भारत की इस समस्या की विशालता की दृष्टि से ये प्रयत्न समुद्र में पानी की कुछ बूँदों की भाँति ही हैं, अतः इनमें सुधार के व्यापक कार्यक्रम सरकार, नियोक्ता तथा श्रम-संघों द्वारा निर्धारित किये जाने चाहिए।

सरकार की गृह-निर्माण योजना—

घरों की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४७ में एक गृह-निर्माण योजना बनाई थी। परन्तु पूँजी की कमी तथा अधिक खर्चीली होने के कारण इस योजना को छोड़ दिया गया।

किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५०-५१ के बजट में श्रमिक गृह-निर्माण के लिए बम्बई प्रान्त के लिए १६ लाख रुपये तथा पंजाब, मध्य-भारत बिहार एवं उड़ीसा के लिए १० लाख रुपए का आयोजन किया। फिर भी इस कार्य को प्रोत्साहन देकर समस्या का हल होना आवश्यक था।

इसलिए अगस्त सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने एक नई गृह-निर्माण योजना बनाई तथा सन् १९५२-५३ के बजट में ९ करोड़ रुपये का प्रबन्ध था। इस राशि में से ७'१६ करोड़ रुपये औद्योगिक गृह-निर्माण तथा शेष राशि वर्तमान गन्दे श्रमिक आवासों (Slums) की स्वच्छता के लिए व्यय होना था। इस योजना के अनुसार विभिन्न राज्यों में २८,५०० औद्योगिक गृह-निर्माण होने थे, जिसके लिए इस राशि में से ऋण एवं सहायता दी जाती है। इस हेतु गृह-निर्माण का विभाजन तीन वर्गों में किया गया था:—

(अ) जो राज्य सरकारों अथवा वैधानिक संस्थाओं (जैसे इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट आदि) द्वारा बनाये जाते।

(ब) जो नियोक्ताओं द्वारा बनाये जाते।

(स) जो सहकारी गृह-निर्माण-समितियों द्वारा बनाये जाते।

पहिले वर्ग के मकानों के लिए केन्द्रीय सरकार लागत का ५०% मूल्य सहायता के रूप में तथा शेष ५०% २५ वर्ष में भुगतान किये जाने वाले ऋण के रूप में देती थी। दूसरी एवं तीसरी श्रेणी में आने वाले मकानों के लिए सरकारी सहायता

कुल लागत के २५% थी तथा २५% तक ऋण के रूप में दिया जाता था, जिसका १५ वर्ष में भुगतान होना था। इस श्रेणी के मकानों की लागत के लिए ३७½% तक ऋण दिया जा सकता था, परन्तु २५% से अधिक राशि के लिए ब्याज की दर अधिक थी। अन्य सभी ऋणों पर "न लाभ और न हानि" आधार पर ब्याज लिया जाता, जो उस समय ४½% था। इस सहायता का परिणाम श्रमिक आवासों के किराये कम होने में होना, जो किसी भी दशा में श्रमिकों की आय के १५% से अधिक न होना चाहिए था। इस योजना की घोषणा काफी देर से होने के कारण सन् १९५२-५३ में केन्द्रीय सरकार ने १८,४४६ मकानों के लिए अनुदान स्वीकृत किए। "इस प्रकार सन् १९५२ से ३१ मार्च सन् १९५३ तक ४,६१,०२,७६७ रुपए के अनुदान मध्य-भारत, सौराष्ट्र, हैदराबाद, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बम्बई, यू० पी० राज्यों को १५,६९० मकानों के निर्माण के लिए स्वीकृत किए गए। इसी प्रकार नियोक्ताओं को १,४०५ मकान बनवाने के लिए २०,५८,६३५ रुपए स्वीकृत किये गये।"*

संशोधित योजना—

इसी योजना को सरकार ने कुछ थोड़े से परिवर्तनों के साथ ३१ मार्च सन् १९५६ तक के लिए लागू कर दिया है। इस संशोधित योजना में सन् १९५३-५४ के लिए ७.६७ करोड़ रुपए का आयोजन किया गया है जिसमें सन् १९५२-५३ की राशि का भी समायोजन किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९५३-५४ में २२,००० मकानों का निर्माण होगा, जिसमें १४,००० राज्य सरकार तथा राज्य गृह निर्माण सभाओं द्वारा, ३,५०० सरकारी गृह निर्माण समितियों द्वारा तथा ४,५०० नियोक्ताओं द्वारा बनाये जायेंगे। इस प्रकार यह योजना पूरे पंच-वर्षीय योजना की अवधि में लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत कुल ३८.५ करोड़ रुपए के व्यय का आयोजन है। इस संशोधित गृह निर्माण योजना की घोषणा जुलाई सन् १९५३ में हुई। इसके अनुसार— (१) १०% श्रमिकों के मकान दो कमरे वाले होंगे तथा ऐसे श्रमिकों को दिए जायेंगे जिनकी मासिक आय १५० रु० अथवा इससे अधिक है। (२) मकानों के लिए अनेक नमूने दिए गए हैं, जिससे गृह निर्माण के स्थानीय साधनों का अधिकतम् उपयोग हो सके। (३) अनुदान एवं ऋणों के अनुपात में भी परिवर्तन कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य सरकार एवं प्रान्तीय गृह-निर्माण सभाओं को अनुदान का ६६⅔% मकान पूर्ण बनाने पर तथा ३३⅓% उसके अंकेक्षित आँकड़े आने पर दिया जायगा। नियोक्ता एवं सहकारी समितियों को २०% मकान पूर्ण हो जाने पर तथा ८०% लागत के अंकेक्षित आँकड़े आने पर दिया जायगा। इसी प्रकार ऋण राशि भी तीन प्रभागों में दी जायगी :—

---

* Report of the Ministry of Workers, Housing & Supply for 1952-53.

	राज्य-सरकार एवं राज्य गृह-निर्माण सभाओं को	नियोक्ता एवं सहकारी समितियों को
योजना की स्वीकृति पर	३३⅓%	२५%
नींव बन जाने पर (On rising the plinth level)	३३⅓%	५०%
छत तक बन जाने पर (On reaching roof level)	३३⅓%	२५%

(४) सहकारी समितियों को गृह-निर्माण कार्य में प्रोत्साहन देने के लिए उनको दी जाने वाली ऋण राशि लागत के ५०% कर दी गई है, जिसका भुगतान २५ वर्ष की किश्तों में किया जा सकेगा। पहिले यही राशि लागत के ३७½% तथा भुगतान की अवधि १५ वर्ष थी। (५) पहिली योजना में मकानों के स्वामित्व के सम्बन्ध में शंका थी, जिस कारण सहकारी समितियों एवं नियोक्ताओं ने योजना से विशेष लाभ नहीं उठाया, इसलिए अब इस शंका का समाधान भी कर दिया गया है। जो मकान सहकारी समितियाँ एवं नियोक्ताओं द्वारा बनाये जायेंगे उन पर उन्हीं का स्वामित्व रहेगा, परन्तु उनको सरकारी समझौते की शर्तें पूरी करनी होंगी। (६) किराये के सम्बन्ध में भी स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे बम्बई एवं कलकत्ते में विभिन्न प्रकार के मकानों का किराया १०) से ३० रुपये मासिक तथा अन्य शहरों में १०) से १६) रुपये तक होगा, जिसमें नगरपालिका एवं अन्य करों का समावेश है।[1]

इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने ३१ दिसम्बर सन् १९५८ तक निम्न सहायता दी :—[2]

(करोड़ रुपये में)

माध्यम	ऋण	सहायता	योग	स्वीकृत गृहों की संख्या
राज्य सरकारें	१६·७७	१६·०६	३२·८३	६६,८६२
नियोक्ता	१·६२	१·२९	२·९१	१६,७७२
श्रम सहकारिताएं	०·४०	०·२०	०·६०	२,४६७
योग	१८·७९	१७·५५	३६·३४	१,४६,१०१

इनमें से दिसम्बर सन् १९५९ तक ८५,९८८ मकान बन चुके हैं तथा शेष विभिन्न निर्माण-अवस्था में हैं।

प्रथम पंच वर्षीय योजना में औद्योगिक श्रमिकों के गृह-निर्माण के हेतु ४८·२४

1. Hindustan Standard, 25-7-1953.
2. India 1960.

करोड रु० का आयोजन था, जिसमे केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो का भाग क्रमश: ३८'५ तथा १०'१६ करोड रु० था। इस राशि का नियोजन केन्द्रीय सरकार ने सन् १६५३-५४ मे सन् १६५५-५६ के बजट में पूर्ण कर दिया है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे गृह निर्माण के लिए १२० करोड रु० का आयोजन[1] है, जिसमे से औद्योगिक श्रमिको के गृह निर्माण के लिए ४५ करोड रुपये का १,२८,००० घरो के निर्माण मे योजना अवधि मे व्यय होगा। इसी प्रकार २० करोड रु० श्रमिको की गन्दी बस्तियो के उद्धार के लिये व्यय होगे। इस राशि मे ५०,००० श्रमिक परिवारो को अच्छे मकान दिये जायेंगे तथा ५०,००० परिवारों को विकसित भूमि दी जायगी, जहाँ वे निजी मकान बना सकेंगे।

दूसरी पच-वर्षीय योजना के प्रथम ४ वर्षों मे श्रमिको के लिए ४६,५८० मकान बनाने की अनुमति दी गई थी। दिसम्बर सन् १६५६ के अन्त तक ४४,६२६ मकान बनाए गए थे।[2] इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त मे १ लाख मकान बन चुके होगे तथा २०,००० निर्माण की विभिन्न सीढियो पर होगे, ऐसा अनुमान है।[3] चूंकि योजना-काल मे योजना के अन्तर्गत अपेक्षित प्रगति नही हुई इसलिए राज्य सरकार, नियोक्ता एव श्रमिको की सलाह से इस योजना का परीक्षण एक पेनल (Panel) करेगी। तीसरी योजना काल मे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, कानपुर और अहमदाबाद की गन्दी श्रमिक बस्तियो की सफाई की जायगी, जिसके लिए सरकारी सहायता का अंश ५०% से ६२½% बढाया गया। इसमें केन्द्रीय सरकार का हिस्सा २५% से बढा कर ३७½% किया गया है। तीसरी योजना मे आवास एव निर्माण कार्यों पर १,१२५ करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है।

कोयला खान एवं अन्य औद्योगिक श्रमिकों के लिए—

केन्द्रीय सरकार की दूसरी योजना कोयले की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिए ५०,००० मकान बनाने की है। इसके सिवा कोयला खान श्रमिको की सशोधित गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ३०,००० मकानो के निर्माण की स्वीकृति दी गई है। साथ ही, एक नवीन गृह-निर्माण योजना भी लागू की गई है, जिसके अन्तर्गत ३०,००० मकानो का निर्माण होगा। इस हेतु १'१४ करोड रुपये का आयोजन कोयला खान श्रम-कल्याण निधि से किया गया है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत इसी कोष से *गृह निर्माण के हेतु ८ करोड रुपया व्यय किया जायगा। इस योजना के अन्तर्गत* २,०५० मकान बनाए गए है। तथा ११३ निर्माण अवस्था मे है। इसी प्रकार नवीन गृह-निर्माण योजना के अन्तर्गत ६,६३५ मकानो का निर्माण हो रहा है।[4]

---

१. सन् १६५८-५६ में इसे घटाकर ८४ करोड रु० किया गया।
२. भारतीय समाचार—जून १, १६६०।
3. Third Five Year Plan—A Draft Outline
4. India 1960.

प्लाटेशन लेबर एक्ट, १९५१ के अनुसार दक्षिण भारत में सन् १९५१ में ४,६१५ तथा उत्तरी भारत में १०,१८३ मकान ३० सितम्बर सन् १९५१ तक बनाये गए है, जो चाय, कॉफी आदि बगीचो के श्रमिको को दिए गए हैं। इसी प्रकार सन् १९५६ मे १०० लाख रु० लागत की एक और औद्योगिक गृह निर्माण योजना सभी राज्यों मे लागू की गई है। इसकी पूर्ति का उत्तरदायित्व राज्य सरकारो पर है, जो इस योजना के लिए केन्द्रीय सरकार से लागत का ८०% रु० ऋण ले सकती हैं। अभी तक इस योजना का लाभ १० राज्यों ने उठाया है। ये मकान मजदूरों को किराये पर दिये जाते हैं, जो लागत के अनुसार निश्चित किया गया है। इसमें नियोक्ताओं को भी लागत का कुछ हिस्सा देना पड़ता है। दूसरी योजना में ११,००० गृह-निर्माण की योजना है, जिस हेतु केन्द्र सरकार ने सहायता के लिए २ करोड़ रु० का आयोजन किया है। दूसरी योजना अवधि मे इसके अन्तर्गत ३०० मकानो के लिए ५·३ लाख रु० सितम्बर सन् १९५८ तक स्वीकृत किए गए, जिनमें से केवल २० मकान बने हैं। भारतीय प्लाटस संघ के ९२ सदस्यों ने सन् १९५८ मे प० बंगाल की तराई क्षेत्र में ८०४, दुआर क्षेत्र मे ५,३९६ तथा आसाम मे १,०३५ मकान बनवाए हैं।*

गन्दी बस्तियो मे गृह निर्माण के हेतु राष्ट्रीय विकास परिषद् की योजना समिति ने एक योजना टोली बनाई थी, जिसने सन् १९५८ में अपना प्रतिवेदन दिया। इसकी प्रमुख बातें निम्न है :—

(१) गन्दी बस्तियों को सफाई के लिए वैधानिक निगम मण्डलों की स्थापना हो, जो अपने कार्यक्रम की पूर्ति एवं योजनाओ की नीति निर्धारित करने मे स्वतन्त्र हो।

(२) गृह निर्माण की योजना-राशि केन्द्रीय गृह निगम की स्थापना कर उसे दी जाय। इसी प्रकार राज्यो मे भी गृह निगम सगठित किए जायें, जिनके माध्यम से गृह-निर्माण हो। ये निगम राष्ट्रीय भवन निर्माण सगठन मे सम्पर्क स्थापित करें। यदि ऐसे निगमों की स्थापना सम्भव न हो तो गृह निर्माण की सभी योजनायें एक ही केन्द्रीय मन्त्रालय के नियन्त्रण मे रखी जायें।

(३) गन्दी बस्तियों का प्रसार रोकने के लिए गाँव से शहरो की ओर जाने की प्रवृत्ति को रोका जाय। साथ ही, स्थानीय सस्थाओ की स्वीकृति के बिना किसी शहर मे नये उद्योग की स्थापना की स्वीकृति न दी जाय।

जन-सख्या का अधिक घनत्व रोकने के लिए नये शहर बसाए जायें तथा नवीन उद्योग गाँवों में स्थापित हों। वर्तमान गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए एक विशाल योजना बनाई जाय तथा इन बस्तियो के मकानो की जाँच हो।

---

* India—1960.

उपसंहार—

गन्दी बस्तियों की सफाई का कार्य सामाजिक संस्थाओं को सौंपा जाय तथा देश के विद्यार्थी एवं शिक्षक समुदाय का ग्रीष्म अवकाश का उपयोग इस हेतु किया जाना चाहिये। साथ ही, प्रत्येक उद्योग में एक गृह निर्माण समिति होनी चाहिए, जिसमें सरकार, नियोक्ता एवं श्रमिकों के प्रतिनिधि हों, जो इस कार्य को तेजी से सम्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हों।

अध्याय ६

औद्योगिक सम्बन्ध-कलह और श्रम संघ

(Industrial Relations—Disputes and Trade Unions)

"श्रमसंघ का मूल हेतु सामान्य मनुष्य को स्वतन्त्रता तथा साथियों में उचित सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। क्या प्रजातन्त्र का भी प्रमुख हेतु यह नहीं है?"

—श्री अर्नेस्ट बेविन (M. P.)।

"समाजवादी लोकतन्त्र में देश की उन्नति में श्रमिक पूर्ण साझेदार हैं। मजदूर और उद्योगपति दोनों को अपनी जिम्मेदारी समझना है। मजदूर और शिल्पियों को प्रबन्ध में भाग लेना है। यदि हम असल औद्योगिक उन्नति करना चाहते हैं तो औद्योगिक शान्ति को भी कायम रखना होगा।"

—औद्योगिक नीति घोषणा सन् १९५६।

(अ) औद्योगिक कलह

(Industrial Disputes)

श्रम एवं पूंजी के अच्छे सम्बन्धों से ही देश का औद्योगिक विकास तीव्र गति से होकर देश की आर्थिक नींव सुदृढ़ हो सकती है। औद्योगिक शान्ति के लिए औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे होने चाहिए, जो तीन पक्षों पर निर्भर रहता है। सरकार अपने अधिनियम, श्रम कल्याण विधान द्वारा श्रमिकों की भलाई की ओर देखकर औद्योगिक सम्बन्धों को सुचारु रखने का प्रयत्न करती है। श्रम संघ श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा संघर्ष होने पर श्रमिकों की भलाई की दृष्टि से उनको समुचित रूप से निपटाने का प्रयत्न करते हैं। नियोक्ता औद्योगिक संगठन के कुशल कर्णधार होने के नाते इनमें एवं सरकार तथा श्रमिकों में अच्छे सम्बन्ध होना औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक

होता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध एवं औद्योगिक शान्ति के लिए निम्न बातों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है :—

(अ) औद्योगिक कलह एवं औद्योगिक कलह अधिनियम।

(ब) श्रम संघ (Trade Unionism)।

विश्व में सबसे पहले श्रमिकों ने सामूहिक रूप में हड़ताल कब और कहाँ की, यह सही सही नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि श्रमिकों एवं मिल-मालिकों के परस्पर झगड़ों का प्रारम्भ इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुआ, जब मजदूरों ने यन्त्रों के उपयोग के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। उनका यह विरोध स्थायी नहीं रहा। भारत में सन् १८७० तक हड़तालों का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता। इस अवधि में यदि श्रमिकों द्वारा विरोध प्रकट किया गया होगा तो सम्भवतः 'काम रोको' घटनाओं के रूप में होगा। परन्तु श्रमिकों के सामूहिक संगठन के अभाव में श्रमिकों को हानि ही होती थी, क्योंकि या तो उन पर जुर्माना अथवा उनकी मजदूरी कम की जाती थी। साधारणतः आपसी संघर्ष शान्तिपूर्ण ढङ्ग में मिट जाते थे। सबसे पहली हड़ताल भारत में सन् १८७७ में एम्प्रेस मिल के मजदूरों ने की, परन्तु उसे वास्तव में हड़ताल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें श्रमिक अपनी नौकरी छोड़कर दूसरी मिल में नौकरी कर लेते थे।

हड़तालों का वास्तविक रूप हमको तभी से देखने को मिलता है, जब श्रमिक अपनी सामूहिक शक्ति पहिचान कर श्रम संघ के झण्डे के नीचे एकत्र हुए और उन्होंने सामूहिक रूप में अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ किया तथा हड़तालें सफल होने लगीं। सन् १९२१ में गांधीजी के नेतृत्व में जो असहयोग आन्दोलन छिड़ा, उससे मजदूरों ने सामूहिक शक्ति का महत्त्व जाना। तभी से राजकीय और औद्योगिक अशान्ति की धारा एक ही दिशा में प्रवाहित होने लगी।

औद्योगिक झगड़ों के कारण—

औद्योगिक झगड़ों में लगभग ५७% झगड़े केवल आर्थिक कारणों से हुए। इन कारणों में वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतें, मजदूरी कम करने की ओर मिल-मालिकों की प्रवृत्ति, प्रथम विश्व युद्ध के बाद की छँटनी आदि प्रमुख थे। इसके अलावा कुछ हड़तालें काम करने की कष्टमय परिस्थिति के कारण भी हुईं, जैसे—काम के घण्टे कम करना, गृह-समस्या, श्रमिकों के लिए फैक्टरी में पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था आदि। इन कारणों से सन् १९१८ से सन् १९२६ तक लगभग १,१०० हड़तालें हुईं।

इसके बाद सन् १९२६ में जो हड़तालें हुईं वे छँटनी के विरोध में की गई थीं। इस प्रकार सन् १९२६ से सन् १९३६ तक १५० हड़तालें छँटनी एवं आर्थिक कारणों के कारण हुईं। इनका उद्देश्य छँटनी को रोकना तथा आर्थिक मन्दी के समय कम की हुई भृत्ति को पुनः उसी स्तर पर लाना था।

रॉयल श्रम-आयोग के अनुसार सन् १९१८ से सन् १९३० तक हड़तालों के कारणों में आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, परन्तु इसके बाद की हड़तालों में व्यक्तिगत

कारणों की प्रमुखता थी। जैसे—*श्रम-संघों में काम करने वाले श्रमिकों का निकाला* जाना, प्रबन्धकों का श्रमिकों के साथ बुरा बर्ताव, हड़तालों में शामिल होने वाले श्रमिकों को निकाल देना इत्यादि। सरकारी विश्लेषण के अनुसार सन् १९२१ से सन् १९४२ तक ४,६६४ हड़तालें हुई, जिनमें ५०% हड़तालें अधिक भृति अथवा बोनस देने के लिए मिल-मालिकों के इन्कार करने के कारण, ९४१ हड़तालें निकाले *गये श्रमिकों को पुनः काम पर न लेने के कारण, १९८ हड़तालें छुट्टी अथवा काम के* घण्टों में कमी के लिए तथा ८६१ हड़तालें ऐसी थीं जिनमें कौनसे कारण विशेष थे, यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार औद्योगिक कलह के निम्न कारण हैं :—

(१) मजदूरी एवं बोनस बढ़ाने के लिए। ६०% [illegible]

(२) *काम के घण्टे कम करने, अधिक छुट्टियों की व्यवस्था होने अथवा काम* करने की स्थिति सुधारने के लिए।

(३) श्रम संघों में सम्बन्धित श्रमिकों को निकाल देने के कारण तथा निकाले *गये श्रमिकों को फिर से काम पर वापिस न लेने के कारण।*

(४) प्रबन्धकों का मजदूरों के साथ दुर्व्यवहार तथा काम करने की कष्टमय परिस्थिति।

(५) विवेकीकरण के विरोध के लिए।

(६) *राजनैतिक कारण—(i) किसी नेता का आगमन, जन्म तिथि आदि।*
(ii) नेताओं की राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए।
(iii) अन्य मिलों के हड़तालियों के साथ सहानुभूति।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ, जिसमें सन् १९४४ तक *औद्योगिक* शान्ति बनी रही, परन्तु सन् १९४५ में हड़तालों का तांता फिर आरम्भ हुआ, जिसमें सन् १९४७ और १९४८ में सबसे अधिक हड़तालें हुई :—

वर्ष	झगड़ों की संख्या	श्रमिक संख्या	व्यक्ति दिनों की हानि*
१९४७	१,८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९४८	१,८११	१०,५०,१२०	७८,३७,१७३
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,८२,६०८
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८
१९५४	८४०	४,७७,१३८	३३,७२,६३०
१९५५	१,१६६	५,२७,७६७	५६,९७,८४८
१९५६	१,२०३	७,१५,०००	६९,९२,०००
१९५७	१,६३०	८,८९,०००	६४,२९,०००
१९५८	१,५२४	९,२९,०००	७७,९८,०००
१९५९	१,२३६	५,३२,०००	४६,८५,०००

* India 1960.

इन सभी हड़तालों में विशेषतः उक्त कारणों में से कोई न कोई कारण ही प्रमुख रहा है। सन् १९५४ में औद्योगिक झगड़ों के निम्न कारण बताए गए थे :—*

मजदूरी एवं भत्ता	३०·० प्रतिशत
बोनस	६·७ ,,
भर्ती, छँटनी एवं पदोन्नति	३७·० ,,
छुट्टियाँ एवं काम के घण्टे	१०·० ,,
अन्य	१६·३ ,,
योग	१००·० ,,

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश झगड़ों का कारण छँटनी, भर्ती की पद्धति, पदोन्नति अथवा मजदूरी एवं भत्ता है।

औद्योगिक शान्ति की व्यवस्था—

हड़तालों को रोकने के लिए सन् १९२१ तक कोई भी सरकारी प्रयत्न नहीं हुए, अपितु आपसी समझौते द्वारा ही उनको रोका जा सकता था। परन्तु सन् १९२६ में बम्बई की वस्त्र-उद्योग की हड़ताल ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और इसके कारणों की जाँच के लिए बम्बई सरकार ने फॉकेट समिति नियुक्ति की। इसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १९२९ में ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट पास हुआ। इस कानून के अनुसार हड़ताल की घोषणा होने के पहिले १४ दिन की सूचना देना आवश्यक किया गया और झगड़ों को मिटाने एवं उनके कारणों की जाँच के लिए समुचित व्यवस्था की गई। सर्वप्रथम यह कानून केवल ५ वर्ष के लिए था, परन्तु सन् १९३४ में यह स्थायी हो गया। इस कानून के अनुसार एक स्थायी समझौता-सभा का निर्माण हुआ, परन्तु इसके निर्णय अनिवार्य रूप से लागू करने की व्यवस्था नहीं थी और न इसका उपयोग ही साधारणतः राज्य सरकारों ने किया। विशेषतः ऐच्छिक समझौते की व्यवस्था करना ही इसका उद्देश्य था।

सन् १९३७ में बॉम्बे ट्रेड समझौता डिस्प्यूट्स एक्ट भी पास हुआ। इस कानून में झगड़ों के कारणों की जाँच अनिवार्य कर दी गई तथा झगड़ों को टालने के लिए तत्कालीन कार्यवाही की व्यवस्था की गई। जब तक यह कार्यवाही चालू रहेगी, तब तक हड़ताल अथवा तालेबन्दी करना अवैध घोषित किया गया। इस कानून से कोई भी स्थायी व्यवस्था नहीं की गई थी और न यही अनिवार्य था कि वे औद्योगिक झगड़े समझौता-समिति के विचारार्थ प्रस्तुत करें। अखिल भारतीय ढंग पर औद्योगिक शान्ति के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल में हड़तालों को रोक कर औद्योगिक उत्पादन में बाधा न आने देने की दृष्टि से भारत सुरक्षा-कानून की धारा ८१-अ लागू की गई। अखिल

* Recent Developments in certain aspects of Indian Economy. Vol. II. p. 14.

भारतीय ढंग पर औद्योगिक शान्ति का यह पहला कदम था। इसके अनुसार सरकार किसी भी उद्योग से सम्बन्धित हड़तालों को रोक सकती थी अथवा उन झगड़ों के कारणों की जाँच करने के लिए पंचों को सौंप सकती थी। इन पंचों का निर्णय श्रमिक एवं नियोक्ता दोनों पक्षों को मान्य करना अनिवार्य था। युद्ध समाप्त होते ही यह धारा समाप्त हो गई।

स्वतन्त्र भारत में—

औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए केन्द्रीय सरकार ने दिसम्बर सन् १९४७ में एक त्रिदल सम्मेलन बुलाया, जिसमें सरकार, श्रमिक एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधि थे। इस सम्मेलन में औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसे सरकार ने अपनी सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में मान्यता दी। इस प्रस्ताव के अनुसार एक केन्द्रीय श्रमिक सलाहकार समिति बनाई गई, जिसमें सरकार, श्रमिक एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधि थे। इसके अलावा औद्योगिक झगड़ों की स्थायी व्यवस्था के लिये मार्च सन् १९४७ में औद्योगिक कलह अधिनियम स्वीकृत हुआ, जो अखिल भारतीय ढंग पर पहला प्रयास है।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स अधिनियम सन् १९४७—

मार्च सन् १९४७ में यह अधिनियम स्वीकृत हुआ एवं इसमें सन् १९४९ से सन् १९५३ तक आवश्यक संशोधन किये गये। इसकी प्रमुख बातें निम्न हैं :—

(१) सौ या सौ से अधिक श्रमिक काम करने वाले सभी कारखानों को लागू होगा। ऐसे उद्योगों में वर्क्स समितियों की स्थापना होना अनिवार्य है। इन समितियों का उद्देश्य श्रम एवं प्रबन्ध में सहकारितापूर्ण सम्बन्ध रखकर औद्योगिक शान्ति बनाये रखना है।

(२) जन-उपयोगी उद्योगों में हड़ताल के पूर्व ६ सप्ताह की सूचना देना अनिवार्य है, अन्यथा ऐसी हड़ताल अवैध होगी। पंचों के पास झगड़ा विचाराधीन होने की अवस्था में अथवा निर्णय के ७ दिन तक अथवा न्यायालयीन कार्यवाही के बीच में अथवा निर्णय होने के २ माह तक हड़ताल या तालाबन्दी अवैध और दण्डनीय होगी। इसमें ऐसी हड़ताल में भाग न लेने वाले श्रमिकों की सुरक्षा की भी व्यवस्था है।

(३) इस अधिनियम में औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना का आयोजन है। इसमें हाईकोर्ट जज या जिला जज के पद के दो अथवा दो से अधिक सदस्य होंगे। हड़ताल करने के पूर्व झगड़ा समझौता अधिकारी (Conciliation Officer) को सौंपा जायगा। झगड़े का निर्णय निश्चित अवधि में होना चाहिये और यदि समझौते का प्रयत्न असफल होता है तो समझौता अधिकारी १४ दिन में सरकार को अपनी रिपोर्ट देगा। सरकार को अधिकार है कि वह इस झगड़े को औद्योगिक न्यायालय अथवा निर्णयात्मक संस्था के पास भेज दे, जिसका निर्णय दोनों ही पक्षों को मान्य करना होगा।

औद्योगिक कलह (अपील अदालत) अधिनियम (सन् १९५०)—

विभिन्न श्रम अदालतों द्वारा दिए गए विभिन्न निर्णयों की विविधता से जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती थी उनको सुलझाने के लिए मई सन् १९५० मे एक इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (एपेलेट ट्रिब्यूनल) अधिनियम स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम से राज्य सरकारो को जाँच अदालतो के निर्णय लागू करने के अधिकार दिये गये तथा वकीलो आदि को औद्योगिक कलहो के सम्बन्ध में न्यायालय अथवा ट्रिब्यूनल के सामने प्रस्तुत होने पर प्रतिबन्ध लगाए गए। इस अधिनियम के अन्तर्गत अगस्त सन् १९५० मे बम्बई मे लेबर एपेलेट ट्रिब्युनल की स्थापना हुई।

इसी प्रकार के अपील न्यायालय कलकत्ता, लखनऊ और मद्रास में हैं। अपील न्यायालय का हैडक्वार्टर कलकत्ते मे है। इन अपील न्यायालयो को अन्य किसी संस्था के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है, परन्तु ऐसी अपील दो बातों से सम्बन्धित होनी चाहिये—(१) निर्णय मे कोई वैधानिक बात उठाई गई हो अथवा (२) निर्णय का सम्बन्ध मजदूरी, बोनस आदि कानून के अन्तर्गत बनाये गये किसी अन्य नियम से हो।

इस अधिनियम मे साधारण और जनोपयोगी उद्योगों मे अन्तर किया गया है। क्योंकि जनोपयोगी उद्योगों के कलहो मे सरकार सभी स्थितियों मे हस्तक्षेप करेगी और शान्ति के लिए आवश्यक कार्य करेगी। परन्तु अन्य उद्योगो मे सरकार तभी हस्तक्षेप कर सकती है, जब सम्बन्धित उद्योग के दोनों पक्षो के बहु-संख्य व्यक्ति इस हेतु सरकार से आवेदन करें। सन् १९५५ के संशोधन से अपील न्यायालयो को भंग कर दिया गया है।

अप्रैल सन् १९४९ मे इन्डस्ट्रियल बैंकिंग और बीमा कम्पनी अध्यादेश लागू किया गया, जिसका विस्थापन दिसम्बर सन् १९४९ में एक अधिनियम से हुआ। फलस्वरूप ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट सन् १९४७ का संशोधन हो गया। इस संशोधन से बैंक और बीमा कम्पनियो के आपसी झगडो के निपटारे के लिए न्यायालय, ट्रिब्यूनल अथवा सभाएँ बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार का, हो गया। इसी अधिकार के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने बैंकिंग कम्पनियो के लिये सन् १९४९ मे औद्योगिक ट्रिब्यूनल की स्थापना की। सन् १९५३ के एक संशोधन से निकाले गए श्रमिको की हानि पूर्ति की व्यवस्था की गई।

सन् १९४७ के औद्योगिक कलह अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने औद्योगिक संस्थाओ को वर्क्स कमेटियाँ स्थापित करने के आदेश दिये हैं।

पंच-वर्षीय योजना में—

योजना आयोग ने श्रम-नीति, श्रमिक एवं नियोक्ताओ के सम्बन्धों को ठीक रखने के लिए त्रिदल-सभा की स्थापना का सुझाव दिया है, जिसमें सरकार, नियोक्ता एवं श्रमिकों का प्रतिनिधित्व हो। यदि इस त्रिदल सभा में औद्योगिक कलहों

के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का समझौता नही होता तो सरकार द्वारा उसका निपटारा किया जाय। ऐसे समझौतो के निर्णय औद्योगिक न्यायालयो और ट्रिब्यूनलो को सूचनार्थ भेजे जायें, जो उन पर कार्य करने के लिए बाध्य हो।

औद्योगिक कलहो को रोकने के लिए नियोक्ताओ एवं श्रमिको की जिम्मेवारी तथा कर्त्तव्यो की निश्चित शर्तें बनाई जायें तथा प्रत्येक औद्योगिक संस्था मे श्रमिको की जिम्मेवारी आदि की सूची रखी जाय तथा उनकी तकलीफो को दूर करने के लिए समुचित आयोजन हो। इसके साथ ही श्रमिको को उद्योग की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया जाय तथा उनके हितो को प्रभावित करने वाले परिवर्तनो की जानकारी उनको दी जाय। इसके अलावा नियोक्ताओ को, श्रमिको के काम करने की दशा में कौनसे सुधार किए जायें, इससे परिचित कराने के लिए समुचित आयोजन हो। इतने सुधारो के साथ यदि कोई सोधी कार्यवाही की जाती है तो वह वैधानिक रीति से दण्डनीय घोषित की जाय।

औद्योगिक शान्ति की आदर्श व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव आपसी समझौतो से विवाद का प्रश्न ही मिट जाय, इसलिए योजना आयोग ने वर्क्स कमेटियो की स्थापना की सिफारिश की है—इसमे नियोक्ता एव श्रमिको के परस्पर सम्बन्ध अच्छे रह सकते है। इस योजना के अनुसार भारत मे ३० सितम्बर सन् १९५७ को निजी उद्योगो में २,०९५ तथा केन्द्रीय उद्योगो मे ७४५ वर्क्स समितियाँ थी। इनमे श्रमिक एव नियोक्ताओ के प्रतिनिधि है। ये समितियाँ परस्पर सद्भावना के लिए प्रयत्न करती है।*

द्वितीय पञ्च-वर्षीय योजना की अवधि मे भी यही श्रम नीति रहेगी, परन्तु समाजवादी समाज रचना के लिए इसमे कुछ परिवर्तन किये गये है। इस हेतु सन् १९५५ मे योजना आयोग ने श्रमिको के प्रतिनिधिक पेनल की स्थापना की है, जिसने श्रमिक व नियोक्ताओ के झगडो का निपटारा ऐच्छिक रूप से परस्पर वार्तालाप द्वारा करने का सुझाव दिया है। औद्योगिक सम्बन्धो को अच्छा बनाने के लिये प्रबन्ध मे श्रमिको का सहयोग आवश्यक समझा गया है। प्रत्येक उद्योग मे प्रबन्ध परिषद् की स्थापना की सिफारिश की गई है। इसमे श्रमिक एवं नियोक्ताओ का समान प्रतिनिधित्व रहेगा। आर्थिक मामलो को छोड कर अन्य सब बातो की जानकारी इस परिषद् के उद्योग के प्रबन्धको को देनी होगी। इस नीति को प्रभावी पद्धति से कार्यान्वित करने पर आशा है कि दूसरी योजना की अवधि मे औद्योगिक सम्बन्धो मे और भी सुधार हो सकेगा।

दूसरी योजना की अवधि मे सन् १९५६ मे औद्योगिक कलह अधिनियम मे पुनः संशोधन करके समझौते की कार्यवाही मे सरलता लाई गई है। इस संशोधन के अनुसार ५०० रु० से कम मासिक आय वाले सभी कर्मचारियो का समावेश श्रमिको

* India 1960

की श्रेणी में होगा। दूसरे, श्रम अपील अदालतों को भंग किया गया तथा त्रिसूत्री न्यायालयीन व्यवस्था की गई :—(अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय तथा (स) राष्ट्रीय न्यायालय तथा इन तीनों के क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार को इन निर्णयों में परिवर्तन करने का अधिकार है तथा ऐसे परिवर्तन की आज्ञाएँ केन्द्रीय सरकार को संसद के समक्ष १५ दिन में प्रस्तुत करना होगा, जिन्हें मान्यता देने, न देने का अधिकार संसद को है। इस प्रकार अन्तिम निर्णायक संसद ही है, परन्तु केन्द्रीय सरकार ऐसे परिवर्तन सामाजिक न्याय या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित के आधार पर ही कर सकेगी।

इस संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना लखनऊ में तथा औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना धनबाद और नागपुर में की गई है। नागपुर का न्यायालय श्रम न्यायालय का कार्य भी करता है। इसके अलावा दिल्ली में भी एक एड-हॉक औद्योगिक न्यायालय है। राज्य सरकारों के क्षेत्र में उनके न्यायालय तथा श्रम न्यायालय हैं।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

औद्योगिक सम्बन्धों को अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रबन्ध में श्रमिकों का सहयोग लेने की नीति की योजना में सिफारिश की गई थी, इसलिए इसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए एक अध्ययन दल विदेशों में भेजा गया था। इस दल की सिफारिशों पर जुलाई सन् १९५७ में भारत श्रम-सम्मेलन में विचार हुआ तथा उनको कार्य रूप में लाने के लिए सन् १९५८ जनवरी फरवरी में एक प्रतिनिधिक सेमिनार में एक आदर्श समझौता किया गया।

इस समय २३ उद्योगों में ऐसी व्यवस्था है तथा १५ उद्योग प्रयोगात्मक तौर पर इसे अपनाने के लिए सहमत हुए हैं।* इस हेतु उत्तर-प्रदेश में प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था भी की गई है।

औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार के लिए जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं उनसे यह विश्वास है कि परिस्थिति में अवश्य सुधार होगा।

(च) श्रम-संघ
(Trade Unions)

श्रम की अनेक विशेषताओं में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि श्रम एक स्थायी वस्तु नहीं है, जिसको संग्रह किया जा सके। प्रत्येक श्रमिक को अपना श्रम प्रति दिन किसी न किसी कार्य के लिये करना ही होगा। यदि वह यह चाहे कि आज मजदूरी न करते हुए इकट्ठा कल ही कर ले तो यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि बीते हुए कल की मजदूरी खत्म हो जाती है। इस विशेषता के कारण श्रमिकों में सौदा

* *India 1960.*

करने मे कमजोरी आती है। पूंजीपति अथवा नियोक्ता अपनी राशि का उपयोग भविष्य मे कभी भी कर सकता है। परन्तु श्रमिक को अपने प्रत्येक दिन का उपयोग करना ही होगा, अन्यथा उसके उस दिन के श्रम बेकार हो जावेंगे। इस कमजोरी को दूर करने एव उनमे सामूहिक सौदा शक्ति लाने के लिए श्रमिको का सगठन अपने लाभ के लिये होने लगा। इस कारण इनको श्रमिक सगठन कहते है। इस प्रकार श्रमिक-सगठन श्रमिको की काम करने की दशा सुधारने एव उनका कल्याण करने के लिये *श्रमिकों का बनाया हुआ सघ है, जिससे उनमे एकता की भावना पैदा हो* और उन्हें सामूहिक सौदा करने की शक्ति मिले।*

उद्देश्य—

(अ) सघ के सदस्यो मे एकता की भावना निर्माण करना।

(आ) सघ के सदस्यो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

(इ) सघ के सदस्यो की काम करने की दशा मे सुधार करना।

(ई) सघ के सदस्यो का जीवन स्तर उठाने के लिए उनके हेतु चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, वाचनालय, मनोरजन आदि सुविधाओ का प्रबन्ध करना।

(उ) श्रमिक एव नियोक्ताओ के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाना, जिससे यथासम्भव कलह न हो। यदि कलह होते भी है तो मजदूरो की ओर से वार्तालाप कर शान्ति प्रस्थापित करना और असफलता की हालत में हड़ताल करना।

(ऊ) श्रमिको को वैधानिक कार्यवाही करने के लिए आर्थिक सहायता देना।

(ए) श्रमिको को उचित वेतन दिलाना तथा उनकी कार्यक्षमता बढाने के लिए अन्य आवश्यक कार्य करना।

(ऐ) श्रमिको की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक एव शारीरिक उन्नति करना।

स्पष्ट है कि श्रमिक-सघो का मूल हेतु श्रमिको की मजदूरी एव कार्य दशा मे सुधार करना तथा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति करना है। इन दो कारणो से ही श्रमिक सघ अन्य कार्य करते है। इस प्रकार यह विचार कि श्रमिक सघो का हेतु हड़तालें करना है, गलत है। हाँ, शान्तिपूर्ण ढग से मजदूर एव नियोक्ताओ मे समझौता न होने की दशा में श्रमिक-सघ हड़तालो को अपनाते हैं। उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए श्रमिक सघ अन्य कार्य करते है, जिससे मजदूरो की सामूहिक शक्ति बढे तथा वे अपना सगठन सफल बना सकें। इसलिए श्रमिक सघ भिन्न-भिन्न देशो के श्रमिको की स्थिति, काम करने की दशाओ का अध्ययन, श्रम सम्बन्धी आंकडे एकत्रित करना आदि कार्य करते हैं। यह कार्य करने के लिए वे सदस्य-श्रमिको से मासिक

---

* Trade Unionism by Cunnisson,

	प्रथम योजना (१९५१ ५६)	दूसरी योजना (अनुमानित) (१९५६-६१)	योग (१९५१-६१)
सरकारी क्षेत्र मे व्यय	१,९६०	४,६००	६,५६०
,, ,, मे पूंजी नियोजन	१,५६०	३,६५०	४,२१०
निजी क्षेत्र मे पूंजी-नियोजन	१,८००[1]	३,१००[1]	४,९००
कुल पूंजी विनियोजन	३,३६०	६,७५०	१०,११०

राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—

पहिली योजना में विशेषतः कृषि उत्पादन से वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय १८% बढी। दूसरी योजना में पहिली योजना की अपेक्षा अधिक विकास के लिए अधिक तथा व्यापक प्रयत्न किये गये। आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे लगभग २०% वृद्धि होगी। अर्थात् सन् १९५१ से सन् १९६१ के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग ४२% बढेगी। प्रति व्यक्ति आय मे लगभग २०% और प्रति व्यक्ति व्यय मे लगभग १६% वृद्धि होगी। कृषि उत्पादन ४०%, औद्योगिक उत्पादन १२०% बढ जायगा।

निम्न तालिका में सन् १९४९-५० से कृषि उपज की वृद्धि है :—

कृषि-उपज का सूचक अङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमान)
सभी वस्तुयें (Commodities)	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
खाद्यान्न	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य उपज	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०

कृषि-उपज मे वृद्धि की प्रवृत्ति होते हुए भी विभिन्न वर्षों मे पर्याप्त अन्तर रहा :

		१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमानित वृद्धि)
अनाज (गेहूँ, दाल आदि)	लाख टन	५२४[2]	७५०
तिलहन	,,	५१	७२
गन्ना (गुड के रूप मे)	,,	५६	७२
रुई	लाख गाठें	२९	५४
पटसन	,,	३३	५५

1. ये अनुमान पूर्ण सूचनाओं के आधार पर संशोधित हैं और प्रथम योजना के १,६०० करोड रु० और दूसरी योजना के २,००० करोड रु० के पहिले अनुमानों के स्थान पर हैं।

2. सन् १९५६-५७ के आँकड़ों मे संशोधन के अनुसार उत्पादन का सही अनुमान।

हैं, जो अपने सङ्गठन के उद्देश्यों से विचलित होकर स्वार्थ मोतु बन जाते है। श्रम-संघ तो वास्तव मे श्रमिको के लिये, देश के लिए एवं उद्योग के लिए अधिक प्रभावी सिद्ध हो सकते है, यदि वे अपने ध्येय के अनुसार उसे प्राप्त करने का वैधानिक मार्ग अपनावें।

भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—

श्रम-सघ श्रमिकों मे एकता-भाव एव सामूहिक-शक्ति जाग्रत कर परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बनाया हुआ एक सघ है। ऐसे श्रमिक सघ देश मे कई हो सकते है—प्रत्येक उद्योग के अलग अलग अथवा अनेक उद्योगो का एक। श्रम-सघो का विकास इङ्गलैंड आदि पाश्चात्य देशो मे तो औद्योगिक-क्रान्ति के बाद ही होने लगा था। क्योकि औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक क्षेत्र मे नई नई समस्याएँ पैदा की, जिनमें से एक श्रम-सघो की भी थी। परन्तु भारत मे श्रम सघो का उगम और विकास केवल गत ३४ वर्षों मे ही हुआ है।

श्रम-संघों का उगम एव विकास—

भारत मे श्रमिक सघों के बीज डालने का प्रमुख श्रेय श्री लोखण्डे को है, जिन्होने सन् १८८४ मे बम्बई के कारखाने के श्रमिको का एक सम्मेलन कराया तथा श्रमिको की ओर से तत्कालीन श्रमिक आयोग (Labour Commission) के समक्ष मजदूरो की माँगे प्रस्तुत की। इन माँगो मे श्रमिको का एक दिन का साप्ताहिक विश्राम, दोपहर मे आधा घण्टे का विश्राम तथा श्रमिकों की हानि पूर्ति करने की माँगें प्रमुख थी। इसके बाद सन् १८६० मे बम्बई म मिलहेण्ड्स् एसोसियेशन नामक श्रमिक-सगठन श्री लोखण्डे के सभापतित्व म बनाया गया। परन्तु इसके बाद औद्योगिक मन्दी आ जाने के कारण श्रमिक सगठनो मे शिथिलता आ गई और एक तरह से इस आन्दोलन को पूर्ण विराम हो मिला। इसके बाद सन् १६०४ मे जब औद्योगिक समृद्धि पुनः होने लगी तो इस आन्दोलन को बढावा मिला और सन् १६१० मे कामगार-कल्याण सघ की स्थापना हुई। इन्होंने कामगार समाचार नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित किया। इस प्रकार आरम्भ मे जो श्रमिक-सगठन हुए, उनका हेतु श्रमिक-आयोग अथवा श्रमिक समितियों के समक्ष श्रमिको की माँगें प्रस्तुत करना ही रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद श्रमिक-आन्दोलन का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जब श्रमिक सगठनो ने नियोक्ताओ के विरुद्ध अपनी माँगें पूरी करने के लिए सामूहिक मोर्चा लेना शुरू किया। इस समय श्रमिकों की काम करने की दशाएँ अच्छी नही थी, कीमतें बढ रही थी और मजदूरी कम थी तथा विश्व मे श्रमिक आन्दोलन का जोर था। इधर भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन भी जारी पर था। इन विशेष परिस्थितियों के कारण श्रमिको को अपनी निश्चितता एव अयोग्यता की जानकारी हुई और सन् १६१८ मे श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास म पहला लेबर यूनियन स्थापित किया, जिसके सदस्य सूती वस्त्र उद्योग के कामगार थे। इस सगठन ने श्रमिको का दुःख दर्द

वस्तुएं	१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमान)
तैयार इस्पात	१० लाख टन	२६ लाख टन
अल्युमिनियम	३·७ हजार टन	१७ हजार टन
डीजल इञ्जन	५·५ ,,	३३ ,,
बिजली के तार	१,६७४ टन	१८ ,,
रेल्वे इञ्जन	३ (सख्या)	२९५ सख्या
नाइट्रोजन खाद	९ हजार टन	२१० हजार टन
गंधक का तेजाब	९९ ,,	४०० ,,
सीमेन्ट	२७ लाख टन	८८ लाख टन
कोयला	३२० ,,	५३० ,,
खनिज लोहा	३० ,,	१२० ,,

इसी प्रकार सूती वस्त्र, शक्कर, साइकिल तथा मोटर गाडियो जैसी उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई है।

देश मे पहिली बार कुछ वस्तुओ का निर्माण आरम्भ किया गया। जैसे बायलर, पिसाई की मशीनें, मशीनी-औजार, विस्फोटक पदार्थ, सल्फा और एन्टिबायोटिक औषधियाँ, डी० डी० टी०, न्यूजप्रिंट पेपर आदि।

लघु तथा ग्रामोद्योग—

इस अवधि में इस क्षेत्र मे भी काफी विकास हुआ है। सन् १९५०-५१ मे सन् १९६०-६१ मे हाथकर्घे के कपडे का उत्पादन ७,४२० लाख गज से २१२·५० करोड गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड गज, कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु उद्योगो में जैसे हाथ के औजार, सिलाई की मशीनें, बिजली के पखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यो मे लघु उद्योग सहायक सस्थायें निर्मित की गई हैं। इनके अलावा ४२ विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बस जावेंगी, जिनमे ७०० छोटे कारखाने होंगे।

विद्युत—

विद्युत की उत्पादन क्षमता जो सन् १९५०-५१ मे २३ लाख किलोवाट थी, से सन् १९६०-६१ तक ५८ लाख किलोवाट हो जावेगी। इसी प्रकार सन् १९५०-५१ मे ३,६८७ गाँवो मे बिजली थी वह सन् १९६०-६१ के अन्त तक १९,००० गाँवो में लग चुकी होगी।

यातायात—

पहिली योजना का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल मे रेल्वे की क्षति को पूरा करना था। दूसरी मे आयोजित औद्योगिक विकास की बढती हुई यातायात आवश्यकताओं

इसके बाद सन् १९२९ में उन्होंने दूसरी विशाल हडताल की, जिसके लिए जांच-अदालत भी बनाई गई। इस अदालत ने गिरणी कामगार सघ को हडताल के लिये जिम्मेदार ठहराया। इस बदनामी के कारण इस आन्दोलन को गहरी चोट पहुँची। सन् १९२९ मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पूरी तरह से कम्युनिस्टो के अधिकार में आ गया। परन्तु आन्तरिक मतभेद के कारण नम्र दल के श्रमिक-सघो ने इस कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्री जोशी की अध्यक्षता में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना की तथा रेल्वेमैंस फेडरेशन भी अलग हो गया। फिर भी एकता के प्रयत्न होते रहे और श्री वी० वी० गिरि (सन् १९३७ में मद्रास के श्रम मन्त्री) के प्रयत्नो से इसका एकीकरण पुनः अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में हुआ।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध हुआ, जिससे इस कांग्रेस मे फिर मतभेद होकर श्री एम०एन० राय के नेतृत्व में इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना हुई, जिसने सरकार को सहयोग देकर हडतालो को रोका। पहली कांग्रेस (A.I T U.C.) पर फिर भी कम्युनिस्टो का ही अधिकार रहा और युद्ध के बाद उन्होंने हडताली रुप धारण किया, जिससे श्रमिक अशान्ति बढी। कांग्रेस ने सन् १९४७ मे एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को स्थापना की, जो इस समय सबसे बडा श्रमिक-सगठन है। इस सगठन का उद्देश्य हडतालो की अपेक्षा समझौते की पद्धति में श्रम सुविधायें दिलवाना है। इसके बाद समाजवादी पक्ष के नेतृत्व मे हिन्द मजदूर सभा की स्थापना भी हुई। इस बीच इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर का अन्त हो गया, परन्तु इसमें जो श्रम सघ थे तथा जो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये थे वे हिन्द मजदूर सभा मे नही मिले, अपितु उन्होंने सन् १९४९ मे अपना एक अलग सगठन—यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाया।

इस प्रकार भारत में चार प्रमुख अखिल भारतीय श्रम सघ है :—

नाम	सम्बन्धित श्रम सघ		सदस्य सख्या*	
	१९५८	१९५६	१९५८	१९५६
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C.)	७२७	६१७	९,१०,२२१	९,७१,७४०
(२) अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I T.U.C)	८०७	५५८	५,३७५६७	४,२२,८५१
(३) हिन्द मजदूर सभा (H.M.S.)	१५१	११९	१,९२,९४२	२,०३,७९८
(४) युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U.T.U.C)	१८२	२३७	८२,००१	१५९,१०९
योग	१८६७,	१५३१	१७ २२ ७३१	१७,५७,४९८

* India—1960, Table 257

इनमें से पहिला संघ गांधीयन विचारधारा के अनुसार वैधानिक मार्गों से कार्य करता है। यद्यपि इसकी नीति एवं कार्यक्रमों में अ० भा० कांग्रेस से समानता है, फिर भी यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। हिन्द मजदूर सभा समाजवादी विचारधारा रखने वाले श्रम-संघों का केन्द्रीय संगठन है तथा प्रजा-समाजवादी पक्ष की नीति एवं कार्यक्रमों से प्रभावित है। युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस वाम-पक्षीय विचार-धारा वाले श्रम-संघों का केन्द्रीय संगठन है, परन्तु साम्यवादियों से इसका किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्युनिस्टों के अधिकार में ही है, परन्तु सदस्यता की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि मजदूरों का प्रतिनिधि केन्द्रीय संगठन आज इंटक ही है।

श्रम-संघों के कार्य—

भारत में इस समय चार प्रमुख श्रम संघ हैं, जिनमें अभी तक एकता नहीं आ सकी, जिसकी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि श्रम-संघों में एकता आने से वे राज-नैतिक दल-बन्दी को छोड़ कर श्रमिकों को सुविधायें देने एवं उनका जीवन-स्तर उन्नत करने की ओर विशेष ध्यान देंगे।

अभी तक श्रम-संघों ने विशेषतः हड़तालें ही की हैं, उन्होंने श्रमिक-जीवन के अन्य पहलुओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अहमदाबाद का टैक्सटाइल लेबर एसो-सियेशन एक अपवाद है, जिसने श्रमिक-जीवन के अन्य पहलुओं की ओर ध्यान देकर उनका जीवन स्तर उन्नत करने के लिये सुविधायें दीं। इसके अलावा अन्य संघों ने श्रमिकों को उचित मजदूरी, काम के घन्टों की कमी तथा बेकारी एवं छँटनी को रोकने आदि की ओर ही अधिक कार्य किया है। इसका कारण श्रम संघों का दोष ही न होते हुए इनका नया विकास है* और वे अपने अनुभव से भविष्य में जीवन के अन्य क्षेत्र में भी श्रमिकों को सुविधायें देने का प्रयत्न करेंगे, यह आशा की जा सकती है।

श्रमिक-संघों के विकास में बाधाएँ एवं उनके दोष—

(१) श्रमिक-संघों के विकास में सबसे बड़ी त्रुटि है उनके पास धन की कमी। भारतीय श्रमिकों की मजदूरी कम होने के कारण अनेक श्रमिक इसके सदस्य नहीं होते और जो हैं वे समय पर चन्दा नहीं दे पाते। श्रमिकों की कम मजदूरी के कारण उनका चन्दा भी कम होता है। दूसरे, चन्दा वसूल करने में नियोक्ता किसी प्रकार का सहयोग नहीं देते।

(२) भारतीय मजदूर विशेषतः अनपढ़ होने से मजदूर-संघों का एवं सामूहिक समझौते का महत्व नहीं समझते और उनमें अनुशासन की कमी होती है।

(३) भारतीय मजदूर अस्थिर प्रवृत्ति के होने के कारण एक ही नियोक्ता के पास नौकरी नहीं करते, जिससे मजदूर-संघों के विकास में बाधायें आती हैं।

* The Trade-union Movement in India is still in an infant stage. —V. V. Giri.

(४) आज भी अधिकतर मजदूरो का जीवन ऐसा ही है कि अपने काम के अलावा उन्हे अन्य बातो को सोचने का अवकाश ही नही मिलता । इससे मजदूर-संघ के महत्व एव उसके कार्य को वे नही समझ पाते ।

(५) श्रम-सघो का नियोक्ताओ मे विरोध होता है । वे अपने श्रमिको को जो किसी श्रम-सघ के सदस्य होते है, बहुत परेशान करते है एव उनकी प्रगति मे रोड़े अटकाते है । इससे श्रम सघो में उनकी रुचि नही रहती अथवा उनको बाध्य किया जाता है कि वे रुचि न रखें ।

(६) भारत मे श्रमिकों का इतना विशाल क्षेत्र है कि अभी तक उसके पूरे-पूरे आँकड़े भी उपलब्ध नही हो पाये और न इस ओर सरकार द्वारा ही विशेष प्रयत्न किया गया । इन आंकडो को प्राप्त करने का वैधानिक प्रयत्न केवल सन् १६४२ मे हुआ, जब इण्डस्ट्रियल स्टेटिस्टिक्स एक्ट पास किया गया ।

(७) श्रमिक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी एव भिन्न धर्मीय होने मे उन्हे एक सूत्र में आने में कठिनाई होती है ।

(८) अच्छे मजदूर नेताओ का अभाव श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बडा दोष है । भारतीय श्रमिक अशिक्षित होने के कारण श्रमिक-सघो के नेता मध्य वर्ग से आते हैं, जो श्रम-जीवन की समस्याओ का उतनी आत्मीयता से नही समझ पाते । इतना ही नही, अपितु अनेक नेता तो केवल अपने स्वार्थ अथवा राजनैतिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिये ही सघो का नेतृत्व करते है ।

(९) भारतीय श्रम सघो का नेतृत्व राजनैतिक दलो के हाथ मे है, जिससे अपने दल के हित की दृष्टि से वे अपनी नीति रखते है, श्रमिको के हित की दृष्टि से नही । यह भारतीय श्रमिक-आन्दोलन का सबसे बडा दोष है ।

(१०) श्रम-सघो मे वैमनस्य—केन्द्रीय श्रम सघो का सगठन राजनैतिक पक्षो द्वारा किया गया है, जिससे सदस्यो और विभिन्न श्रम-सघो मे जो वैचारिक एकता होनी चाहिए वह नही है । अतः केन्द्रीय श्रम सघ राजनैतिक पार्टीबन्दी से अछूते रहने चाहिए ।

इन त्रुटियो के कारण भारतीय श्रमिक-आन्दोलन इतना सुदृढ एव मजदूरो के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सका, जितना वह विदेशो मे है । यहाँ के सघो का उद्देश्य केवल हडतालें करना एव उनके सगठन तक ही सीमित रहा है, उन्होने श्रमिको की शारीरिक, आर्थिक एव मानसिक उन्नति की ओर अभी तक कोई ध्यान नही दिया है । आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिको की सार्वत्रिक उन्नति की ओर ध्यान देकर उनकी कार्यक्षमता तथा जीवन-स्तर उन्नत करने का कार्य श्रम-सघ करें, जिससे भावी औद्योगिक निर्माण मे श्रमिको का भविष्य उज्ज्वल हो ।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना मे—

श्रमिको के प्रतिनिधिक पैनल (सन् १६५५) ने श्रम-सघो के सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये है :—

(१) श्रम-सघो मे बाहरी व्यक्तियो का प्रवेश सीमित करना।
(२) निश्चित शर्तो पर श्रम-संघों को वैधानिक मान्यता देना।
(३) श्रम सघो के कार्यकर्त्ताओ की उत्पीड़न (Victimisation) से रक्षा करना।
(४) श्रम-सघो के निजी स्रोतो से उसके आर्थिक आधार मे सुधार करना (मजबूती लाना)। इन सुधारो से श्रम-सघो के वर्तमान महत्वपूर्ण दोषो का निवारण हो सकेगा।

राष्ट्र-निर्माण में श्रम-संघ—

राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र मे भी राष्ट्रीय श्रम-सघो का गहरा प्रभाव पडता है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन काग्रेस ने ब्रिटेन के विकास मे काफी महत्वपूर्ण भाग लिया है। ब्रिटिश लेबर पार्टी का एटली मन्त्रि-मण्डल वहाँ की राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस का राजनैतिक पहलू था। इसी प्रकार अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर तथा दी फ्रेंच कॉन्फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स अपने देश के आर्थिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव डालते हैं। भारत मे भी श्रम-सघ नेता श्री जोशी के प्रयत्नो से ही सन् १६२६ मे श्रम सघ अधिनियम पास हुआ। श्रम-सघो ने कुछ हद तक श्रमिको का शैक्षणिक एवं शारीरिक उन्नति करने में भी सफलता प्राप्त की है तथा आज के चुनाव मे भी श्रमिको का महत्वपूर्ण भाग है। श्रम सघो को चाहिए कि वे श्रमिको में बचत की आदत निर्माण करने के हेतु सहकारी समितियो की स्थापना करें। वहा से उन्हे जीवनावश्यक वस्तुएँ सस्ती दरो पर दी जायें तथा ये उनको गृह-निर्माण मे भी सहायक हो। इसी प्रकार श्रम उपनिवेशों मे श्रम-सघ विभिन्न प्रकार के मनोरंजनादि साधनो का आयोजन कर श्रमिको को लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, श्रमिकों के मानसिक एव शारीरिक स्तर को उन्नत कर सकते है। ऐसे लोकप्रिय श्रम-सघ ही श्रमिकों के हितो मे सरकारी नीति को भी झुकाने में सफल हो सकेंगे।

श्रम-संघ अधिनियम सन् १६२६—

श्रमिक एवं नियोक्ता अथवा नियोक्ता एव नियोक्ताओ के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के हेतु बनाए गए किसी सघ की रजिस्ट्री कराने का आयोजन इस अधिनियम द्वारा किया गया। दो अथवा दो से अधिक श्रमिको के फेडरेशन की रजिस्ट्री भी इस अधिनियम के अन्तर्गत हो सकती है। रजिस्टर्ड श्रम संघो को निम्न अधिकार हैं:—

(१) रजिस्टर्ड सघो का समामेलित अस्तित्व एवं स्थायी उत्तराधिकार हो जाता है। ऐसे श्रम सघ चल एव अचल सम्पत्ति रख सकते हैं तथा अनुबन्ध भी कर सकते हैं।
(२) रजिस्टर्ड श्रम-सघ किसी समझौते से सम्बन्धित किसी षड्यन्त्र या

अपराध की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अपराध या षड्यन्त्र किसी कलह को बनाने अथवा व्यापार या उद्योग को रोकने के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिये।

(३) रजिस्टर्ड संघ के सदस्यों के विरुद्ध संघ के वैधानिक उद्देश्यों की पूर्ति के सम्बन्ध में किए गये किसी भी कार्य के सम्बन्ध में सिविल कोर्ट दावा स्वीकार नहीं करेगा।

(४) श्रमिक संघ अपने सदस्यों से ऐच्छिक रूप में दिया हुआ धन सदस्यों की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक भलाई के लिए स्वीकार कर सकता है।

श्रम-संघ अधिनियम सन १६४७—

उक्त अधिनियम में नियोक्ताओं द्वारा श्रम-संघों की मान्यता के सम्बन्ध में कोई आयोजन नहीं था, अतः इस अधिनियम में प्रतिनिधित्व श्रम संघों को नियोक्ताओं द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रकार मान्य श्रम संघों तथा नियोक्ताओं द्वारा कुछ कार्यों को करना अनुचित एवं दण्डनीय घोषित किया गया है परन्तु यह अधिनियम लागू नहीं किया गया।[1]

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में जो आयोजन है उसमें यह विश्वास है कि वर्तमान दोषों का निवारण हो सकेगा। मई सन् १६५८ के १६वें श्रम-सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि श्रम संघों को नियमित करने की व्यवस्था की जाये। इस हेतु श्रम संघों को मान्यता देने के कुछ सिद्धान्त भी बनाये गये हैं। इससे श्रमिक आन्दोलन को लाभ होगा और श्रम संघों की बाढ़ पर भी रोक लगेगी। इन सिद्धान्तों में प्रमुख सिद्धान्त यह है कि केवल उन्हीं श्रम-संघों को मान्यता दी जाय जो नियोक्ता और श्रमिकों द्वारा अनुमोदित अनुशासन के नियमों[2] का पालन करें। इन नियमों को सन् १६५८ में लागू किया गया है। इनमें प्रबन्ध एवं श्रमिकों के उत्तरदायित्वों को इस हेतु से निश्चित किया गया है जिससे सभी स्तरों पर इनके प्रतिनिधियों में सक्रिय सहकारिता को प्रोत्साहन मिले। इनका पालन हो रहा है अथवा नहीं, यह देखने के लिए केन्द्र एवं राज्यों में आवश्यक व्यवस्था भी की गई है। इसी आधार पर तृतीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत कार्यक्रम एवं नीति का निर्धारण किया जा रहा है।[3] श्रम-संघों की सुदृढ़ता एवं औद्योगिक शान्ति के लिए यह वाञ्छनीय कदम है।

---

1. Amrit Bazar Patrika, page XIX dated 15-8-1959
2. Code of Discipline in Industry
3. The Third Five Year Plan—A Draft Outline, page 88-89.

अध्याय १०

श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security)

"मजदूरी के अलावा श्रमिकों के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तर में सुधार करने के हेतु उनके आराम, मनोरंजन आदि की जो सुविधायें, वैधानिक अनिवार्यता के बिना उद्योग देता है उनका समावेश श्रम-कल्याण में होता है।"

"सामाजिक सुरक्षा का अर्थ इतना व्यापक है, जिसमें दरिद्रता का उन्मूलन करने के किन्हीं भी प्रयत्नों का समावेश होता है।"

(१) श्रम-कल्याण

'श्रम कल्याण' की समुचित और सरल परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। शाही श्रम आयोग के अनुसार श्रम-कल्याण की परिभाषा में लोच होनी चाहिए, जो प्रत्येक देश में वहां की सामाजिक स्थिति, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिकों के शैक्षणिक विकास के स्तर के अनुसार होगी। परन्तु साधारणतः "श्रम कल्याण उन क्रियाओं को कहते हैं जो किसी उद्योग के आस पास अथवा उद्योग के क्षेत्र में श्रमिक स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण में काम करते हुए अपने स्वास्थ्य एवं नीति के स्तर को अच्छा रख सकें।"* आजकल श्रम-कल्याण कार्य केवल उद्योग की व्यवस्था में श्रमिकों को आवश्यक सुविधाएँ देने तक ही सीमित नहीं है, वरन् श्रमिकों को कारखाने के बाहर भी सुविधाएँ देने तक विस्तृत है। इस अर्थ में श्रमिकों का स्वास्थ्य सुधार, शिक्षा की व्यवस्था, रहन सहन की सुविधायें, फैक्टरी में काम करने की अच्छी स्थिति, काम करते समय उनके मनोरञ्जन की सुविधाओं का आयोजन, कैन्टीन, स्नानगृह आदि की व्यवस्था का समावेश श्रम-कल्याण कार्य में होता है। श्रम कल्याण की मान्य परिभाषा के अनुसार :—"मजदूरी के अलावा श्रमिकों के सामाजिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक स्तर में सुधार करने के लिए उनके आराम, मनोरञ्जन आदि की जो सुविधाएँ उद्योग द्वारा बिना किसी वैधानिक अनिवार्यता के दी जाती है, उनका समावेश श्रम-कल्याण कार्य में होगा।" इस प्रकार श्रम-कल्याण कार्य वैधानिक अनिवार्यता न होते हुए श्रमिकों की दशा सुधारने तथा उनकी अधिक कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिए श्रमिकों के प्रति नियोक्ता की सद्भावना के द्योतक है, जो वे स्वेच्छा से देते हैं। श्रम-सम्बन्धी कल्याण कार्य दो प्रकार से किया

* Report II of the I. L. O. Asian Regional Conference, p. 3.

जाता है : नियोक्ताओं की इच्छा से तथा कानूनी अनिवार्यता से। इसके अलावा सरकार स्वय औद्योगिक श्रमिकों के लिये सुविधाएँ दे सकती है तथा ऐसी सुविधाओं का आयोजन श्रम-संघ एव अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा भी किया जा सकता है।

भारत में आवश्यकता क्यों ?—

श्रम सुधार कार्य केवल भारत में ही आवश्यक नहीं, परन्तु यह सम्पूर्ण औद्योगिक विश्व मे औद्योगिक शान्ति, श्रमिकों का जीवन स्तर उन्नत करने तथा उनके अधिक कार्यक्षम बनाने के लिये एक आर्थिक आवश्यकता है। भारत मे श्रम सुधार कार्य का महत्त्व न्यूनतम था, क्योंकि सम्पूर्ण औद्योगिक क्षेत्र मे— देश एव विदेश के —यह भ्रममूलक धारणा थी कि श्रम कल्याण पर किसी प्रकार का व्यय नियोक्ताओं के निजी लाभ पर कर है अथवा उससे वस्तुओं का उत्पादन व्यय बढ जाता है। परन्तु उनकी यह धारणा गलत थी, क्योंकि यदि श्रमिकों की मानसिक एवं शारीरिक उन्नति के लिए नियोक्ता व्यय करते है तो उनको कुशल एव स्वस्थ श्रमिक मिलते है। इससे उत्पादन व्यय बढने की जगह कम हो जाता है तथा ऐसी स्वेच्छात्मक सुविधाओं से श्रम एव नियोक्ताओं के सम्बन्ध अच्छे होकर औद्योगिक शान्ति का बीजारोपण होता है। भारत मे श्रम सुधार कार्य की ओर प्रथम विश्व युद्ध मे प्रयत्न किए जाने लगे, तब जनता, नियोक्ता एव सरकार ने यह पहिचाना कि सन्तुष्ट एव स्थायी श्रम शक्ति से ही देश की औद्योगिक उन्नति हो सकती है, क्योंकि श्रम कल्याण कार्य से—(१) श्रमिकों का मानसिक, शारीरिक एव शैक्षणिक विकास होता है, जिससे वे अपनी भलाई समझ सकते है एवं जीवन का आनन्द ले सकते है। जितनी अधिक श्रम-कल्याण सुविधाएँ श्रमिकों को मिलेंगी उतना ही आकर्षण कारखानों के प्रति अधिक होकर कारखाना-जीवन की नीरसता कम होगी तथा श्रमिकों का नैतिक स्तर उन्नत होगा। (२) सन्तुष्ट श्रमिक वर्ग ही अपनी अधिकतम् कार्यक्षमता उद्योग को दे सकता है, जिससे उत्पादन की लागत कम हो कर उपभोक्ताओं को सस्ते दामों मे वस्तुएँ मिल कर उद्योग का विकास हो सकता है। (३) श्रमिकों में नागरिक जिम्मेवारी की भावना जागृत हो कर वे देश के अच्छे नागरिक बन सकते है।

इन लाभो की दृष्टि से श्रम कल्याण कार्य नियोक्ताओं के लाभ पर कर न होते हुये उनके लाभ बढ़ाने एव देश की औद्योगिक प्रगति का एक साधन है। इसीलिए टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने कहा था:—कार्यक्षमता का उन्नत स्तर केवल वहीं हो सकता है, जहाँ श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हो। इसका तात्पर्य यह है कि केवल वही श्रमिक जिनके लिये शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो, कुशल हो सकते है। इसी दृष्टि से भारत मे बम्बई यूनिवर्सिटी ने श्रम-समस्याओं एवं श्रम-कल्याण कार्य के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया है। श्री टाटा ने स्कूल ऑफ सोशल साइन्सेज, बम्बई की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से की थी।

श्रम-कल्याण-कार्य की व्याप्ति—

श्रम-कल्याण कार्य के विस्तार का स्पष्टीकरण श्रम-जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में किया है। "श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के कार्यों का समावेश होना चाहिये। ये कार्य चाहे नियोक्ता, सरकार या अन्य संस्थाओं द्वारा किए जायें तथा साधारण अनुबन्धनात्मक सम्बन्ध अथवा विधान के अन्तर्गत जो श्रमिकों को मिलना चाहिए, उनके अलावा किए गए हों। इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत हम आवास व्यवस्था, चिकित्सा एवं शिक्षा सुविधाएँ, अच्छा भोजन (कैन्टीन के आयोजन सहित), आराम एवं मनोरंजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, प्रसूत गृह एवं झूले, शौचालय, सवेतन छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड, सेवा-निवृत्त वेतन आदि सुविधाओं का समावेश कर सकते हैं।"*

भारत में श्रम-कल्याण—

भारत में अभी तक जितना भी कल्याण-कार्य किया गया है, उसमें तीन संस्थाएँ प्रमुख हैं:— नियोक्ता, सामाजिक संस्थाएँ तथा सरकार। कुछ अंश में श्रम-संघों ने भी कल्याण-कार्य में हाथ बँटाया है। नियोक्ताओं की ओर से स्वेच्छा से बहुत ही कम फैक्टरियों में श्रमिकों को सुविधाएँ दी गई हैं और जहाँ वे दी भी गई हैं वे परिस्थिति से विवश होकर अथवा वैधानिक अनिवार्यता के कारण। सामाजिक संस्थाओं ने अवश्य ही इस दिशा में कार्य किया है, परन्तु यह कार्य केवल बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास तक ही सीमित है।

नियोक्ता—

नियोक्ताओं के स्वेच्छापूर्ण कल्याण-कार्य में ई० डी० ससून समूह की मिलों में तथा टाटा एण्ड सन्स की प्रबन्धित मिलों में श्रमिकों को औपचारोपचार सुविधाएँ, प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरंजन की सुविधाएँ प्रसूति, शिक्षा, तान्त्रिक शिक्षा, उम्मेदवार-पद्धति की व्यवस्था, गृह तथा मनोरंजन की सुविधायें दी गई हैं। मद्रास की बिन्नी एण्ड क० की मिलों में, कानपुर के ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन के प्रबन्धित कारखानों में श्रमिकों को आवास, मनोरंजन आदि की सुविधाएँ दी गई हैं। टाटा एवं बिन्नी एण्ड कम्पनी का श्रम-कल्याण-कार्य विस्तृत एवं योजनाबद्ध है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अपने श्रमिकों के लिए अच्छी आवास-व्यवस्था, शिक्षा, औषधालय, काम करने के बाद मनोरंजन, कैंटीन, मनोरंजन क्लब, खेल-कूद के मैदान, गृह खेलों (Indoor games) की व्यवस्था आदि का आयोजन किया है। इसी प्रकार की व्यवस्था एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज की निर्माणियों में तथा जियाजीराव कॉटन मिल्स, ग्वालियर में देखने को मिलती है। श्रम-कल्याण कार्य की योजनाबद्धता एवं

---

* Labour Investigation Committee's Report, p. 345.

तृतीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया जायगा, जिससे विदेशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़े ।

आयोग ने तृतीय योजना काल के लिए प्राथमिकताएँ इस प्रकार निश्चित की हैं :—

(१) द्वितीय योजना की शेष परिकल्पनाओं को पूरा करना ;

(२) इञ्जीनियरिंग और भारी मशीनें बनाने वाले उद्योगों का विस्तार और उनके उत्पादन मे विविधता लाना तथा मिश्रित धातुओं के औजार, विशेष इस्पात, लोहा, इस्पात और लौह-मिश्रण एवं रसायनिक खाद तैयार करना ;

(३) अलुमिनियम, खनिज तेल, रसायन आदि तैयार करना ;

(४) मौजूदा क्षमताओं का पूर्ण उपयोग;

(५) देशी उद्योगों से अधिक मात्रा में दवाइयाँ, कागज, कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल और घर बनाने का सामान तैयार करना ।

तृतीय योजना मे उद्योग और खान-कार्यक्रमों पर २५ अरब रुपया खर्च करने की व्यवस्था है । इस राशि में १५ अरब सार्वजनिक और १० अरब रुपया निजी क्षेत्र पर खर्च किया जायगा ।

नेवेली योजना—

नेवेली योजना मे उष्णता से प्राप्त बिजली के लिए ३५ लाख टन लिगनाइट प्रति वर्ष खनन की कल्पना की गयी है । इसके अतिरिक्त ७० हजार टन नाइट्रोजन के समान खाद के उत्पादन और ३ लाख ८० हजार टन के कार्बनाइज्ड ब्रिकेटेस का उत्पादन भी होगा ।

तृतीय योजना मे उष्णता प्राप्त बिजली उत्पादन की क्षमता चार लाख किलोवाट कर दी जायगी । बढ़ाए गए बिजली संयन्त्र की आवश्यकता के लिये खनिज उत्पादन ३५ लाख टन से बढ़ाकर ४८ लाख टन कर दिया जयागा ।

औद्योगिक मशीनरी—

ढलाई भट्टी की क्षमता मशीनरी योजनाओं के लिए अनिवार्य है । ढलाई की कुल शक्ति का वितरण निम्नलिखित ढग से किया जायगा :—(१) रांची की ढलाई भट्टी मे (तृतीय चरण मे) ३८ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ४५ हजार टन इस्पात की ढलाई और ६६ हजार ७ सौ टन स्टील फोर्जिंग; (२) दुर्गापुर खान मशीनरी योजना मे ११ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ६ हजार टन इस्पात की ढलाई और ७ हजार टन स्टील फोर्जिंग; (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, बंगलोर मे २ हजार ५ सौ टन भूरे लोहे की ढलाई; (४) चितरंजन लोकोमोटिव कारखाने मे ३ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और ७ हजार टन इस्पात की ढलाई; (५) दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला इस्पात कारखाने मे ७५ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और १५ हजार टन

अनेक सराहनीय कार्य किये गये, जिनमे श्रम कल्याण भी एक है। इसी के साथ सर्व प्रथम सरकार ने श्रमिको के सार्वजनिक कल्याण की ओर सरकारी रूप मे पग उठाया।

बम्बई में—

बम्बई मे सर्व-प्रथम सन् १९३९ मे इस ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही की गई और तब सन् १९३९-४० के बजट मे १,२०,००० रुपये का आयोजन श्रम-कल्याण-कार्य के लिये किया गया। इस कार्य पर सन् १९४०-५० में कुल व्यय १०,६८,०८३ रुपये था। प्रथम पच-वर्षीय योजना मे बम्बई राज्य ने श्रम-कल्याण कार्य के लिये ३ करोड़ रुपये का आयोजन किया। श्रम-कल्याण कार्य का निरीक्षण श्रम-कल्याण, डिप्टी कलेक्टर करता है, जिसके नियन्त्रण मे सन् १९५० मे ५० कल्याण केन्द्र थे, जिनमें अ, ब, स तथा द वर्ग के क्रमशः ५, १०, ३३ एवं २ केन्द्र थे। इनके अलावा गत वर्षों मे २० केन्द्रो की स्थापना और हो चुकी है। इन केन्द्रो का विभाजन वहाँ पर उपलब्ध सुविधाओं के अनुसार चार श्रेणियो मे किया गया है। इसी प्रकार श्रमिक वर्ग में से ही श्रम सघों के नेताओं का निर्माण करने के लिए बम्बई राज्य ने बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर मे प्रशिक्षण वर्ग खोले है, जहां श्रमिको को श्रम-सघवाद एव नागरिकता की शिक्षा दी जाती है। श्रम-कल्याण केन्द्रो की क्रियाओं का सहयोग सरकारी शिक्षा एव श्रम विभाजन तथा शराबबन्दी सभा के साथ स्थापित किया गया है, जिससे इनकी क्रियाओं के सामजस्य से श्रमिक अधिकतम् लाभ उठा सकें। श्रम-कल्याण को प्रोत्साहन देने के लिये सन् १९५३ में लेबर वेलफेयर फण्ड अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार श्रम कल्याण सभा की स्थापना की गई है। जुलाई सन् १९५३ से यह सभा श्रम-कल्याण केन्द्रों की व्यवस्था के लिए जिम्मेवार है।

मध्य-प्रदेश में—

मध्य-प्रदेश मे अधिक कारखानो मे श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन तथा हिंगनघाट और बाडनेरा में श्रम-कल्याण केन्द्रो की स्थापना की गई है। इसके अलावा सरकार ने सन् १९५३-५४ मे नागपुर, जबलपुर और अकोला में श्रम-कल्याण केन्द्र खोले हैं। श्रमिकों को श्रम संघवाद की शिक्षा देने के लिए सन् १९५३-५४ में नागपुर मे एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला है, जहां ६५ श्रमिको की शिक्षा का आयोजन है, जिसमें से अब नागपुर का समावेश महाराष्ट्र प्रदेश मे हो गया है।

पंजाब में—

पंजाब में महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रो मे श्रम-विभाग के नियन्त्रण में श्रम-कल्याण केन्द्रो का सचालन हो रहा है। ये केन्द्र अमृतसर, बटाला, लुधियाना, जालन्धर, अम्बाला, अब्दुल्लापुर और बलरामपुर में हैं। यहा पर श्रमिको को शिक्षा एवं मनोरंजन की वस्तुएँ उपलब्ध है।

उत्तर-प्रदेश में—

उत्तर-प्रदेश मे श्रम-कमिश्नर के नियन्त्रण में श्रम विभाग का कार्य होता है,

जहाँ पर श्रम कल्याण कार्य की देख-रेख के लिए १ स्त्री तथा १ पुरुष निरीक्षक होता है। स्त्री निरीक्षक स्त्री श्रमिकों के सम्बन्ध के कल्याण कार्यों, जैसे—प्रसूति गृह, धायगृह आदि का निरीक्षण करती है। सम्पूर्ण राज्य में सन् १९५८ मे ४६ श्रम-कल्याण-केन्द्र हैं।* इसके अलावा शक्कर उद्योग के श्रमिको के लिए मोलैसेज (Molosses) की कीमत ।)। प्रति मन निश्चित कर दी गई है, जिसमे अधिक दाम पर बिक्री होने से अतिरिक्त राशि एक अलग 'निधि' में जमा होती है। इसका उपयोग इस उद्योग के श्रमिको को गृह सुविधाएँ एवं श्रम-कल्याण कार्य के लिए होता है। इसके अलावा कानपुर की नई *श्रम बस्तियो मे २ तथा ऐशबाग लखनऊ मे एक श्रम-कल्याण केन्द्र* खोले गये हैं।

बंगाल राज्य में—

बगाल राज्य मे सन् १९३९ में श्रम-कल्याण कार्य का श्रीगणेश हुआ तथा सन् १९५४ में राज्य के विभिन्न औद्योगिक केन्द्रो में २७ कल्याण केन्द्र थे। इसी प्रकार बिहार मे २, असम मे १६ तथा सौराष्ट्र २० कल्याण-केन्द्र है। इन राज्यो के अलावा अन्य प्रान्तो मे भी श्रम कल्याण के लिए विशेष आयोजन हो रहा है।

वैधानिक श्रम-कल्याण कार्य—

भारत सरकार के श्रम-कल्याण कार्य का आधार वैधानिक है, जिसमे कानून द्वारा नियोक्ताओ को श्रमिको की मानसिक, शारीरिक एव आर्थिक उन्नति के लिए उनको अन्य उचित सुविधाएँ देने का आयोजन किया गया है। इन विधानो मे कारखानो के अन्दर झूलो की व्यवस्था, प्रकाश, हवा तथा मशीनो के आस पास तार का घेरा आदि लगाने का आयोजन, स्नानगृह, शौचालय आदि का प्रबन्ध, चिकित्सालयो का *आयोजन, गृह-निर्माण योजना, रोजगार संस्थाएँ*, सामाजिक बीमा, प्रॉवीडेन्ट फंड आदि योजनाओं का समावेश होता है।

भारत में केन्द्रीय सरकार ने सर्व प्रथम वैधानिक अनिवार्यताओ के अलावा अपनी स्वेच्छा से सुधार-कार्य का श्रीगणेश ऑर्डीनेन्स फैक्टरियो से किया। यहाँ युद्ध-काल में श्रमिको के लिए कैन्टीन की व्यवस्था, प्राथमिक चिकित्सा आदि का आयोजन किया। इसके अलावा फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत अस्पतालो का आयोजन तो था ही। युद्धोत्तर-काल में इन सुविधाओ का विकास हुआ तथा इसी प्रकार की सुविधाओ का आयोजन अन्य सरकारी औद्योगिक संस्थाओ मे भी किया गया। फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत २५० से अधिक व्यक्ति काम करने वाले उद्योगो को कैंटीन की सुविधायें देना *अनिवार्य किया गया।*

फैक्टरी एक्ट के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्य समुचित हवा, प्रकाश एव सफाई, यन्त्रो से सुरक्षा के लिए उनके आस-पास घेरे बनाना, बनावटी नमी से श्रमिको की सुरक्षा का आयोजन, प्राथमिक चिकित्सा, झूले (Creches), शौचगृह, आरामगृह

* Amrit Bazar Patrika 26-1-58

की व्यवस्था नियोक्ताओं को करना अनिवार्य हो गया। श्रम-कल्याण कार्य के सम्बन्ध मे प्रान्तीय सरकारो को स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार आवश्यक नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। श्रमिकों को काम करते समय किसी भी प्रकार की दुर्घटना से क्षति हो जाने पर उसकी पूर्ति करने की जिम्मेदारी नियोक्ताओ पर डाल दी गई, जिसके लिए उससे पूर्व कोई भी आयोजन नही था। इसी प्रकार वैधानिक सुधारो में बालक बन्धक अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम तथा सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम आदि विधानो द्वारा श्रमिको की सुरक्षा एवं भावी कल्याण का प्रबन्ध किया गया।

सन् १९४४ मे कोयला खान श्रमिको के कल्याण कार्य के लिए कल्याण-कोष निर्माण किया गया। कोयला खानो के श्रमिकों के लिए कल्याण केन्द्र, चिकित्सा, प्रसूतिगृह आदि की व्यवस्था के लिए इस कोष का उपयोग होता है। इसी फण्ड की सहायता से २ केन्द्रीय अस्पताल, ६ प्रादेशिक अस्पताल, २ चलते-फिरते दवाखाने तथा २ टी० बी० रुग्णालय चलाये जाते हैं। प्रादेशिक अस्पतालो में प्रसूति तथा शिशु कल्याण की सुविधाएं भी दी जाती हैं। इसी प्रकार कोयले की खानो के श्रमिको के लिए नौगांव तथा पैंड्रारोड सेनिटोरियम मे क्रमशः ५ और ४ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। मलेरिया विरोधी और बी० सी० जी० आन्दोलन भी इसी कोष की सहायता से इन क्षेत्रो मे चलाये जा रहे हैं। झरिया खानो की स्वास्थ्य सभा के लिए 'चण्डकुइया' मे एक स्पर्शजन्य रोगियो के हेतु रुग्णालय खोलने की स्वीकृति भी दी गई है। इसी कोष से श्रमिको के गृह निर्माण की भी व्यवस्था है। इस कोष की वार्षिक आय १,७६,५५,४८४ रु० तथा व्यय १·७० करोड़ रु० है।

अभ्रक खान मजदूरो के लिए कल्याण कोष सन् १९४७ मे बनाया गया है। इस निधि का लाभ बिहार, आन्ध्र, राजस्थान तथा अजमेर की अभ्रक की खानो मे काम करने वाले मजदूरों को मिलेगा। इस राशि से कल्याण सुविधाओ के लिए दिये जाने वाले वार्षिक बजट की राशि आम प्रान्तो के लिए क्रमशः १३·६०, ४·३३, १·२६ तथा ०·४४ लाख रुपये है। इन मजदूरो को कोयला खान मजदूरो की भाँति चिकित्सा, शिक्षा मनोरंजन एवं आवास की सुविधाओ का आयोजन किया गया है। इस कोष से कर्मा (बिहार) और कालीचेडु (आंध्र) मे दो तथा गंगापुर मे एक अस्पताल खोले गये है। इसके सिवा अनेक दवाखाने निर्माण अवस्था मे हैं, जिनमे प्रसूति एवं शिशु कल्याण की व्यवस्था होगी, कोष द्वारा २ चलते फिरते दवाखानों का संचालन भी होता है। सन् १९५९-६० मे कोष से बिहार को १०·४२, आंध्र को ४·०० तथा राजस्थान को ४·३७ लाख रुपये श्रम-कल्याण के लिए दिये गये।* लेबर ऑफिसर्स की शिक्षा का प्रबन्ध भी सन् १९५३-५४ से कलकत्ता विश्वविद्यालय में किया गया है।

बगीचा उद्योग मे मजदूरो को बगीचा श्रम अधिनियम के अन्तर्गत स्थायी

---

* India 1960.

श्रमिकों को आवास व्यवस्था दी जाती है तथा अस्पताल और दवाखाने बगीचा उद्योग को रखना अनिवार्य है। कुछ बगीचा उद्योगों ने श्रमिकों के बालकों को शिक्षा, मनोरंजन सुविधाएं तथा दस्तकारी शिक्षा का आयोजन भी किया है। भर्ती की कागड़ी पद्धति का अन्त करने की कार्यवाही की गई है। दुर्घटनाओं को कम करने के लिए खान अधिनियम सन् १९५२ का कड़ाई से पालन होने के लिए आवश्यक कार्यवाही की गई है।

इसी अनुभव के आधार पर सन् १९५२-५३ से कर्मचारी भविष्य निधि योजना प्रारम्भिक अवस्था मे सीमेंट, सिगरेट, विद्युत, लोहा एवं इस्पात, कागज, कपड़ा तथा इंजीनियरिंग उद्योगों मे लागू की गई थी। यह अब सभी कारखानों को जिनको ३ वर्ष पूरे हो चुके हैं तथा जहाँ ५० से अधिक मजदूर कार्य करते हैं, लागू होती है। सन् १९५८-५९ मे इस योजना का लाभ ७,०२४ कारखानों के २५·४३ लाख मजदूरों को मिल रहा था तथा इसी तिथि को उनके चन्दे की राशि लगभग १३२ करोड रु० थी। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को आय के ८$\frac{1}{3}$% चन्दा देना पड़ता है तथा यह ऐसे सभी श्रमिकों को जिनकी आय ५०० रु० मासिक से कम है, लागू होती है। कोयला खान श्रमिकों के प्रॉविडेन्ट फण्ड की राशि अक्तूबर सन् १९५८ के अन्त मे १७ करोड रु० थी।*

अन्य—

इसके अलावा आम जनता के कल्याण के लिए अगस्त सन् १९५३ में एक स्वास्थ्य केन्द्रीय कल्याण सभा (Central Welfare Board) की स्थापना की गई। इसके कार्यक्रम मे बालवाड़ी, प्रसूति एवं शिशु-स्वास्थ्य सेवाएं, स्त्रियों की सामाजिक शिक्षा एवं मनोरंजन आदि की व्यवस्था है।

इसके नियन्त्रण मे ३० सितम्बर सन् १९५९ को ४३२ कल्याण विस्तार प्रोजेक्ट चालू थे, जिनमे २,१२४ कल्याण-केन्द्र थे। इनका लाभ १०,८९२ गाँवों की १६०·७४ लाख जन संख्या को होता है।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक केन्द्रीय कल्याण सभा का लक्ष्य ९६० कल्याण विस्तार प्रोजेक्टों की स्थापना का है, जिनमें ९,६०० कल्याण केन्द्र होंगे। फलतः ९६,००० गाँवों की ५७६ लाख जनता को लाभ होगा। योजना का कुल व्यय १,५०३ लाख रुपया होगा, जिसमें केन्द्रीय कल्याण सभा का भाग ७३६ लाख रुपया होगा।

इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ के नियन्त्रण मे अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष (Unicef) भारत मे कार्य कर रहा है, जिसका सामंजस्य उक्त संस्था से स्थापित किया गया है।

---

* India 1960 and भारतीय समाचार · जून १, १९६०।

जिससे सम्पूर्ण भारत मे रेलवे का जाल बिछाया जा सके । उसके बाद ७ मई सन् १८४३ को भारतीय गवर्नर जनरल ने रेलवे की आवश्यकता को शासकीय मान्यता दी, जिससे विभिन्न कम्पनियो के साथ वार्ता होने लगी । फलस्वरूप १७ अगस्त सन् १८४६ मे प्राथमिक वैधानिक समझौते पर भारत सरकार, ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला तथा ईस्ट इण्डियन रेलवेज के प्रतिनिधियो के हस्ताक्षर हो गये तथा भारत मे गारन्टी पद्धति पर रेलवे का श्रीगणेश हुआ । इस समझौते की प्रमुख शर्तें थी :—

(१) भारत के निश्चित रेलवे का आकार एव उनकी पूर्णता की जिम्मेवारी संयुक्त स्कन्ध कम्पनियो को सौंप दी गई ।

(२) भारत सरकार ने कम्पनियो द्वारा प्राप्त पूँजी पर ब्याज की जमानत दी, परन्तु साथ ही कम्पनियो के खर्चों एवं क्रियाओ पर नियन्त्रण रखा । यह ब्याज ९९ वर्ष के लिए ४½% मे ५% की दर से देना निश्चित हुआ था ।

(३) रेल्वे कम्पनियो को भारत मे निःशुल्क जमीन दी गई ।

(४) निश्चित दर (४½% मे ५%) अधिक लाभ होने पर आधा लाभ सरकार को जमानत के रूप मे ब्याज की पूर्णता के लिए दी हुई राशि के भुगतान के उपयोग में लाया जायगा तथा शेष ५०% हिस्सेदारों मे बाँटा जायगा, यह निश्चित हुआ ।

(५) भारत सरकार २५ अथवा ५० वर्ष बाद अपनी इच्छा से यदि चाहे तो रेल्वे, रेल्वे का सामान (Rolling Stock) आदि समुचित मूल्यांकन से खरीद सकती थी । इस समझौते से रेल्वे निर्माण के आरम्भ की ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही। आरम्भ हो गई ।

रेल्वे निर्माण—

रेल्वे में प्रयोग के लिए सबसे पहले सन् १८४५ मे कलकत्ते से रानीगज के लिए १२० मील का लोह मार्ग बनाया गया । इसके बाद, समझौता होने के पश्चात् ही अन्य मार्गों का निर्माण हुआ, जिनमे बम्बई से कल्याण का ३६ मील का फरवरी सन् १८५१ मे, दूसरा बम्बई से थाना तक २० मील का लोह मार्ग १६ अप्रैल सन् १८५३ तथा ३६ मील का तीसरा मार्ग कलकत्ता से पडुआ तक का आरम्भ हुआ । ये तीनों मार्ग रेल्वे की उपयोगिता एव सफलता को आकने के लिए बनाये गये थे । इसके बाद सन् १८५३ के प्रारम्भ मे तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत के विविध रेल्वे इञ्जीनियरो तथा विशेषज्ञो की रिपोर्टों के परिशीलन के बाद रेल्वे निर्माण के सम्बन्ध में अपना नोट इङ्गलैंड मे भेजा । इसमें व्यापारिक, औद्योगिक एव राजनैतिक दृष्टि से भारत में रेलवे के महत्त्व का परिचय देते हुए ट्रंक रेलवे के निर्माण पर जोर दिया । इस प्रकार वास्तव में सन् १८५३ मे ही रेल्वे के निर्माण का प्रारम्भ हुआ । तब से रेलवे का विकास काफी हुआ और आज भारत मे ३४,४४६ मील के रेल मार्ग है, जो

स्त्री श्रम सम्बन्धी) उनको रोजगार देने की प्रवृत्ति कम हो जाती है, जिसका प्रमाण उत्तर-प्रदेश के आंकडों से मिलता है। सन् १९३९ मे उत्तर-प्रदेश मे स्त्री मजदूरो की सख्या ४,८०३ थी, जो सन् १९५० मे केवल २,३९७ रह गई, क्योकि नियोक्ता प्रसूति की सुविधाएं नही देना चाहते। परन्तु बीमा अधिनियम के आयोजन से व्यय मे तीनों का हिस्सा होने के कारण नियोक्ताओ का नैतिक स्तर उन्नत होता है तथा *सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए मजदूर भी अधिकार से मांग कर सकते हैं।* इसलिये सेवायुक्त सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४७ मे स्वीकृत हुआ तथा ६ अक्टूबर सन् १९४८ मे बीमा कॉर्पोरेशन का उद्घाटन हुआ।

शासन प्रबन्ध —

इस प्रमण्डल मे शासकीय प्रमण्डल के ३८ सदस्य हैं, जिसमे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो, नियोक्ताओं एव मजदूरो के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार इसमे केन्द्रीय ससद तथा डॉक्टरी पेशे के प्रतिनिधि भी है। कॉर्पोरेशन का शासन-प्रबन्ध स्थायी समिति करती है, जिसमे १३ सदस्य होते है, जो इन्ही ३८ सदस्यो में से चुने जाते है। इस स्थायी समिति पर मजदूर एव नियोक्ताओ का समान प्रतिनिधित्व होता है। इसी प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत औषधोपचार एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का आयोजन करने तथा सलाह देने के लिए सन् १९४८ मे डॉक्टरो की भी एक परिषद बनाई गई है। इस औषधोपचार लाभ-परिषद् के २८ सदस्य हैं। बीमा प्रमण्डल के प्रमुख अधिकारियो की नियुक्ति तथा लेखा-जोखा रखना एव उसकी जांच कराने का *अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। इस कॉर्पोरेशन के शासन की जिम्मेवारी प्रमुख* संचालक पर है, जिसकी सहायता के लिए चार प्रमुख अधिकारी है। प्रमुख सचालक सम्पूर्ण शासकीय कार्यवाही प्रादेशिक तथा स्थानीय कार्यालयो के माध्यम से करता है। इस कार्य की प्रादेशिक सलाहकार सभाएं भी हैं, जिनमें नियोक्ता, मजदूर एवं प्रान्तीय सरकारो के प्रतिनिधि हैं।

अधिनियम से मिलने वाले लाभ—

यह अधिनियम उन सभी कारखानो पर लागू होता है जो १२ मास काम करते हो, बिजली से चलते हो और जिनमे २० या इससे अधिक कर्मचारी हो, जिनकी मासिक मजदूरी ४००) रु० से कम हो। सितम्बर सन् १९५१ मे औद्योगिक मजदूरों को स्वास्थ्य एव औषधि सम्बन्धी लाभ देने के लिए इस अधिनियम मे सशोधन किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति में केवल स्वास्थ्य एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं दी जायेंगी, जो निम्न हैं:—

(१) चिकित्सा तथा औषधि एव स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य सुविधाएं।

(२) औद्योगिक मजदूरो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे अधिकृत जानकारी एकत्रित करने के लिए शासकीय व्यवस्था की जायगी। इस व्यवस्था का हेतु सरकार का ध्यान मजदूरो के स्वास्थ्य की ओर आकर्षित करना तथा उसको सुधारने के लिए आव-

श्यक सलाह देने का है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक अभाव के कारण प्रत्यक्ष कार्य नहीं हो सकेगा ।

संशोधित योजना के अनुसार एक बीमा-निधि बनेगा । सम्पूर्ण योजना लागू होने पर मजदूरों एवं नियोक्ताओं के चन्दे से मिलाकर इस निधि की वार्षिक आय २·०५ करोड़ रुपया होगी, जिसमें से मजदूरों का चन्दा ४१ लाख तथा नियोक्ताओं का चन्दा १६४ लाख रुपये होगा ।

अन्य सुविधाएँ—

अधिनियम पूर्ण रूप से लागू होने पर औद्योगिक मजदूरों को निम्न सुविधाएँ मिलेंगी :—

सुविधाएँ	समय	लाभ की दर
(१) बीमारी सम्बन्धी सुविधाएँ ।	प्रत्येक वर्ष में ८ सप्ताह तक	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ अंश की दर से ।
(२) जच्चे सम्बन्धी सुविधाएँ ।	१२ सप्ताह तक ।	१२ आने प्रति दिन की दर से अथवा बीमारी सम्बन्धी सुविधाओं की दर से (जो अधिक हो) ।
(३) अयोग्य मजदूरों के लिए सुविधाएँ ।		
(I) स्थायी अयोग्यता की दशा में ।		
(अ) सम्पूर्ण क्षति के लिए	आजीवन	साप्ताहिक मजदूरी के ७/१२ भाग की दर से।
(ब) आंशिक अयोग्यता के लिए	इस दशा में अयोग्यता के अनुसार वर्कमेंस कम्पेन्सेशन एक्ट के अनुसार पूर्ति की राशि मजदूर को मिलेगी ।	
(II) अस्थायी अयोग्यता के लिए	अयोग्यता जब तक रहे तब तक ।	साप्ताहिक भृत्ति के ७/१२ अंश के हिसाब से ।
(४) मजदूरों पर आश्रित व्यक्तियों के लिए	(अ) मजदूर पर आश्रित उसकी विधवा स्त्री के लिए, उसकी मृत्यु तक अथवा पुनर्विवाह की अवधि तक ।	उसकी भृत्ति के ३/५ की दर से । यदि मृतक की दो विधवाएँ हैं तो उन्हें इस दर का आधा-आधा ।
	(ब) उसके वैधानिक वारिस के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु तक और यदि वह शिक्षा ले रहा है तो उसकी १८ वर्ष की आयु तक ।	मृतक की भृत्ति के २/५ की दर से प्रत्येक लड़के को ।

	(स) मृतक की वैधानिक लडकी के लिये उसकी १५ वर्ष की आयु अथवा उसके विवाह होने तक (इनमे जो भी कम हो) और यदि वह पढ रही है तो १७ वर्ष की आयु तक।	मृतक की भृत्ति के $\frac{2}{5}$ की दर से प्रत्येक लड़की को।
(५) औषधि एवं इलाज सम्बन्धी सुविधाएँ।	इसके अनुसार मजदूरो को साधारण औषधालयो को सुविधा मिलेगी।	

कर्मचारी राज्य बीमा निगम का अर्थ प्रबन्ध—

कॉरपोरेशन के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओ पर जो व्यय होगा उसकी व्यवस्था के लिए सेवायुक्त-सरकारी बीमा निधि बनाया गया है। इसमे नियोक्ता एवं मजदूरो का चन्दा तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारें सहायता के रूप में जो राशि देंगे, वह जमा होगी। इसी प्रकार धर्मार्थ सहायता की राशि भी इसी निधि में जमा होगी। मजदूर एवं नियोक्ताओ के चन्दे की दर उनकी आय के अनुसार निश्चित की गई है। मजदूरो को चन्दा देने के लिए उनकी आय के अनुसार मजदूरो का विभाजन ८ वर्गों मे किया गया है, जिसके अनुसार नियोक्ताओ का चन्दा भी होगा। चन्दे की दरें निम्न है :—

भृत्तिसमूह	मजदूरो का चन्दा	नियोक्ताओ का चन्दा	योग
(१) दैनिक वेतन १) से कम	—	०- ७-०	०- ७-०
(२) ,, १) से १॥) तक	०- २-०	० ७-०	०- ६-०
(३) ,, १॥) से २) तक	०- ४-०	०- ८ ०	०-१२-०
(४) ,, २) से ३) तक	०- ६-०	०-१२-०	१- २ ०
(५) ,, ३) से ४) तक	० ८-०	१- ०-०	१- ८-०
(६) ,, ४) से ६) तक	०-११-०	१- ६-०	२- १-०
(७) ,, ६) से ८) तक	०-१५-०	१-१४-०	२ १३-०
(८) ,, ८) से अधिक किन्तु ४००) मासिक से कम	१- ४-०	२- ८ ०	३ १२ ०

अधिनियम के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओ का वार्षिक व्यय मजदूरो एवं नियोक्ताओ के चन्दे से लिया जायगा, परन्तु शासकीय व्यय की जिम्मेवारी नियोक्ताओ की है। परन्तु प्रथम पांच वर्ष में औषधोपचार सुविधायें देने के लिये जो शासकीय व्यय

होगा वह केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारें ६६$\frac{2}{3}$% तथा ३३$\frac{1}{3}$% अनुपात मे देंगी। उपरोक्त दरो के अनुसार नियोक्ताओ को चन्दा देना अनिवार्य है।

प्रारम्भिक स्थिति मे अस्थाई रूप से नियोक्ताओ की दरो मे संशोधित अधिनियम से परिवर्तन किये गये हैं, जिसके अनुसार सभी नियोक्ताओ को अपने कारखाने मे दी जाने वाली कुल मजदूरी के ०·७५% चन्दा देना पडता है। जिन क्षेत्रो मे सुविधायें दी जा रही है वहां के नियोक्ताओ के लिए यही चन्दा सम्पूर्ण मजदूरी के १·२५% है। नियोक्ताओ को बीमा योजना वाले क्षेत्रो मे मजदूर क्षति पूर्ति अधिनियम तथा मातृत्व लाभ अधिनियम के अन्तर्गत सुविधायें देने की आवश्यकता नही है, इसलिए उनके चन्दे की दर $\frac{1}{2}$% से अधिक है।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम की क्रियाएँ—

इसके *अन्तर्गत स्वास्थ्य बीमा योजना सर्व प्रथम* २४ फरवरी सन् १९५२ को दिल्ली और कानपुर में आरम्भ की गई थी। क्रमशः इस योजना का विस्तार देश के *अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे भी किया गया,* जिससे १४·४३ लाख औद्योगिक श्रमिको को लाभ मिल रहा है। इस समय यह योजना दिल्ली, कलकत्ता एव हावड़ा के औद्योगिक केन्द्रो में, आन्ध्र राज्य के ६, उत्तर-प्रदेश के ४, मध्य-प्रदेश, केरल और मद्रास के पाँच पाँच, *पजाब* के ७ और *राजस्थान* के ६, *आसाम, बिहार तथा मैसूर* के औद्योगिक केन्द्रो के श्रमिको को लागू होती है। २७ मार्च सन् १९६० से आध्रप्रदेश मे सिरपुर, बिहार मे डालमियानगर वजारी आदि, मद्रास में डालमियापुरम तथा मैसूर मे हुबली मे इस योजना का विस्तार किया गया है, जिससे १६,४५० श्रमिको को लाभ मिलेगा।[1]

सन् १९५८-५९ वर्पान्त मे श्रमिको का चन्दा ३·८१ करोड़ रुपये और नियोक्ताओ का चन्दा २·९० करोड रुपये रहा। इसी अवधि मे बीमित व्यक्तियो को निम्न के लाभ दिए गए :—

बीमारी सम्बन्धी सुविधायें	१८५ लाख रु०
प्रसूति सम्बन्धी सुविधायें	१०·२६ ,,
अयोग्यता सुविधायें	४०·७१ ,,
आश्रित सम्बन्धी सुविधाये	९·३२ ,,
योग	२४५·२६ लाख रु०[2]

इसी वर्ष मे योजना के अन्तर्गत आध्र, आसाम, बिहार, मैसूर, मध्य-प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, *उत्तर-प्रदेश तथा दिल्ली* के क्षेत्रो में *बीमित व्यक्तियो* के ४·१० लाख परिवारो को चिकित्सा सुविधाओ का विस्तार किया गया है।

---

१. भारतीय समाचार अप्रैल १५, सन् १९६०

2 *India—1960.*

इस प्रकार राज्य कर्मचारी बीमा निगम अधिकाधिक सुविधायें देने के लिए प्रयत्नशील है। इस निगम का यही प्रयास है कि श्रमिक परिवारों को सभी राज्यों मे चिकित्सा की समान सुविधायें मिलें।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) एवं श्रमिक—

हमारे श्रमिकों के लिए प्रारंभिक अवस्था मे जो भी विधान स्वीकृत हुए एवं सुधार किये गये उनका बहुत सा श्रेय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को है। इसी संगठन के वार्षिक अधिवेशनों मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि अपने-अपने देश के श्रमिकों की चर्चा कर उसमे सुधार करने के लिए प्रस्ताव स्वीकार करते हैं एवं किन देशों में उन पर कार्यवाही हो रही है, इसकी जाँच भी करते हैं। इस संगठन की स्थापना (सन् १९१९) के समय से ही भारत इसका सदस्य है एवं उसकी शासकीय सभा पर सन् १९२२ से अपना स्थायी रूप से एक प्रतिनिधि रखने का भारत को अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के ९० प्रस्तावों (Conventions) में से भारत ने २३ प्रस्तावों का अवलम्ब कर मजदूर-सनियमो मे आवश्यक संशोधन किये है।

इनमे से निम्न प्रतिज्ञा प्रस्ताव महत्वपूर्ण है :—

(अ) औद्योगिक संस्थानों के काम के घन्टे सीमित करना,

(आ) स्त्रियों एवं १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को रात पाली मे काम देने पर रोक,

(इ) दुर्घटना अथवा मृत्यु की दशा मे श्रमिक की हानिपूर्ति,

(ई) डॉक-श्रमिकों की दुर्घटनाओं से सुरक्षा,

(उ) किसी प्रकार के अनिवार्य श्रम (बेगार) पर रोक,

(ऊ) श्रम-परीक्षण की पद्धति, तथा

(ए) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।

इस संस्था के दो सम्मेलन भारत मे हुए, पहिला सन् १९४७ मे तथा दूसरा नवम्बर सन् १९५७ मे। इसके सिवा इस संगठन से भारत को विशेषज्ञों की सुविधाएं तथा प्रशिक्षण सुविधायें भी मिलती हैं।

उपसंहार—

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने नये नये विधानों द्वारा गत ५ वर्षों मे पर्याप्त सुविधाएं दी है और मजदूरों ने भी सरकार के हाथ मजबूत बनाने मे सहयोग दिया है। क्योंकि औद्योगिक कलहों की संख्या कम हो रही है। अब मजदूरों को यह विश्वास है कि वे नियोक्ताओं की दया पर ही निर्भर नहीं हैं, अपितु देश की औद्योगिक प्रगति मे उनका भी उतना ही हिस्सा है, जितना मिल मालिकों का। भारत के औद्योगीकरण की नवीन योजनाओं के साथ मजदूरों की मांग भी बढ़ेगी और उनका महत्व बढ़ता जायगा। देश की कोई भी औद्योगिक योजना तब तक सफल नहीं होगी

विभिन्न यातायात-साधनों में सामञ्जस्य लाने के लिए युद्ध यातायात सभा की स्थापना हुई। इसके सामने तीन समस्यायें थीं :—

(अ) रेल्वे से अधिक से अधिक युद्ध सामग्री एवं सेना को भेजना।

(ब) यातायात के अन्य साधनों को प्राप्त करना।

(क) उपरोक्त शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक आयोजन करना।

इस सभा की सिफारिश के अनुसार फरवरी सन् १९४२ में केन्द्रीय यातायात-संगठन का निर्माण किया गया तथा इसके साथ सामंजस्य करने के लिए प्रान्तीय प्रादेशिक यातायात सभाओं का निर्माण भी हुआ। इन सभाओं का काम रेलों पर भीड़ कम करना था। इसलिये ये अन्य मार्गों से माल आदि के यातायात को भेजने का प्रयत्न करते थे। फिर भी समस्या का हल नहीं हुआ। इसलिए प्राथमिकता-पद्धति अपनाई गई, जिसके अनुसार केवल आवश्यक वस्तुओं को ही रेल द्वारा यातायात में प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी रेल्वे में भीड़ कम नहीं हुई। माल के यातायात के दर भी बढ़ाये गये, परन्तु इसमें भी कमी नहीं आई। सन् १९३९-४० में जहाँ यात्रियों की संख्या ५३ करोड़ थी वह सन् १९४४-४५ में ९३ करोड़ हो गई। इसी प्रकार माल यातायात में जहाँ सन् १९३९-४० में रेल द्वारा ९·२० करोड़ टन भेजा जाता था वहीं सन् १९४४-४५ में १०·२ करोड़ भेजा जाने लगा। ऐसी स्थिति में भी भारतीय रेलों ने देश की सैनिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की, जो सराहनीय है।

युद्धोत्तर-काल में

सैनिकों का विस्थापन, अतिरिक्त सैनिक सामग्री का तथा कमी वाले प्रदेशों में अन्न अन्न का यातायात करने की जिम्मेवारी रेल्वे पर आ गई। इससे रेल्वे यातायात की दशा और भी खराब हो गई। क्योंकि युद्धोत्तर-काल में रेल्वे की समस्यायें ऐसी थी जिनका तत्कालीन हल सम्भव नहीं था, जैसे—रेल्वे के इञ्जनों का नवीनीकरण आदि। साथ ही, सन् १९४७ में देश विभाजन ने समस्या को और भी गम्भीर बना दिया।

देश का विभाजन होने के कारण भारतीय रेल मार्गों का बहुत सा भाग पाकिस्तानी प्रदेश में गया। जो रेल मार्ग विभाजन से विशेष प्रभावित हुए उनमें नॉर्थ-वेस्टर्न रेल्वे, आसाम रेल्वे, बंगाल एवं आसाम रेल्वे तथा जोधपुर रेल्वे थी, जिनका ७,००० मील लम्बाई का मार्ग पाकिस्तानी हिस्से में गया। विभाजन से भारतीय रेलों की स्थिति निम्न हो गई :—

	भारत	पाकिस्तान
रेल्वे इञ्जन	७,२४८	१,३३९
सवारी डिब्बे	२०,१६६	४,२८०
माल के डिब्बे	२,१०,०९९	४०,२२१
रेल मार्ग	३०,०१७ मील	६,९५७ मील
रेलों में लगी हुई पूंजी	५६७·७३ करोड़ रु०	१३६ करोड़ रु०

होने लगी, इसलिए उन्होंने भारत-सचिव पर इस बात का दबाव डाला कि वे भारत में कारखानों के नियन्त्रण के लिए ब्रिटिश फैक्टरी एक्ट लागू करें। फलस्वरूप सन् १८७६ में फैक्टरी आयोग की नियुक्ति हुई तथा भारत में सन् १८८१ में पहला फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इस कानून की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) यह अधिनियम उन समस्त कारखानों पर लागू होता था, जिनमें १०० से अधिक मजदूर काम करते हों एवं शक्ति का उपयोग होता हो। [बगीचा उद्योग इसमें नहीं था]।

(२) ७ वर्ष से कम आयु के बच्चे फैक्टरी में काम नहीं कर सकते थे तथा ७ से १२ वर्ष की आयु के बच्चों से प्रति दिन ६ घन्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था, जिसमें १ घन्टे का अवकाश भी सम्मिलित था। ऐसे बालकों को मासिक चार छुट्टियाँ देना अनिवार्य कर दिया गया।

इस अधिनियम से किसी को भी सन्तोष न हुआ। इसके बाद सन् १८८२ में फैक्टरी निरीक्षक श्री विङ्क की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये, अतएव बम्बई सरकार ने सन् १८८४ में एक समिति की नियुक्ति की, जिसका कार्य इन सिफारिशों को फैक्टरी में लागू करने के सम्बन्ध में विचार करना था। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन भी हुआ तथा मेन्चेस्टर के वस्त्र उद्योगपतियों ने भारत में अंग्रेजी फैक्टरी विधान लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला। फलस्वरूप सन् १८९१ में दूसरा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी प्रमुख धाराएँ :—

(१) यह विधान ५० से अधिक मजदूर काम करने वाले एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानों पर लागू होता था। स्थानीय सरकार को यह अधिकार दिया गया था कि वह यह विधान २० व्यक्ति तक काम करने वाले कारखानों पर लागू कर सके।

(२) बच्चों की न्यूनतम् एवं अधिकतम् आयु ९ से १४ वर्ष कर दी गई तथा उनके काम के ७ घन्टे प्रति दिन नियमित किये गये।

(३) स्त्री मजदूरों से प्रति दिन ११ घन्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था, जिसमें १½ घन्टे का विश्राम भी देना था। परन्तु स्त्रियों से प्रातः ५ बजे से पूर्व एवं सायंकाल ७ बजे के बाद काम नहीं लिया जा सकता था।

(४) पुरुष-मजदूरों को ½ घन्टे का अवकाश एवं १ साप्ताहिक छुट्टी की व्यवस्था की गई। इसके अलावा फैक्टरी के सुधार के लिए भी आयोजन किया गया था।

कुछ वर्षों बाद सन् १९०४ में आर्थिक तेजी आई जिससे वस्त्र-उद्योग में अधिक घन्टे अतिरिक्त काम किया जाने लगा। पटसन व्यवसाय की भी प्रगति होने

लगी। लङ्काशायर के वस्त्र-व्यवसायियों एवं डंडी के पटसन व्यवसायियों को दृष्टि से यह अधिनियम सन्तोषजनक नहीं था। इसलिए भारत सरकार ने सन् १६०७ में एक आयोग की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के अनुसार सन् १६११ का फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ थीं :—

(१) यह विधान मौसमी कारखानों पर भी लागू किया गया।

(२) बच्चों के काम के ६ घन्टे प्रति दिन निर्धारित किये गये तथा उनकी आयु एवं शारीरिक योग्यता का प्रमाण आवश्यक कर दिया गया।

(३) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् घंटे १२ निश्चित किये गये, जिसमें ½ घन्टे का विश्राम सम्मिलित था।

(४) स्त्री मजदूरों से धुनाई कारखानों के अतिरिक्त अन्य कारखानों में रात को काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) इस अधिनियम से मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए भी काफी व्यवस्था की गई।

इस विधान को सन् १६१४-१६१६ के युद्ध-काल में कुछ शिथिल कर दिया गया था, परन्तु युद्धोत्तर-काल में श्रम-सङ्घ आन्दोलन ने जोर पकड़ा तथा सन् १६२० में भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ का सदस्य बना। इन दोनों घटनाओं से मजदूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए कानून की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। फलतः सन् १६२२ में चौथा फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इसकी मुख्य धाराएँ :—

(१) २० अथवा इससे अधिक मजदूर एवं शक्ति का उपयोग करने वाले सभी कारखानों पर यह लागू होता था।

(२) स्थानीय सरकार को अधिकार था कि वह इस विधान को किसी भी वर्कशॉप पर लागू कर सकती थी, जिसमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हों।

(३) बच्चों को कार्य करने की आयु १२ से १५ वर्ष तक निश्चित कर दी गई।

(४) पुरुष मजदूरों के काम के अधिकतम् दैनिक घन्टे ११ तथा साप्ताहिक घन्टे ६० निश्चित किये गये।

(५) सभी मजदूरों के लिए एक घन्टा दैनिक विश्राम निश्चित किया गया तथा कोई भी मजदूर लगातार १० दिन से अधिक दिन बिना छुट्टी के गैर हाजिर नहीं रह सकता था। साप्ताहिक १० दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई।

(६) इसी प्रकार खतरनाक उद्योगों में १७ वर्ष से कम आयु के बच्चे एवं स्त्री मजदूरों से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इस विधान में कुछ थोड़े से संशोधन सन् १६२३ एवं सन् १६२६ में किए गये। तदुपरान्त मजदूरों की फैक्टरी में काम करने की स्थिति एवं तत्कालीन फैक्टरी

विधान का अध्ययन करने के उपरान्त सुझाव प्रस्तुत करने के लिए व्हिटले कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सन् १६३१ में अपनी रिपोर्ट दी। फलस्वरूप पाँचवाँ फैक्टरी एक्ट सन् १६३४ पास हुआ। इसकी मुख्य विशेषताएँ :—

(१) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे कारखानों में काम पर नहीं रखे जा सकते थे, परन्तु जो १२-१५ वर्ष आयु के होते थे उन्हें खतरनाक उद्योगों में नियुक्त नहीं किया जा सकता था।

(२) बाल-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे ५ निश्चित किए गये तथा उनसे रात में काम लेने पर रोक लगाई गई।

(३) वयस्क-मजदूरों के काम के दैनिक घन्टे १० तथा कुल साप्ताहिक घन्टे ५४ निश्चित किए गये। परन्तु दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने वाले कारखानों के लिए साप्ताहिक घन्टे ५६ नियत किए गये। मौसमी कारखानों के लिए साप्ताहिक काम के घन्टे ६० निश्चित किए गये। इस प्रकार इस अधिनियम में स्थायी एवं मौसमी कारखानों को विभक्त किया गया।

(४) १५ से १७ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों को 'युवा' की श्रेणी में रखा गया तथा डॉक्टरी प्रमाण-पत्र के बिना इनसे वयस्क व्यक्तियों का काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए अन्य आयोजन किए गये, जैसे— (अ) पीने के लिए स्वच्छ पानी, (ब) प्राथमिक औषधोपचार, (स) ५० से अधिक स्त्री मजदूर काम करने वाले कारखानों में झूले (Creches) लगाना, (द) कारखानों में नमी रखने (Artificial Humidity) का प्रबन्ध इत्यादि।

सन् १६३४ के फैक्टरी एक्ट में संशोधन करने के लिए सन् १६४६ में फैक्टरी संशोधन विधान पास हुआ। इस विधान के अनुसार :—

(१) स्थायी कारखानों के काम के साप्ताहिक घन्टे ४८ तथा मौसमी कारखानों के साप्ताहिक घन्टे ५० कर दिए गये।

(२) 'फैलाव' (Spread-over) का सिद्धान्त जो सन् १६३४ के फैक्टरी विधान द्वारा लागू किया गया था, उसका समय स्थायी कारखानों में एवं मौसमी कारखानों में क्रमशः १० और ११ घंटे कर दिया गया।

(३) अतिरिक्त मजदूरी के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अतिरिक्त मजदूरी की दर औसत मजदूरी की दुगुनी कर दी गई।

तदुपरान्त सन् १६४८ में उन सब फैक्टरी-एक्टों को रद्द कर दिया गया, जो उस समय तक पास किए गये थे तथा उनका एकत्रित कर नया फैक्टरी विधान बनाया। इस नये विधान की प्रमुख बातें है :—

(१) यह विधान सभी औद्योगिक संस्थाओं को, जिनमें १० अथवा इससे अधिक मजदूर काम करते हो एवं शक्ति का उपयोग होता हो तथा जहां २० से अधिक मजदूर कार्य करते हों, किन्तु शक्ति का उपयोग न होता हो, लागू होगा।

(२) इस विधान से स्थायी एवं मौसमी कारखानों का भेद समाप्त कर दिया गया।

(३) बाल श्रमिकों की न्यूनतम आयु १४ वर्ष निश्चित की गई है तथा 'युवा' के लिये अधिकतम आयु १७ वर्ष कर दी गई।

(४) वयस्क श्रमिकों के लिये काम के साप्ताहिक घण्टे ४८ तथा दैनिक घण्टे ८ निश्चित कर दिये गए। 'फैलाव' दिन में १०½ घण्टे निश्चित किया गया है।

(५) बाल एवं युवा मजदूरों के लिये काम के दैनिक घण्टे ४½ तथा फैलाव ५ घण्टे निश्चित किया गया है।

(६) कोई भी वयस्क श्रमिक ½ घण्टे का विश्राम लिये बिना लगातार ५ घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(७) स्त्री एवं बाल मजदूरों से सायं ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक काम नहीं लिया जा सकता।

(८) अतिरिक्त काम के लिये मजदूरों को उनकी साधारण मजदूरी की दुगुनी मजदूरी देने की व्यवस्था की गई है।

(९) मजदूरों के लिये १ दिन के साप्ताहिक अवकाश की व्यवस्था की गई। इसके अलावा लगातार १२ माह की नौकरी करने वाले वयस्क मजदूर को प्रति २० दिन के पीछे १ दिन की सवेतन छुट्टी लेने का अधिकार मिला, परन्तु न्यूनतम १० दिन की सवेतन छुट्टी वह एक वर्ष में ले सकेगा। बाल-मजदूरों के लिये प्रति १५ दिन पीछे १ छुट्टी, परन्तु न्यूनतम १४ दिन सवेतन छुट्टी वह ले सकेगा।

(१०) स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं श्रम-सुधार कार्य के लिये स्पष्ट रूप से पर्याप्त प्रबन्ध किया गया।

(११) यह विधान भारत के सभी प्रान्तों एवं विलीन राज्यों को लागू होगा तथा राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिये गये हैं।

खान में काम करने वाले श्रमिकों के लिये—

खान में काम करने वाले श्रमिकों के लिए सर्व प्रथम सन् १९०१ में वैधानिक आयोजन किया गया, जब भारतीय खान विधान १९०१ पास हुआ। इस विधान से खान-निरीक्षकों की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया। सन् १९२३ में इस विधान में मूलगामी परिवर्तन हुए, जिनके अनुसार :—

(१) जमीन के नीचे १३ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लेने के लिये रोक लगा दी गई।

(२) जमीन के ऊपर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों से साप्ताहिक ६० घण्टे से अधिक तथा जमीन के नीचे काम करने वाले वयस्क-श्रमिकों से ५४ साप्ताहिक घण्टों से अधिक काम लेने पर रोक लगा दी गई।

(३) स्थानीय सरकारों को यह अधिकार मिला कि वे स्त्री-मजदूरों को जमीन के नीचे काम कराने पर रोक लगा सकती थी।

इसके बाद ह्विटले कमीशन की सिफारिशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार सन् १९३५ में खान-विधान में पुनः संशोधन किये गये। इसके अनुसार :—

(१) जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम के साप्ताहिक घण्टे ५४ तथा दैनिक १० घण्टे निश्चित किये गये।

(२) जमीन के नीचे काम करने वाले खान मजदूरों के दैनिक घण्टे ६ निश्चित किये गये और साप्ताहिक घण्टों की सीमा हटा दी गई।

(३) खान में अथवा खान पर काम करने वाले बाल श्रमिकों की न्यूनतम आयु १५ वर्ष निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार १५ से १७ वर्ष तक की आयु वाले श्रमिकों को बिना डाक्टरी प्रमाण पत्र के खानों में काम पर लेने की रोक लगा दी गई।

इस विधान में सन् १९३६, १९३७, १९४० तथा १९४६ में संशोधन हुए। इन संशोधनों के अनुसार :—

(१) यह विधान सभी खानों पर लागू होगा। इस विधान में 'खान' की स्पष्ट परिभाषा भी दी गई है।

(२) जमीन पर काम करने वाले खान श्रमिकों के दैनिक घण्टे १० तथा अधिकतम फैलाव १२ घण्टे निश्चित किया गया, जिसमें ६ घण्टे काम के बाद १ घण्टे का विश्राम भी सम्मिलित है। जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिकों के लिये यही समय ८ घण्टे है।

(३) सभी खान श्रमिकों के साप्ताहिक घण्टों की सीमा ५४ निश्चित की गई है। कोई भी व्यक्ति खान में एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता।

(४) स्त्री एवं पुरुष श्रमिकों के लिए अलग अलग लॉकर रूम एवं स्नान-गृहों का प्रबन्ध कराने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को मिला है। तदनुसार भारत सरकार ने आदर्श नियम (Pit Headbath Rules) बनाये हैं।

इन सम्पूर्ण विधानों का एकीकरण करने तथा उसको फैक्टरीज एक्ट सन् १९४८ के बराबरी में रखने के लिए, भारतीय खान अधिनियम सन् १९५२ में स्वीकृत

हुआ । इस अधिनियम में उपरोक्त विभिन्न विधानो की सभी धाराओं का समावेश किया गया है । साथ ही :—

(१) १५ वर्ष से कम आयु के बालकों को खानों मे काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया है ।

(२) कोई भी व्यक्ति, जिसकी आयु १७ वर्ष की है, खानो में तब तक काम पर नहीं लिया जा सकता, जब तक उसके पास योग्यता सम्बन्धी डाक्टरी प्रमाण-पत्र न हो ।

बगीचा-उद्योग —

बगीचा-उद्योग में काम करने वाले मजदूरो के सम्बन्ध मे सबसे पहिला अधिनियम सन् १९३२ में बनाया गया । यह विशेष रूप से बगीचे पर काम करने के लिए मजदूरो की भर्ती करने के सम्बन्ध मे ही है । इस अधिनियम के अनुसार :—

(१) चाय के बगीचो मे काम करने वाले मजदूर एवं उनके कुटुम्बियो को *प्रत्येक तीन वर्ष के अन्त में अपने घर जाने का व्यय नियोक्ताओं से* प्राप्त करने का अधिकार मिला ।

(२) प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे किसी भी क्षेत्र को नियन्त्रित क्षेत्र (Controlled Emigration) घोषित कर सकते हैं ।

(३) मजदूर नियन्त्रणकर्त्ता (Controller of Emigrant Labour) की नियुक्ति का आयोजन किया गया ।

(४) कोई भी १६ वर्ष से कम आयु का बालक अपने सम्बन्धियों अथवा माता पिता के साथ ही आसाम में जा सकता था । इसी प्रकार विवाहित स्त्री अपने पति के साथ होने पर ही आसाम में बगीचो मे काम करने के लिए जा सकती थी, अन्य नहीं ।

इस विधान के पश्चात् दूसरा बगीचा-मजदूर-विधान सन् १९५१ मे बनाया गया, जो चाय, रबर सिनकोना आदि सभी बगीचे के उद्योगो पर लागू होता है, जिनमें न्यूनतम ३० श्रमिक काम करते हो और जिनका क्षेत्र २५ एकड़ या अधिक हो । इस विधान के अनुसार :—

(१) वयस्क श्रमिकों के काम के साप्ताहिक घन्टे ५४ तथा अवयस्कों के ४० घन्टे अधिकतम निश्चित किए गये ।

(२) १२ वर्ष से कम आयु के बच्चों की नियुक्ति नहीं की जा सकेगी ।

(३) स्त्री श्रमिक एवं बच्चो से सायं ७ से प्रातः ६ बजे तक काम लेने पर रोक लगा दी गई ।

(४) इसके अलावा श्रमिकों के स्वास्थ्य, कल्याण कार्य, शिक्षा, छुट्टियाँ तथा अवकाश के नियमन की भी व्यवस्था की गई ।

यातायात-उद्योग—

रेल कर्मचारियों के काम के घण्टे तथा विश्राम का समय निश्चित एवं नियमित करने हेतु इण्डियन रेल्वेज एक्ट सन् १८६० के ६वें अध्याय में सन् १९३० में संशोधन किया गया। इस संशोधित कानून के अनुसार फैक्टरी एक्ट तथा खान के एक्ट के अन्तर्गत आने वाले रेल कर्मचारियों को छोड़ कर अन्य सभी रेलों के कर्मचारियों के काम के घण्टे ८४ प्रति सप्ताह तथा अन्य कार्य के लिए ६० घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किए गए। इसके अनुसार मजदूरों को दो वर्गों में बाँटा गया :—एक वे जो लगातार काम करते हैं तथा दूसरे वर्ग में वे जो आवश्यक रूप से पारी-पारी (Intermittant) में काम करने वाले हैं। काम के समय आवश्यक विश्राम व सुविधाएँ देने का एवं उसकी देखभाल करने का भी उचित प्रबन्ध इस कानून से किया गया। सन् १९४६ से इस कानून के पालन की जिम्मेदारी प्रमुख श्रम कमिश्नर (केन्द्रीय) की हो गई है।

व्यापारी जहाजों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए सन् १९२३ में 'इण्डियन मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट' बनाया गया। इस विधान में सन् १९३१ में संशोधन हुआ, जिसके अनुसार जहाजों एवं समुद्र पर काम करने वाले बालकों की, युवकों की ट्रिमर्स एवं स्टोकर्स के लिए भरती करने की कम से कम आयु, बेकारी की दशा में हानि-पूर्ति, शारीरिक योग्यता की जाँच एवं प्रमाण-पत्र, जहाज से माल उतारने वाले एवं लादने वाले श्रमिकों की सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था की गई।

इसके पश्चात् बन्दरगाहों पर काम करने वाले सयोगिक श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए सन् १९४८ में 'डॉक वर्कर्स (एम्पलॉयमेन्ट ऑफ़ रेग्यूलेशन) एक्ट' बनाया गया। इस कानून से केन्द्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों को बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिकों की सुविधाओं आदि के लिए तथा उनको नियमित रोजगार देने के लिए आवश्यक नियम बनाने के अधिकार मिले।

अन्य अधिनियम—

श्रमिक क्षति पूर्ति अधिनियम सन् १९२३—

सन् १९२३ में यह अधिनियम प्रथम बार बना, जिसमें क्रमशः सन् १९२६, सन् १९२९ सन् १९३१ तथा सन् १९३३ में निम्न संशोधन किये गये थे:—

(१) किसी भी रोजगार पर होने वाली क्षति, रोजगार सम्बन्धी बीमारी अथवा ऐसी बीमारी एवं क्षति से होने वाली मृत्यु से किसी व्यक्ति की हानि से क्षतिपूर्ति करने का दायित्व नियोक्ता पर होगा। परन्तु क्षति पूर्ति का अधिकार किसी भी व्यक्ति को तभी मिलता है, जब उसकी कोई भी चोट अथवा उसकी मृत्यु काम करने के समय हुई हो। यदि व्यक्ति को नशे की हालत में अथवा अपने कार्य की उपेक्षा से अथवा सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की अवहेलना से हानि होती है तो नियोक्ता उसकी क्षति पूर्ति के लिए बाध्य नहीं है। तीसरे, यदि चोट में अथवा बीमारी से होने

निर्माण से जनता की गत ३२ वर्ष की माँग पूरी होकर देश हित में भाड़ा-नीति हो सकी है।

रेलों का अर्थ-प्रबन्ध—

रेलों के विकास के प्रारम्भ से ही रेलों की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की वित्त व्यवस्था का एक अंग थी। प्रारम्भ से सन् १८९८ तक रेलवे यातायात से सरकार को गारन्टी के कारण प्रति वर्ष हानि होती रही, जिसकी कुल राशि ५८ करोड़ रु० थी। सन् १८९८ में ही सर्व प्रथम रेल यातायात लाभकर साधन हुआ, जिसके बाद अपवाद के लिए सन् १९०८ और १९२१ के वर्षों के अलावा रेलें लाभकर प्रमाणित होती गईं।

रेलों की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऑक्वर्थ समिति ने सन् १९२१ में जांच की और साधारण बजट से रेल-बजट को पृथक करने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश की पृष्ठभूमि में अनेक कारण थे, जैसे—

(१) रेलों का वित्तीय प्रशासन के लिये साधारण बजट पर निर्भर रहना, जिससे रेलों का प्रबन्ध विशुद्ध वाणिज्य सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता था, फलतः उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती थी।

(२) रेलों का वित्तीय प्रबन्ध पृथक होने से साधारण बजट में जो अनिश्चितता थी वह भी दूर हो जाती, क्योंकि रेलों के लाभ का सही अनुमान लगाना असम्भव था, जो व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति पर निर्भर था।

(३) सरकारी वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव रेल के वित्तीय प्रशासन पर होने से रेलों की वित्तीय नीति में समानता नहीं रह सकती थी। अतः उनको पृथक कर देना साधारण बजट एवं रेलों के वित्तीय प्रशासन के लिए वाञ्छनीय समझा गया।

इस सिफारिश के अनुसार सन् १९२४ में संसद में रेलों की वित्तीय व्यवस्था के पृथक्करण का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार रेल-बजट से भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि मिलना तय हुआ। यह राशि देशी राज्यों अथवा कम्पनियों की विनियोजित पूँजी को छोड़कर व्यापारिक रेलों की कुल पूँजी पर १% तथा भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित राशि देकर जो शेष रहे उसका २०% होगी। भारत सरकार को दी जाने वाली राशि चुकाने के बाद जो राशि बच रहेगी वह रेल संचित कोष में जमा होगी। ऐसी राशि ३ करोड़ रु० से अधिक होने पर अधिक राशि का $\frac{2}{3}$ भाग संचित निधि तथा $\frac{1}{3}$ भाग केन्द्रीय सरकार को दिया जावेगा। इस निधि को सरकार को वार्षिक निश्चित राशि का भुगतान करने, घिसावट की राशि, पूँजी की वापिसी तथा भारतीय रेलों की सुदृढ़ता के लिये व्यय किया जा सकता है। इसके अलावा रेलों की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक स्थायी वित्त समिति का निर्माण होगा, जिसमें एक सरकारी पदाधिकारी सभापति होगा तथा शेष ११ सदस्य केन्द्रीय संसद के मनोनीत व्यक्ति होंगे।

है। यह अधिनियम रेल्वे, खान, कारखाने, बगीचे तथा यातायात की कुछ श्रेणियों मे लागू होता है।

न्यूनतम् मजदूरी अधिनियम सन् १९४८—

भारतीय मजदूरो के लिए समय-समय पर जो अधिनियम बने उनमे किसी भी प्रकार के मजदूरो की न्यूनतम मजदूरी का आयोजन नही था। इस कारण मजदूरो का नियोक्ताओ द्वारा शोषण होता रहा। इस शोषण का अन्त करने तथा मजदूरो को न्यूनतम मजदूरी नियत करने के लिए सर्व प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने सन् १९२८ मे प्रस्ताव पास किया। इसी आधार पर भारत में शाही श्रम आयोग (सन् १९३१) ने न्यूनतम् मजदूरी नियत करने की सिफारिश की, परन्तु विदेशी सरकार ने इस दिशा मे कुछ न किया। भारत स्वतन्त्र होते ही सन् १९४८ मे न्यूनतम् भृति अधिनियम पास हुआ :—

(१) यह ऐसे सब कारखानो पर लागू होता है, जहाँ १,००० या इससे अधिक मजदूर काम करते है।

(२) अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम् समय मजदूरी, न्यूनतम् कार्य मजदूरी, गारटीड समय मजदूरी तथा उद्योग, क्षेत्र एवं कार्य की विभिन्नता के अनुसार समुचित अतिरिक्त मजदूरी (Overtime wage) नियत करने का आयोजन है।

(३) यह अधिनियम अनुसूचित उद्योगो मे ही लागू होगा, परन्तु राज्य सरकारें तीन मास की सूचना देकर इसे अन्य किसी भी उद्योग मे लागू कर सकेंगी।

(४) न्यूनतम् भृत्ति निश्चित करने के लिए सरकार को समितियाँ एवं उप-समितियाँ बनाने का अधिकार है। इनकी क्रियाओ मे सामजस्य लाने के लिये केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय सलाहकार समितियाँ नियुक्त करेगी, जिनमे सरकार, नियोक्ता एव मजदूरो के प्रतिनिधि होंगे।

इस अधिनियम के अनुसार अधिकाश अनुसूचित उद्योगो को न्यूनतम् भृत्ति दरें निश्चित की गई है। सन् १९५७ के सशोधन मे ३१ दिसम्बर सन् १९५६ के अन्त तक कृषि तथा अनुसूचित उद्योगो के श्रमिको की प्रारम्भिक न्यूनतम् दरें निश्चित हो जावेंगी।*

उचित भृत्ति—

उचित-मजदूरी-समिति की सिफारिशो के अनुसार अगस्त सन् १९५० मे एक विधेयक भारतीय ससद में प्रस्तुत किया गया था। उचित मजदूरी की दर न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं होगी। उचित भृत्ति निम्न बातो पर निर्भर रहेगी:—(१) राष्ट्रीय

* India—1960

आय, (२) मजदूरी की वर्तमान दरें, (३) उद्योग की उत्पादनशीलता तथा (४) मजदूरों की कार्य क्षमता, परन्तु यह विधेयक पास नहीं हो सका।

कुछ भी हो, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से मजदूरों को न्यायोचित मजदूरी देना समय की माँग है। यह मजदूरी निश्चित करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि देश मे रोजगारी के अवसर अधिकतम् हो। साथ ही, वर्तमान मजदूरी की दरें एक दम न बढ़ाते हुए क्रमशः बढ़ानी चाहिए, जिससे मूल्यस्तर मे स्थिरता रहे।

समुचित मजदूरी की दरें निश्चित करते समय योजना आयोग के निम्न सुझाव विचारणीय है :—

(१) श्रमिकों को राष्ट्रीय आय का उचित अंश मिले, इसलिये मजदूरी सम्बन्धी सभी सुधार सामाजिक सिद्धान्तों के अनुकूल हो तथा उनका हेतु आर्थिक विषमता अधिकतम् सीमा तक दूर करने का हो।

(२) जीवन मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिकों की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, मानसिक एव शारीरिक आवश्यकताएँ, खतरों आदि की ओर ध्यान दिया जाय।

(३) विभिन्न उद्योगो मे श्रमिकों के कार्यभार का वैज्ञानिक निर्धारण किया जाय।

(४) इस सम्बन्ध में पिछड़े हुए क्षेत्रों को प्रधानता दी जाय।

(५) त्रिदल पद्धति पर केन्द्र एव प्रान्तो मे स्थायी-मुक्त सभाएँ बनाई जायें, जो मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं का हल एवं परिस्थिति के अनुसार मजदूरी का मिलान करें।

उपसंहार—

इन सन्नियमों के होते हुए भी उनमें कतिपय दोष हैं, जैसे—एक ही विषय पर केन्द्रीय एवं राज्य सन्नियमों में विषमता, सन्नियमों का कड़ाई से पालन न होना। अतः इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय आधार पर ही सन्नियम बनाये जायें तो अच्छा होगा तथा कम्पनी लॉ प्रशासन की तरह ही श्रम सन्नियम प्रशासन का निर्माण किया जाय तो इन अधिनियमों का कड़ाई से एवं पूरी तरह पालन हो सकेगा।

अध्याय १२

पंच-वर्षीय योजना में श्रम-नीति एवं कार्यक्रम

(Labour Policy & its Programme in Five-Year Plan)

प्रथम पंच वर्षीय योजना की श्रम-नीति में नए सन्नियम बनाने की अपेक्षा तत्कालीन सन्नियमों के प्रभावी प्रशासन पर जोर दिया गया था। औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए विभिन्न स्तरों पर संयुक्त परामर्श प्रस्तावित किया गया था। योजनाकाल में श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी में सुधार करने का विचार था। इसी के साथ श्रमिक राजकीय बीमा, श्रमिकों का प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा सहायक गृह निर्माण योजना आदि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित करने का लक्ष्य था। कारखाने, बगीचे एवं खानों के श्रमिकों की काम करने की दशाओं में भी सुधार करना था। श्रमिकों की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्पादन की समस्याओं का यथाविधि अध्ययन करने के लिए केन्द्रीय श्रम इन्स्टीट्यूट की स्थापना तथा कुछ उद्योगों की उत्पादनशीलता का अध्ययन करने का निर्णय लिया गया था। साथ ही, अनेक प्रान्तों में श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना भी करनी थी।

इस अवधि में औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार हुआ है तथा इस योजना में विभिन्न प्रस्तावों के अनुसार सरकार, उद्योग एवं श्रमिकों के सहयोग से कार्य किया गया है। नियोक्ताओं ने काम करने की दशा सुधारने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता दिखलाई है तथा श्रमिक वर्ग ने भी राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने में अपना योग देने की तत्परता का परिचय दिया है।

दूसरी योजना में श्रम-नीति—

प्रथम पंच वर्षीय योजना में निर्धारित श्रम-नीति तथा औद्योगिक सम्बन्धों के विषय के दृष्टिकोण की प्रमुख बातें दूसरी योजना की अवधि में भी लागू होंगी। यद्यपि समाजवादी पद्धति की समाज रचना करने के निश्चय के कारण इस नीति में कुछ परिवर्तन एवं अनुकूलता लाई गई थी। सरकारी क्षेत्र के विस्तार से इस क्षेत्र के मजदूरों पर अधिक जिम्मेवारी आ गई है। सरकारी क्षेत्र के कारखानों में काम करने की दशाओं में निजी क्षेत्र के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने की यदि हम आशा करें तो सरकारी कारखानों के प्रबन्धकों को मजदूरों के हित के प्रति विशेष जागरूकता रखनी होगी। अतः ऐसी श्रम नीति का निर्धारण मजदूरों के प्रतिनिधि पनेल के सुझावों के

अनुसार किया गया था, जिससे सम्बन्धित पक्षों का समर्थन प्राप्त करे तथा उक्त उद्देश्यों की पूर्ति करे। इस पनेल का निर्माण सन् १९५५ में योजना आयोग ने किया था।

दूसरी योजना की अवधि में श्रमनीति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय विकास हुये। निजी एवं सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के लिए अनुशासन के आदर्श नियम (Code of discipline) बनाये गये हैं, जो स्वेच्छा से नियोक्ता एवं श्रमिकों के केन्द्रीय संगठनों ने स्वीकार किये है तथा सन् १९५८ के मध्य से लागू हैं। इन नियमों के अनुसार श्रमिक एवं नियोक्ताओं की परस्पर जिम्मेवारियों को निश्चित किया गया है, जिसमें सभी स्तरों पर परस्पर सहयोग एवं सद्भावना बढ़े तथा उत्पादन में रुकावट न आवे। श्रम कलहों का निपटारा आपसी समझौतों से हो, जिससे श्रम संघों का स्वतन्त्र गति से विकास हो सके। साथ ही मजदूर काम करने में उपेक्षा न करें और नियोक्ताओं की ओर से श्रमिकों के प्रति हिंसात्मक अथवा अनुचित दबाव-पूर्ण व्यवहार न हो। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार हुआ है तथा आपसी वैमनस्य कुछ अंश तक कम हुआ है। फिर भी निर्णय एवं समझौतों का पालन न होने की शिकायत दोनों ही पक्षों की ओर से हैं और यदि ये चालू रहती है तो "आदर्श नियमों" के मूल हेतु पर ही कुठाराघात होगा। इसलिए वैधानिक अथवा आदर्श नियम एवं समझौतों के कारण आने वाली जिम्मेवारियों की पूर्ति हो रही है। इसकी देख-रेख करने के लिये केन्द्र एवं राज्यों में मूल्यांकन एवं कार्यान्वयन के हेतु व्यवस्था की गई है।

दूसरे श्रमिकों का प्रशिक्षण एवं उनको प्रबन्ध में हिस्सा दिलाने के सम्बन्ध में पर्याप्त उन्नति हुई है। उक्त बातों की उपयोगिता दूसरी योजना में प्रमाणित हो चुकी है, जिसका पूर्ण प्रभाव तीसरी योजना के पाँच वर्षों में होगा।

तीसरी योजना में—

योजना में श्रम सम्बन्धी नीति का निर्धारण श्रम एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों के संयुक्त समझौतों एवं सलाह से किया गया है। इसी आधार पर तीसरी योजना में श्रम नीति एवं कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार हो रहा है और अनेक मामलों में इस सम्बन्ध में निश्चित हो चुका है।

औद्योगिक कलहों का निपटारा न्यायालय तथा ट्रिब्यूनल्स के माध्यम से न्यूनतम् करने के प्रयत्न होंगे, जिससे झगड़ों के निपटारे में अनावश्यक विलम्ब नहीं होगा। आपसी झगड़ों के निपटारे के लिये ऐच्छिक मध्यस्थ (arbitration) के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग करने की पद्धति का आयोजन होगा। मान्य क्षेत्रों में श्रम सम्बन्धी मामलों के प्रजातान्त्रिक प्रशासन के लिये सक्रिय साधन बनाने के लिये वर्क्स समितियों को शक्तिशाली बनाया जायगा। साथ ही, सभी औद्योगिक संस्थानों में लागू करने के लिये उचित शिकायत-पद्धति (Grievance Procedure) का अवलंब होगा।

श्रम-संघों का आपसी वैमनस्य दूर करने के लिये कार्यवाही की जायगी। श्रमिकों का स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली संघ होना ही चाहिये, जिससे सामूहिक सौदेबाजी को औद्यो-

णिक सम्बन्धों मे उचित स्थान मिले। क्योंकि इसी पर देश के आर्थिक जीवन में श्रमिक के सक्रियता की क्षमता तथा उनकी स्थिति निर्भर है।

श्रमिकों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम दूसरी योजना मे अर्द्ध-स्वायत्त सभा के द्वारा सरकार ने आरम्भ किया था, जिसमे श्रमिक एवं नियोक्ताओं का पूर्ण सहयोग है। तीसरी योजना में इसका बड़े पैमाने पर विस्तार होगा। इससे आशा है कि औद्योगिक प्रजातन्त्र सुदृढ होकर विकासशील अर्थव्यवस्था की उन्नति होगी।

श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा—

उद्योग हमारा है, इस भावना की वृद्धि कर उत्पादनशीलता बढाने के लिये श्रमिकों को प्रबन्ध मे भाग देने की व्यवस्था की गई थी, जो इस समय २४ उद्योगों में संयुक्त प्रबन्ध परिषदों मे लागू है। इनका प्रमुख कार्य औद्योगिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण विषयों पर परस्पर विचार-विनिमय से निर्णय लेना है। मार्च सन् १६६० में इस पद्धति का परीक्षण किया गया तथा इसका क्रमशः विस्तार किया जायगा, जिससे यह पद्धति औद्योगिक सगठन का एक साधारण अंग बने। श्रमिकों के जीवन स्तर, उत्पादनशीलता एवं औद्योगिक शान्ति की उन्नति इस पद्धति की सफलता का परिचय देगी।

उत्पादनशीलता का स्तर बढाने के लिये "श्रम-कल्याण एवं कार्यक्षमता" के आदर्श नियम (Code of efficiency and Welfare of the Workers) बनाने का प्रस्ताव है। इसमे इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए श्रम एवं प्रबन्ध की जिम्मेवारियों का स्पष्टीकरण होगा तथा श्रम एवं प्रबन्ध मे सही दृष्टिकोण का विकास होगा।

न्यूनतम् भृत्ति अधिनियम के अन्तर्गत न्यूनतम् भृत्ति निर्धारण करने की जिम्मेवारी सरकार पर है। दूसरी योजना मे उद्योगों के बड़े क्षेत्रों के लिये भृत्ति सभाओं की स्थापना की सिफारिश थी तथा शेष क्षेत्रों में मध्यस्थता, सामूहिक सौदेबाजी आदि से भृत्ति का निर्धारण होना था। अभी तक वस्त्र, सीमेंट, एवं शक्कर उद्योगों मे न्यूनतम् भृत्ति लागू की गई है तथा परिस्थिति के अनुसार अन्य उद्योगों मे इसका विस्तार होगा। श्रम एवं नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों ने इस नीति की पुनः पुष्टि (re affirmed) की है तथा उनका मत है कि भृत्ति सभा की सिफारिशों को पूरी तरह लागू किया जाय। समुचित भृत्ति समिति की रिपोर्ट में भृत्ति निर्धारण के व्यापक सिद्धान्त दिये हैं। इस सहमति के अनुसार भृत्ति सम्बन्धी कलहों के निपटारे के लिये भारतीय श्रम सम्मेलन ने आवश्यक-आधारभूत न्यूनतम् भृत्ति का विश्लेषण (Contents of need-based minimum wage) संकेत किया है। इसका परीक्षण पुनः किया गया है और यह अनुभव किया गया है कि कुशल एवं अकुशल श्रमिकों की भृत्ति की असमानता इतनी कम हो गई है कि कुशलता के प्रलोभन अर्थहीन हो रहे हैं। जिन पहलुओं पर अध्ययन का सगठन प्रभावित है वे है :—

(१) भृत्ति-विषमताएँ (Differentials),

(ii) भृति को उत्पादकता से सम्बन्धित करने के उपाय,
(iii) उत्पादकता को मापने का तकनीक तथा
(iv) वह स्तर जिस आधार पर उत्पादकता के लाभों का विभाजन होना है ।

सामाजिक सुरक्षा—

वर्तमान सामाजिक सुरक्षा के साधनों के समन्वीकरण की योजना बनाने की सिफारिश एक अध्ययन दल ने की है; जिसका निर्माण होना है । भविष्य निधि योजना की दर ६¼% से ८⅓% करने की सिफारिश को सरकार ने मान्य किया है तथा कुछ उद्योगों में इसे लागू भी किया है, परन्तु उद्योगों की क्षमता में विभिन्नता होने से एक तकनीकी समिति का निर्माण किया गया है । वह समिति इस बात का निश्चय करेगी कि कौन से उद्योग इस अतिरिक्त भार को सहन नहीं कर सकेंगे । कर्मचारी राजकीय बीमा योजना के क्षेत्र का विस्तार किया जायगा तथा आवश्यकतानुसार विशेष अस्पतालों की सुविधाओं की व्यवस्था तीसरी योजना में की जायगी । बीमारी रोकने की ओर अधिक ध्यान एवं स्रोत दिये जायेंगे ।

कृषि श्रमिकों के जीवन एवं कार्य करने की दशा पर सन् १९५०-५१ एवं सन् १९५६-५७ की कृषि श्रमिक जांच समितियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है । प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास योजनाओं के परिणामों को दूसरी जांच समिति ने आंका है । तदनुसार कृषि श्रमिकों को आर्थिक प्रगति के लाभों का उचित भाग दिलाने के लिए उनकी आवश्यकताएँ एवं समस्याओं की ओर तीसरी योजना में अधिक ध्यान दिया जायगा ।

प्रशिक्षण—

" तीसरी योजना में अधिक शिल्पियों की मांग की पूर्ति करनी होगी । इस हेतु शिल्प-प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जायगा । दूसरी योजना के प्रारम्भ में प्रशिक्षण क्षमता १०,५०० प्रशिक्षितों के लिए थी, जो सन् १९६०-६१ तक ४०,००० और तीसरी योजना के अन्त तक १ लाख प्रशिक्षितों की होगी । तीसरी योजना में प्रशिक्षण सुविधाओं के सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा । उम्मेदवारी प्रशिक्षण के सम्बन्ध में वैधानिक आयोजन अभी विचाराधीन है ।

श्रमिकों की परिस्थिति एवं समस्याओं को समझने के लिए तथा वर्तमान सूचनाओं में जो कमी (gaps) है उसे दूर करने के लिए खोज-सुविधाओं का विस्तार करने की योजनाएँ विचाराधीन हैं ।

उक्त श्रम-नीति से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार श्रमिकों को अधिकाधिक सुविधाएँ देने के लिए प्रयत्नशील है । परन्तु साथ ही उनसे वृद्धिगत उत्पादनशीलता एवं कार्य-क्षमता की अपेक्षा करती है । इसीलिए तीसरी योजना में उत्पादनशीलता तथा कुशलता बढ़ाने, औद्योगिक शान्ति आदि के लिए भी आवश्यक व्यवस्था करने का लक्ष्य है । अतः श्रमिकों एवं नियोक्ताओं को भी अपनी कर्तव्यपरायणता का परिचय देकर राष्ट्रीय सरकार को प्रोत्साहन देना चाहिए ।

अध्याय १३

भारत में आर्थिक नियोजन

(Economic Planning in India)

"आर्थिक नियोजन का अर्थ ऐसे आर्थिक संगठन के निर्माण से है जिसमे निश्चित अवधि मे जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए सभी उपलब्ध साधनों का नियन्त्रित उपयोग हो।"

आर्थिक नियोजन का अर्थ एवं उद्देश्य—

श्री एल० लॉविन के अनुसार नियोजन से तात्पर्य ऐसी आर्थिक संगठन प्रणाली के निर्माण से है जिसमे निश्चित अवधि में जनता का जीवन स्तर उन्नत करने के लिए समस्त उपलब्ध साधनों का नियन्त्रित उपयोग हो सके। अर्थात् नियोजन में कुछ निश्चित लक्ष्य होना, उसकी पूर्ति के लिए देश के उपलब्ध साधनो की पूर्ण जानकारी एवं उनके अधिकतम् प्रभावी उपयोग के लिए सुव्यवस्थित एवं नियन्त्रित कार्यक्रम होना चाहिए। आर्थिक योजना एवं नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे अन्तर है, यद्यपि दोनों शब्दो का प्रयोग विस्तृत रूप से एक ही अर्थ मे किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक जीवन के यदि सम्पूर्ण नही तो कुछ विशेष पहलुओ के सरकार द्वारा नियन्त्रित एवं नियमबद्ध सचालन को नियोजन कहा जा सकता है।

नियोजन का उपयोग पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनो ही अर्थ व्यवस्थाओ मे होता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे योजना का कार्यक्रम इस दृष्टि से किया जाता है, जिसमे पूँजीवादी प्रथा के दोषो का निवारण हो। परन्तु साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे सरकार विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो का नियन्त्रण इस हेतु करती है, जिससे देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए आर्थिक साधनों का उपयोग हो सके तथा वितरण की विषमता का अन्त होकर सामाजिक जीवन सुखी हो।

इस प्रकार नियोजन का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित जीवन-स्तर प्रदान करना तथा उसके लिए आवश्यक भोजन, कपड़ा, आवास आदि आवश्यक सुविधाओं की अधिकतम् उपलब्धि कराना होता है।

भारत में नियोजन—

आज का युग योजनाओ का है, जिसमे कोई भी देश एवं व्यक्ति योजना बनाए बिना स्पर्धाशील विश्व मे प्रगति नही कर सकता। योजना तो हमारे दैनिक जीवन का एक अंग है। प्रत्येक कुटुम्ब मे हम थोड़ा बहुत नियोजन करके ही अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था करते है। देश भी तो एक बड़ा कुटुम्ब ही है, उसमे तो योजना की आव-

श्यकता अत्यधिक है। क्योंकि जहाँ कौटुम्बिक नियोजन में कर्त्ता को केवल कुटुम्ब के ४-६ सदस्यों की अधिकतम भलाई देखना है, वहाँ देश की सरकार को सम्पूर्ण देश-वासियों की भलाई का ध्यान रखना है। योजना से देशवासियों की प्रगति को गति मिलती है, जिसका उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है। इसलिये, निश्चित सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये देश के साधनों का अनुमान लगाकर उनका उपयोग करने का अच्छा साधन नियोजन है।

भारत में देशव्यापी योजना की आवश्यकता तो पहिले से ही थी, परन्तु इस ओर सन् १६३७ में ध्यान दिया गया, जब देश में कांग्रेस मन्त्रि मंडलों की स्थापना हुई। इस विचारधारा को अक्टूबर सन् १६३८ में रचनात्मक रूप मिला और श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण हुआ। इससे देश की आम जनता का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ। सितम्बर सन् १६३६ में युद्ध आरम्भ होने से तथा इस समिति के सदस्यों की गिरफ्तारी के कारण योजना समिति के कार्य में अनेक रुकावटें आईं। फिर भी समिति ने देश के विभिन्न आर्थिक पहलुओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री अपनी रिपोर्टों में प्रकाशित की है। फलस्वरूप आगे देश में अनेक योजनाएँ बनीं, जैसे—बम्बई योजना, पीपुल्स प्लान, गाँधीवादी योजना आदि, जिनका अब कोई महत्त्व नहीं है। भारतीय स्वतन्त्रता के बाद सन् १६५१ में आई स्वतन्त्र भारत की प्रथम पंच-वर्षीय योजना।

सन् १६४६ में सलाहकार योजना सभा का निर्माण योजना की दिशा में महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय कदम था। इस सभा के सभापति श्री के० सी० नियोगी थे। इसका उद्देश्य देश में बनाई गई विभिन्न योजनाओं की समालोचना कर उस सम्बन्ध में सिफारिश करना, कार्यक्रमों की प्राथमिकता तथा योजना-यन्त्र के सामंजस्य के सम्बन्ध में सिफारिश करना था। इस सभा ने अपनी रिपोर्ट सन् १६४६ के अन्त में प्रस्तुत की, जिसमें योजना का प्रमुख हेतु सामान्य जीवन-स्तर को उन्नत करना तथा सबके लिए उपयुक्त रोजगार देना बताया गया। साथ ही, रिपोर्ट में देश के स्रोतों का अधिकतम विकास तथा उससे निर्मित सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर दिया। परन्तु उसने कोई भी निश्चित लक्ष्यों की सिफारिश नहीं की। इस सम्बन्ध में सभा का मत था :—"वर्तमान समय में भारत में पर्याप्त एवं क्रमबद्ध ज्ञान तथा आर्थिक क्रियाओं पर पर्याप्त एवं विस्तृत नियन्त्रण नहीं है, जिससे योजना अथवा शासकीय योजनाएँ बनाई जा सकें, जिनका संयुक्त प्रभाव निश्चित राशि से प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि हो सके।"[1] इसके अलावा सभा ने प्राथमिकता के सम्बन्ध में यह सिफारिश की थी कि सुरक्षा उद्योग तथा प्राथमिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित उद्योगों[2] को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। सिंचाई, जल विद्युत, लोहा एवं स्पात तथा रसायनों को

1. Report of the Advisory Planning Board (1947), p. 4.
2. Food, Clothing, Housing, Coal and Transport.

भी इतनी ही प्राथमिकता देनी चाहिए। इसके अलावा केन्द्रीय योजना आयोग, केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय, स्थायी प्रशुल्क सभा तथा प्राथमिकता सभा की स्थापना की सिफारिश की थी।"

सन् १६४७ मे देश के विभाजन से नई-नई समस्याएँ उपस्थित हो गई जैसे — खाद्य-समस्या की तीव्रता, रुई एव पटसन का अभाव, विस्थापितो की समस्या आदि। इसके साथ ही भारत के सविधान से केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र का विस्तार तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय क्षेत्र मे अनेक योजनाओ पर कार्य हो रहा था, जिनमे परस्पर सामजस्य न था। इन विभिन्न चालू योजनाओ मे दामोदर घाटी, तुङ्गभद्रा तथा भाकरा बांध योजनाएँ महत्त्वपूर्ण थी।[1] इसलिए तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप योजना बनाना आवश्यक हो गया।

योजना आयोग सन् १६५०—

विभिन्न प्रान्तो तथा केन्द्रीय सरकार की चालू योजनाओ में सामजस्य लाने, वदली हुई आर्थिक परिस्थिति तथा सविधान एव सन् १६४८ की औद्योगिक नीति को ध्यान मे रखते हुए देश के विकास की योजना बनाने के लिए मार्च सन् १६५० मे श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे योजना आयोग का निर्माण हुआ। इसका निम्न कार्य था :—

(१) देश की पूँजी, वस्तु एव मानवी स्रोतो का अनुमान लगाना तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार न्यून स्रोतो की वृद्धि करने की सम्भावना की जाँच करना।

(२) देश के स्रोतो के सन्तुलित एव प्रभावी उपयोग के लिये योजना बनाना।

(३) प्राथमिकता, योजना कार्यान्वित करने की सीढियाँ तथा प्रत्येक सीढी की पूर्ति के लिये साधनो का बँटवारा निश्चित करना।

(४) आर्थिक विकास मे बाधक घटको की ओर सकेत तथा योजना की सफलता के लिये वर्तमान सामाजिक एव राजकीय स्थिति मे आवश्यक शर्तें निश्चित करना।

(५) योजना की सफलता के लिए आवश्यक शासकीय प्रबन्ध निश्चित करना।

(६) योजना की सामयिक प्रगति का परिशीलन कर, आवश्यक हो तो नीति एव साधनो मे आवश्यक मिलान करने के सम्बन्ध मे सिफारिश करना।

(७) अन्य बातो पर सिफारिश करना, जो केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारें आयोग के विचारार्थ भेजें।[2]

---

1. The Five Year Plan-A criticism—Wadia & Merchant, p. 7.
2. The First Five Year Plan—A Summary, p (iii).

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—ये वे सडकें होगी, जो प्रान्तीय एव रियासती राजधानियो, बन्दरगाहो तथा विदेशी मार्गों से सम्बन्ध करेंगी तथा देश के सचार की प्रमुख धमनियाँ होगी।

(२) जिला सडकें—ये सडकें उत्पादन क्षेत्र एवं बाजारो को राष्ट्रीय राजमार्ग से अथवा किसी रेल से सम्बद्ध करेंगी तथा आस-पास के प्रमुख हैडक्वार्टरो के सम्बन्ध की प्रमुख कडी होगी।

(३) ग्रामीण सडकें—लघु जिला सड़कें एव ग्राम सडकें विशेषतः ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ को पूरा करेंगी।

(४) प्रान्तीय राजमार्ग—ये सडकें प्रत्येक प्रान्त एव रियासत की प्रमुख सडकें होगी तथा इनमे सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सडको का समावेश भी होगा।

इस योजना मे तत्कालीन सडको के सुधार एव नवीन सडको के निर्माण का भी आयोजन है। योजना के अनुसार कुल मील लम्बाई तथा लागत निम्न हैं:—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)	२२,००० मी०	४७	करोड रु०
(२) ,, ,, (National Trails)	३,००० ,,	३	,, ,,
(३) प्रांतीय राजमार्ग (Provincial Highways)	६५,००० ,,	१२१	,, ,,
(४) वृहत् जिला सड़कें (Major District Roads)	६०,००० ,,	६२	,, ,,
(५) जिला सडकें अन्य (District Roads other)	१,००,००० ,,	८०	,, ,,
(६) ग्राम सड़कें (Village Roads)	१,५०,००० ,,	३०	,, ,,
(७) युद्धकालीन वर्षों का शेष (Arrears of war years)	—	१०	,, ,,
(८) पुल निर्माण (Bridging)	—	४५	,, ,,
(९) भूमि प्राप्ति (Land Acquisition)	—	५०	,, ,,
कुल	४,००,००० मील	४४८	,, ,,

यह योजना अविभाजित भारत के लिये थी, परन्तु विभाजित भारत के लिए ३३१ हजार मील की सड़को का निम्नवत निर्माण होना था:—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील	३६ करोड रु०
राष्ट्रीय सडकें	४,१५० ,,	२·५ ,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,९५० ,,	१००·३ ,,
जिला एवं ग्राम सडकें	२,५६,३०० ,,	१४२·५ ,,

इस प्रकार भारत सघ मे १,२३,००० मील पक्की सडकें और २,०८,००० मील की कच्ची सडको के निर्माण का लक्ष्य था। इस पर कुल ३७१·५ करोड रु० व्यय होना था।

(२) विकास के लिए देशी स्रोतो की उपलब्धता।

(३) निजी एवं सरकारी क्षेत्रों मे स्रोतों की आवश्यकता एव विकास की गति मे घनिष्ट सम्पर्क।

(४) योजना लागू होने के पूर्व केन्द्रीय एव राज्य सरकारो की विभिन्न चालू योजनाओ की पूर्ति की आवश्यकता।

(५) युद्ध एवं देश विभाजन के कारण देश की अर्थ व्यवस्था मे होने वाले असन्तुलन को ठीक करना।

विकास कार्यक्रम में प्राथमिकता—

प्राथमिकता का अर्थ यह है कि योजना के विभिन्न विकास कार्यक्रमो मे कौनसा कार्यक्रम पहिले किया जाय तथा कौनसा बाद मे। प्राथमिकता निश्चित करते समय देश की आवश्यकताओ को प्रमुख स्थान दिया जाता है। भारत की अधिकाश जन-सख्या का प्रमुख व्यवसाय कृषि होने से कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। विभाजन के कारण देश मे औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढाने के लिए भी यह प्राथमिकता आवश्यक ही थी। प्राथमिकता के सम्बन्ध मे सामान्य क्रम निम्न है :—

(अ) उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योग (जैसे—पटसन एव प्लाईवुड) तथा उपभोक्ताओ की दृष्टि से आवश्यक, (जैसे—वस्त्र, शक्कर, साबुन एव वनस्पति) उद्योगो की वर्तमान उत्पादन क्षमता का पूर्णतम् उपयोग।

(ब) पूँजीगत उत्पादको के लिए आवश्यक वस्तुओ सम्बन्धी उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि, जैसे—लोहा एव इस्पात, अल्यूमिनियम, सीमेंट, खाद, भारी रसायन, मशीन टूल्स आदि।

(स) जिन औद्योगिक इकाइयो पर काफी मात्रा में पूँजी व्यय हो चुकी है, उनकी पूर्ति।

(द) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मूलभूत वस्तुओ के प्रदाय से सम्बन्धित नए उद्योगों की स्थापना, जैसे—जिप्सम से गन्धक का निर्माण, रेयन के लिए लुगदी आदि।*

परन्तु तत्कालीन पच-वर्षीय अवधि मे कृषि, सिंचाई एव शक्ति स्रोतो के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जावेगी, जिस पर योजना की लगभग ४५% राशि का व्यय होगा। आयोग के विचार से औद्योगिक विकास की गति तब तक नही बढ सकती, जब तक देश मे पर्याप्त मात्रा में औद्योगिक कच्चा माल एव खाद्यान्न का उत्पादन न हो, इसलिए यह प्राथमिकता है। दूसरे, जिन योजनाओ पर पहिले से ही काम हो रहा है, वे योजनाएं तथा कृषि के लिए पूरक योजनाओ पर कार्य चालू रहेगा। इस

* Blue Print of the Five Year Plan—Amrit Bazar Patrika, 10-12-52.

प्रकार देश के उपलब्ध साधन, तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था के दृष्टिकोण से प्राथमिकता का क्रम रखा गया है।

योजना की मुख्य बातें—

उत्पादन सामग्री एवं अर्थ-व्यवस्था—

योजना मे विभिन्न मदो पर कुल २,०६६ करोड रुपये का व्यय होगा। इस व्यय की विशेषता यह है कि भविष्य मे व्यक्तिगत एव सरकारी क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा मे उत्पादक सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इस व्यय का वितरण निम्न प्रकार से होगा :—

(१) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की उत्पादक पूँजी में वृद्धि के लिए होने वाला व्यय	१,१६६ करोड़ रुपये
(२) व्यक्तिगत क्षेत्र मे उत्पादक पूँजी मे वृद्धि के लिए व्यय:—	
(अ) ग्रामीण विकास एवं कृषि पर (इसमें सामुदायिक विकास योजना के व्यय का समावेश नही है)	२४४ करोड़ रुपये
(ब) यातायात एव उद्योगो को ऋण देने में	४७ करोड रुपये
(स) स्थानीय विकास को प्रोत्साहन देने मे (सामुदायिक) एवं स्थानीय विकास योजनाएँ	१०५ करोड़ रुपये
(३) सामाजिक पूँजी के लिए व्यय	४२५ करोड़ रुपये
(४) अन्य व्यय* (जिसका समावेश ऊपर नही है)	४६ करोड़ रुपये
कुल	२,०६६ करोड़ रुपये

इस व्यय का वितरण केन्द्र एवं राज्य सरकारो में निम्न है:—

केन्द्रीय सरकार (रेल्वे को सम्मिलित करते हुए) १,२४१ करोड़ रुपये, राज्य सरकारें :—

'अ' विभाग	६१० करोड रुपये
'ब' विभाग	१७३ ,,
'स' विभाग	३२ ,,
जम्मू एव काश्मीर	१३ ,,
कुल	२,०६९ करोड़ रुपये

इस प्रकार विभिन्न मदो पर प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकार के व्ययो की संक्षिप्त तालिका निम्न है :—

---

*इसमें अभावग्रस्त क्षेत्रों की सहायतार्थ व्यय सम्मिलित है।

इसमे जम्मू एवं काश्मीर के भाग का १३ करोड रुपये का समावेश नहीं है।

मद	केन्द्र	'अ' राज्य	'ब' राज्य	'स' राज्य
कृषि एव सामुदायिक विकास	१८६·३	१२७·३	३७·६	८·७
सिंचाई एव विद्युत	२६५·६	२०६·१	८१·५	३·५
यातायात एव सवादवाहन साधन	४०६·५	५६·५	१७·४	८·८
उद्योग	१४६·७	१७·६	७·१	०·५
सामाजिक सेवाएं एव पुनर्निवास	१६१·४	१६२·३	२८·६	१०·४
विविध	४०·७	१०·०	०·७	४·३
योग	१,२४०·५	६१०·१	१७३·२	३६·२

अर्थ-प्रबन्ध—

योजना की सफलता समुचित अर्थ-व्यवस्था अथवा उसके आर्थिक आधार पर निर्भर रहती है। यह आर्थिक आधार निश्चित करते समय योजना आयोग ने देश मे उपलब्ध साधन, विदेशी सहायता तथा विदेशी ऋणो का अनुमान लगाया है। इसमे देश में बजट से १,२५८ करोड रुपये उपलब्ध होगे और १५६ करोड रुपये विदेशी ऋणो एव सहायता के रूप मे प्राप्त हो चुके हैं। शेष ६५५ करोड रुपये की राशि का प्रबन्ध आन्तरिक ऋणो से, बचत से तथा हीनार्थ प्रबन्ध से करना होगा, जिसकी राशि २६० करोड रुपये आकी गई है। इसी हेतु राष्ट्रीय योजना एव ऋण प्रमाण पत्र बेचे गये थे। इस प्रकार योजना का आर्थिक आधार निम्न है :—

(करोड रुपयों में)

	केन्द्र	प्रान्त	कुल
योजना की कुल लागत	१,२४१	८२८	२,०६६
बजट के साधन—			
(१) वर्तमान आय से बचत	३३०	४०८	७३८
(२) पूंजीगत प्राप्ति (इसमें निधि से ली जाने वाली राशि नही है)	३६६*	१२४*	५२०
(३) केन्द्रीय सहायता	– [illegible]	[illegible]	[illegible]
बाहरी सहायता जो प्राप्त हो चुकी है	१५६	—	१५१
कुल	६५३	७६१	१,४१४

इस प्रकार योजना की अर्थ व्यवस्था मे कुल ६५५ करोड रुपये की कमी है, जिसके लिए २६० करोड रु० का आयोजन हीनार्थ-प्रबन्ध से होगा तथा शेष राष्ट्रीय-

---

* This includes public loans, small savings etc.

योजना-ऋण एवं प्रमाण-पत्रों से तथा कर-वृद्धि द्वारा। सम्पूर्ण योजना पर केवल सरकार की ओर से २,०६६ करोड़ रुपये व्यय होगा। इसमें निजी क्षेत्र में होने वाले व्यय का समावेश नहीं है।

योजना में कृषि—

योजना के विभिन्न विकास कार्यक्रमों में कृषि को प्रधानता दी गई है। यह कृषि विकास, सिंचाई की योजनाओं एवं विद्युत संचालन पर होने वाले व्यय से स्पष्ट है, जो कि योजना की लागत के ४१·८% है। सिंचाई एवं विद्युत योजनाएँ यह कृषि का ही एक भाग है, क्योंकि सिंचाई से कृषि की उन्नति होती है। इस प्रकार *कृषि सिंचाई एवं विद्युत पर होने वाले व्यय की राशि* (३६०·४३+५६१·४१) ६२१·८४ करोड़ रुपये है। कृषि को प्रधानता इसलिए दी गई है, जिससे खाद्यान्न आदि के आयात मे व्यय होने वाले विदेशी विनिमय की बचत हो सके तथा कृषि उत्पादन निर्यात के लिए उपलब्ध होकर विदेशी विनिमय प्राप्त हो सके। इस प्रकार बचाये हुए विदेशी विनिमय से औद्योगिक विकास के हेतु पूँजीगत वस्तुओं का आयात हो सकेगा, जिससे हमारे खनिज एवं औद्योगिक साधनों का विदोहन सम्भव होगा।

योजना की अवधि में खाद्यान्न का उत्पादन ७६ लाख टन से अथवा १४% से बढ़ेगा। इसी प्रकार औद्योगिक कच्चे माल में रुई की उपज ४२% तथा पटसन की ६३%, गन्ने की ७% एवं तिलहन की उपज ८% से बढ़ाई जावेगी। इस प्रकार रुई, पटसन, गन्ना तथा तिलहन का उत्पादन क्रमशः १२·६ लाख गाँठें, २०·६ लाख गाँठें, ७ लाख एवं ४ लाख टन बढ़ेगा।*

सिंचाई एवं विद्युत—

इस मद पर होने वाला कुल व्यय ५६१ करोड़ रुपये है, जो कुल लागत के ३०% है। इन योजनाओं में चालू योजनाओं पर होने वाला व्यय ५ वर्ष में ५१८ करोड़ रुपये आँका गया है, जिससे १,६६,४२,००० अतिरिक्त भूमि की सिंचाई तथा १४,६५,००० किलोवाट बिजली का अधिक उत्पादन होगा। इन योजनाओं की कुल *अनुमानित लागत ७६५ करोड़ रुपये है।*

उद्योग—

योजना आयोग का मत है कि अभी तक उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों का ही विकास हुआ है तथा आधारभूत उद्योगों का विकास बहुत कम है। इसलिए भविष्य में पूँजीगत उद्योगों का विकास करना होगा, जिससे भारतीय औद्योगिक कलेवर मजबूत हो सके। उद्योगों में आधारभूत उद्योगों के *विकास को प्राथमिकता दी जायगी* तथा अन्य आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों की वर्तमान उत्पादनक्षमता बढ़ाई जायगी। औद्योगिक विकास देश की औद्योगिक नीति के अनुसार ही होगा।

* Five Year P, Summary.

योजना मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो की औद्योगिक योजनाओ के लिए ६४ करोड रुपए की व्यवस्था है, जिसमे चालू योजनाओ की पूर्ति होगी। इसके अलावा १५ करोड रुपए का आयोजन एक नये लोहे एव इस्पात के कारखाने की स्थापना के लिए है तथा शेष राशि निजी स्रोतो से प्राप्त की जायगी । सरकारी क्षेत्र मे अधिकतर योजनाएं पूंजीगत उद्योगो की अथवा ऐसी आवश्यक वस्तुओ की है, जो भावी औद्योगिक विकास की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है। इस ६० करोड रुपये राशि के साथ ही आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए ५० करोड रुपये का अतिरिक्त आयोजन है।

इस योजना मे ४२ उद्योगो के लक्ष्य निश्चित किये गये है, जिनकी पूर्ति के लिए ५ वर्ष मे ३२७ करोड रु० व्यय का अनुमान है। इसमे ६४ करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे तथा २३३ करोड रुपये व्यक्तिगत क्षेत्र मे व्यय होगे। इसके साथ ही वर्तमान उद्योगो के आधुनिकीकरण के लिए १५० करोड रुपये व्यय होगे । इस प्रकार इनमे आवश्यक पूंजी की मात्रा तथा अन्य बातो का समावेश किया जाय तो कुल ७०७ करोड रुपये की राशि होगी। इस राशि की पूर्ति निजी उद्योगो को अपने साधनो से करनी होगी। इसके साथ ही कुटीर एव ग्राम्य उद्योगों के विकास को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया तथा कुटीर उद्योगो के लिए उत्पादन क्षेत्र को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है, जिससे कुटीर उद्योग अपना सुदृढ सगठन बना सकें।

यातायात एव सम्वादवाहन—

यातायात एवं सम्वादवाहन साधनो के विकास के लिए कुल ४६७'१० करोड रुपये का आयोजन है, जिसमे से रेल्वे के विकास पर लगभग ४०० करोड रुपये व्यय होगा। इस व्यय मे ८० करोड रुपये केन्द्रीय सरकार देगी तथा शेष रेल्वे को अपने निजी साधनो से प्राप्त करना होगा। जहाजरानी के समुद्रतटीय व्यापार का लक्ष्य सन् १६५५-५६ में ६ लाख टन रखा गया है। इसी प्रकार जहाजी कम्पनियो को जहाज आदि खरीदने के लिए १५ करोड रुपये के केन्द्रीय ऋण की व्यवस्था है।

वर्तमान बन्दरगाहो के विकास एव काडला पोर्ट की स्थापना के लिए ८ करोड रुपये तथा बन्दरगाहो के आधुनिकीकरण के लिए १२ करोड का प्रबन्ध है। इसके अलावा बन्दरगाही अधिकारियो का व्यय १५'५ करोड रुपये होगा, ऐसा अनुमान है। सडको के विकास के लिए २७ करोड रुपये तथा कुछ विशेष सडको के विकास के लिए ४ करोड रुपये का प्रबन्ध है। साथ ही २१'१५ लाख रुपये की लागत मे केन्द्रीय सडक अनुसधान-शाला की स्थापना होगी। योजना के अनुसार योजना अवधि मे ४५० मील नई सडकें, २,२०० मील सडको का सुधार तथा ४,३०० बृहत् पुलो का निर्माण होगा।

वायु यातायात का विकास नया होने के कारण उसमे कम कम्पनियाँ अधिक अच्छी तरह से काम कर सकती है, ऐसा आयोग का विचार है । हवाई यातायात के लिए ६'५ करोड़ रुपये की व्यवस्था है।

अन्य—

इसके अलावा सामाजिक सुविधायें, डाक घर एवं तार विभाग की सुविधाएं, गृह-निर्माण, पुनर्निवास व्यवस्था, कुटुम्ब नियोजन आदि विषयों की योजना भी बनाई गई है। आयोग का मत है कि योजना की सफलता एवं देश की समृद्धि के लिए हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या को रोकना होगा, इसलिए कौटुम्बिक नियोजन की योजना भी प्रस्तुत की है, जिसके लिए ६५ लाख रुपये का आयोजन है। इस राशि से जनता को सन्तति निरोधक उपाय बताना, सन्तति निरोधक शल्य क्रियायें आदि का आयोजन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इन उपायों का प्रसार एवं जानकारी एकत्रित की जावेगी।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना—

प्रथम योजना की सफलता की पृष्ठभूमि में दूसरी योजना बनाई गई है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं :—

(१) देश के रहन-सहन का स्तर उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि।

(२) द्रुतगति से औद्योगीकरण, जिसमें आधारभूत एवं मूल उद्योगों पर विशेष जोर दिया जायगा।

(३) रोजगारी के अवसरों का विस्तार करना।

(४) आय एवं सम्पत्ति की असमानता को कम करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण प्राप्त करना।

ये उद्देश्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, क्योंकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं रहन-सहन का स्तर तब तक उन्नत नहीं हो सकता जब तक उत्पादन और विनियोग में काफी वृद्धि न हो।

आर्थिक पहलू—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की कुल लागत ७,२०० करोड़ रु० है, जिसमें से ३,८०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में तथा २,४०० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में व्यय होंगे तथा १,००० करोड़ रु० चालू विकास व्यय है। यह राशि पहिली योजना की राशि से काफी अधिक है, क्योंकि (अ) पहली योजना की पूर्ति के समय हमारी आर्थिक अवस्था में स्थिरता आ गई थी, जो पहली योजना के प्रारम्भ में न थी। (ब) दूसरी योजना बनाते समय पहिली योजना के अनुभूति की पृष्ठभूमि थी। योजना की ४,८०० करोड़ रु० की राशि का २,५५६ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा २,२४० करोड़ रु० प्रान्तीय सरकारें व्यय करेंगी।

योजना की रूपरेखा—

विभिन्न मदों पर व्यय का वितरण[1]

(करोड़ रुपये)

	पहिला योजना	%	द्वितीय योजना	%
कृषि एव सामुदायिक विकास	३५७	१५ १	५६८	११'८
सिचाई एव शक्ति	६६१	२८'१	९१३	१९'०
उद्योग एव खान	१७९	७'६	८९०	१८'५
यातायात एव सम्वादवाहन	५५७	२३ ६	१,३८५	२८'९
सामाजिक सेवाए	५३३	२२'६	९४५	१९'७
विविध	६९	३'०	९९	२'१
	२,३५६	१००'०	३,८००	१००'०

योजना की इस राशि मे स्थानीय सस्थाओ के विकास योजना की राशि सम्मिलित नही है, परन्तु राज्य सरकारो द्वारा इन सस्थाओ को दी जाने वाली राशि का समावेश है। इसी प्रकार स्थानीय विकास कार्यक्रमो के लिए स्थानीय जनता द्वारा दी जाने वाली राशि अथवा श्रम की लागत का समावेश नही है। यद्यपि राष्ट्रीय विनियोग की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं।

केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों द्वारा व्यय[2]

(करोड़ रुपये में)

	केन्द्र	राज्य	योग	विनियोग	चालू व्यय
कृषि एव सामुदायिक विकास	६५	५०२	५६८	३३८	२३०
सिचाई एव शक्ति	१५०	८०८	९१३	८६३	५०
उद्योग एव खान	७४७	१४३	८९०	७९०	१००
यातायात एव सम्वाद-वाहन	१,२०३	१८२	१,३८५	१,३३५	५०
सामाजिक सेवाए	३९९	५४९	९४५	४५५	४९०
विविध	४३	५६	९९	१९	८०
योग	२,५५९	२,२४०	४,८००	३,८००	१,०००

राशि का बँटवारा—

उक्त तालिकाओ से विभिन्न मदो पर व्यय होने वाली राशि तथा पहली योजना

1. Second Five Year Plan, p. 51.
2. Second Five Year Plan, p. 5.

में व्यय की गई राशि के आंकड़े हैं। इन आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मद पर पहली योजना की अपेक्षा अधिक व्यय का आयोजन है, परन्तु विभिन्न मदों पर होने वाले व्यय तथा योजना की कुल लागत को देखने से पता चलता है कि दूसरी योजना के ढाँचों मे मूलभूत परिवर्तन है। पहिली योजना में जहाँ 'उद्योग एवं खान' तथा 'यातायात एव सम्वादवाहन' की मदों पर क्रमशः ७% और २४% राशि का आयोजन था वहाँ दूसरी योजना मे उनका व्यय १८% और २९% है। यह संकेत है कि इस योजना में औद्योगिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उद्योगो के लिए ८९० करोड़ रु० है, उसमें से ६९० करोड़ रु० बड़े उद्योगों तथा खानो पर और शेष लघु एव कुटीर उद्योगो के विकास के लिए है।

यातायात एवं सम्वादवाहन साधनों के लिए १,३८५ करोड़ रुपए का आयोजन है, जिसमें ९०० करोड़ रु० अथवा १८·८% रेल्वे पर व्यय होगा तथा अन्य मदों के अनुपात मे उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं है। इससे जैसा कि योजना आयोग ने स्वय ही लिखा है कि रेल्वे विकास के लिए कम राशि का आयोजन है, जिसमे रेल्वे की कार्य-क्षमता में वृद्धि न होने पर नियोजित रेल्वे का विकास योजना में नियोजित वहन शक्ति के लिए अपर्याप्त होगा, क्योंकि यातायात के अन्य साधन अपर्याप्त हैं।

सिंचाई एव शक्ति पर १९%, खाद्यान्न एव सामुदायिक विकास पर ११·८% राशि का आयोजन है, जिससे इन पाँच वर्षों मे देश में खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की उपज बढती रहेगी। सिंचाई एवं शक्ति की योजना दीर्घकालीन योजना के रूप मे है, जिससे आगामी १५ वर्ष में सिंचाई की सुविधाएँ दुगुनी तथा शक्ति का ६ गुना विकास होगा।

योजना में विनियोग—

सरकारी क्षेत्र—

योजना के कुल ४,८०० करोड़ रु० मे से ३,८०० करोड़ रु० का विनियोग स्थायी उत्पादक सम्पत्ति (Productive Assets) पर होगा तथा १,००० करोड़ रु० का व्यय तत्कालीन उपभोगी विकास कार्यों पर होगा :— (करोड़ रुपये)

	विनियोग	तत्कालीन कार्यों पर	योग
(१) [अ] कृषि	१८१	१६०	३४१
[ब] राष्ट्रीय सेवा विस्तार एवं सामुदायिक विकास	१५७	७०	२२७
(२) [अ] सिंचाई एव बाढ नियन्त्रण	४५६	३०	४८६
[ब] शक्ति	४०७	२०	४२७
(३) बड़े एवं मध्यम उद्योग तथा खानें	६७०	२०	६९०
ग्राम एवं लघु उद्योग	१२०	८०	२००
(४) यातायात एव सवादवाहन	१,३३५	५०	१,३८५
(५) सामाजिक सेवाएँ	४५५	४९०	९४५
(६) विविध	१९	८०	९[illegible]
योग	३,८००	१,०००	४[illegible]

निजी क्षेत्र—

उक्त विनियोग के अलावा निजी क्षेत्र में २,४०० करोड रु० के विनियोग का अनुमान लगाया गया है। द्वितीय योजना के विकास एवं उत्पादन कार्य-क्रम का लक्ष्य सरकारी एवं निजी क्षेत्र के संयुक्त विनियोग से ही पूरा होगा। यह अनुमान गत पाँच वर्षों में जो विनियोग हुआ उस पर आधारित है, क्योंकि निजी क्षेत्र के विनियोग सम्बन्धी निश्चित आँकडे उपलब्ध नहीं हैं। यह विनियोग विभिन्न मदों पर निम्न प्रकार से होगा :—

(१) संगठित उद्योग एवं खानें	५७५	करोड रु०
(२) बगीचा, बिजली तथा यातायात*	१२५	,,
(३) निर्माण	१,०००	,,
(४) कृषि तथा ग्राम एवं लघु उद्योग	३००	,,
(५) संग्रह (Stocks)	४००	,,
योग	२,४००	,,

प्रथम योजना में ३,१०० करोड रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ, ऐसा अनुमान है, जिसमें से लगभग आधी से अधिक पूँजी का विनियोग निजी क्षेत्र में हुआ। दूसरी योजना में ६,२०० करोड रु० की पूँजी का विनियोग होगा, जिसमें सरकारी क्षेत्र में ६१% तथा ३९% निजी क्षेत्र में व्यय होगा। अर्थात् सरकारी क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में पहिले की अपेक्षा क्रमशः २½ गुना एवं ५०% अधिक विनियोग होगा।

कृषि एवं सिंचाई—

इस योजना की अवधि में कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि होगी तथा उपज को बढाने के लिये सिंचाई की सुविधायें, अच्छे बीज आदि का प्रबन्ध किया जायगा। खाद्यान्न का लक्ष्य १० मि० टन रखा गया है, अर्थात् सन् १९६०-६१ में खाद्यान्न का उत्पादन ७५ मि० टन होगा, जिसमें खाद्यान्न का प्रति व्यक्ति उपभोग वर्तमान १७·२ औंस से बढकर १८·३ औंस हो जायगा। इसी प्रकार रुई, गन्ना, तिलहन तथा पटसन में भी क्रमशः ३१, २२, २७ तथा २५% की वृद्धि करने का लक्ष्य है। सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि कर लगभग १ मि० एकड गन्ने की खेती बढाई जायगी।

वर्तमान सिंचाई सुविधायें ६७ मि० एकड भूमि को मिलती हैं, जिनमें सन् १९६०-६१ तक २१ मि० एकड की वृद्धि होगी। इसमें से बडी तथा मध्यम योजनाओं द्वारा १२ मि० एकड तथा छोटी योजनाओं से ९ मि० एकड भूमि की सिंचाई होगी। सिंचाई क्षेत्र में प्रथम तीन वर्षों में २ मि० एकड़ की दर से तथा अन्तिम २ वर्ष में ३ एकड प्रति वर्ष की दर से वृद्धि होगी।

बिजली का उत्पादन ३·५ मि० किलोवाट से बढाने का लक्ष्य है, जिससे सन् १९६०-६१ में बिजली का कुल उत्पादन ६·९ मि० किलोवाट हो जायगा।

* इसमें रेल यातायात का समावेश नहीं है।

औद्योगिक विकास—

इस योजना की विशेषता है कि इसमें औद्योगिक एवं खान क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र को प्रधानता दी गई है और वास्तव में योजना में आयोजित ६६० करोड़ रु० की पूर्ण राशि का विनियोग आधारभूत उद्योगों के विकास के लिये होगा। इस राशि से इस्पात के १० लाख टन उत्पादन क्षमता वाले ३ कारखाने, क्रमशः रूरकेला, भिलाई और दुर्गापुर में चालू हो जायेंगे तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की उत्पादन क्षमता १ लाख टन से बढ़ेगी। चितरञ्जन की फैक्टरी में भारी स्टील फाउण्ड्री की स्थापना होगी तथा चितरञ्जन कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता १२५ इञ्जनों की जगह ३०० इञ्जन हो जायगी। पैराम्बूर (मद्रास) की कोच फैक्ट्री की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५९ तक ३५० डिब्बों की हो जायगी। खाद बनाने के दो नये कारखाने तथा सिंद्री कारखाने का विस्तार होगा। खनिज सम्पत्ति के उत्पादन में ५८% की वृद्धि होगी। कोयले का वर्तमान उत्पादन ३८ मि० टन है, जिसमें २२ मि० टन की वृद्धि होगी। यह वृद्धि सरकारी क्षेत्र में १२ मि० टन से तथा १० मि० टन से निजी क्षेत्र में होगी। इसके अलावा अनेक उद्योगों का विकास होगा। निजी क्षेत्र में इस्पात की वार्षिक उत्पादन क्षमता सन् १९५८ तक २ ३ मि० टन तथा सीमेन्ट की उत्पादन क्षमता १६ मि० टन हो जायगी। साथ ही, देश में कागज, टेक्सटाइल्स, पटसन, सीमेन्ट, कृषि आदि उद्योगों के लिए आवश्यक यन्त्रों के उत्पादन में वृद्धि की जायगी। उपभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का भी विकास होगा।

यातायात एवं सम्वादवाहन—

इस मद के अन्तर्गत रेल्वे पर ९०० करोड़ रु० तथा पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए २२५ करोड़ रु० का व्यय होगा। इससे १,६७० मील सवारी गाड़ियों की लम्बाई बढ़ेगी तथा २६५ मील मीटर गेज का परिवर्तन ब्रॉडगेज में होगा। ८,००० मील लम्बे मार्ग का नवकरण (Renewal) तथा ८२६ मील मार्ग की रेलों का बिजलीकरण होगा। नागपुर योजना के अनुसार सड़कों का विकास कार्यक्रम सन् १९६०-६१ में पूरा होगा। जहाजरानी का टनेज ६ लाख जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० होगा। डाकखानों की संख्या ५५,००० से ७५,००० तथा टेलीफोनों की संख्या २७० हजार से ४५० हजार होगी। इसी में १०० किलोवाट शक्ति का शॉर्ट वेव ट्रांसमीटर और १०० किलोवाट शक्ति का मीडियम वेव ट्रांसमीटर दिल्ली में तथा ५० किलोवाट शक्ति के ट्रांसमीटर्स कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में लगाये जायेंगे। ग्रामीण क्षेत्र में ७२,००० सामूहिक रेडियो लगाये जायेंगे।

सामाजिक सेवायें—

सन् १९६०-६१ तक ६ से ११ वर्ष की आयु के ६३% तथा ११ से १४ वर्ष की आयु के २२·५% बालकों को शिक्षा सुविधायें मिलने लगेंगी। इससे प्राथमिक स्तर एवं माध्यमिक स्तर के क्रमशः ७·७ मि० एवं १·३ मि० विद्यार्थियों की वृद्धि

होगी, जिनके लिये क्रमशः ५३,००० प्राथमिक शालायें तथा ३५,००० माध्यमिक विद्यालय खोले जायेंगे। बहुमुखी विद्यालयों की सख्या २५० से बढकर १,२०० होगी। शिल्पिको की शिक्षा के हेतु इञ्जीनियरिंग कॉलेजो की सख्या ४५ से ५४ तथा इञ्जीनियरिंग विद्यालयो की सख्या ८३ से १०४ की जायगी। इसके अलावा ३ नये उच्च शिल्पिक इन्स्टीट्यूटो की स्थापना उत्तरी, दक्षिणी तथा पश्चिमी प्रदेशो मे होगी एवं दिल्ली पोलिटेकनिक, खडगपुर इन्स्टीट्यूट और धनबाद के खान विद्यालयो का विकास होगा।

स्वास्थ्य की दिशा में डॉक्टरो, नर्सों एव परिचारिकाओ की सख्या मे क्रमशः १८.४१ और ४५% की तथा वर्तमान अस्पतालो में २८% बिस्तरो की वृद्धि होगी। साथ ही, ३०० शहरी और २,००० ग्रामीण अस्पतालों की स्थापना होगी।

योजना के अनुसार १३ लाख गृहो का निर्माण होगा, जिनके लिए १२० करोड रु० का प्रबन्ध है। रोजगार सस्थाओ की सख्या भी १३६ से २५६ की जायगी।

राष्ट्रीय आय—

प्रथम योजना काल मे सन् १९५३-५४ की कीमतो के आधार पर राष्ट्रीय आय मे ११% की वृद्धि हुई, अर्थात् आय ९,११० करोड (सन् १९५०-५१) से बढकर सन् १९५५-५६ मे १०,८०० करोड रु० तथा इन्ही वर्षों मे प्रति व्यक्ति आय २५३ रु० से २८१ हो गई। दूसरी योजना के अन्त मे राष्ट्रीय आय १३,४८० करोड रु० तथा प्रति व्यक्ति आय ३३१ रु० होगी, अर्थात् सन् १९५०-५१ की तुलना मे १८% और सन् १९५५-५६ की तुलना मे २५% से बढेगी।

राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ ही राष्ट्रीय उपभोग मे भी वृद्धि होगी, परन्तु वह उसी अनुपात में नही होगी। योजना के लिये आवश्यक ६,२०० करोड रु० की राशि प्राप्त करने के लिये बचत का वर्तमान स्तर, जो सन् १९५०-५१ मे राष्ट्रीय आय के ७% था, सन् १९६० ६१ तक १०% करना होगा। विदेशी स्रोतो से १,१०० करोड रु० मिलेंगे, इस अनुमान पर बचत की यह वृद्धि आधारित है। यदि विदेशी स्रोतो से इतनी राशि नही मिली तो उपभोग पर होने वाले व्यय को सीमित करना होगा।

रोजगार—

द्वितीय पच वर्षीय योजना मे कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रो मे ८० लाख अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा। इसके अलावा भूमि की सफाई (Reclamation) *आदि कार्यों से अर्द्ध रोजगारी की समस्या का हल, कृषि-उपज की वृद्धि तथा अन्य* उद्योग धन्धो के विकास से कृषि श्रमिको की अर्द्ध रोजगारी की समस्या कम होगी तथा नए व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा। अनुमान है कि योजना अवधि मे कुल १ करोड अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा, फिर भी बेकारी की समस्या का पूर्ण हल नही हो सकेगा। कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो से कितने अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलेगा, यह निम्न तालिका मे है :—

	लाख
निर्माण	२१·००
विद्युत और सिंचाई	०·५१
रेल्वे	२·५१
अन्य यातायात एवं संवादवाहन	१·८०
उद्योग और खानें	७·५०
लघु एवं कुटीर उद्योग	४·५०
वन, मच्छीमारी, राष्ट्रीय सेवा विस्तार तथा सम्बंधित योजनाएं	४·१३
शिक्षा	३·१०
स्वास्थ्य	१·१६
अन्य सामाजिक सेवाएं	१·४२
सरकारी नौकरियाँ	४·३४
अन्य (जिसमे वाणिज्य एवं व्यापार का समावेश है)	२७·०४
योग	७९·०३

अर्थ प्रबन्ध—

योजना के अनुसार विकास कार्यक्रमों पर ४,८०० करोड़ रु० का व्यय सरकारी क्षेत्र मे होगा। इस राशि का प्रबन्ध निम्न साधनों से होगा :—

		(करोड रु०)
(१) चालू आय से प्राप्त अधिक राशि		८००
(अ) वर्तमान कर की दरों से	३५०	
(ब) अतिरिक्त करों से	४५०	
(२) जनता से ऋण—		
बाजार से ऋण	७००	
बचत	५००	१,२००
(३) बजट के अन्य स्रोत—		
रेल्वे का भाग	१५०	
प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा अन्य जमा	२५०	४००
(४) विदेशी सहायता से		८००
(५) हीन-अर्थप्रबन्ध से		१,२००
(६) निजी स्रोतों को बढ़ाकर अतिरिक्त साधनों से पूरी होने वाली कमी		४००
योग		४,८००

(१) अतिरिक्त कर लगाने से प्राप्त होने वाली वार्षिक आय १६० करोड रु० आकी गई है, जो योजना मे अनुमानित आय वृद्धि की तुलना मे कम प्रतीत होती है। फिर भी अतिरिक्त करो का भार ऐसे व्यक्तियो पर अधिक पडेगा जिनकी आय में अधिक वृद्धि नही होती। कर जाँच समिति की सिफारिशो के अनुसार ४५० करोड रु० की अतिरिक्त आय का न्यूनतम लक्ष्य रखा गया है तथा इसकी पूर्ति के लिए शीघ्र ही कार्यवाही होगी। यहाँ यह ध्यान मे रखना होगा कि करो से होने वाली आय का लक्ष्य, कर जांच समिति की अतिरिक्त कर आय की ३५० करोड़ रु० की सभाव्य सीमा, दूसरी योजना के अनुसार अधिक बचत तथा दर बढाने की उच्चतम सीमा तक पहुच चुकी है, इन तथ्यो से सम्बन्धित है। स्पष्ट है कि द्वितीय योजना काल में अप्रत्यक्ष करो का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।*

(२) जनता से ऋण रूप मे जो राशि प्राप्त होगी उसमे से ७०० करोड़ रु० अथवा १४० करोड रु० वार्षिक ऋण बाजार मे प्रसारित करने से तथा ५०० करोड रु० जनता की बचत से प्राप्त होगे। अब जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण से बीमा निधि का विनियोग सरकारी ऋणो मे अधिक होगा। अल्प-बचत योजना का विस्तृत कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। इसी प्रकार सामाजिक बीमा, प्रॉविडेन्ट फण्ड योजना आदि का पूर्ण लाभ उठाया जायगा।

(३) योजना के अर्थ प्रबन्ध मे रेल्वे का भाग १५० करोड रुपया है। गत पाँच वर्षो म रेल्वे का भाग ११५ करोड रुपया अथवा वार्षिक २३ करोड रुपया था। अतः रेल्वे को इस योजना के लिए अपना वार्षिक लाभ ७ करोड रुपए से बढाना होगा।

अन्य बजट के स्रोतो से जो २५० करोड रुपए प्राप्त होने हैं उनमे प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो के कर्मचारियो की प्रॉविडेन्ट फण्ड की राशि है, जो सन् १९५५-५६ मे २३·६ करोड रुपए थी। इस राशि मे योजना अवधि मे वार्षिक वृद्धि होगी, जिसमे १५० करोड रुपया ५ वर्ष मे मिल सकेंगे। शेष १०० करोड रुपया प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो द्वारा दिये गये ऋणो के भुगतान से तथा अन्य पूँजीगत प्राप्ति से मिलेगा।

इस प्रकार उक्त तीन स्रोतो से २,४०० करोड रुपए की राशि मिल सकेगी। यह राशि हमारे प्रयत्न, इच्छा एव आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। शेष २,४०० करोड रुपए की राशि अन्य स्रोतो से प्राप्त होगी, जो अनिश्चित है।

(४) विदेशी सहायता— ८०० करोड रुपये विदेशी सहायता एव स्रोतो से प्राप्त होगे, ऐसा अनुमान है। विदेशी सहायता के रूप में गत पांच वर्षों में ३०७ करोड़ रुपये मिले, जिसमे से केवल २०० करोड रुपये का उपयोग हो सका और शेष राशि इस योजना मे काम आवेगी। इसमे एशिया तथा यू० के० इस्पात कारखानो की राशि

* Amrit Bazar Patrika, Free Enterprize Supplement, Sept 56.

का समावेश नही होगा, क्योकि इसकी व्यवस्था पहिले से ही हो चुकी है। अतः यह राशि हमारी योजना की आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करती है, यह अनुमान है। सन् १९५६-५७ में अमेरिकी सहायता की राशि ६०० लाख डालर (२८·५ करोड़ रुपए) होगी, जो आगे भी रहेगी। शेष राशि का आयोजन दो बातो पर निर्भर रहेगा :—(१) संयुक्त सहकारिता के आधार पर किये जाने वाले कार्यक्रमो की सख्या एव लागत तथा (२) भारत एव अन्य प्रमुख देशो की राजकीय एवं आर्थिक स्थिति, अतः इसमे ८०० करोड़ रुपए की प्राप्ति का निराशापूर्ण आशावाद है।

(५) शेष १,६०० करोड रु० की राशि मे १,२०० करोड रुपये हीनार्थ प्रबन्ध से प्राप्त होगे और ४०० करोड रुपये के लिए निजी स्रोतो मे वृद्धि होगी। हीनार्थ प्रबन्धन की राशि बहुत मालूम होती है, क्योकि कृषि मूल्य बढ रहे हैं तथा उद्योगों की उत्पादनशीलता भी पूर्ण क्षमता तक पहुँच चुकी है। इसी प्रकार अर्थशास्त्रियो ने भी हीनार्थ प्रबन्धन की अधिकतम सीमा १,००० करोड रुपए रखी है। अधिक मात्रा में हीनार्थ प्रबन्ध होने से विभिन्न आय वाले व्यक्तियो की आय प्रभावित होती है, जिसमे अल्प बचत का लक्ष्य प्रभावित होगा, अतः इस ओर सतर्कता की आवश्यकता है। फिर भी योजना मे ४०० करोड़ रु० की कमी रहती है। इसका आयोजन किस प्रकार होगा, इस सम्बन्ध मे योजना मे कुछ नही है। निजी क्षेत्र के २,४०० करोड़ रु० निजी साहस द्वारा पूँजी एवं विनियोग बाजार से प्राप्त किये जायेंगे। इन दोनो ही बाजारो की स्थिति अच्छी होने से निजी क्षेत्रो मे १,२०० करोड़ रु० के विनियोग होने की आशा है।

योजना की प्रगति (सन् १९५१-१९६१)—

प्रथम एवं दूसरी योजना भारत के आयोजित आर्थिक एवं सामाजिक विकास के पहिले चरण है। योजना के प्रथम १० वर्षो मे राष्ट्रीय आय, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हुई है और भारत के जन-साधन का भी विकास हुआ है। इस अवधि मे राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का काफी तेजी से विकास हुआ है। रोजगार की सुविधा बढाने, आय तथा सम्पत्ति की विषमतायें घटाने तथा आर्थिक साधनो को केवल कुछ लोगो के हाथ मे आने से रोकने पर जोर दिया गया है।

योजना व्यय एवं पूँजी विनियोजन—

प्रथम दो योजनाओ मे १०,००० करोड़ रु० से अधिक का विनियोजन हुआ है, जिसमें से सरकारी क्षेत्र में लगभग ६,५६० करोड़ रु० लगे हैं :—

	प्रथम योजना (१९५१-५६)	दूसरी योजना (अनुमानित) (१९५६-६१)	योग (१९५१-६१)
सरकारी क्षेत्र मे व्यय	१,९६०	४,६००	६,५६०
,, ,, मे पूंजी नियोजन	१,५६०	३,६५०	५,२१०
निजी क्षेत्र मे पूंजी-नियोजन	१,८००[1]	३,१००[1]	४,९००
कुल पूंजी विनियोजन	३,३६०	६,७५०	१०,११०

राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—

पहिली योजना में विशेषतः कृषि उत्पादन से वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय १८% बढ़ी। दूसरी योजना में पहिली योजना की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अधिक तथा व्यापक प्रयत्न किये गये। आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे लगभग २०% वृद्धि होगी। अर्थात् सन् १९५१ से सन् १९६१ के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग ४२% बढ़ेगी। प्रति व्यक्ति आय मे लगभग २०% और प्रति व्यक्ति व्यय मे लगभग १६% वृद्धि होगी। कृषि उत्पादन ४०%, औद्योगिक उत्पादन १२०% बढ़ जायगा।

निम्न तालिका में सन् १९४९-५० से कृषि उपज की वृद्धि है :—

कृषि-उपज का सूचक अङ्क (१९४९-५० = १००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१ (अनुमान)
सभी वस्तुयें (Commodities)	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
खाद्यान्न	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य उपज	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०

कृषि-उपज मे वृद्धि की प्रवृत्ति होते हुए भी विभिन्न वर्षों मे पर्याप्त अन्तर रहा :

		१९५०–५१	१९६०–६१ (अनुमानित वृद्धि)
अनाज (गेहूँ, दाल आदि)	लाख टन	५२४[2]	७५०
तिलहन	,,	५१	७२
गन्ना (गुड के रूप मे)	,,	५६	७२
रुई	लाख गाठें	२९	५४
पटसन	,,	३३	५५

1. ये अनुमान पूर्ण सूचनाओं के आधार पर संशोधित हैं और प्रथम योजना के १,६०० करोड रु० और दूसरी योजना के २,००० करोड रु० के पहिले अनुमानों के स्थान पर हैं।

2. सन् १९५६-५७ के आँकड़ों मे संशोधन के अनुसार उत्पादन का सही अनुमान।

प्रथम योजना में सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर मे विस्तार-सेवा प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। अक्टूबर सन् १९६३ तक यह कार्यक्रम देश के सभी गाँवों मे पहुँच जायगा। दूसरी योजना के अन्त तक विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत विकास-खण्डों तथा गाँवों मे लगभग ३१,००० ग्राम सेवक और लगभग २८,००० विकास अधिकारी, कृषि, पशु पालन तथा अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए काम कर रहे होंगे।

सन् १९५१ से सन् १९५९ तक प्रारम्भिक कृषि समितियों की संख्या १०५ हजार से १८३ हजार, इनकी सदस्य संख्या ४४ लाख से १२० लाख हो गई है। ग्राम पचायतो की संख्या लगभग दुगुनी से बढ़कर १७८ हजार हो गई है।

सन् १९५०-५१ मे ५१५ लाख एकड भूमि में सिंचाई होती थी, सन् १९६०-६१ तक ७ करोड एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी। दूसरी योजना मे सिंचाई-सुविधा-प्राप्त सभी क्षेत्रों को अच्छे बीज प्रदाय करने के कार्यक्रम के अनुसार ४ हजार बीज फार्म खोले जा रहे हैं। सन् १९५०-५१ मे ५५ हजार टन नाइट्रोजन खाद का उपयोग हो रहा था, जो सन् १९६०-६१ तक ३६० हजार टन हो जावेगा। कृषि विकास के अन्य कार्यक्रमों में भी पर्याप्त प्रगति हुई है, ४० लाख एकड़ भूमि को सुधार कर कृषि योग्य बनाया गया है, २२ लाख एकड भूमि में हरी खाद (Green manure) का प्रयोग प्रारम्भ किया है तथा २७ लाख एकड़ भूमि मे भूमि कटाव रोकने की व्यवस्था की गई है।

उद्योग और खनिज—

गत वर्षों में आधारभूत और मशीन निर्माण उद्योग तथा उत्पादकों के लिए माल तैयार करने वाले उद्योगों में काफी प्रगति हुई है। मशीनें तथा इञ्जीनियरिङ्ग उद्योगों में यह प्रगति विशेष उल्लेखनीय है। सरकारी क्षेत्र में तीन नये इस्पात कारखानों के चालू होने से इस्पात की उत्पादन क्षमता ४५ लाख टन हो गई है, जो प्रथम एवं दूसरी योजना के प्रारम्भ मे क्रमशः १० लाख और १३ लाख टन थी। सीमेन्ट, कोयला, अल्यूमिनियम आदि आवश्यक औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। मशीन निर्माण उद्योग मे सन् १९५१ मे ११ करोड़ मूल्य की मशीनें बनाई गई थी, जबकि सन् १९५८ मे ७९ करोड़ रु० मूल्य की मशीनों का निर्माण हुआ। दूसरी योजना के अन्त तक रेलों के लिए आवश्यक अधिकांश उपकरण देश में ही तैयार होने लगेंगे।

बिजली का भारी सामान भी देश में बनाना प्रारम्भ हो गया है। रसायनिक पदार्थ, दवा, खाद आदि के उद्योगों में भी वृद्धि हुई है। दूसरी योजना-अवधि मे जूट तथा कपड़ा मिलों के आधुनिकीकरण कार्यक्रम प्रारम्भ हो गये हैं।

निम्न तालिका मे दूसरे उद्योगो के काम में आने वाली मुख्य वस्तुओं के सन् १९६०-६१ में अनुमानित उत्पादन के आँकड़े हैं :—

वस्तुएं	१९५०-५१	१९६०-६१ (अनुमान)
तैयार इस्पात	१० लाख टन	२६ लाख टन
अल्युमिनियम	३·७ हजार टन	१७ हजार टन
डीजल इञ्जन	५·५ ,,	३३ ,,
बिजली के तार	१,६७४ टन	१८ ,,
रेल्वे इञ्जन	३ (सख्या)	२९५ सख्या
नाइट्रोजन खाद	६ हजार टन	२१० हजार टन
गंधक का तेजाब	९९ ,,	४०० ,,
सीमेन्ट	२७ लाख टन	८८ लाख टन
कोयला	३२० ,,	५३० ,,
खनिज लोहा	३० ,,	१२० ,,

इसी प्रकार सूती वस्त्र, शक्कर, साइकिल तथा मोटर गाडियो जैसी उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई है।

देश मे पहिली बार कुछ वस्तुओ का निर्माण आरम्भ किया गया। जैसे बायलर, पिसाई की मशीनें, मशीनी-औजार, विस्फोटक पदार्थ, सल्फा और एन्टिबायोटिक औषधियाँ, डी० डी० टी०, न्यूजप्रिंट पेपर आदि।

लघु तथा ग्रामोद्योग—

इस अवधि में इस क्षेत्र मे भी काफी विकास हुआ है। सन् १९५०-५१ मे सन् १९६०-६१ मे हाथकर्घे के कपडे का उत्पादन ७,४२० लाख गज से २१२·५० करोड गज, खादी का ७० लाख गज से ८ करोड गज, कच्चे रेशम का २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया है। कुछ लघु उद्योगो में जैसे हाथ के औजार, सिलाई की मशीनें, बिजली के पखे और साइकिलें तैयार करने वाले उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है। लगभग सभी राज्यो मे लघु उद्योग सहायक सस्थायें निर्मित की गई हैं। इनके अलावा ४२ विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। दूसरी योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बस जावेंगी, जिनमे ७०० छोटे कारखाने होंगे।

विद्युत—

विद्युत की उत्पादन क्षमता जो सन् १९५०-५१ मे २३ लाख किलोवाट थी, से सन् १९६०-६१ तक ५८ लाख किलोवाट हो जावेगी। इसी प्रकार सन् १९५०-५१ मे ३,६८७ गाँवो मे बिजली थी वह सन् १९६०-६१ के अन्त तक १९,००० गाँवो में लग चुकी होगी।

यातायात—

पहिली योजना का मुख्य उद्देश्य युद्धकाल मे रेल्वे की क्षति को पूरा करना था। दूसरी मे आयोजित औद्योगिक विकास की बढती हुई यातायात आवश्यकताओं

को पूर्ति करना था। तदनुसार सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बी रेल-लाइनें बिछ जावेंगी, १,३०० मील रेल-मार्गों का दुहराकरण, ८८० मील रेल-मार्गों का विद्युतीकरण हो चुका होगा। माल यातायात में सन् १९५०-५१ की अपेक्षा ८०% वृद्धि होगी अर्थात् सन् १९५०-५१ में ९१० लाख टन माल यातायात हुआ था, जो सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,६२० लाख टन हो जायगा। रेलवे इञ्जनों की संख्या जो दूसरी योजना के प्रारम्भ में ८,२०० थी, योजना के अन्त तक १०,६००, रेल-डिब्बों की संख्या १९,२०० से २८,६०० और माल-डिब्बों की संख्या १,९९,१०० से बढ़कर ३,५४,१०० हो जावेगी।

जहाजों का टन भार ३,९०,००० जी० आर० टी० से ९ लाख जी० आर० टी० हो जायगा।

पहिली योजना के प्रारम्भ में ९७,५०० मील सड़कें थीं, जो सन् १९६०-६१ तक १४४ हजार मील तक बढ़ जावेंगी। रोजगार के सम्बन्ध में दूसरी योजना में कृषि के अतिरिक्त विकास कार्यक्रमों से ८० लाख लोगों को रोजगार देने का लक्ष्य था। परन्तु अनुमान है कि इस अवधि में ६५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार मिल सकेगा। क्योंकि योजना अवधि में रोजगार के साधनों में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई जितनी कि रोजगार चाहने वालों की संख्या बढ़ी है।*

योजना का पुनर्मूल्यांकन—

मई सन् १९५८ में विकास परिषद योजना का पुनर्मूल्यांकन किया तथा योजना राशि का पुनः बँटवारा किया :— (करोड़ रु०)

	संशोधित राशि	कुल लागत का प्रतिशत		योजना का 'अ' भाग	(अ भाग) कुल लागत का %
		मूल	संशोधित		
कृषि एवं सामुदायिक विकास	५६८	११·८	११·८	५१०	११·३
सिंचाई एवं शक्ति	८६०	१९·०	१७·९	८२०	१८·२
ग्राम एवं लघु उद्योग	२००	४·२	४·२	१६०	३·६
उद्योग और खानें	८८०	१४·४	१८·४	७९०	१७·५
यातायात एवं संवादवाहन	१,३४५	२८·९	२८·०	१,३४०	२९·८
सामाजिक सेवाएँ	८६३	१९·७	१८·०	८१०	१८·०
विविध	८४	२·०	१·७	७०	१·६
योग	४,८००	१००	१००	४,५००	१००

इसके अनुसार योजना के 'अ' भाग पर कुल व्यय ४,५०० करोड़ रु० होना है, जिसमें से २,५१२ करोड़ रु० केन्द्र एवं केन्द्र-शासित प्रदेश तथा १,९८८ करोड़ राज्यों द्वारा व्यय किए जायेंगे।

* उद्योग व्यापार-पत्रिका—अगस्त १९६० & Third Five Year Plan.

सन् १९५६ ६० की अवधि में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के आर्थिक स्रोतों से निम्न व्यय हुआ :—

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९ (संशोधित अनुमान)	१९५९-६० बजट	१९५६-६० (अपेक्षित योग)
योजना लागत (Outlay)	६४१	८६३	१,०९४	१,०९२	३,६९०
देशी बजट स्रोत	३६४	३२०	५३६	५१३	१,७३३
विदेशी सहायता	३८	४७	२६०	३३७	६८२
कुल स्रोत	४०२	३६७	७९६	८५०	२,४१५
हीनार्थ प्रबन्धन	२३९	४९६	२९८	२४२	१,२४५

विभिन्न मदों पर व्यय की राशि निम्नवत है :—

(करोड रुपये)

	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९ संशोधित अनुमान	प्रथम ४ वर्ष का योग— १९५६-६० अपेक्षित
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६७	८७	१२३	४१९
सिंचाई एवं शक्ति	१५५	११८	१७१	६६६
ग्राम एवं लघु-उद्योग	२८	३३	४१	१४६
उद्योग एवं खनिज	७५	१९४	२५७	७२५
यातायात एवं संवादवाहन	२१६	२७०	२९४	१,०९२
सामाजिक सेवाएँ	८६	१०८	१५८	५६९
विविध	१३	१३	२०	७३
योग	६४१	८६३	१,०९४	३,६९०

योजना के प्रथम तीन वर्षों में ८८५ करोड रु० का हीनार्थ-प्रबन्धन किया गया तथा १३६ करोड रु० का सन् १९५८-५९ में होगा, ऐसा अनुमान है। योजना के अन्तिम दो वर्षों में १०० करोड रु० वार्षिक हीनार्थ प्रबन्धन की सीमा रखी गई थी। साथ ही, भुगतान की विषमता योजना अवधि में २,००० करोड रु० आँकी गई थी, परन्तु सितम्बर सन् १९५९ तक यह विषमता १,२९९ करोड रु० की वास्तविक थी। इससे हमारे विदेशी विनिमय स्रोत प्रभावित हो रहे थे। मार्च सन् १९५९ तक ३५० मि०

डॉलर की विदेशी सहायता के सम्बन्ध में वायदे थे और योजना को शेष अवधि के लिए ६५०.मि० डॉलर का विदेशी विनिमय लगेगा, ऐसा अनुमान है।[1]

वर्तमान स्थिति—

दूसरी योजना की समाप्ति में केवल ६ माह शेष हैं, परन्तु निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति इस अवधि मे होने की आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि मुख्य बाधा विदेशी मुद्रा की है। भारत सरकार का विदेशी मुद्रा कोष न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुका है। इसलिए जब तक पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त न हो तब तक तीसरी योजना के आरम्भ में दूसरी योजना के अधूरी रहने की ही आशंका है।"[2] दूसरी योजना के तीसरे वर्ष में भारत की वैदेशिक मुद्रा की आवश्यकता को कुछ मित्र देशों ने तीव्रता से अनुभव किया था। फलस्वरूप विश्व बैंक के नेतृत्व में भारत सहायता क्लब की स्थापना हुई। इस समय के अनुमान के अनुसार हमारी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ५३० करोड रु० थी और क्लब ने ४५० करोड रु० की विदेशी मुद्रा देने का आश्वासन दिया था। इस सबके बावजूद भी वर्तमान स्थिति यह है कि भारत को अपनी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा के लिए भटकना पड रहा है।

इस क्लब ने भारत को सन् १९५८ और ५९ वर्ष मे ६० करोड़ डॉलर की विदेशी मुद्रा दी, परन्तु योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा इस समय नहीं मिल पा रही है। *अतः ऐसी अधूरी सहायता का क्या लाभ हो सकता है जो तीसरी योजना के लिए उपयुक्त आधार न बना सके। भारत सहायता क्लब की अगली बैठक* फरवरी सन् १९६१ मे हो रही है, जिसका लाभ तीसरी योजना को ही मिल सकता है। किन्तु वर्तमान समस्या है दूसरी योजना की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता की, जिस ओर सहायता के इच्छुक राष्ट्रों को गम्भीरता से देखना होगा। साथ ही भारत को भी आगामी योजना मे विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचना होगा कि कहाँ तक इस प्रकार से हम परमुखापेक्षी बन अपनी प्रगति सुदृढ़ आधार पर कर सकते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि—

दो पच वर्षीय आयोजनाओ मे से एक तो पूरी हो चुकी है और दूसरी पूरी होने ही वाली है। निश्चित रूप से इन आयोजनाओं के फलस्वरूप हमारा औद्योगिक और कृषि-उत्पादन बढा है। आँकडो के हिसाब से पिछले १० वर्ष मे हमारी राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत बढ़ी है। फिर भी देश का बहु संख्यक वर्ग इस वृद्धि का लाभ उठाने से वंचित रह गया है। यद्यपि इस स्थिति की जाँच के लिए एक कमीशन

---

1. India 1960.
२. नवभारत टाइम्स (सम्पादकीय) ११ सितम्बर १९६०।
३. नवभारत टाइम्स सितम्बर १७, १९६०।

बैठाने का निर्णय किया गया है, तथापि कमीशन बैठाना समस्या का हल नही है, मसला उलझ जरूर सकता है।

इस विषम स्थिति का मूल कारण है विकास-कार्यों के प्रति जन-जागरण का प्रभाव। और इसी से सत्तारूढ वर्ग मे सिद्धान्त और व्यवहार का आन्तरिक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। लोकतन्त्र और अधिनायकवाद, दोनो एक साथ नही चल सकते। लेकिन वस्तुतः हमारे देश मे लोकतन्त्र और अधिनायकवाद को परोक्ष रूप से ही सही—एक साचे में ढालने का असफल प्रयास हो रहा है। न चाहते हुए भी परिस्थितियो ने *हमारे देश मे आयोजना का काम ऊपर से शुरू करने को बाध्य कर दिया। होना यह* चाहिए था कि वह ग्राम-स्तर से प्रारम्भ होता। कुछ समय पूर्व श्री नेहरू ने कहा था कि "भारतीय जनता मे सब कुछ ऊपर से किये जाने की आशा करने की आदत सी पड़ गयी है। इसलिये शायद कार्यवाही ऊपर मे ही करनी पड़े। लेकिन साथ ही जनता का अपना काम खुद भी किया जायेगा। इस काम का श्रीगणेश गांव और पंचायत से होगा।"

वास्तव मे जिस समय हमने आयोजित आर्थिक विकास का सकल्प लिया था, उस समय परिस्थितिया कुछ ऐसी थी कि काम ऊपर से ही शुरू करना पड़ा। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रथम दो आयोजनाओ के अन्तर्गत श्री नेहरू के विचार के दूसरे अंश—अपना काम खुद करने के लिए जनता के प्रशिक्षण को पूरा करने की दिशा मे पर्याप्त कार्रवाई नही की गयी है। वस्तुतः स्वाधीनता के प्रथम १३ वर्ष मे हमारी आयोजित अर्थ व्यवस्था का प्रभाव और कुप्रभाव इतना व्यापक रहा है कि जनता पहले से अधिक परमुखापेक्षी बन गई है। हमारे आयोजना निर्माता एक साथ अपनी सामर्थ्य से बड़ा निवाला काटने के प्रयास मे रहे है।

पिछले दस वर्ष की अवधि मे प्राकृतिक साधनो के उपयोग, उद्योग-निर्माण, कृषि विस्तार और सुधार, सड़क तथा अन्य सचार और परिवहन सुविधाओ के उन्नयन और शिक्षा-प्रसार मे जो सफलता हमे मिली है, वह प्रशसनीय और हर्ष का विषय ही मानी जायेगी। त्रुटि सिर्फ यह रही कि यह सब कुछ अपेक्षित पद्धति से नही हुआ। जनता की आवश्यकताएं हमारी विकास योजनाओ का आधार नही बन सकी।

यदि हमारी आयोजना का केन्द्र गाँव होता, तो इसके दो लाभ होते। एक तो यह कि आयोजना के प्रति जनता की अभिरुचि जगती, जिससे लोगो मे परिश्रम करने की जीवन्त भावना का निर्माण होता और दूसरे, योजना-प्राथमिकताओ का एक सिलसिला बँध जाता, जिससे आर्थिक विकास का एक समरूप आधार तैयार होता। उदाहरणार्थ, पहली आवश्यकता है खाद्य। यदि गाँव अथवा गाँव समूह को एक इकाई मान कर उसके लिए खाद्योत्पादन का एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता, तो एक पन्थ दो काज की कहावत चरितार्थ हो जाती। जन-जन मे जागरण की लहर दौडती और उनको आत्मनिर्भरता की ओर पग उठाने का प्रोत्साहन मिलता।

तार के रस्से, आग बुझाने के उपकरण आदि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की है।* ये सभी विचाराधीन है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जहाजी उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होकर उसकी नींव सुदृढ हो गई है। अतः विश्वास है कि भविष्य मे जहाजी व्यवसाय एवं जहाज निर्माण उद्योग गत गौरव को प्राप्त करने मे सफल होगा।

अध्याय १७

वायु-यातायात

(Air Transport)

"यह केवल वायु यातायात की ही विशेषता है कि उसके वर्तमान स्तर के विकास का श्रेय दो महायुद्धों को है।"

भारत के विभिन्न यातायात साधनो मे हवाई यातायात का विकास नया है, फिर भी उसकी प्रगति नियमितता, समय एव सुरक्षा के सम्बन्ध मे अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। भारत मे हवाई यातायात के पर्याप्त विकास के लिए काफी गुञ्जाइश है, क्योंकि भारत पूर्व-पश्चिम वायु मार्गों का मिलन स्थान होने मे पूर्व-पश्चिमी वायु मार्गों मे भारत को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। दूसरे, उसकी विस्तृत दूरी तथा सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल जलवायु के कारण वायु मार्गों के विकास के लिए भारत एक आदर्श देश है। साथ ही, व्यापारिक, राजनैतिक एव सुरक्षा की दृष्टि से नागरिक वायु यातायात का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण आजकल सभी उन्नत देशो मे वायु-यातायात की कार्यक्षम व्यवस्था है। यद्यपि हवाई यातायात अन्य यातायात साधनो की तुलना मे अधिक खर्चीला है, फिर भी देश एवं समाज के लिए उसकी विशेष उपयोगिता है। वायुयानों के लिए न तो सडकों और रेल मार्गों की आवश्यकता होती है और उडान मे उसके मार्ग मे मौसम के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की बाधाएँ न होने से वह कहीं भी जा सकता है। अन्य सब यातायात साधनो की अपेक्षा आकाश यातायात में उसकी अधिक गति के कारण किसी भी स्थान पर पहुँचने में कम समय लगता है। परन्तु आकाश यातायात की कुछ सीमाएँ भी है:—सचालन व्यय

---

* भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।

इस योजना की उल्लेखनीय बातें हैं। दूसरी योजना में पहिली योजना की नीतियों को रखते हुए उत्पादन मे वृद्धि, विकास में अधिक विनियोजन और जनता को अधिक रोजगार सुविधाएं देने के प्रयत्न किए गए। इसमे आर्थिक उन्नति की गति बढाने पर, आय और धन की विषमता कम करने और इने-गिने हाथो मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण रोकने पर बल दिया गया था। पहिली योजना मे राष्ट्रीय आय में वार्षिक ३½% और दूसरी मे ५% की दर से वृद्धि हुई है।

तीसरी योजना के उद्देश्य—

(१) आगामी ५ वर्ष मे राष्ट्रीय आय मे वार्षिक ५% से अधिक की वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में रुपया लगवाना जिसकी वृद्धि का यही क्रम आगे भी चालू रहे।

(२) *अनाज की उपज मे आत्म निर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की* उपज को इतना बढाना कि उससे हमारे उद्योगो की आवश्यकता भी पूरी हो और निर्यात भी हो सके।

(३) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगो को बढाना और *मशीन बनाने के कारखाने कायम करना,* जिससे १० वर्ष मे अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश मे ही बनाई जा सकें।

(४) देश की जन या श्रम-शक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगो को रोजगार के अधिक साधन देना। तथा

(५) धन और आय की विषमता को घटाना और सपत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।*

स्वयंस्फूर्त विकास—

स्वयंस्फूर्त विकास का अर्थ है कि देश के लोग इतना धन बचाते और विनियोजित करते रहें जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति और आय बराबर बढती रहे। इसलिए यह आवश्यक है कि देश मे पूंजीगत माल और मशीनें आदि बनाने का प्रबन्ध हो, जिससे नये उद्योग-धन्धो में पूंजी लगती रहे। तीसरी योजना में किस उद्योग मे कितना पूंजी विनियोग हो, इसका निर्धारण इसी बात को ध्यान मे रखकर किया गया है।

स्वयस्फूर्त विकास तभी सम्भव है जब खेती और उद्योग दोनो की समुचित उन्नति हो। औद्योगीकरण के बिना न तो आय बढ सकती है और न रोजगारी के अवसर हो। साथ ही, कृषि-उपज की वृद्धि बिना औद्योगीकरण भी नही हो सकता। इसलिए *तीसरी योजना मे अन्न और कच्चे माल की उपज बढाने और उद्योग का* आधार सुदृढ करने पर समान रूप से बल दिया गया है। अपने देश मे लोगो को पूर्ण रोजगार नही मिलता है, इसलिए रोजगार के साधन बढाना बहुत आवश्यक है। जनता को अधिक काम देने मे उत्पादन बढता है। इसलिए तीसरी योजना मे रोजगारी के

---

* Third Five Year Plan Page 11.

अवसर बढाने पर भी बहुत जोर दिया गया है। इस प्रकार स्वयस्पूर्त विकास भी तीसरी योजना का एक उद्देश्य है।

समाजवादी ढांचा—

योजना का उद्देश्य धन और आय की विषमता को कम करने का है, जिससे समाजवादी ढंग की समाज रचना हो सके, जिसमें सब लोगो को पूरी उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए योजना के अन्तर्गत अनेक उपाय करने पडेंगे और वर्तमान कलेवर मे परिवर्तन करने पडेगे। इनमे राज्य के उद्योग और आर्थिक कार्य, देश मे साधन जुटाने और विकास मे विनियोजन के लिए वित्तीय उपाय, समाज सेवाओ का विस्तार, भूमि-सुधार, सहकारी संस्थाओ का विस्तार आदि का समावेश है। ये उपाय ऐसे ढङ्ग से होने चाहिए कि निम्न श्रेणी की आर्थिक उन्नति हो और उन्हे अधिक अवसर मिले तथा उच्च श्रेणियो का धन और अधिकार कम हो।

योजना की लागत—

योजना की कुल लागत १०,२०० करोड रु० है, जिसमें से ६,२०० करोड रु० सरकारी क्षेत्र मे और ४,००० करोड रु० निजी क्षेत्र मे व्यय होंगे। सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागत ७,२५० करोड रु० होगी। इसमे १,०५० करोड़ रु० चालू लागत का समावेश है। २०० करोड रुपये की राशि सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र मे बदलने की सम्भावना है, जिससे निजी क्षेत्र मे पूँजी-निर्माण हो सके। निम्न तालिका मे दूसरी योजना की लागत और पूँजी के साथ तीसरी योजना के कुल व्यय और पूँजी की तुलना है :—

(करोड रु०)

	सरकारी क्षेत्र			निजी क्षेत्र	कुल पूँजी
	योजना का व्यय	चालू व्यय	पूँजी		
दूसरी योजना	४,६००	६५०	३,६५०	३,१००*	६,७५०
तीसरी योजना	७,२५०	१,०५०	६,२००	४,०००*	१०,२००

तीसरी योजना में प्रायः उन्हीं कामों पर पूँजी विनियोजन होगा जिन पर दूसरी योजना मे हुआ था, परन्तु सहकारी क्षेत्र मे कृषि, उद्योग, बिजली और कुछ सामाजिक सेवाओ पर अधिक बल दिया जायगा। दूसरी और तीसरी योजना मे सहकारी क्षेत्र को निम्नवत बाँटा गया है :—

* सरकारी क्षेत्र से जो २०० करोड़ रु० निजी क्षेत्र मे दिए जायेंगे उनका समावेश इसमें नहीं है।

(करोड़ रुपये)

	व्यय		प्रतिशत	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि और छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६·६	८·६
(२) सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४·६	५·५
(३) बड़ी और मध्य सिंचाई योजनाएँ	४५०	६५०	६·८	९·०
(४) .... योग १, २, ३,	९८०	१,६७५	२१·३	२३·१
(५) बिजली	४१०	९२५	८·९	१२·८
(६) ग्राम एवं लघु उद्योग	१८०	२५०	३·९	३·४
(७) उद्योग और खनिज	८८०	१,५००	१९·१	२०·७
(८) परिवहन और संचार	१,२९०	१,४५०	२७·१	२०·०
(९) योग ५ से ८	२,७६०	४,१२५	६०·१	५६·९
(१०) सामाजिक सेवाएँ	८६०	१,२५०	१८·७	१७·२
(११) उत्पादन में रुकावट न आवे इसलिए कच्चा या अर्द्धनिर्मित माल का संग्रह	—	२००	—	२·८
(१२) सकल योग	४,६००	७,२५०	१००	१००

सरकारी क्षेत्र में जो व्यय ७,२५० रु० का होता है उसमें से ३,६०० करोड़ रु० केन्द्र और ३,६५० करोड़ रु० राज्य सरकारें खर्च करेंगी। केन्द्र द्वारा राज्यों को २,५०० करोड़ रु० दिए जाने का अनुमान है।

योजना के लिए आर्थिक साधन –

दूसरी योजना की कुल ६,७५० करोड़ रु० लागत की तुलना में तीसरी योजना में १०,२०० करोड़ रु० की पूँजी लगाने के लिए घरेलू साधन जुटाने में गहन प्रयत्न करना होगा। तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय ५% वार्षिक की दर से बढ़ने की आशा है। अधिक पूँजी विनियोजन के लिए इसी साधन से धन प्राप्त करना होगा।

योजना का उद्देश्य है कि तीसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय का १४% अर्थ व्यवस्था में विनियोजित हो ? दूसरी योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय का ११% हमारी अर्थ-व्यवस्था में लगा हुआ होगा। इस समय बचत की दर राष्ट्रीय आय के ८% है, जिसे तीसरी योजना के अन्त तक बढ़ाकर ११% करना होगा।

पहिली दो योजनाओं की भाँति तीसरी योजना के प्रारम्भ में भी विदेशी मुद्रा कम रहेगी तथा विदेशी मुद्रा कोष में धन लेने की भविष्य में गुञ्जाइश नहीं है। साथ ही, मूल्य-स्तर दूसरी योजना के प्रारम्भ की अपेक्षा अब २०% अधिक है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसे व्यय न किए जाएँ जिनसे मुद्रा-स्फीति हो।

कम्पनियो को जो सेवा शुल्क मिला उससे इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया तथा भारत मे वायु यातायात का विकास भी काफी हुआ। फलस्वरूप भारत मे अनेक स्थानो पर नये हवाई अड्डे बने तथा वायु उडान का नया तन्त्र विकसित हुआ। इसमे वायु मार्गों की सुरक्षा बढी एव जनता को उनकी उपयोगिता का अनुभव मिला। साथ ही, अनेक भारतीयो को हवाई-उडान की यान्त्रिक एव तान्त्रिक शिक्षा तथा अनुभव मिला, जो भारत के भावी वायु मार्गों के विकास के लिए आवश्यक ही था।

युद्ध समाप्त होने पर जनता का वायु मार्गों की सुरक्षा एव उपयोगिता मे विश्वास बढने के साथ साथ यात्रियो एव माल के यातायात का परिमाण बढा। इसके साथ अनेक डाकोटा वायुयान जो अब सैनिक दृष्टि से अनावश्यक थे वे मिट्टी मोल बेचे गये। फलत: भारत मे अनेक नई वायु-सेवा कम्पनियो की स्थापना हुई तथा ऐसी ११ कम्पनियो को लाइसेन्स दिये गये।* यद्यपि यात्रियो एव माल यातायात का परिमाण बढ रहा था, फिर भी बढते हुए सचालन व्यय के कारण अनेक कम्पनियो की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई तथा उन्होने सरकारी सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप १ मार्च सन् १६४८ से वायु यातायात कम्पनियो को सरकारी सहायता मिलने लगी, जिसका संशोधन १ अक्टूबर सन् १६५१ मे किया गया।

वायु यातायात जाँच समिति सन् १६५०—

इसी समय बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में वायु सेवाओ की कार्य प्रणाली की जांच तथा वायु यातायात उद्योग की सुदृढता के हेतु सिफारिशें करने के लिए एक जांच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने यह राय दी कि वर्तमान वायु कम्पनियो का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। यात्री एव माल के यातायात को देखते हुये कम्पनियो की संख्या अधिक है। इसलिए समिति ने उनके कार्य व्यय मे कमी तथा उनका पुनर्गठन कर उनको चालू रखने की सिफारिश की। इसके साथ ही समिति ने राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। परन्तु राष्ट्रीयकरण के लिए वह समय उपयुक्त न होने से ५ वर्ष के लिए उसे स्थगित किया जाय, यह भी कहा।

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में इस समिति ने निम्न दलीलें दी :—

(१) देश की विभिन्न वायुयान कम्पनियो के नियन्त्रण के लिए एक कॉर्पोरेशन बनाया जाय, जिसमे वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग हो सके। यह कॉर्पोरेशन व्यावारिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी नीति व्यवहार में लाये, किन्तु प्रमुख नीति पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त हितकर है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत वायुयानो की सेवाएँ सस्ती दरो पर एव किसी भी समय उपयोग मे ली जा सकती है।

---

* Hindustan Year Book—1954

(३) सरकारी वायुयान कॉर्पोरेशन की स्थापना होने से उसका हेतु केवल लाभ कमाना नहीं रहेगा, जिससे जनता को सस्ते दरों पर आकाश यातायात की सेवाएँ मिल सकेंगी। कारण, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होने से दुहरी क्रियाएँ नहीं रहेंगी एवं व्यय में मितव्ययिता होगी।

(४) व्यक्तिगत वायु यातायात कम्पनियों की सफलता के लिए सरकारी सहायता देनी होगी (जो उस समय सरकार दे रही थी)। ऐसी दशा में इनका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक वाञ्छनीय होगा।

वायु मार्ग कॉर्पोरेशन योजना (Airways Cooperative Scheme)—

इसके बाद सन् १९५२ में योजना आयोग ने वायु यातायात प्रमण्डलों को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा उसको प्रति वर्ष दी जाने वाली ४० लाख रुपए की अप्रत्यक्ष सहायता, इन दोनों पहलुओं पर विचार कर यह निर्णय लिया कि वायु यातायात कम्पनियों की अधिकता देश के हित में नहीं है। इसलिए आयोग ने एक एअरवेज कॉर्पोरेशन का निर्माण कर उसमें वर्तमान वायु यातायात कम्पनियों के एकीकरण की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार वर्तमान कम्पनियों के अंशधारियों को उनकी पूँजी के बदले नवनिर्मित एअरवेज कॉर्पोरेशन के अंश देने का प्रस्ताव रखा। सरकार इस कॉर्पोरेशन पर अपना प्रबन्ध एवं नियन्त्रण रखने में सफल हो, इसलिए सरकारी अंश सबसे अधिक परिमाण में रहेंगे। इस कार्य के लिए तथा १३ वायुयानों के क्रय के लिए ९·५० करोड़ रुपए का आयोजन भी किया गया।

राष्ट्रीयकरण हो गया—

फलस्वरूप यातायात मन्त्री एवं वर्तमान वायु यातायात प्रमण्डलों के साथ अनेक बार विचार-विनिमय होकर वायु यातायात राष्ट्रीयकरण अधिनियम सन् १९५३ बना। इस अधिनियम से १ अगस्त सन् १९५३ को वायु-यातायात उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो गया। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप १ अगस्त सन् १९५३ में आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए 'इण्डियन एअरलाइन्स कॉर्पोरेशन' तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु सेवाएँ प्रदान करने के लिए 'एअर इण्डिया इन्टरनेशनल कॉर्पोरेशन' का निर्माण हुआ।

इन वैधानिक निगमों के निर्माण से लाभ—

(१) वायु-यातायात सम्बन्धी उपकरण सामग्री, वर्कशॉप क्षमता तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों का देश हित में अधिकतम् उपयोग होगा।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण निश्चित रूप में वाँछनीय ही था, जो अब सरकारी निगमों के निर्माण से पूर्ण हो गया है।

(३) वायु-यातायात जन-उपयोगी साधन होने से उसका विकास देश हित में एवं जन-हित में होगा।

(४) वर्तमान यन्त्र-युग में वायु यातायात क्षेत्र में तीव्र गति से तान्त्रिक

विकास हो रहा है, जिसका पूर्णतम लाभ सरकारी निगम अपने असीमित साधनो के कारण ले सकेगा।

राष्ट्रीयकरण होने से इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने देश के आन्तरिक वायु मार्गो पर सुविधाएं देने वाली आठ वायु यातायात कम्पनियो को अपने नियन्त्रण एव प्रबन्ध मे ले लिया है। इसी प्रकार एअर इण्डिया इण्टरनैशनल ने तत्कालीन वायु यातायात कम्पनियो को, जो अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों पर सेवाएं दे रही थी, अधिकार एव नियन्त्रण में लिया है। केन्द्रीय सरकार को देश हित में दोनो ही निगमो को आदेश देने का अधिकार है। ये दोनो निगम केन्द्रीय सरकार को आर्थिक अनुमान के साथ अपनी क्रियाओ की वार्षिक योजनाएं देंगी तथा इनकी लेखा पुस्तको की जाँच ऑडिटर जनरल एव कन्ट्रोलर करेगा, जिसकी रिपोर्ट ससद मे रखी जायेगी।

इन दोनो निगमो की क्रियाओ से सामजस्य लाने के लिए अप्रैल सन् १६५५ में वायु यातायात परिषद् की स्थापना की गई है, जो भाडे की दरें, किराया, डाक-शुल्क तथा वायु मार्ग सुविधाओ की पूर्णता एव कार्यक्षमता के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देती है। इसके साथ ही दोनो निगमो की पृथक सलाहकार समितियाँ हैं, जिनमे वायु यातायात के उपभोक्ताओ का प्रतिनिधित्व भी है, जिससे वे प्रबन्धको के सामने दृष्टिकोण रख सकेंगे।

प्रत्येक वायु-यातायात कम्पनी को दी जाने वाली हानि पूर्ति की राशि अधिनियम मे निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार ६'०१ करोड निश्चित की गई है। हानि पूर्ति को राशि का भुगतान ३½% के बॉडो मे किया गया है, जो बेचान साध्य एव ५ वर्ष बाद देय है।

राष्ट्रीयकरण के बाद—

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण की विभिन्न क्षेत्रो से कटु आलोचना की गई थी तथा कहा गया था कि राष्ट्रीयकृत वायु परिवहन मे कार्यक्षमता की हानि के साथ ही आर्थिक हानि भी बढेगी। फलतः रेल परिवहन की भाँति वायु-सेवाओ मे भाडे की वृद्धि होगी, परन्तु कॉर्पोरेशन की गत वर्षों की क्रियाओ से यह स्पष्ट होता है कि इन आलोचनाओ मे कोई तथ्य नही था।

राष्ट्रीयकरण के प्रथम वर्ष मे अवश्य ही यात्रियो की सख्या तथा माल का यातायात कम और डाक अधिक भेजी गई थी, परन्तु इसके बाद के वर्षों मे वायु परिवहन प्रगति कर रहा है :—

इस विषय मे जो नीति है उसका लक्ष्य है कि इन अवसरो से छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगपति लाभ उठावें और अधिक शक्ति थोडे से लोगो के हाथ मे केन्द्रित होने क प्रवृत्ति पर आरम्भ से ही अकुश रहे।*

उत्पादन एवं विकास के लक्ष्य—

कृषि योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता है। अनाज मे आत्म निर्भरता और उद्योगो तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की उपज बढाना तीसरी योजना का मुख्य उद्देश्य है। योजना में कृषि एव सामुदायिक विकास के लिए सरकारी क्षेत्र मे १,०२५ करोड रु०, सिचाई को बडी और मध्यम योजनाओ के लिए ६५० करोड रु० का आयोजन है। साथ ही, निजी ओर से भी इन कार्यों मे ८०० करोड रु० के विनियोजन का अनुमान है। कृषि की उपज मे ३० से ३३% वृद्धि की जायगी। प्रमुख फसलो के उत्पादन लक्ष्य हैं :—

		वार्षिक उत्पादन	
		१९६०–६१ (अनुमान)	१९६५–६६ लक्ष्य
अनाज (लाख टन)		७५०	१,००० से १,०५०
तिलहन	,,	७२	९२ से ९५
गन्ना (गुड क रूप मे)	(लाख टन)	७२	९० से ९२
रुई	(लाख गाँठें)	५४	७१
पटसन	(,,)	५५	६५

औद्योगिक उत्पादन—

तृतीय योजना के लक्ष्यो और प्राथमिकताओ के बारे मे योजना आयोग ने कहा है कि सन् १९६१ ६६ की औद्योगिक परियोजना का लक्ष्य एक ऐसी नीव रखना होना चाहिए जिसमे अगले पन्द्रह वर्ष तक देश का तेजी से विकास हो सके। राष्ट्रीय आय मे अपेक्षित वृद्धि और रोजगार की सुविधाएं प्रदान करने की दृष्टि से भी यह बहुत जरूरी है।

मूल मशीनें और उपभोक्ता सामग्री तैयार करने वाले उद्योगो और आवश्यक टेक्निकल ज्ञान, डिजाइन तैयार करने की क्षमता आदि तैयार करने पर आयोग ने विशेष बल दिया है जिससे बिजली, परिवहन, उद्योग, खनिज-उत्पादन आदि के क्षेत्र मे राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का विकास हो सके और देश को विदेशो पर निर्भर न रहना पडे।

तृतीय योजना काल मे निजी और सार्वजनिक उद्योगो को परस्पर सहयोग से काम करना होगा। नेत्रजनयुक्त रसायनिक खाद तैयार करने के क्षेत्र मे यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता प्राप्त हो चुकी है, तथापि योजना काल में निजी क्षेत्र को भी यहां बढने का मौका दिया जायगा।

* उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।

तृतीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे उत्पादन बढ़ाने पर बल दिया जायगा, जिससे विदेशी मुद्रा की कम आवश्यकता पड़े ।

आयोग ने तृतीय योजना काल के लिए प्राथमिकताए इस प्रकार निश्चित की हैं :—

(१) द्वितीय योजना की शेष परिकल्पनाओं को पूरा करना ;

(२) इञ्जीनियरिंग और भारी मशीनें बनाने वाले उद्योगों का विस्तार और उनके उत्पादन मे विविधता लाना तथा मिश्रित धातुओं के औजार, विशेष इस्पात, लोहा, इस्पात और लोह-मिश्रण एवं रसायनिक खाद तैयार करना ;

(३) अल्मुनियम, खनिज तेल, रसायन आदि तैयार करना ;

(४) मौजूदा क्षमताओं का पूर्ण उपयोग;

(५) देशी उद्योगों से अधिक मात्रा मे दवाइयां, कागज, कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल और घर बनाने का सामान तैयार करना ।

तृतीय योजना मे उद्योग और खान-कार्यक्रमों पर २५ अरब रुपया खर्च करने की व्यवस्था है । इस राशि में १५ अरब सार्वजनिक और १० अरब रुपया निजी क्षेत्र पर खर्च किया जायगा ।

नेवेली योजना—

नेवेली योजना मे उष्णता से प्राप्त बिजली के लिए ३५ लाख टन लिगनाइट प्रति वर्ष खनन की कल्पना की गयी है । इसके अतिरिक्त ७० हजार टन नाइट्रोजन के समान खाद के उत्पादन और ३ लाख ८० हजार टन के कार्बनाइज्ड ब्रिकेटेस का उत्पादन भी होगा ।

तृतीय योजना मे उष्णता प्राप्त बिजली उत्पादन की क्षमता चार लाख किलोवाट कर दी जायगी । बटाए गए बिजली संयन्त्र की आवश्यकता के लिये खनिज उत्पादन ३५ लाख टन से बढ़ाकर ४८ लाख टन कर दिया जयागा ।

औद्योगिक मशीनरी—

ढलाई भट्टी की क्षमता मशीनरी योजनाओं के लिए अनिवार्य है । ढलाई की कुल शक्ति का वितरण निम्नलिखित ढग से किया जायगा :—(१) रांची की ढलाई भट्टी मे (तृतीय चरण मे) ३८ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ४५ हजार टन इस्पात की ढलाई और ६६ हजार ७ सौ टन स्टील फोर्जिंग; (२) दुर्गापुर खान मशीनरी योजना मे ११ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई, ६ हजार टन इस्पात की ढलाई और ७ हजार टन स्टील फोर्जिंग; (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, बंगलोर मे २ हजार ५ सौ टन भूरे लोहे की ढलाई; (४) चितरंजन लोकोमोटिव कारखाने मे ३ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और ७ हजार टन इस्पात की ढलाई; (५) दुर्गापुर, भिलाई और रूरकेला इस्पात कारखाने मे ७२ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई और १५ हजार टन

इस्पात की ढलाई और (६) रेलवे कारखानो से सम्बन्धित ढलाई भट्टियों को छोड़कर शेष अन्य कारखानो मे ६ हजार टन भूरे लोहे की ढलाई।

राची मे बडे यन्त्रो के उत्पादन के लिए एक सयन्त्र है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८० हजार टन है। इसका विस्तार होने वाला है। इसके विस्तृत हो जाने पर इस्पात तैयार करने की क्षमता प्रति वर्ष १० लाख टन करने के लिए आवश्यक प्रसाधनो में अधिकाश प्रसाधनो की पूर्ति इसी कारखाने से हो सकेगी।

फिलहाल मशीन के औजारो की माग २० करोड रुपए की कीमत तक है, लेकिन सन् १९६५-६६ तक यह माग बढकर ५० करोड रुपए तक की कीमत तक पहुँच जायगी।

खनिज तेल—

सन् १९५९ ई० मे खनिज तेल के बने सामानो की माग ६२ लाख ८० हजार टन थी। इसके मुकाबले मे तीसरी योजना के अन्त मे १ करोड टन से भी अधिक खनिज तेल के सामानो की माग होने को आशा है।

आयल इण्डिया लिमिटेड कम्पनी नहरकटिया को खान से तेल निकालेगी। आशा है कि यहाँ से प्रति वर्ष २७ लाख ५० हजार टन तेल निकल सकेगा। सन् १९६२ ई० मे तेल साफ करने का पहला कारखाना बनाकर तैयार हो जायगा। ऐसी आशा है कि तेल साफ करने के कारखाने की स्थापना का काम पूरा होते ही सन् १९६० ई० से कच्चे तेल की पाइपिंग शुरू हो जायगी।

और अधिक तेल की खोज के लिए तीसरी योजना मे १ अरब १५ करोड रुपये की धनराशि निर्धारित की गयी है और सार्वजनिक क्षेत्र मे तेल के वितरण की व्यवस्था के लिए भी ५ करोड रुपए की धनराशि निर्धारित की गयी है।

उर्वरक का उत्पादन—

नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन बढा कर ८ लाख टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यह लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र के लिए है। इसी प्रकार निजी उद्योग के लिए भी २ लाख टन नाइट्रोजन उर्वरक तैयार करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। फिलहाल १ लाख ४४ हजार टन नाइट्रोजन उर्वरक तैयार करने की क्षमता है। करीब-करीब यह सारा उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र का है। एफ० ए० सी० टी० और नगल कारखाने के विस्तार से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दूसरी योजना के अन्त तक नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन करीब-करीब २ लाख ३४ हजार टन हो जायगा।

अन्य उत्पादन लक्ष्य निम्न हैं :—

		१९६०-६१	१९६५-६६
अल्यूमिनियम	('००० टन)	१७·०	७५·०
सीमेंट	(लाख टन)	८८	१३०
कागज	('००० टन)	३२०	७००

गन्धक का तेजाब	('००० टन)	४००	१,२५०
कास्टिक सोडा	('००० टन)	१२५	३४०
शक्कर	(लाख टन)	२५	३०
कपडा (मिलो का)	(लाख गज)	५०,०००	५८,०००
साइकिल (कारखानों में)	(हजार)	१,०५०	२,०००
सिलाई की मशीनें	(हजार)	३००	४५०
मोटरें	(सख्या)	५३,५००	१,००,०००

अन्य क्षेत्रो के विकास के लक्ष्य यथास्थान दिए गए हैं, अतः दुहराने की आवश्यकता नही है।

आलोचनाएँ—

(१) तीसरी योजना मे विदेशी सहायता पर अधिक निर्भरता है, जो कुल लागत के १०% है। विशेषतः ऐसी स्थिति मे जब विदेशी सहायता के सम्बन्ध मे निश्चित कोई आश्वासन नही है और यदि यह सहायता न मिली तो विकास अवरुद्ध होगा, जो योजना की महान त्रुटि है।

(२) दूसरी योजना के अन्तर्गत दिए गए ऋण एवं ब्याज के भुगतान की राशि जो तीसरी योजना मे चुकानी होगी, ५०० करोड़ रु० हैं। इससे तथा आगामी ऋणों से हमारी अर्थ व्यवस्था पर अधिक भार होगा, जिससे हमारी विकास योजनाओं को सदैव खतरा बना रहेगा।

(३) दूसरी योजना मे अल्प बचत से ५०० करोड रु० प्राप्त होने का लक्ष्य था, परन्तु वास्तव में ३८० करोड़ रु० ही मिले। ऐसी अवस्था मे तीसरी योजना के अन्तर्गत अल्प बचत के लक्ष्य की पूर्ति के लिए गहन प्रयत्नो की आवश्यकता है।

(४) अतिरिक्त कर बढाने का लक्ष्य १,६५० करोड़ रु० है। इसमे सरकारी क्षेत्र के उद्योगो का लाभ बढाने से जो राशि प्राप्त होगी उसका भी समावेश है। परन्तु कितनी राशि अतिरिक्त करों से और कितनी राशि सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की लाभ-वृद्धि मे प्राप्त होगी, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित अनुमान नहीं हैं। साथ ही, सरकारी उपक्रमों के लाभ की राशि ४४० करोड रु० आकी गई है, जो वर्तमान स्थिति को देखते हुए योजनाकारों का एक अव्यावहारिक आशावाद प्रतीत होता है। "कर वृद्धि मे राज्यों को अधिक प्रयत्न करना होगा।" परन्तु कुछ राज्यो ने तो अभी से "कर वृद्धि सम्भव नही" यह कहना आरम्भ कर दिया है। ऐसी अवस्था में योजना के अन्तर्गत कुछ विकास कार्यक्रम खटाई मे पड जाएंगे।*

इन आलोचनाओ के होते हुए भी योजना के लक्ष्य समुचित हैं और यह आशा की जा सकती है कि योजना के अन्तिम रूप मे इन त्रुटियो का निवारण करने का प्रयत्न किया जायगा और साथ ही द्वितीय योजना की भूलों को सुधारने का प्रयास भी किया जायगा।

* Commerce, Aug. 27, 1960.

अध्याय १४

यातायात : रेल-यातायात

(Transport : Railways)

"यातायात पद्धति हमारे शरीर की धमनियों की भांति है, जिनके बिना देश का आर्थिक विकास असम्भव है।"

यातायात का अर्थ—

यातायात अथवा आवागमन *"सब तान्त्रिक साधनो एवं सङ्गठनो का योग है, जो व्यक्ति, वस्तुओ अथवा समाचारो को दूरी पर अधिकार देते हैं।"** इस प्रकार सामान्य शब्दों मे, जो साधन मानव, समाचार एवं वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाने मे सहायक होते हैं उन साधनो को हम यातायात कह सकते है। हमारे अध्ययन के के लिए समाचारो का सम्बन्ध विशेष रूप से नहीं आता, अतः हम यहाँ उन आवागमन के साधनों को देखेंगे जो वस्तु एवं मानव को स्थान दूरी कम करने मे सहायक होते हैं। ये साधन विभिन्न होते हैं—स्थल यातायात, जल यातायात एवं वायु यातायात। स्थल यातायात में रेल्वे, मोटरें, बैलगाडी, खच्चर आदि सभी साधनों का समावेश होता है, जो स्थल मार्ग की दूरी कम करने में सहायक होते हैं। जल यातायात मे नाव, जहाज, तथा स्टीमरों का समावेश होता है, जो नहरो, नदियो, समुद्र आदि द्वारा वस्तु एवं मानव के यातायात के लिए सहायक होते है। वायु यातायात में हवाई जहाज का समावेश होता है, जो स्थान की दूरी हवाई उड़ान से कम करने में सहायक होते हैं।

यातायात और आर्थिक प्रभाव—

किसी भी देश का यातायात विकास वहाँ की जलवायु, स्थल रचना, नदियो की बहुलता एवं समुद्र की समीपता के ऊपर निर्भर रहता है। फिर भी प्रत्येक देश मे साधारणतः सभी प्रकार के यातायात साधन उपलब्ध है, जिनकी अधिकता वहाँ की नैसर्गिक एवं भौगोलिक स्थिति पर निर्भर होती है। यातायात के साधन देश के औद्योगिक कलेवर मे रक्त वाहिनो का काम करते है तथा आर्थिक विकास की किसी भी

* "Transportations is the sum of all technical instruments *and organisations designed to enable* persons, commodities and news to master space"

Kurt Widenfield—Quoted from Transport by K P. Bhatnager and Others

श्रेणी में हमको यातायात के कोई न कोई साधन दिखाई देते ही हैं। प्रारम्भिक काल में मानव एवं पशुओं द्वारा यातायात होता था तो आज के बहु-परिमाण उत्पादन के काल में रेलें, हवाई जहाज, जहाज आदि साधनों से माल एवं मानव का आवागमन होता है। इस प्रकार यातायात के साधन देश की आर्थिक प्रगति का परिचय देते हैं।

यातायात के साधनों का प्रत्येक देश के औद्योगिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि (१) यातायात साधनों के होने से देश के उद्योगों को कच्चा माल सुगमता से एवं सस्ती कीमत पर उपलब्ध होकर देश के विभिन्न भागों में उसका वितरण सुगम होता है। (२) यातायात साधनों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क, देश का विदेशी व्यापार एवं देश की सभ्यता तथा सांस्कृतिक विकास होता है। (३) विभिन्न देशों के साथ सम्पर्क होने से वैज्ञानिक प्रगति को बल मिलता है, जिससे देश की औद्योगिक एवं कृषि सम्बन्धी प्रगति होती है तथा संकुचित विचारधारा का अन्त होकर मानवी जीवन विकसित होता है। (४) देश के बाजार क्षेत्रों का विकास होकर पूँजी एवं श्रम की गतिशीलता बढ़ती है। (५) इस प्रकार यातायात साधनों से देश के विभिन्न स्रोतों का उपयोग अधिक अच्छी तरह सम्भव होता है और शीघ्र नाशवान वस्तुओं का उपयोग भी हो सकता है। राजनैतिक दृष्टि से भी यातायात साधनों का भाग कम नहीं है, क्योंकि सुरक्षा के लिए शीघ्र यातायात ही आवश्यक होते हैं।

रेल-यातायात—

आवागमन के विभिन्न साधनों में रेलवे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि व्यापारिक एवं औद्योगिक दृष्टि से यातायात का यही साधन अधिक उपयोगी है। यातायात साधनों में कितने ही वैज्ञानिक आविष्कार क्यों न हो जायें, रेलों का महत्त्व कायम ही रहेगा। यही एक ऐसा साधन है जिसमें भारी माल किसी भी संख्या अथवा वजन में एवं कम खर्च पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। इसीलिए स्थल यातायात में रेलों का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारत में रेलवे का विकास—

भारत में रेलवे का आरम्भ वास्तव में सन् १८४१ के लगभग हुआ, जब रेलवे योजना के सम्बन्ध में इञ्जीनियर तथा इंग्लैंड के व्यक्तिगत पूँजीपतियों की चर्चा हो रही थी। इसके दो वर्ष बाद ही निश्चित रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास प्रस्ताव रखे गये। रेलवे निर्माण की उपयोगिता के विषय में इङ्गलैंड एवं भारत की जनता निश्चित थी। परन्तु सवाल केवल उसके लिए आवश्यक पूँजी का था, जिसके विनियोग के लिए इङ्गलैंड के पूँजीपतियों को प्रलोभन देना आवश्यक था। सन् १८४३ में तत्कालीन गवर्नर जार्ज आर्थर के निमन्त्रण से श्री जी० टी० क्लार्क नामक रेलवे इञ्जीनियर बम्बई आए। इनके आने का उद्देश्य रेलवे निर्माण की सम्भावना का स्थानीय अध्ययन करना था। भारत में आने के बाद श्री क्लार्क अपनी योजना बनाने में तथा इस कार्य के लिए एक कम्पनी का निर्माण करने में व्यस्त हो गये,

जिससे सम्पूर्ण भारत में रेलवे का जाल बिछाया जा सके । उसके बाद ७ मई सन् १८४३ को भारतीय गवर्नर जनरल ने रेलवे की आवश्यकता को शासकीय मान्यता दी, जिससे विभिन्न कम्पनियों के साथ वार्ता होने लगी । फलस्वरूप १७ अगस्त सन् १८४६ में प्राथमिक वैधानिक समझौते पर भारत सरकार, ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला तथा ईस्ट इण्डियन रेलवेज के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हो गये तथा भारत में गारन्टी पद्धति पर रेलवे का श्रीगणेश हुआ । इस समझौते की प्रमुख शर्तें थी :—

(१) भारत के निश्चित रेलवे का आकार एवं उनकी पूर्णता की जिम्मेवारी संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों को सौंप दी गई ।

(२) भारत सरकार ने कम्पनियों द्वारा प्राप्त पूँजी पर ब्याज की जमानत दी, परन्तु साथ ही कम्पनियों के खर्चों एवं क्रियाओं पर नियन्त्रण रखा । यह ब्याज ९९ वर्ष के लिए ४½% से ५% की दर से देना निश्चित हुआ था ।

(३) रेलवे कम्पनियों को भारत में निःशुल्क जमीन दी गई ।

(४) निश्चित दर (४½% से ५%) अधिक लाभ होने पर आधा लाभ सरकार को जमानत के रूप में ब्याज की पूर्णता के लिए दी हुई राशि के भुगतान के उपयोग में लाया जायगा तथा शेष ५०% हिस्सेदारों में बाँटा जायगा, यह निश्चित हुआ ।

(५) भारत सरकार २५ अथवा ५० वर्ष बाद अपनी इच्छा से यदि चाहे तो रेल्वे, रेल्वे का सामान (Rolling Stock) आदि समुचित मूल्यांकन से खरीद सकती थी । इस समझौते से रेल्वे निर्माण के आरम्भ की ओर प्रत्यक्ष कार्यवाही। आरम्भ हो गई ।

रेल्वे निर्माण—

रेल्वे में प्रयोग के लिए सबसे पहले सन् १८४५ में कलकत्ते से रानीगंज के लिए १२० मील का लौह मार्ग बनाया गया । इसके बाद, समझौता होने के पश्चात् ही अन्य मार्गों का निर्माण हुआ, जिनमें बम्बई से कल्याण का ३६ मील का फरवरी सन् १८५१ में, दूसरा बम्बई से थाना तक २० मील का लौह मार्ग १६ अप्रैल सन् १८५३ तथा ३६ मील का तीसरा मार्ग कलकत्ता से पंडुआ तक का आरम्भ हुआ । ये तीनों मार्ग रेल्वे की उपयोगिता एवं सफलता को आंकने के लिए बनाये गये थे । इसके बाद सन् १८५३ के प्रारम्भ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत के विविध रेल्वे इन्जीनियरों तथा विशेषज्ञों की रिपोर्टों के परिशीलन के बाद रेल्वे निर्माण के सम्बन्ध में अपना नोट इङ्गलैंड में भेजा । इसमें व्यापारिक, औद्योगिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारत में रेलवे के महत्व का परिचय देते हुए ट्रंक रेलवे के निर्माण पर जोर दिया । इस प्रकार वास्तव में सन् १८५३ से ही रेल्वे के निर्माण का आरम्भ हुआ । तब से रेलवे का विकास काफी हुआ और आज भारत में ३४,४४६ मील के रेल मार्ग हैं, जो

देश के राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, खनिज, कृषि एवं धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण स्थानों मे हैं।

गारन्टी पद्धति के दोष—

उक्त पद्धति मे अनेक दोष होने के कारण वह सफलता से कार्य न कर सकी तथा केवल २० वर्ष ही (सन् १८४६-१८६६) कार्य में रही। इस अवधि में ४,२५५ मील के रेल मार्ग बनाए गए, जिनकी लागत ८६ करोड रुपये थी। इस पद्धति से सन् १८६६ तक सरकार को १·७ करोड रुपये की हानि हुई, जिससे इस पद्धति की तीव्र आलोचना होने लगी। क्योकि "भारतीय गारन्टी मितव्ययिता की भार रूप हुई, फिजूल-खर्ची को प्रोत्साहन मिला तथा जनता की शक्ति से अधिक अथवा समय की आवश्यकता से अनुचित दायित्व को बढा दिया।"* इस नीति के दोषो की ओर सकेत करते हुए गवर्नर जनरल लार्ड लारेन्स ने कहा था :— "सम्पूर्ण लाभ कम्पनियो को मिलता है और सम्पूर्ण हानि सरकार को।" इसलिए इस नीति मे परिवर्तन होना आवश्यक है। इस पद्धति के प्रमुख दोष निम्न थे :—

(१) गारन्टीड ब्याज की दर बहुत अधिक है, इससे कम्पनियों को लाभ की निश्चितता रहने के कारण वे मितव्ययिता के लिए कोई प्रयत्न नही करती और साथ ही ब्याज की यह दर इङ्गलेंड की मुद्रा मण्डी की स्थिति को देखते हुए न्यायोचित नही थी।

(२) सरकार का नियन्त्रण रेलवे कम्पनियो पर एवं सूक्ष्म मामलों पर भी बहुत कठोर होता है, जिससे रेलवे की कार्यक्षमता मे बाधा पहुँचती है। साथ ही , रेल्वे कम्पनियो पर दुहरा नियन्त्रण होने से कभी-कभी तो कार्य स्थिरता भी आ जाती है।

(३) सरकार की ओर से दी गई गारन्टी अनुचित थी, क्योंकि नई पूंजी के विनियोग की सरकार ने गारन्टी दी थी। इस कारण जैसे-जैसे पूंजी का विनियोग बढता जाता था, सरकार का दायित्व भी बढता था।

अतः लॉर्ड लारेन्स ने इस नीति मे परिवर्तन करना आवश्यक समझा तथा सरकार ने रेल्वे निर्माण की जिम्मेवारी एवं स्वामित्व स्वयं ले लिया।

सरकार द्वारा रेल-निर्माण सन् १८६६-१८७६—

सन् १८६६ से रेलो की जिम्मेवारी भारत सरकार की हो गई, परन्तु यह नीति अपेक्षित सफलता प्राप्त न कर सकी। क्योकि समय की आवश्यकता के अनुसार सरकारी पूंजी अन्य दिशाओ मे लगाना आवश्यक हो गया। इसी समय (सन् १८७४-७६ मे) भीषण एवं देशव्यापी अकाल पड़ा, जिसके लिए खाद्यान्न की पूर्ति की ओर सरकार को ध्यान देना पड़ा। दूसरे, अफगान युद्ध के कारण राजनैतिक दृष्टि से रेल्वे

---

* Development of Indian Railways—Sanyal.

का शीघ्र निर्माण करना आवश्यक हो गया। इस अवधि मे (सन् १८६९ मे सन् १८७९) भारत सरकार ने २,१७५ मील रेल मार्गों का निर्माण १०,६०० पौंड प्रति मील की लागत से किया। अकाल की जाँच के लिए नियुक्त अकाल-आयोग (सन् १८७९) ने रेलो के शीघ्र विस्तार की सिफारिश की, जिससे खाद्यान्न का यातायात दुर्भिक्ष के समय शीघ्रता से हो सके। इस कार्य के लिए उन्होंने कम से कम ५,००० मील के रेल मार्ग बढाने की सिफारिश की। सरकार के पूँजीगत साधन इस कार्य के लिए अपर्याप्त होने से कम्पनियो का सहयोग आवश्यक हो गया। अतः फिर गारन्टी पद्धति अपनाई गई।

नई गारन्टी पद्धति सन् १८८०-१६००—

इस अवधि मे सरकार द्वारा सन् १८७९ मे खरीदी गई ईस्ट इण्डियन रेल्वेज उसी कम्पनी की व्यवस्था मे दी गई तथा नई शर्तों पर गारन्टी पद्धति अपनाई गई। ये शर्तें पहिले की शर्तों से सरकार को अधिक अनुकूल थी। नई गारन्टी की शर्तें निम्न थी:—

(१) पूँजी पर ३½% ब्याज की गारन्टी सरकार ने दी।

(२) कम्पनियो को ३½% से अधिक लाभ होने पर ६०% भारत सरकार को मिलेगा तथा शेष हिस्सेदारो मे बाँटा जा सकेगा।

(३) भारत में कम्पनियो द्वारा निर्मित रेल मार्गों पर भारत सचिव का अधिकार रहेगा।

(४) सरकार २५ वर्ष के बाद या प्रत्येक १० वर्ष के बाद पूँजी की वापिसी पर अधिकार कर सकेगी। इण्डियन मिडलेंड तथा बङ्गाल-नागपुर रेल्वे कम्पनियो के लिए यही ब्याज की दर ४% रखी गई थी तथा लाभ मे सरकारी भाग ७५% रखा गया था।

इस अवधि में सदर्न मराठा रेल्वे, इण्डियन मिडलेंड रेल्वे, बङ्गाल-नागपुर रेल्वे आदि कम्पनियो का निर्माण हुआ। रेल्वे का विस्तार ७३३ मील प्रति वर्ष के हिसाब से हुआ। छोटी और बडी ३३ रेल्वे कम्पनियाँ तथा रेल-मार्गों की लम्बाई २४,७५२ मील हो गई।

सन् १८६३ तक लगभग प्रमुख रेल मार्गों का निर्माण होता रहा, परन्तु सहायक मार्गों (Branch & Feeder Lines) के निर्माण की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था। इसलिए इनके निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने सहायक कम्पनियो को विशेष सुविधाएँ देना आरम्भ किया, जैसे बिना मूल्य के भूमि, सरकारी व्यय से भूमि की पैमाइश (Survey), सरकारी रेलो द्वारा माल के याता-से भाडे की छूट आदि। इन सुविधाओं पर सन् १८६३ से सन् १८६६ के बीच अनुबन्ध हुए। परन्तु ये शर्तें कम्पनियो को विशेष आकर्षक न होने स सन् १८६६ में कम्पनियो की छूट एव ब्याज की दरें बढाई गई। इस नीति की आलोचना ऑकवथ समिति ने

करते हुए कहा था कि ऐसे सहायक रेल मार्गों का निर्माण सरकार को स्वयं अपने अधिकार मे लेना चाहिए। सरकार ने सन् १९२५ से यह कार्य अपने अधिकार एवं स्वामित्व मे लिया। इस अवधि में सहायक रेल-मार्गों का विस्तार सन्तोषप्रद नही था।

युद्धपूर्व काल में (सन् १९००-१९१४)—

रेल्वे निर्माण के प्रारम्भ से ही सरकार को घाटा हो रहा था, परन्तु सन् १९०० के बाद रेल्वे कम्पनियाँ लाभकर हो गईं। इसके लिए सन् १९०८-०९ का वर्ष अपवाद था, क्योकि इस वर्ष न्यूयार्क के आर्थिक संकट तथा देशी फसल खराब हो जाने से सरकार को रेल्वे से १२,४०,२०० पौंड की हानि हुई। सन् १९०२ तक लगभग सभी रेल्वे सरकार के स्वामित्व मे आ गई थीं, परन्तु उनका प्रबन्ध कम्पनियों द्वारा होता था, जिन पर सरकार का नियन्त्रण था। इस अवधि की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ थीं :—(१) रेल्वे का निर्माण लाभकर होना, तथा (२) देश में सरकारी एवं कम्पनियो के प्रबन्ध में रेल्वे का तेजी से विकास होना।

इस अवधि में रेल्वे की प्रगति की जाँच करने के लिए सन् १९०१ मे रॉबर्टसन तथा सन् १९०७ मे मैके कमीशन की नियुक्ति हुई। इनमें से राबर्टसन ने रेल्वे के विकास के लिये रेल्वे कोष तथा रेल्वे-सभा की स्थापना की सिफारिश की। इन सिफारिशो के अनुसार सन् १९०५ मे वाणिज्य एव उद्योग मन्त्रालय के आधीन रेल्वे सभा की स्थापना की गई, परन्तु रेल्वे कोष का निर्माण नही किया गया। इसके अलावा रेल्वे की कार्य-क्षमता बढाने के लिए, प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण करने के लिए रेल्वे प्रबन्ध कम्पनियों के हाथ में सौंपने की सिफारिश भी श्री रॉबर्टसन ने की थी, परन्तु इसे ताक में रखा गया। सन् १९०७ मे मैके आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे रेल्वे का अधिक विस्तार करने पर जोर देते हुये कहा कि देश में १०,००० मील रेल मार्ग और बनना चाहिए तथा इस कार्य के लिए १८·७५ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय करने की सिफारिश की। सहायक रेल मार्गों का निर्माण छोटी-छोटी कम्पनियों द्वारा न होते हुए यह कार्य सरकार को स्वयं करने की सिफारिश भी इस आयोग ने की। इन सिफारिशों से भारत में रेल निर्माण कार्य को प्रोत्साहन मिला, जिससे सन् १९०८-१३ के ६ वर्षों में यद्यपि सिफारिश के अनुसार वार्षिक व्यय नहीं किया गया, फिर भी ९२ करोड़ रुपये का व्यय हुआ और ४०,००० मील से अधिक सहायक रेल मार्गों का निर्माण किया गया। फलतः सन् १९१४ मे भारत मे कुल रेल मार्गों की लम्बाई ३४,६५६ मील तथा रेल्वे मे विनियोजित पूँजी ४९५ करोड़ रुपये हो गई थी। इसके साथ ही देशी रियासतों में भी रेल मार्गों का निर्माण हो रहा था।

प्रथम महायुद्ध काल से (सन् १९१४ से १९४३)—

सन् १९१४ मे प्रथम विश्व-युद्ध का आरम्भ होते ही रेल्वे पर युद्ध सम्बन्धी माल एवं सेना के यातायात की महान जिम्मेवारी आ जाने से रेल्वे उसी कार्य में पूर्णरूपेण व्यस्त रहीं। इस अवधि में नये रेल मार्गों का निर्माण असम्भव हो गया,

क्योंकि भारत में विदेशी आयात बन्द होने से रेल्वे के लिये आवश्यक सामग्री बाहर से आना बन्द हो गई। युद्ध सञ्चालन के लिये पूर्वी अफ्रीका, मेसोपोटामिया, फिलस्तीन में रेलों का जाल बिछाने के लिये कुछ सामान, जैसे—पटरियाँ, रेलों के डिब्बे, इञ्जन आदि भारत से भेजे गये। इस कारण जनता एवं माल के आन्तरिक यातायात की सुविधाओं में कमी आ गई। साथ ही, राजनैतिक दृष्टि से युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक नये रेल मार्ग भी बनाये गये थे। युद्ध-काल में रेल्वे पर काफी उत्तरदायित्व होने एवं उनका अधिकतम् उपयोग होने के कारण उनका बदलना आवश्यक हो गया था, इसलिये यदि रॉबर्टसन की सिफारिशों के अनुसार कोष बनाया होता तो उसका उपयोग हो सकता था, परन्तु कोई भी आयोजन नहीं था, इसीलिए ऑकवर्थ समिति ने कहा था :—"अनेक पुल इतने कमजोर हो गये थे कि वे भारी वजन वाली रेलों का बोझ नहीं सह सकते थे। अनेक मील लम्बे रेल मार्ग, सैकड़ों इञ्जन तथा हजारों डिब्बे काफी समय से दुरुस्ती की प्रतीक्षा में थे।" फलतः रेलों की कड़ी आलोचना हो रही थी। युद्धकाल में सामरिक महत्त्व की दृष्टि से नये रेल मार्ग बनने से सन् १९१९-२० में रेल मार्गों की लम्बाई ३६,७३५ मील तथा उनमें लगी हुई पूंजी ५६६·३७ करोड़ रुपये हो गई।

ऑकवर्थ समिति—

जनता की तीव्र आलोचना के कारण रेल्वे प्रबन्ध के सम्बन्ध में सन् १९१९ से वाद उपस्थित हो गया कि यह प्रबन्ध सरकार करे अथवा कम्पनियाँ। साथ ही, रेल्वे की आलोचना हो रही थी। इन समस्याओं की जाँच कर रेल्वे सम्बन्धी भावी नीति निर्धारित करने के लिए सन् १९२० में ऑकवर्थ समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति ने सरकार वि० कम्पनियों द्वारा रेल प्रबन्ध की समस्या का परीक्षण किया तथा सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में अपनी सिफारिश की। समिति के परीक्षण में दोनों ही पक्षों ने अपनी अपनी दलीलें दीं, परन्तु फिर भी सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में अध्यक्ष श्री विलियम ऑकवर्थ के निर्णयात्मक मत से बहुमत हुआ। फलतः सन् १९२३ में भारतीय संसद में सरकारी प्रबन्ध सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार हुआ और यह निर्णय लिया गया कि कम्पनियों के साथ अनुबन्धों का अन्त होने ही सरकार रेलों का प्रबन्ध अपने अधिकार में ले ले। इस नीति के अनुसार जनवरी सन् १९२५ तथा जुलाई सन् १९२६ में ईस्ट इण्डियन तथा जी० आई० पी० रेल्वे का प्रबन्ध सरकार के अधिकार में आ गया और कम्पनियों के रेल-मार्गों का स्वामित्व सरकार का हो गया। सन् १९२५ में रेल्वे में लगी हुई पूंजी ७३३·३७ करोड़ रुपया तथा रेल मार्गों की लम्बाई ३८,२७० मील थी।

इस समिति की अन्य सिफारिशों में प्रमुख सिफारिशें निम्न थीं :—(१) साधारण बजट से रेल्वे बजट अलग किया जावे तथा रेल्वे की आय का कुछ भाग साधारण आय में दिया जावे। (२) रेल्वे तथा जनता में होने वाले कलहों के निर्णय के लिए दर-भाड़ा निर्णायक ट्रिब्यूनल की स्थापना की जाय। ऑकवर्थ समिति की

सिफारिशों ने भारत की रेलों के सरकारी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण की नींव डाली, जिनके आधार पर भविष्य में भारतीय रेलों का विकास हुआ।

सन् १६२५-२६ की अवधि में रेल्वे अर्थ प्रबन्ध का सामान्य अर्थ प्रबन्ध से पृथक्करण किया गया, जिससे रेल्वे की अनिश्चित आय के प्रभाव से साधारण बजट मुक्त रहे तथा रेल्वे का संचालन व्यापारिक दृष्टि से सम्भव हो। साथ ही, रेल्वे की आय का एक निश्चित भाग साधारण बजट के लिए अनिवार्य रूप से मिलना भी निश्चित हुआ। इस प्रकार का पहला बजट सन् १६२७-२८ का बजट था। इसके साथ ही रेल्वे की घिसावट आदि से हानि की व्यवस्था एवं पुनः स्थापना के लिए एक घिसावट-कोष के निर्माण की भी व्यवस्था की गई। सन् १६२६ की विश्व-व्यापी मन्दी से देश का आयात-निर्यात एवं आन्तरिक व्यापार प्रभावित हुआ और रेल्वे की आय कम हो गई। साथ ही, रेल रोड स्पर्धा से भी रेलो को हानि होती ही थी। इस कारण रेल्वे साधारण बजट को अपनी निश्चित राशि न दे सकी, जो सन् १६३६-४० मे ३६१/२ करोड़ रुपये हो गई थी। इसके अलावा रेलों को भूकम्प एवं बाढ़ो से भी काफी हानि हुई। रेल्वे की यह स्थिति सन् १६२६ से सन् १६३५ तक रही। परन्तु सन् १६३६ में व्यापारिक समृद्धि एवं कीमतों के स्तर में सुधार होते ही रेल्वे की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी, जिससे सन् १६३६-३७ से सन् १६३६-४० के वर्षों मे रेल्वे की आय क्रमशः १·२१, २·७५, १·३७ तथा ४·३३ करोड़ रुपये से व्यय की अपेक्षा बढ गई।

द्वितीय विश्व युद्ध काल (सन् १६३६-१६४५)—

द्वितीय विश्व युद्ध काल रेल्वे के इतिहास में सम्पन्नता का था। इस अवधि में व्यापारिक समृद्धि एवं औद्योगिक विकास के साथ रेल द्वारा माल का यातायात बढ़ गया। फलतः रेलो की आय मे वृद्धि हुई, परन्तु युद्ध के पूर्वार्द्ध मे रेल्वे की कठिनाइयों एवं अभावों के होते हुए भी इञ्जन, डिब्बे तथा रेलो का सामान मध्यपूर्व को देना पड़ा। मीटरगेज के लगभग ८% इञ्जन, १५% डिब्बे, ४,००० मील लम्बाई की पटरियाँ तथा ४० लाख स्लीपर मध्यपूर्व तथा सैनिक योजनाओं के लिए दिये गये। युद्ध के उत्तरार्द्ध में जबकि जापान ने ब्रह्मा तथा पूर्वी देशों पर धावा किया तब रेल्वे का बोझ और भी बढ गया, जिससे रेल यातायात नष्ट प्रायः स्थिति पर आ पहुँचा था। रेल्वे के पूँजीगत माल की काफी घिसावट हो चुकी थी और दुरस्ती के लिए वर्कशॉप की सुविधायें कम हो गई थी। क्योंकि रेल्वे के बड़े-बड़े वर्कशॉप युद्ध सामग्री बनाने के लिए ले लिए गये थे और विदेशों से रेल्वे निर्माण की सामग्री का आयात बन्द हो गया था। दूसरे, सैनिक यातायात बढ जाने से जनता एवं माल के यातायात की सुविधाएँ कम कर दी गई थी, जिससे रेलो द्वारा दी जाने वाली भाड़े मे छूट आदि का अन्त कर दिया गया। साथ ही, सरकार ने कम यात्रा (Travel-less) का प्रचार भी किया, परन्तु यात्रियों की संख्या कम न होते हुए बढ रही थी। रेल-सुविधाएँ समाप्त कर दी गई थी। अतः यातायात की समस्या को सुलझाने तथा

विभिन्न यातायात-साधनों में सामञ्जस्य लाने के लिए युद्ध यातायात सभा की स्थापना हुई। इसके सामने तीन समस्यायें थीं :—

(अ) रेल्वे से अधिक से अधिक युद्ध सामग्री एव सेना को भेजना।

(ब) यातायात के अन्य साधनों को प्राप्त करना।

(क) उपरोक्त *शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक आयोजन करना।*

इस सभा की सिफारिश के अनुसार फरवरी सन् १९४२ में केन्द्रीय यातायात-सगठन का निर्माण किया गया तथा इसके साथ सामजस्य करने के लिए प्रान्तीय प्रादेशिक यातायात सभाओं का निर्माण भी हुआ। इन सभाओं का काम रेलों पर भीड कम करना था। इसलिये ये अन्य मार्गों से माल आदि के यातायात को भेजने का प्रयत्न करते थे। फिर भी समस्या का हल नही हुआ। इसलिए प्राथमिकता-पद्धति अपनाई गई, जिसके अनुसार केवल आवश्यक वस्तुओं को ही रेल द्वारा यातायात मे प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी रेल्वे मे भीड कम नही हुई। माल के यातायात के दर भी बढाये गये, परन्तु इसमे भी कमी नही आई। सन् १९३९-४० मे जहाँ यात्रियो *की सख्या ५३ करोड़ थी वह सन् १९४४-४५ मे ९३ करोड हो गई।* इसी प्रकार माल यातायात मे जहाँ सन् १९३९-४० मे रेल द्वारा ९·२० करोड टन भेजा जाता था वही सन् १९४४-४५ मे १०·२ करोड भेजा जाने लगा। ऐसी स्थिति मे भी भारतीय रेलों ने देश की सैनिक एव अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की, जो सराहनीय है।

युद्धोत्तर-काल में

सैनिकों का विस्थापन, अतिरिक्त सैनिक सामग्री का तथा कमी वाले प्रदेशों मे अब अन्न का यातायात करने की जिम्मेवारी रेल्वे पर आ गई। इससे रेल्वे यातायात की दशा और भी खराब हो गई। क्योंकि युद्धोत्तर-काल मे रेल्वे की समस्यायें ऐसी थी जिनका तत्कालीन हल सम्भव नही था, जैसे—रेल्वे के इञ्जनों का नवीनी-*करण आदि। साथ ही, सन् १९४७ मे देश विभाजन ने समस्या को और भी गम्भीर* बना दिया।

देश का विभाजन होने के कारण भारतीय रेल मार्गों का बहुत सा भाग पाकिस्तानी प्रदेश मे गया। जो रेल मार्ग विभाजन से विशेष प्रभावित हुए उनमे नॉर्थ-वेस्टर्न रेल्वे, आसाम रेल्वे, बगाल एव आसाम रेल्वे तथा जोधपुर रेल्वे थी, जिनका ७,००० मील लम्बाई का मार्ग पाकिस्तानी हिस्से मे गया। विभाजन से भारतीय रेलो की स्थिति निम्न हो गई :—

	भारत	पाकिस्तान
रेल्वे इञ्जन	७,२४८	१,३३९
सवारी डिब्बे	२०,१९६	४,२८०
माल के डिब्बे	२,१०,०९९	४०,२२१
रेल मार्ग	३०,०१७ मील	६,९५७ मील
रेलों मे लगी हुई पूँजी	५९७·७३ करोड रु०	१३९ करोड़ रु०

विभाजन के पूर्व रेल्वे के सामने अनेक समस्याएं थी ही, जिनमे कर्मचारियों के वेतन-वृद्धि, मँहगाई में वृद्धि आदि श्रमिकों सम्बन्धी समस्याएं हैं। इन सब समस्याओं पर विचार करने, रेल्वे की कार्यक्षमता बढाने एवं रेल्वे के व्यय में मितव्ययिता लाने के हेतु सिफारिशें करने के लिये सन् १९४६ मे रेल्वे जांच समिति—कुंजरू समिति—की नियुक्ति हो चुकी थी। इस समिति के कार्य मे भारत विभाजन से बाधा आई तथा समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४९ में प्रस्तुत की।

विभाजन के कारण भारतीय रेलो के बँटवारे के साथ ही अन्य अनेक दोष भी आ गये, जैसे—(१) कर्मचारियों की अदला-बदली। इस अदला-बदली का परिणाम भारतीय रेल्वे पर बुरा हुआ। (२) तान्त्रिक कार्य मे मुस्लिम कर्मचारियों की सख्या ही अधिक थी। पाकिस्तान से आने वाले कर्मचारियों मे क्लर्कों की अधिकता थी, जिनको काम देने का प्रश्न उपस्थित हो गया। (३) कराँची बन्दरगाह भारत से निकल जाने से बम्बई बन्दरगाह से माल के यातायात मे वृद्धि हो गई। (४) *विस्थापितो के आवागमन को जिम्मेवारी भी भारतीय रेलों पर आ गई।* इन सब कारणो से रेल्वे व्यय बढ गया। (५) कञ्चनपारा और मुगलपुरा के सुसज्जित वर्कशॉप भी पाकिस्तान को मिले (६) हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही एव काश्मीर युद्ध ने परिस्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। परन्तु सन् १९४९-५० से रेल्वे की स्थिति मे सुधार हो गया तथा यात्रियो एव माल के यातायात को अधिक सुविधाएं दी जाने लगी और प्राथमिकता पद्धति का अन्त किया गया। इसी प्रकार ३१ मार्च सन् १९५१ मे भारतीय रेल मार्गों की लम्बाई ३४,०७९ मील (Route Miles), कुल आय २६,४६१ लाख रुपये थी तथा विनियोग की हुई पूंजी ८३,८१७ लाख रुपये थी।*

कुंजरू समिति की सन् १९४९ की प्रमुख सिफारिशें निम्न थी :—

(१) रेल्वे कर्मचारियो की सख्या अधिक है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता कम है।

(२) वर्तमान रेल्वे बोर्ड द्वारा रेलो के प्रबन्ध के स्थान पर वैधानिक अधिकारी के हाथ में प्रबन्ध एव नियन्त्रण दिया जाय।

(३) रेल्वे बोर्ड की अर्थ-प्रबन्धन शाखा मे एक पृथक इकाई हो, जो रेल्वे की आय बढाने के साधनो की खोज करे।

(४) रेल्वे की *कुल वार्षिक आय का १% एक विशेष कोष मे रखा जाय,* जिसकी राशि ९८ करोड़ रुपया हो।

(५) वर्तमान समय में रेल्वे अपनी आय का जो *भाग साधारण आय में* देती है वह अस्थायी रूप से चालू रखा जाय, जब तक कि रेल्वे की भावी स्थिति के बारे मे विस्तार से कुछ नही कहा जा सकता।

---

* Facts About India · Government of India Publication.

(६) कर्मचारियों की कुशलता बढ़ाने के लिए उनकी शिल्पिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तथा रेल्वे की विभिन्न क्रियाओं में विश्लेषण (Job-analysis) द्वारा कर्मचारियों को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) रेलों की सामूहीकरण योजना ५ वर्ष के लिए स्थगित की जाय।

(८) रेल्वे कर्मचारियों को मिलने वाली खाद्यान्न सम्बन्धी सुविधाएँ बन्द कर मँहगाई भत्ता बढ़ा दिया जाय।

(९) कोई भी पूँजी व्यय गहन आर्थिक विचार के बिना तब तक न किया जाय जब तक महत्वपूर्ण बातों की दृष्टि से आवश्यक न हो।

केन्द्रीय सरकार ने रेल्वे के सामूहीकरण की तथा ग्रेनशॉप बन्द करने की सिफारिशों को छोड़कर अन्य सिफारिशें स्वीकार कर ली।

रेल्वे के इञ्जनों तथा अन्य आवश्यक सामान के नवीनीकरण के लिये भारत ने सन् १९४९ में विश्व बैंक से ३४ मि० डालर का ऋण लिया था।[1] विभाजन के कारण रेल्वे में आये हुए दोषों को दूर करने एवं तृतीय श्रेणी के यात्रियों की सुविधाएँ बढ़ाने के लिए यातायात मन्त्रालय कटिबद्ध है। इसी दृष्टि से सन् १९५१ में १९८ नई रेलें चालू की गई तथा ७५ रेल सेवाओं का विस्तार किया गया। इसके साथ ही केवल तीसरी श्रेणी के यात्रियों की सुविधाओं के लिए ही १८ जनता एक्सप्रेसें चालू की गई।[2] इस प्रकार ३१ मार्च सन् १९५१ को रेलों का विस्तार ३४,०७९ मील और उनकी लागत ८३८·१७ करोड़ रु० हो गई।

रेलों का सामूहीकरण (Regrouping of Railways)—

रेलों पर केन्द्रीय सरकार का स्वामित्व एवं प्रबन्ध आ जाने से तथा रियासतों की रेलों का विलीयन केन्द्र में हो जाने से उनकी व्यवस्था में वैज्ञानिकन (Rationalisation) की आवश्यकता प्रतीत हुई। भारत में रेल्वे का प्रारम्भ में ही जो विकास हुआ था वह किसी पूर्व-योजना के अनुसार नहीं था, अपितु प्रारम्भ में केवल ब्रिटिश औद्योगिक हितों एवं राजनैतिक हितों से किया गया था। (२) रेल एवं सड़क प्रतियोगिता थी ही। (३) प्रबन्ध एवं शासन की दृष्टि से प्रत्येक रेल्वे प्रणाली में विभिन्नता थी और कुछ रेल्वे जो बहुत छोटी थी उनमें प्रबन्ध की मितव्ययिता एवं कुशलता का अभाव था। (४) इसके साथ ही रियासतों की रेलों के विलीनीकरण के बाद उनका समन्वय किसी न किसी बड़े प्रबन्ध के अन्तर्गत करना आवश्यक था। (५) विभाजन की समस्याओं से विभिन्न रेलों की यातायात दरों की विभिन्नता, कर्मचारियों की अकुशलता आदि के निवारण के लिए रेल्वे में वैज्ञानिकन के लिए सामूहीकरण की आवश्यकता थी, अतः सन् १९४९ में यह प्रश्न कुंजरू समिति के सामने विचारार्थ रखा गया था, परन्तु इस समिति ने पाँच वर्ष के

---

1 Ibid.

२. इसमें से ३२ मि० डॉलर से इंजन एवं अन्य सामग्री खरीदी गई तथा शेष १.२ मि० डॉलर का ऋण निरस्त किया गया।

लिए सामूहीकरण को स्थगित करने का सुझाव दिया। इसके बाद सन् १९५० में रेल्वे सभा ने इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिए एक जाँच समिति नियुक्ति की, जिसने प्रादेशिक आधार पर रेलवे का विभाजन करने की सिफारिश की। इस सिफारिश द्वारा आवश्यक संशोधनों के उपरान्त रेलों का सामूहीकरण किया गया।

प्रारम्भिक अवस्था में भारतीय रेल्वे का विभाजन ६ समूहों में किया गया था, परन्तु रेल यातायात की बढ़ती हुई माग, माल तथा यात्रियों का रेलो पर बढ़ता हुआ प्रभाव एवं योजना में नियोजित रेलों का विकास इन कारणों से इन ६ समूहों का पुर्नविभाजन आवश्यक हो गया। इस प्रकार वर्तमान समय मे ८ रेल्वे समूह हैं :—

नाम एवं तिथि	समाविष्ट रेलें	प्रधान कार्यालय	रेल मार्ग	
१. दक्षिण रेल्वे १४-४-१९५१	एम० एस० एम० रेल्वे सदर्न इण्डियन रेल्वे मैसूर रेल्वे	मद्रास	ब्रॉड गेज मीटर ,, नैरो ,,	१,८६६·१ ४,२०६·८ ६५·७
२. मध्य रेल्वे ५-११-१९५१	जी० आई० पी० रेल्वे निजाम स्टेट रेल्वे सिंधिया स्टेट रेल्वे धौलपुर रेल्वे	बम्बई	ब्रॉड गेज मीटर ,, नैरो ,,	३,८२०·७ ८२३·१ ७२५·०
३. पश्चिम रेल्वे ५-११-१९५१	बी०बी० एण्ड सी०आई० रेल्वे सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान और जयपुर रेल्वे	बम्बई	ब्रॉड गेज मीटर ,, नैरो ,,	१,७३६·९ ३,७२२·८ ७५९·७
४. उत्तरी रेल्वे १४-४-१९५२	ई० पी० रेल्वे जोधपुर, बीकानेर तथा ई० आई० आर० के तीन विभाग	दिल्ली	ब्रॉड गेज मीटर ,, नैरो ,,	४,१९६·४ २,०५०·१ १९१·८
५. उत्तरी-पूर्वी रेल्वे १४-४-१९५२	ओ० टी० रेल्वे बी० बी० एण्ड सी० आई० का फतेगढ़ जिले का विभाग, आसाम रेल्वे	गोरखपुर	मीटर गेज	३,०७८·८
६. पूर्वी रेल्वे १-८-१९५५	चौथे समूह को छोड़कर शेष ई० आई० रेल्वे	कलकत्ता	ब्रॉड गेज मीटर ,, नैरो ,,	२,३०७·३ — १७·१

७. दक्षिण-पूर्वी रेलवे बी० एन० रेलवे	.	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	२,६५१·६
१-८-१९५५			मीटर ,,	—
			नैरो ,,	६२४·८
८. उत्तर पूर्वी	असम रेल्वे	पाडू	ब्रॉड गेज	२·२
सीमान्त रेलवे	ई० आई० आर० का कुछ भाग		मीटर ,,	१,६७६·२
१५-१-१९५८			नैरो ,,	५२·०

खण्ड-स्तर पद्धति—

वर्तमान रेल समूहो का विभाजन प्रादेशिक आधार पर है, अतः रेलवे की कार्यक्षमता बढाने, विभिन्न खण्ड स्तरो पर रेलवे में सामञ्जस्य लाने तथा अधिकारो के विकेन्द्रीयकरण के लिए रेल समूहो का प्रशासकीय सगठन खण्ड स्तरीय आधार पर करने की नीति को रेलवे सभा ने अधिकारो के विस्तृत विकेन्द्रीयकरण के साथ अपना लिया है। इसका प्रारम्भ केन्द्रीय रेलवे मे किया गया है, जहाँ पहिले से ही मिलती-जुलती पद्धति है। सन् १९५६ में इस नवीन नीति का आरम्भ हुआ और यह पद्धति सम्पूर्ण रेलवे मे लागू हो गई है। इसमे रेल समूह को खण्डो मे विभाजित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड का एक प्रमुख अधिकारी होता है, जो प्रधान व्यवस्थापक की भाँति होता है, परन्तु यह समूह के प्रधान व्यवस्थापक के नियन्त्रण मे होता है। खण्ड अधिकारियो का विशेष विभागो से, जैसे—स्टोर्स और वर्कशॉप, कोई सम्बन्ध नही होता। *खण्ड-स्तरीय पद्धति का सार इसमे है कि यह पद्धति एक बडे क्षेत्र की क्रियाओं तथा अन्य सम्बन्धित रेलवे की क्रियाओ पर इकहरा नियन्त्रण देती है, जिससे एक ही खण्ड के विभिन्न विभागो की क्रियाओ मे सामञ्जस्य रखा जाता है।* रेलो की कार्यक्षमता के लिए यह आवश्यक भी है।

आलोचनात्मक दृष्टि—

सामूहीकरण को ८ वर्ष पूरे हो गये हैं, अतः उसकी उपयोगिता आक सकते हैं।

प्रथम, सामूहीकरण से बहु-परिमाण सगठन के लाभ प्राप्त होने की अपेक्षा थी, जिससे भाडा दरो एव रेलवे के प्रशासकीय व्ययो मे मितव्ययिता होती, परन्तु व्यवहार मे भाडा दरो की *वृद्धि विपरीत स्थिति की ओर सकेत करती है।* दूसरे, *कार्य-व्यय* मे मितव्ययिता की अपेक्षा वह बढ रहा है। कार्यशील खर्चों का कुल आय से प्रतिशत सन् १९५१-५२ मे ७८·८ था वह सन् १९५२-५३ से सन् १९५५ ५६ के ४ वर्षों में क्रमशः ८१·६, ८५·५, ८१·७७ तथा ८१·९६ रहा, जो अधिक है और वास्तव में रेलो के विस्तार के साथ और कम होना चाहिए था। यह व्यय वृद्धि रेलो की असन्तोषप्रद कार्य पद्धति की परिचायक है।

आय की दृष्टि से देखें तो सन् १९५१-५२ मे रेलो की आय २६०·८२ लाख रु० थी, सन् १९५२-५३ से सन् १९५५-५६ के चार वर्षों मे क्रमशः २७०·५६, २७२·८१,

२८८·१६ एवं ४१७·५१ रही, अर्थात सन् १६५५-५६ में रेलों की आय बढ़ी। फिर भी लाभ में वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि कार्यशील व्यय बढ़ते गये।

रेल समूहों का पुनर्वर्गीकरण भी सामूहीकरण की असफलता की ओर संकेत है। क्या पंच-वर्षीय योजना-काल में जब सामूहीकरण हुआ तब यह विदित नहीं था कि आगामी योजनाओं में जो औद्योगिक एवं परिवहन का विकास होगा उससे रेलों के किए जाने वाले समूह प्रशासकीय दृष्टि से बहुत बड़े होंगे ? अर्थात् सामूहीकरण का अवलम्ब सूझबूझ से नहीं हुआ। फलतः अगस्त सन् १६५५ में पूर्वी रेल्वे का विभाजन दो समूहों में हुआ और जनवरी सन् १६५८ को आठवाँ रेल्वे समूह बनाया गया।

बढ़ती हुई रेल-दुर्घटनाएँ भी रेलों की कार्यक्षमता में कमी की ओर संकेत हैं। इन दुर्घटनाओं की जाँच शाहनवाज समिति ने की थी, जिसकी (सन् १६५४) रिपोर्ट के सुझावों को लागू करने पर भी दुर्घटनाओं में कोई कमी नहीं हुई। रेल दुर्घटनाओं की समीक्षा में बताया गया है कि दुर्घटनाओं का कुछ सम्बन्ध रेल यातायात की विशालता से भी है। इन दुर्घटनाओं के कारणों में ४१·८% दुर्घटनाएँ रेल कर्मचारियों की असावधानी से, १६·८% गाड़ियों या पटरियों में खराबी से तथा ११·२% गाड़ी टूटने के कारण अर्थात् ७२·८% दुर्घटनाएँ रेलों की प्रशासकीय अक्षमता से हुई है।*

यद्यपि ये तथ्य सामूहीकरण की असफलता की ओर संकेत करते हैं। फिर भी इनकी जिम्मेवारी केवल सामूहीकरण पर ही नहीं है। रेल्वे की कार्यक्षमता में कमी होने का प्रमुख कारण जीर्ण-शीर्ण यन्त्र-सयन्त्रादि एवं घिसे-पिटे रेल-मार्ग हैं, जिनके नवीनकरण की आवश्यकता है। साथ ही, बढ़ते हुए रेल यातायात के साथ रेल्वे की कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिए रेल सामग्री का आधुनिकीकरण होना चाहिए। परन्तु यह मार्ग जितना सोचा जाता है उतना सरल नहीं है, क्योंकि इस समय भारत को विदेशी विनिमय स्रोतों की कमी है। सम्भवतः यह कार्य तीसरी योजना में पूरा होगा, जब रेल उद्योग साधारण स्थिति में आ जायगा और हम उससे पूर्ण कार्यक्षमता की अपेक्षा कर सकते हैं। वर्तमान सीमित साधनों से जो सफलता रेल उद्योग को मिल रही है वह निसन्देह सराहनीय है।

रेलों का प्रशासन—

रेल यातायात का प्रबन्ध एवं प्रशासन आरम्भ से ही केन्द्रीय जन-कार्य विभाग (P. W. D.) के नियन्त्रण में था। परन्तु जैसे-जैसे रेलों का विकास होता गया वैसे-वैसे इस विभाग के लिए उनका नियन्त्रण भार रूप प्रतीत होने लगा। इसलिए सन् १६०५ में सर्व प्रथम रेलों के प्रबन्ध को पृथक करने तथा उसे विशेषज्ञों के अधि-

* भारतीय समाचार : सितम्बर १५, १६५८।

कार मे देने के हेतु सन् १९०५ रॉबटसन समिति की सिफारिश के अनुसार रेल सभा का निर्माण किया गया। इस सभा के सभापति सहित तीन सदस्य थे। इस सभा का सभापति गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य बनाया गया। यह सभा अपनी शासकीय कार्यवाही के सम्बन्ध में केन्द्रीय वाणिज्य एवं उद्योग विभाग पर निर्भर थी। इस सभा की कार्यवाही मे वाणिज्य एव उद्योग मन्त्रालय का अवाछनीय हस्तक्षेप होने से सन् १९०८ में सभापति के अधिकार बढाये गये, परन्तु इससे विशेष लाभ नही हुआ। इसके बाद ऑकवर्थ समिति ने इस सभा के पुनगठन के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। इन सुझावो मे स्वतन्त्र यातायात विभाग खोलने की सिफारिश की गई थी। सभा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए उसे विशेषज्ञो की अधिक सहायता प्रदान करने की सिफारिश भी की थी तथा सभा के प्रशासन एव प्रबन्ध को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए उसको स्वतन्त्रता मे कार्य करने का सुझाव भी रखा गया था।

इन सुझावो के अनुसार सन् १९२१ तथा सन् १९२४ मे सभा का पुनर्गठन हुआ, जिसमे एक चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया। सभा की सदस्य सख्या ३ से ४ कर दी गई। रेल नीति निर्धारण के लिए चीफ कमिश्नर जिम्मेवार था तथा इसकी सहायता के लिए प्रारम्भ मे केवल २ तथा सन् १९२४ मे वित्त सदस्य मिलाकर ३ अन्य सदस्य थे, जो अपने अपने विषय के जिम्मेवार थे। इस सभा की अपनी कार्यवाही स्वतन्त्रता से कर सकने के लिए तथा विभिन्न कार्यों के निरीक्षण के लिए अनेक सचालक तथा उप-सचालको की नियुक्ति भी की गई, जो रेल सभा के प्रति उत्तरदायी होते है। सन् १९२९ मे श्रम सम्बन्धी समस्याओ के हल के लिए एक श्रम सदस्य और बढा दिया गया, जिससे चीफ कमिश्नर सहित रेल सभा के सदस्यो की सख्या ५ हो गई। रेल सभा के सहायक अधिकारियो की सख्या समय समय पर आवश्यकतानुसार बढा दी गई।

इसके बाद सन् १९४९ मे कुंजरू समिति ने यातायात के प्रबन्ध एव समन्वय के लिये केन्द्रीय नियन्त्रण-अधिकारी निर्माण करने की सिफारिश की, जिसका निर्माण हो चुका है। फिर भी सन् १९५१ मे रेल मन्त्री द्वारा रेल सभा का पुनगठन किया गया, जिसमे अब १ वित्त कमिश्नर तथा ३ कार्यकारी सदस्य है। सभा का एक सदस्य सभापति का कार्य करेगा और वही यातायात मन्त्रालय का सचिव रहेगा। इस सभा का काय रेल मन्त्री को रेल यातायात सम्बन्धी सलाह देना तथा प्रबन्ध सम्बन्धी आवश्यक आदेश देना है।

रेल सभा के अलावा रेलो के शासन प्रबन्ध के लिए स्थायी वित्त समिति, केन्द्रीय सलाहकार समिति तथा रेल भाडा-समिति है, जिनमे से वित्त समिति रेलो के अर्थ-प्रबन्ध एव रेलो की आवश्यक सामग्री के क्रय के लिए तथा रेल्वे बजट स्वीकृत कराने के लिए जिम्मेवार है। केन्द्रीय सलाहकार समिति का कार्य रेल-नीति को निश्चित करना, यात्रियो को सुविधायें देने के सम्बन्ध मे तथा कर्मचारियो आदि

सम्बन्धी सामान्य व्यापारिक समस्याओं पर सलाह देना है। इस समिति में व्यापार एवं उद्योग का प्रतिनिधित्व रहता है। इसके साथ प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं पर विचार करने के लिए स्थानीय सलाहकार समितियाँ भी हैं। रेल्वे भाड़ा समिति रेल के वस्तु एवं व्यक्तियों के भाड़े की दरों सम्बन्धी सलाह देने, जनता की शिकायतों पर रिपोर्ट देने तथा माल भेजने की पद्धति में सुधार करने के लिये उत्तरदायी है। १ जनवरी सन् १९५८ से खंड स्तरीय सलाहकार समितियों का रेल्वे के प्रत्येक खंड में निर्माण किया गया है।

रेलों के भाड़े—

कम्पनी के प्रबन्ध में जब तक रेलों का सचालन हो रहा था तब तक कम्पनियाँ अपने भाड़े की दरें निश्चित करने में स्वतन्त्र थीं। सरकार केवल भाड़े की न्यूनतम तथा अधिकतम दर निश्चित कर देती थी। इस कारण विभिन्न रेलों के भाड़े की दरों में विभिन्नता थी, जिससे भारतीय जनता में असन्तोष था। इस असन्तोष के लिये केवल रेल भाड़ों की दरों की विभिन्नता ही कारण न होते हुए भाड़े की दरों का इस प्रकार निश्चित करना मूल कारण था। इससे भारत से केवल कच्चे माल एवं खाद्यान्न के निर्यात को तथा विदेशी निर्मित माल के आयात को प्रोत्साहन मिलता था। इस ओर औद्योगिक आयोग तथा उटकर आयोग ने संकेत किया था तथा उनमें समानता लाने की सिफारिश की थी। इसके बाद ऑकवर्थ समिति ने इस सम्बन्ध में छानबीन कर भाड़े की दरों में समानता लाने तथा भाड़े सम्बन्धी पक्षपातपूर्ण नीति का अन्त करने के लिये एक स्वतन्त्र रेल्वे भाड़ा समिति की नियुक्ति की सिफारिश की थी। परन्तु इस ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इस समिति में रेल्वे तथा व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधियों के एक-एक सदस्य तथा एक सभापति (कुल ३ सदस्य) रखने की सिफारिश ऑकवर्थ समिति ने की थी। इस समिति द्वारा यह सम्भव था कि सरकार को आर्थिक हानि उठानी पड़ती। इसलिये ऐसी स्वतन्त्र भाड़ा समिति का निर्माण न होते हुये सन् १९२६ में सरकार ने रेल भाड़ा सलाहकार समिति का निर्माण किया। फिर भी जनता का असन्तोष समाप्त नहीं हुआ और न उसने कोई उल्लेखनीय कार्य ही किया।

परन्तु सन् १९४८ में भारतीय रेल्वे की भाड़ा नीति में महत्वपूर्ण कदम उठाया गया, जब स्वतन्त्र रेल्वे भाड़ा समिति का निर्माण हुआ। यह समिति केवल रेलों के भाड़ों सम्बन्धी मामलों की जाँच करेगी तथा सलाह देगी। इस समिति में १ सभापति तथा २ सदस्य हैं, जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। इस समिति को वैधानिक अधिकार प्राप्त होने के कारण समिति का सदस्य किसी हाईकोर्ट का न्यायाधीश अथवा जो इस योग्य हो वही हो सकता है। अपने निर्णय देते समय समिति ऐसेसर्स की सहायता लेती है, जिनकी अधिकतम संख्या ६० हो सकती है। इसमें व्यापार, उद्योग एवं कृषि का समान प्रतिनिधित्व रहता है। इस प्रकार इस समिति

निर्माण से जनता की गत ३२ वर्ष की माँग पूरी होकर देश हित में भाड़ा-नीति हो सकी है।

रेलो का अर्थ-प्रबन्ध—

रेलो के विकास के प्रारम्भ से ही रेलो की वित्त व्यवस्था भारत सरकार की वित्त व्यवस्था का एक अंग थी। प्रारम्भ से सन् १८९८ तक रेलवे यातायात से सरकार को गारन्टी के कारण प्रति वर्ष हानि होती रही, जिसकी कुल राशि ५८ करोड रु० थी। सन् १८९८ में ही सर्व प्रथम रेल यातायात लाभकर साधन हुआ, जिसके बाद अपवाद के लिए सन् १९०८ और १९२१ के वर्षो के अलावा रेलें लाभकर प्रमाणित होती गईं।

रेलो की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऑक्वर्थ समिति ने सन् १९२१ में जांच की और साधारण बजट से रेल-बजट को पृथक करने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश की पृष्ठभूमि में अनेक कारण थे, जैसे—

(१) रेलो का वित्तीय प्रशासन के लिये साधारण बजट पर निर्भर रहना, जिससे रेलो का प्रबन्ध विशुद्ध वाणिज्य सिद्धान्तो के अनुसार नही हो सकता था, फलतः उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होती थी।

(२) रेलो का वित्तीय प्रबन्ध पृथक होने से साधारण बजट में जो अनिश्चितता थी वह भी दूर हो जाती, क्योंकि रेलो के लाभ का सही अनुमान लगाना असम्भव था, जो व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति पर निर्भर था।

(३) सरकारी वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव रेल के वित्तीय प्रशासन पर होने से रेलो की वित्तीय नीति में समानता नही रह सकती थी। अतः उसको पृथक कर देना साधारण बजट एवं रेलो के वित्तीय प्रशासन के लिए वाछनीय समझा गया।

इस सिफारिश के अनुसार सन् १९२४ में ससद में रेलो की वित्तीय व्यवस्था के पृथक्त्व का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार रेल-बजट से भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि मिलना तय हुआ। यह राशि देशी राज्यो अथवा कम्पनियो की विनियोजित पूँजी को छोड़कर व्यापारिक रेलों की कुल पूँजी पर १% तथा भारत सरकार को मिलने वाली निश्चित राशि देकर जो शेष रहे उसका २०% होगी। भारत सरकार को दी जाने वाली राशि चुकाने के बाद जो राशि बच रहेगी वह रेल सचित कोष में जमा होगी। ऐसी राशि ३ करोड रु० से अधिक होने पर अधिक राशि का $\frac{2}{3}$ भाग सचित निधि तथा $\frac{1}{3}$ भाग केन्द्रीय सरकार को दिया जावेगा। इस निधि को सरकार को वार्षिक निश्चित राशि का भुगतान करने, घिसावट की राशि, पूँजी की वापिसी तथा भारतीय रेलो की सुदृढ़ता के लिये व्यय किया जा सकता है। इसके अलावा रेलो की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक स्थायी वित्त समिति का निर्माण होगा, जिसमे एक सरकारी पदाधिकारी सभापति होगा तथा शेष ११ सदस्य केन्द्रीय ससद के मनोनीत व्यक्ति होंगे।

इस प्रस्ताव के अनुसार सन् १६२४-२५ मे रेल-वित्तीय व्यवस्था साधारण बजट से पृथक कर दी गई तथा रेल-बजट साधारण बजट से पहिले प्रस्तुत करने का आयोजन किया गया। फलस्वरूप सन् १६२४-२५ से सन् १६३०-३१ के छः वर्षों में रेलों का कुल लाभ ५,२६३ लाख रुपया हुआ। इसमें से केन्द्रीय सरकार को साधारण बजट में ३,५६१ लाख रुपया मिला तथा शेष १,६७२ लाख रेल-संचित निधि में जमा किया गया, जो रेल्वे की वित्तीय सफलता का परिचायक है। सन् १६३०-३१ से विश्व आर्थिक मन्दी, देश में नैसर्गिक प्रकोपों तथा रेल रोड प्रतियोगिता के कारण रेलों की आय कम होने लगी। अतः साधारण बजट की कमी पूरी करने के लिए संचित निधि से रुपया निकाला जाने लगा, जिसकी राशि सन् १६२६-३० से सन् १६३१-३२ इन तीनों वर्षों में १७·६६ करोड़ रु० थी। परन्तु इस प्रकार कब तक चलता? इसलिए सन् १६३२-३३ मे सरकार को दी जाने वाली राशि स्थगित कर दी गई तथा साधारण बजट के लिए रेलों ने सन् १६३१-३२ से सन् १६३६-३७ के ६ वर्षों में कुछ भी नहीं दिया। किन्तु सन् १६३७ के बाद होने वाले सबके सब लाभ सरकारी निश्चित राशि चुकाने में दिए गए।

द्वितीय विश्व-युद्धकाल में रेलों की आय बढ़ने से उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, जिससे रेलों ने सन् १६४३ तक केन्द्रीय सरकार को दी जाने वाली जो निश्चित राशि थी वह तथा घिसावट-निधि से ली हुई ३१ करोड़ रुपये की राशि का भुगतान कर दिया। सन् १६४५ मे युद्ध समाप्ति के साथ ही रेलों के सामने अनेक समस्याएँ आई। जहाँ एक ओर आमदनी बढ़ी वहाँ युद्ध के बाद रेलों का व्यय भी बढ़ रहा था, जिससे रेलों की आर्थिक दशा बिगड़ गई। सन् १६४७ मे विभाजन हुआ, जिसका प्रभाव रेलो की शिल्पिक कार्यक्षमता पर बुरा पड़ा तथा अराजकता के कारण आय भी कम हो गई थी। फलस्वरूप सन् १६४७-४८ में रेल बजट में २·७४ करोड़ रु० का घाटा रहा, जिसे संचित कोष से पूरा किया गया। सन् १६४६-४७ में यात्रियों को अधिक सुविधाएँ देने के लिये १५ करोड़ रु० से एक सुधार कोष बनाया गया।

इस प्रकार सन् १६२४ में साधारण बजट में स्थायित्व तथा रेलों के वित्तीय प्रशासन मे लोच लाने के लिए रेलों की वित्तीय व्यवस्था को पृथक किया गया था। परन्तु वह हेतु पूर्ण न हो सका। इसलिए दिसम्बर सन् १६४६ में भारतीय संसद में रेलो की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में संशोधित प्रस्ताव स्वीकृत किया, जो १ अप्रेल सन् १६५० से ५ वर्ष के लिए कार्यरूप मे आया। इस प्रस्ताव के अनुसार :—

(१) साधारण बजट तथा रेल बजट के सम्बन्ध में ऐसा परिवर्तन किया गया, जिससे साधारण कर-दाता को एकमेव अंशधारी के नाते सरकार द्वारा रेलों में लगाई हुई ऋण पूँजी पर ४% लाभ मिले।

(२) घिसावट निधि में प्रति वर्ष न्यूनतम १५ करोड़ रु० जमा किए जाएँ, जिसकी राशि सन् १६५१-५२ में बढ़ाकर ३० करोड़ रु० वार्षिक कर दी गई।

(३) रेल सचित कोष के नाम मे परिवर्तन कर उसका नाम आय सचित कोष रख दिया गया। इसका उपयोग भारत सरकार को निश्चित ४% की राशि के भुगतान तथा रेल बजट के घाटे की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।

(४) सुधार कोष के स्थान पर इसी निधि की शेष राशि से विकास कोष का निर्माण किया गया। इसकी राशि यात्रियो को सुविधाएं, श्रम कल्याण, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी एव आवश्यक योजनाओ की पूर्ति में व्यय होगी।

(५) पूंजीगत तथा आय (Revenue) व्ययो के बँटवारे की नई पद्धति बनाई गई है, जिससे रेलो मे पूंजी आधिक्य (Overcapitalisation) नही हो सके। इसके लिए पहिले कोई आयोजन नही था।

(६) ऋण खाते को स्थायी सम्पत्ति खाते (Block Account) से पृथक कर दिया गया है, जिसमे से पहिला रेलो मे विनियोजित पूंजी तथा दूसरा रेलो की सम्पत्ति बताएगा, फिर वह चाहे ऋण लेकर अथवा रेलो की आय से खरीदी गई हो।

सशोधित प्रतज्ञा प्रस्ताव सन् १९५४—

सन् १९५० के प्रतिज्ञा प्रस्ताव से साधारण वित्त मे रेलो का जो योगदान है उसमे स्थिरता आ गई है तथा यह राशि प्रति वर्ष बढ रही है। यह प्रतिज्ञा प्रस्ताव ३१ मार्च सन् १९५५ को समाप्त होता था। अतः ३० नवम्बर सन् १९५४ को नवीन सशोधित प्रस्ताव मान्य हुआ, जो १ अप्रैल सन् १९५५ से ५ वर्ष के लिए है :—

(१) रेलो द्वारा साधारण वित्त को पूंजी लागत पर जो ४% लाभांश दिया जाता था वह आगामी ५ वर्षों के लिए इसी दर पर दिया जाय।

(२) रेल्वे पूंजी आधिक्य (Over capitalisation) कितना है, इसका निश्चय रेल सभा करे तथा ऋण-पूंजी के इस भाग पर रेल्वे साधारण वित्त को उसी दर से लाभांश दे जो औसत दर भारत सरकार अन्य व्यापारिक विभागो को दिए जाने वाले ऋणो पर लेती है। यह औसत दर सन् १९५५-५६ मे ३⅞% थी। अतः इससे रेल्वे को लगभग १ करोड रु० का लाभ होगा।

(३) नए रेल मार्गों की पूंजी लागत पर कम लाभाश लिया जाय अर्थात् इस पर लाभाश की दर उक्त २ के अनुसार हो। परन्तु नए रेल मार्गों की विनियोजित पूंजी पर निर्माण अवधि तथा यातायात के लिए रेलमार्ग चालू होने की तिथि से ५ वर्ष तक यह लाभाश स्थगित रखा जाय। इस स्थगित राशि का भुगतान रेल्वे साधारण वित्त को नए रेलमार्गों की आय से चालू वर्ष के लाभाश सहित करे।

(४) घिसावट कोष की वार्षिक राशि आगामी ५ वर्ष के लिए ३० करोड रु० से ३५ करोड रु० तक जमा की जाय।

(५) रेल्वे सम्पत्ति की आयक्षमता को अबाधित रखने के लिए रेलो के हानि-लाभ को न देखते हुए घिसावट का प्रबन्ध सम्बन्धित सम्पत्ति के कार्य जीवन के अनुसार

किया जाय। इसी प्रकार समस्त पुनः मूल्यापन भी स्थगित न करते हुए वास्तविक स्थिति के अनुसार घिसावट कोष में किया जाय।

(६) रेल्वे विकास कोष का कार्य क्षेत्र बढ़ाकर इस कोष से सभी रेल यातायात के उपभोक्ताओं को सुविधाएं दी जायें। जैसे गोदामों का सुधार, व्यापारियों के लिए प्रतीक्षा स्थान आदि। इस हेतु न्यूनतम् ३ करोड़ रु० वार्षिक व्यय हो।

(७) अलाभकर विभागों का निर्माण व्यय सन् १९४९ के प्रस्ताव के अनुसार पहिले विकास-कोष में किया जाता था तथा बाद में उसे पूंजी व्यय में हस्तांतरित किया जाता था। परन्तु इस प्रस्ताव के अनुसार आरम्भ से ही ऐसा व्यय पूंजी-व्यय में सम्मिलित किया जायगा।

इस प्रस्ताव से रेलों को यह लाभ है कि नए रेलमार्गों पर पूंजी लागत के साथ ही लाभांश देने का तत्कालीन भार रेल प्रशासन पर नहीं पड़ेगा और न उसका भुगतान ही अपनी आय से करना पड़ेगा। दूसरे, रेलें जनोपयोगी होने के नाते रेल्वे के विकास कोष का उपयोग सभी रेल्वे उपभोक्ताओं के हित में होना वाञ्छनीय ही था।

त्रुटियाँ—

यद्यपि उक्त सभी प्रतिज्ञा प्रस्तावों से रेलों की आर्थिक स्थिति सुधर रही है। फिर भी निम्न त्रुटियां देखने में आती हैं :—

(१) सन् १९२४ की मूल प्रतिज्ञा के अनुसार रेल्वे बजट में ही रेल्वे सम्बन्धी कर लगना चाहिए था। परन्तु सामान्य वित्त विधेयक सन् १९५७ से यात्रियों के टिकटों पर जो कर लगाया गया है वह प्रतिज्ञा प्रस्ताव का उल्लंघन है, क्योंकि इससे रेलों की आय न बढ़ते हुए सामान्य आय बढ़ती है।

(२) रेलों को साधारण बजट में अनिवार्य रूप से पूंजी लागत पर ४% वार्षिक लाभांश देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रेल्वे प्रति वर्ष साधारण बजट में अतिरिक्त राशि देती हैं। यह अतिरिक्त राशि सन् १९५७-५८ के लिए ६·५७ करोड़ रु० थी। गत १० वर्षों से भी अधिक समय तक रेल्वे यह राशि साधारण बजट को देती रही। यह रेल्वे की आय पर अनाधिकृत प्रभार है, जो वास्तव में रेल्वे के विकास एवं विस्तार के उपयोग में ही आना चाहिए।*

पंच-वर्षीय योजना में रेलें—

३१ मार्च सन् १९५१ में २७% डिब्बे, ३०% इंजन तथा ३६% सवारी गाड़ी के डिब्बे ऐसे थे जिनका विस्थापन होना आवश्यक था, परन्तु उनका विस्थापन न हो सका, जिससे रेलों की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव हो रहा था। अतः पहिली योजना में रेल-सामग्री के विस्थापन की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। योजना में ४०० करोड़ रु० का प्रबन्ध था, परन्तु ४२३·७३ करोड़ रु० व्यय हुआ है। इसमें ३८३·७३ करोड़ रु० का व्यय रेल्वे के निजी स्रोतों से तथा १४० करोड़ बजट से हुआ।

* Modern Review—June 1957.

प्रगति—

इस अवधि मे ३८० मील के नए रेल मार्गों का निर्माण तथा युद्धकाल मे नष्ट ४३० मील के पुराने रेल मार्गो को चालू किया गया। साथ ही, ४६ मील के नैरोगेज के मार्गो का मीटरगेज में परिवर्तन हुआ तथा ४५३ मील नए मार्गो पर कार्य हो रहा है। इसके अलावा ६२८ रेल्वे इञ्जन, ३१,८६७ सवारी के डिब्बे और ३८,३१२ माल के डिब्बे खरीदे गये। डिब्बों की स्वय निर्भरता प्राप्त करने के हेतु इन्टेग्रल कोच फैक्ट्री मे २ अक्टूबर सन् १९५५ से डिब्बे बनने लगे। यहाँ पर सन् १९५९ ६० तक वार्षिक ३५० डिब्बों का निर्माण होने लगेगा। इसमे सन् १९५६-५७ मे सन् १९५९ ६० के चार वर्षो मे क्रमशः ६०, १५०, २६० और ३५० डिब्बे बनेंगे। चितरञ्जन के इञ्जन कारखाने मे इञ्जनो का निर्माण आरम्भ हो गया है, जहाँ अभी तक ५०४* इञ्जन तैयार हुए। आगामी तीन वर्षों मे इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ३०० इञ्जनो तक पहुँच जायेगी। तीसरे दर्जे के यात्रियो के लिए भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी गईं। काफी दूर जाने वाली गाडियो मे तीसरे दर्जे के यात्रियो को अधिक सोने का स्थान देने के लिए बडी लाइन को गाडियाँ बढा दी गई, जिसमे इन गाडियों की सख्या ४ जोडी बडी लाइन की गाड़ियाँ तथा दो जोडी छोटी लाइन की गाडियाँ हो गई। साथ ही, २ अक्टूबर सन् १९५५ से कलकत्ता-दिल्ली के बीच एक दालानदार जनता गाडी चालू की गई है। १४२ स्टेशनो पर ठण्डे पानी के हेतु विद्युतचालित यन्त्र लगाए गये हैं। इसी प्रकार कलकत्ते के आसपास की रेलो के विद्युतीकरण की ११·८४ करोड रु० की योजना का आरम्भ भी किया गया है।

दूसरी योजना मे रेल्वे विकास के लिए ९०० करोड़ रु० का प्रबन्ध है। इसमें से १५० करोड रु० रेल्वे की आय मे तथा शेष केन्द्रीय बजट से मिलेंगे। इसके अलावा २२५ करोड रु० घिसावट कोष से व्यय किये जायेंगे, जिसमे रेल्वे पर १,१२५ करोड रु० का कुल व्यय होगा। रेल्वे अपनी आय से इस राशि से अधिक व्यय कर सकती है, क्योंकि रेल्वे की मूल योजना १,४८५ करोड रु० की थी। इसी अवधि में रेल्वे की माल ढोने की क्षमता सन् १९५५-५६ के १२ करोड टन से सन् १९६०-६१ तक १८·१ करोड टन बढानी होगी। सवारी गाडियो की क्षमता मे १५% की वृद्धि होगी। ८४२ मील लम्बाई के नए रेल मार्गों का निर्माण होगा। इस योजना में २,२५८ इञ्जन, १,०७,२४७ माल डिब्बे तथा ११,३६४ सवारी डिब्बे खरीदे जाएगे, जिनमे मे १,३५२ इञ्जन, २३,८५२ माल डिब्बे तथा ६,४४० सवारी डिब्बे पुरानी सामग्री के विस्थापन के लिए हैं। साथ ही, १,६०० मील प्रति वर्ष की दर से रेल मार्गों का विस्थापन होगा। अनुमान समिति के अनुसार यह २,००० मील प्रति वर्ष की दर से होना आवश्यक है, तभी रेल्वे कार्यक्षमता मे वृद्धि कर सकती हैं। साथ ही, १,६०७ मील के रेल मार्गों को दुहरा तथा १६५ मील के मीटरगेज को ब्रॉडगेज में

---

* April 1958 तक

बदला जायगा। १,२६३ मील के मार्ग पर डीजल इञ्जन भी चलेंगे। इस प्रकार इस योजना मे भी पुनर्वास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

दूसरी योजना में प्रगति—

दूसरी योजना में लोहा एवं इस्पात, कोयला और सीमेंट जैसे आधारभूत उद्योगो के विकास की व्यापक योजनाएँ शुरू हो गई हैं। सन् १९६०-६१ के अन्त तक १,२०० मील लम्बे नए रेल मार्ग बन जाएंगे, १,३०० मील रेल मार्गों का दुहराकरण तथा ८८० मील रेल मार्गों का विद्युतीकरण हो जायगा। माल यातायात जो सन् १९५०-५१ के ९१० लाख टन से बढ़कर सन् १९६०-६१ के अन्त मे ८०% से बढ़कर १,६२० लाख टन हो जायगा। रेल इञ्जनो की संख्या जो दूसरी योजना के आरम्भ मे ८,२०० थी, बढ़कर १०,६००; यात्री-डिब्बों की सख्या १९,२०० से २८,६०० और माल-डिब्बों की संख्या १,९९,१०० से बढ़कर ३,५४,१०० हो जायगी।[1] इसी प्रकार १,२९३ मील रेल मार्गों पर डीजल गाड़ियाँ चलने लगेंगी।[2]

दूसरी योजना मे लक्ष्यो के अनुसार रेल इञ्जन, यात्री डिब्बे तथा माल डिब्बो का लक्ष्य क्रमश २,१६१, ८,७०८ और १,११,७३९ था। तदनुसार १,४६३ इञ्जन, ४,३२२ यात्री डिब्बे और ७५,६१२ माल डिब्बे ३१ मार्च सन् १९५९ तक प्राप्त हो चुके हैं। इस प्रकार सन् १९५८-५९ मे रेल मार्गों की लम्बाई ३५,०८१ मील तथा उनमे विनियोजित पूँजी १,३६,२८६ लाख रुपए हो गई, जो सन् १९५५-५६ में क्रमशः ३४,७३६ मील और ९७,५५० लाख रुपये थी।

सन् १९५७-५८ व १९५८ ५९ मे क्रमशः १९८·१४ और १९१·१५ मील तक नये रेल मार्ग चालू किये गये।

इञ्जन, डिब्बे और अन्य उपकरणो को देश में तैयार करने की दिशा मे भी विशेष प्रगति हुई है। चितरञ्जन कारखाना अब पूरी क्षमता से काम कर रहा है, जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता १६८ डब्ल्यू० जी० इञ्जन की है। निजी क्षेत्र में टेलको मे प्रति वर्ष मोटर गेज के १०० इञ्जन तैयार होते है। पैराम्बूर कोच फैक्टरी मे दूसरी पाली का काम भी धीरे-धीरे आरम्भ किया जा रहा है, जिससे इसमे वार्षिक ६०० डिब्बे तैयार हो सकेंगे। माल डिब्बो का निर्माण निजी क्षेत्र मे होता है, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २५,००० डिब्बो की है। यान्त्रिक सिगनल के सभी उपकरण भी देश में ही तैयार किए जा रहे हैं।[3] इस प्रकार दिसम्बर सन् १९५८ के अन्त तक देश में कुल उत्पादन निम्न रहा :—

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline. page 21.
2. India 1960.
3. आयिक समीक्षा, जुलाई ११, १९६०।

चितरंजन कारखाना	१,००० इञ्जन डब्लू० जी०[1]
टेलको	३७१ मीटरगेज इञ्जन
पैराम्बूर कोच फैक्टरी	५६७ सवारी डिब्बे
हिन्दुस्तान एअर क्राफ्ट	१,२८५ ,, ,,
निजी क्षेत्र से	१७,३०० माल डिब्बे (१६५७-५८)

इस प्रकार भारत रेल सामग्री के सम्बन्ध मे आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर हो रहा है।

तीसरी योजना मे—

आशा है कि सन् १६६५-६६ मे रेलवे २३·५० करोड टन माल-यातायात करेगी, जबकि सन् १६६०-६१ में १६·२० करोड टन अपेक्षित है। १,२०० मील के नये रेल मार्ग बनेंगे। रेलवे के विकास के लिए योजना में ८६० करोड रु० का आयोजन है। इसके अलावा रेलवे घिसावट कोष से ३३० करोड रु० विस्थापन के लिए उपलब्ध होगे, ऐसी आशा है। इस प्रकार तीसरी योजना मे रेलो के विकास पर १,२२० करोड रु० व्यय होगा :—

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
१. रोलिंग स्टॉक	३८०	४८२
२. विद्युतीकरण	८०	७०
३. सिग्नल एव सुरक्षा कार्य	२५	२५
४. नई रेल लाइनें	६६	१२०
५. वर्कशॉप, यन्त्र एव सयन्त्र	६५	५०
६. रेल मार्गों का नवीकरण	१००	१७०
७. रेल मार्ग क्षमता कार्य	१८६	२२८
८. पुल निर्माण कार्य	३३	
६. अन्य निर्माण (Structural) कार्य	—	
१०. अन्य विद्युतीकरण कार्य	—	
११. कर्मचारी आवास एव कल्याण कार्य	५०	५०
१२. रेल उपभोक्ताओं को सुविधाएँ	१५	१५
१३. सडक यातायात मे योग दान	१२१·५[2]	१०
योग	१,१२१·५	१,२२०

पहिली मद मे नवीन आवश्यकताओ तथा वर्तमान सामग्री के विस्थापन का लक्ष्य निम्न है :—

	इञ्जन	यात्री डिब्बे	माल डिब्बे
वृद्धि	१,०३१	४,६८३	८३,१६६
विस्थापन	१४	२,८५४	२६,६६७
योग	१,६४५	७,८३७	१,०६,८६६

1 April 1960, भारतीय समाचार, मई १५, १६६०।
2· इस राशि में ६ व १० मदों का व्यय भी सम्मिलित है।

रेल लाइन क्षमता कार्यक्रमो मे वर्तमान रेल मार्गों का दुहराकरण, विद्युतीकरण, डीजलाइजेशन आदि का समावेश है। साथ ही, दूसरी योजना मे जो नई रेल लाइनों का अधूरा काम है उसकी पूर्ति के साथ ही २०० मील के नये रेल मार्ग बनाये जायेंगे, जिससे तीसरी योजना के अन्तर्गत कोयला उद्योग के विकास के साथ ही उसे यातायात सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें।

तीसरी योजना के अन्तर्गत रेल-कार्यक्रम के लिए १३० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा आवश्यक होगी, जबकि दूसरी योजना मे ३२० करोड़ रु० की आवश्यकता थी। यह इस बात का संकेत है कि भारत ने आत्मनिर्भरता के सम्बन्ध मे कितनी सफलता प्राप्त की है।

अध्याय १५

सड़क यातायात

(Road Transport)

"किसी देश में यदि नवीन कल्पनाएं एवं आशाओं का संचार है तो वहाँ की नियमित सड़कों से उसका ज्ञान हो सकता है।"""सम्पूर्ण सृजन क्रियाएँ चाहे वे सरकार, उद्योग विचार अथवा धर्म सम्बन्धी हों, सड़कों का निर्माण करती हैं।"

सड़को की तुलना साधारणतः मनुष्य के शरीर की धमनियों से की जाती है, जो सड़कों के राष्ट्रीय महत्त्व की ओर संकेत करता है। सड़को का महत्त्व जितना ग्रामीण क्षेत्रो मे है उतना ही वह शहरो के लिए भी है। सड़को के महत्त्व के सम्बन्ध मे भारतीय सड़क काग्रेस मे तत्कालीन यातायात मन्त्री जान मथाई ने कहा था—'यदि देश के विपुल स्रोत एवं असीमित जनशक्ति का उपयोग साधारण मानव के लिए करना है तो उनका उपयोग उत्पादन के लिए होना चाहिए, जो यातायात साधनों से—विशेषतः सड़क यातायात से—प्रगतिशील बनाये जा सकें।"* "यदि आप यह जानना चाहते हैं कि समाज स्थिर है क्या"""तो आप वहाँ की सड़को को देखकर

---

* Our Roads-Govt. of India.

प्रथम विश्व युद्ध के बाद सैनिक मोटरें सस्ती कीमतों पर बिकने लगी, जिसमे मोटर बसें तथा मोटर यातायात देश की प्रमुख सडको का एक साधारण लक्षण हो गया* तथा उन सडको पर भी मोटरें चलने लगी जहाँ पहिले केवल बैलगाडियाँ चलती थी। मोटर यातायात के विकास के साथ सडको की दुर्दशा होने लगी तथा उनका मरम्मत व्यय भी बढ गया। इसकी पूर्ति के लिए स्थानीय संस्थाओ के आर्थिक साधन अपर्याप्त थे। इस कारण सडको का विकास मोटर-यातायात के विकास के समानान्तर नही रहा तथा सडको की स्थिति और भी खराब होती गई। इस स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से सन् १६२७ मे कौंसिल ऑफ स्टेट मे एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार सडको की स्थिति की जाँच कर उस पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये श्री एम० आर० जयकर की अध्यक्षता मे एक समिति का निर्माण हुआ, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १६२८ मे प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे यह संकेत किया गया कि सडक विकास का भार प्रान्तीय सरकार एव स्थानीय संस्थाओ की शक्ति के परे है और चूँकि सडक यातायात का महत्व बढता जा रहा है, इसलिए इस कार्य में केन्द्रीय सरकार को सहायता देनी चाहिए, अतः समिति ने पेट्रोल-कर लगाकर 'सडक विकास निधि' बनाने की सिफारिश की, जिसकी राशि सडको के विकास पर व्यय की जाये।

इस सिफारिश के अनुसार मार्च सन् १६२६ से सडक विकास निधि का निर्माण किया गया तथा इस निधि में पेट्रोल कर से प्राप्त होने वाली आय जमा होती थी। इसके साथ ही सडकों का विकास योजनाबद्ध रीति से करने तथा इस निधि की राशि वर्ष प्रति वर्ष कायम रखने की सिफारिश समिति ने की। इसके अलावा समिति ने केन्द्रीय सरकार के आधीन एक पृथक सडक विकास विभाग, सूचनाओ को एकत्रित करने एव सशोधन के लिए एक केन्द्रीय सगठन तथा प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियो से एक यातायात सलाहकार समिति बनाने की सिफारिश की। इन सिफारिशो के अनुसार सन् १६३० मे केन्द्रीय सडक सगठन तथा सन् १६३५ मे यातायात सलाहकार कौंसिल का निर्माण हुआ है।

सड़क विकास निधि—

सडक विकास निधि प्रारम्भ में केवल ५ वर्ष के लिए बनाया गया था, परन्तु बाद मे यह लगभग स्थायी हो गया। इस निधि पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण था तथा इसका $\frac{1}{6}$ भाग केन्द्रीय प्रशासन, सशोधन तथा अ० भा० महत्व के कार्यों की पूर्ति के लिए अनुदान देने के लिये सुरक्षित रखा गया था। शेष राशि पेट्रोल कर की आय के अनुसार प्रान्तीय सरकारो एव रियासतो के विकास मे व्यय होती थी। इस निधि से आजकल लगभग ४$\frac{1}{2}$ करोड रु० की राशि प्रति वर्ष सडको के विकास मे व्यय होती है। इस निधि के निर्माण के साथ ही आर्थिक मन्दी आई, जिससे प्रान्तीय सरकारो की आय घट गई। इसलिए इस निधि से सडको की मरम्मत एव सुधार के

---

* Our Roads—Govt. of India Publication.

लिये भी राशि दी जाने लगी। इस निधि के कारण सन् १६३६ तक २५३ लाख रु० की लागत से ३६२ नए पुल बनवाए गये तथा ४२ लाख रुपए सडको की मरम्मत एवं सुधार पर खर्च किये गये। इसके अलावा १,२३० मील लम्बी कान्क्रीट की १,५०० मील लम्बी पक्की सड़कों (Fair weather Roads) का निर्माण हुआ तथा २,२०० मील मेटल्ड सडको का सुधार किया गया। इसके साथ ही २२ लाख रुपया अन्य विविध सडक सम्बन्धी सुधारो पर व्यय किया गया।

सन् १६३६ के पूर्व सडक विकास के इतिहास की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना भारतीय सडक कांग्रेस नामक अर्द्ध सरकारी सस्था का सन् १६३४ में निर्माण था। इसका उद्देश्य सडक सम्बन्धी तान्त्रिक ज्ञान एव अनुभव का उपयोग करना था। इस सस्था मे सडक सम्बन्धी इञ्जीनियरो की सदस्यता तथा अन्य व्यक्तियो की, जो सडकों के निर्माण मे रुचि रखते हैं—सदस्यता है। आज इस कांग्रेस के १,००० साधारण सदस्य हैं। यह सस्था सड़कों के विकास के लिए संशोधन आदि करने वाली तथा तान्त्रिक सलाह देने वाली एक ही संस्था है, जिसने सड़कों के विकास मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया एवं कर रही है। इस सस्था की क्रियाओं मे भारत मे सडकों के पुलो को बनाने की प्रमाप पद्धति तथा प्रमाप स्पेसिफिकेशन्स निश्चित किए हैं, जो भारत मे सर्व मान्य है।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध तक सड़को के विकास की गति धीमी रही, जिससे युद्धकाल मे भारत सरकार को यातायात कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध के कारण विशेषतः जापानी हमले से—भारत को यह चेतावनी मिली की सुरक्षा की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में सड़क यातायात के विकास के लिए प्रयत्नो का केन्द्रीयकरण आवश्यक है। युद्धकाल मे इस कार्य के लिए प्रान्तीय सरकारो के पास राशि का अभाव था, इसलिए सुरक्षा राशि से सैनिक महत्त्व की सड़को के विकास एव निर्माण के लिये अनुदान देकर कार्यवाही प्रारम्भ की गई। इसी समय यह भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि देश में सड़को का धमनियो की भाँति विस्तार होना अनिवार्य है, जो तभी सम्भव है एव तभी यह पद्धति ठीक रखी जा सकती है जब उनकी विकास एवं मरम्मत की जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार-वहन करे।

नागपुर योजना (सन् १६४३)—

युद्धकाल मे भारतीय सडक कांग्रेस के सुझावों के अनुसार प्रान्त के प्रमुख सडक इञ्जीनियरों का एक अधिवेशन दिसम्बर सन् १६४३ मे बुलाया गया। इसका उद्देश्य भावी सड़क विस्तार एव विकास के साधनो एव पद्धति का परिशीलन करना था। इस सम्मेलन का फल नागपुर योजना है। इस योजना के अनुसार युद्धोत्तर २० वर्षों मे देश की अनुमानित आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार की सड़को का इस प्रकार सन्तुलित विकास करना था, जिससे विकसित कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव प्रमुख सड़को के सम्पर्क में आ सके। इस योजना ने देशी सड़को को चार श्रेणियो मे बाँट दिया है :—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—ये वे सडकें होगी, जो प्रान्तीय एव रियासती राजधानियो, बन्दरगाहो तथा विदेशी मार्गों से सम्बन्ध करेंगी तथा देश के सचार की प्रमुख धमनियाँ होगी।

(२) जिला सडकें—ये सडकें उत्पादन क्षेत्र एवं बाजारो को राष्ट्रीय राजमार्ग से अथवा किसी रेल से सम्बद्ध करेंगी तथा आस-पास के प्रमुख हैडक्वार्टरो के सम्बन्ध की प्रमुख कडी होगी।

(३) ग्रामीण सडकें—लघु जिला सड़कें एव ग्राम सडकें विशेषतः ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ को पूरा करेंगी।

(४) प्रान्तीय राजमार्ग—ये सडकें प्रत्येक प्रान्त एव रियासत की प्रमुख सडकें होगी तथा इनमे सुरक्षा की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण सडको का समावेश भी होगा।

इस योजना मे तत्कालीन सडको के सुधार एव नवीन सडको के निर्माण का भी आयोजन है। योजना के अनुसार कुल मील लम्बाई तथा लागत निम्न हैं :—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)	२२,००० मी०	४७	करोड रु०
(२) ,, ,, (National Trails)	३,००० ,,	३	,, ,,
(३) प्रांतीय राजमार्ग (Provincial Highways)	६५,००० ,,	१२१	,, ,,
(४) वृहत् जिला सड़कें (Major District Roads)	६०,००० ,,	६२	,, ,,
(५) जिला सडकें अन्य (District Roads other)	१,००,००० ,,	५०	,, ,,
(६) ग्राम सडकें (Village Roads)	१,५०,००० ,,	३०	,, ,,
(७) युद्धकालीन वर्षों का शेष (Arrears of war years)	—	१०	,, ,,
(८) पुल निर्माण (Bridging)	—	४५	,, ,,
(९) भूमि प्राप्ति (Land Acquisition)	—	५०	,, ,,
कुल	४,००,००० मील	४४८	,, ,,

यह योजना अविभाजित भारत के लिये थी, परन्तु विभाजित भारत के लिए ३३१ हजार मील की सड़को का निम्नवत निर्माण होना था :—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील	३६	करोड रु०
राष्ट्रीय सडकें	४,१५० ,,	२·५	,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,६५० ,,	१००·३	,,
जिला एवं ग्राम सडकें	२,५६,३०० ,,	१४२·५	,,

इस प्रकार भारत सघ मे १,२३,००० मील पक्की सडकें और २,०८,००० मील की कच्ची सडको के निर्माण का लक्ष्य था। इस पर कुल २७१·५ करोड रु० व्यय होना था।

१,५१,००० मील लम्बाई की कच्ची सडकें थी। योजना अवधि मे सभी प्रकार की लगभग २४,००० मील पक्की तथा ४४,००० मील कच्ची सडको का निर्माण हुआ। प्रथम योजना के अन्तर्गत सडको के विकास के लिए ११० करोड़ रु० का आयोजन था, जिसे बाद मे १३५ करोड रु० कर दिया गया।[1]

पहिली योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता की दृष्टि से राष्ट्रीय सडको की कुल लम्बाई मे १,६०० मील के जो टुकडे बीच बीच मे थे उनमे से ४५० मील टुकडो का निर्माण हुआ। दूसरे, नागपुर योजना के अन्तर्गत ३२० मील लम्बाई की सडक व १८ बडे पुलो का निर्माण हो रहा था उसे पूर्ण करना था। तीसरे, सडको की सतह मे सुधार किया गया, जिससे वे अधिक बोझ सहन कर सकें। योजना के प्रारम्भ मे ऐसी सडको की लम्बाई १,१८,००० मील थी, जिनमे से ७,५०० मील लम्बाई की सडको का सुधार करना था, परन्तु केवल २,२०० मील लम्बाई की सडको का सुधार किया गया। चौथे, पुराने पुलो को अधिक भार योग्य बनाने के लिए उनमे सुधार करना एव राष्ट्रीय सडको पर ११२ पुलो का निर्माण करना था, जिनमे से केवल ४३ बडे पुलो का निर्माण हो सका।

योजना की अवधि मे सडको पर कुल १५६ करोड रुपया व्यय हुआ, जिसमे केन्द्रीय सडक कोष से किए गये २५ करोड रुपये का व्यय भी सम्मिलित है। फलस्वरूप ३१ मार्च सन् १९५६ को सडको की लम्बाई लगभग ३,१०,५०० मील होगई, जिसमे १,२२,००० मील पक्की तथा १,९८,००० मील कच्ची सडकें थी।[2] सन् १९४७ से सन् १९५१ तक यही व्यय ४८ करोड रुपया था।

दूसरी योजना में राष्ट्रीय राज मार्गों के कार्यक्रम के लिए ८७·५ करोड रु० की राशि निर्धारित की गई है, जिसमे से ७,२०० मील लम्बी नई सडको का निर्माण एव ४,००० मील सडको के विकास का लक्ष्य था। दूसरी योजना के अन्त तक १,२०० मील लम्बाई की नई सडको मे से लगभग ९०० मील लम्बी सडकें तैयार हो जावेंगी और शेष तीसरी योजना के आरम्भ मे तैयार हो जावेंगी। ९०० मील की नई सडको के निर्माण से राष्ट्रीय राज मार्गों की लम्बाई १२,९०० मील से १३,८०० मील हो जावेगी। इस कार्यक्रम पर दूसरी योजना काल मे ५५ करोड रु० व्यय होगा।

राष्ट्रीय राज मार्गों के साथ ही पहिली योजना में भारत सरकार ने अन्य महत्त्वपूर्ण सडको का निर्माण आरम्भ किया था, जो दूसरी योजना मे भी चालू रहेगा। इस हेतु योजना में ४५९ करोड रु० का आयोजन है। इसमे पासी-बदरपुर रोड, वेस्टकोस्ट रोड तथा पठानकोट ऊधमपुर सडक का समावेश है। इनमे से पहिली सड़क लगभग

---

1 Review of the First Five Year Plan, page 235

2 India 1960 & Indian Road Congress Supplement of Hindusthan Times Feb 4, 1960

पूरी हो चुकी है, दूसरी सड़क योजना की अवधि में ७५% तथा तीसरी पूरी हो जायगी। इस प्रकार इस कार्यक्रम के अनुसार १५० मील की नई सड़कों का निर्माण होगा तथा ५०० मील सड़कों की सतह ऊँची की जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सड़कें—

केन्द्रीय सरकार ने सन् १६५४ में १० करोड़ रु० का अनुदान आर्थिक महत्व की एवं राज्यों को मिलाने वाली सड़कों के लिए स्वीकार किया था। इसके अन्तर्गत दिसम्बर सन् १६५५ तक ६० मील सड़कों का निर्माण और १७५ मील सड़कों का सुधार हुआ। इसी कार्यक्रम को दूसरी योजना में चालू रखने के लिये १८ करोड़ रु० का आयोजन है। इस राशि का ७५% प्रथम योजना के आरम्भिक कार्यों पर व्यय होगा। इस कार्यक्रम में पहाड़ी एवं सीमान्त क्षेत्रों में १,००० मील लम्बाई की सड़कों का निर्माण होगा, जिसमें यात्री यातायात (Tourist Traffic) का विकास हो सकेगा।

राज्यों का सड़क-विकास कार्यक्रम—

राज्यों के सड़क-विकास के हेतु पहिली योजना में ७३·५ करोड़ रु० का आयोजन था, जिसे क्रमशः ६३ करोड़ रु० करना पड़ा। दूसरी योजना में राज्यों में १६४ करोड़ रु० के व्यय से लगभग १८,००० मील लम्बी सड़कों का निर्माण होगा। इस योजना की अवधि में अविकसित क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा। साथ ही, ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत बनाई गई कच्ची सड़कों का भी सुधार होगा।

इस प्रकार दूसरी योजना काल में अब तक नागपुर योजना के लक्ष्य पूरे हो चुके हैं तथा आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक कच्ची और पक्की सड़कों की लम्बाई क्रमशः २,३५,००० और १,४४,००० मील हो जायगी। सड़क विकास की कल्पना निम्न तालिकाओं से होगी :—[१]

		पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य (मील)		१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १६५१	,,	६८,०००	१,५१,०००
मार्च ३१, १६५६	,,	१,२२,०००	१,६८,०००
मार्च ३१, १६५८	,,	१,३३,६१०	२,२३,६६६
मार्च ३१, १६६१[२]	,,	१,४४,०००	२,३५,०००

1. India 1960.
२. अनुमान

राष्ट्रीय राजमार्गों का विकास

	टूटी हुई सड़कों का निर्माण मील	पुलों का निर्माण (संख्या)	वर्तमान सड़कों का सुधार (मील)	सड़कों को चौड़ा किया गया (मील)
अप्रैल १, १९४७ से मार्च ३१, १९५६	७४६	३९	५,०००	४००
अप्रैल १, १९५६ से दिसम्बर ३१, १९५९	५२०	३१	२,६००	७७५
द्वितीय योजना की अवधि में*	७००	४०	३,५००	८००

नागपुर योजना के अनुसार राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास का लक्ष्य (idcluding national trails) २०,७५० मील रखा गया था। परन्तु केन्द्र सरकार ने केवल १३,८०० मील की जिम्मेवारी ली थी, जिससे आज राष्ट्रीय राजमार्गों की लम्बाई १३,९०० मील हो गई है। राष्ट्रीय राजमार्गों में निम्न सड़कों का समावेश है —आगरा बॉम्बे रोड, बॉम्बे बंगलोर-मद्रास रोड, मद्रास-कलकत्ता, कलकत्ता-नागपुर-बॉम्बे, बनारस-नागपुर-हैदराबाद-कुमारी अन्तरीप, दिल्ली-अहमदाबाद बम्बई, अहमदाबाद से कांडला (पोरबन्दर शाखा सहित निर्माण अवस्था में), अम्बाला-शिमला तिब्बत, दिल्ली-मुरादाबाद-लखनऊ, लखनऊ-मुजफ्फरनगर-बरौनी (नेपाल सीमा तक शाखा सहित), आसाम रोड, आसाम ट्रंक रोड, जिसकी एक शाखा मनीपुर होते हुए वर्मा की सीमा तक है।

राष्ट्रीय राजमार्गों पर जो महत्वपूर्ण कार्य चालू हैं उनमें बनिहाल सुरङ्ग उल्लेखनीय है। इससे जम्मू और श्रीनगर की दूरी १८ मील से कम होगी। इसके अलावा हिन्दुस्तान-तिब्बत राजमार्ग पर नरकंडा से चीन तक राजमार्ग को मोटर योग्य बनाने का, बम्बई से अहमदाबाद सड़क को सभी मौसमों के लिए योग्य बनाने का तथा गढ़मुक्तेश्वर में गंगा पुल और अलपुरा में गौतमी-पुल का निर्माण कार्य चालू है। दूसरी योजना में मुकामेह गंगा-पुल (Rail-cum Road bridge) का निर्माण उल्लेखनीय है।

सड़कों का दीर्घकालीन कार्यक्रम—

दूसरी योजना में नागपुर-योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के साथ यह आवश्यकता अनुभव की गई कि तीसरी योजना के प्रारम्भ से लागू करने के लिए सड़कों के विकास का एक दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाय। इस हेतु सन् १९५७ में एक समिति बनाई गई थी, जिसने नवीन अखिल भारतीय सड़क विकास कार्यक्रम २० वर्ष के लिए प्रस्तुत

* अनुमान

किया । इस योजना के अनुसार सडको की लम्बाई सन् १६६१ के ३·७६ लाख मील से सन् १६८१ मे ६·५५ लाख मील करने का लक्ष्य है । इसके अनुसार राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजमार्गों की लम्बाई १ लाख मील से अधिक हो जायगी तथा शेष जिला एवं ग्राम सड़कें होगी । इस समिति की रिपोर्ट की प्रमुख बातें निम्न हैं :—

(१) भविष्य के सड़क-कलेवर में शहरी क्षेत्रो के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो की ओर उचित ध्यान दिया जाय । इस हेतु ५,००० जन-सख्या तक के ग्रामो का समूह बनाकर सडक कार्यक्रम चालू हो । इस सम्बन्ध मे परिवहन के ढाचे और गहनता की ओर ध्यान देना चाहिए । भारत मे मोटरो की सख्या १,२१,२८२ (१६४३) से ४,१८,०६७ (१६५५) हो गई है, जो और अधिक बढेगी । सन् [१६८०-८१ में मोटरो (automobiles) की सख्या ३,७०,००० होने का अनुमान है, जबकि सन् १६६०-६१ मे ७८,००० अनुमानित है ।

(२) भावी सडक-कलेवर मे अधिक वि.सित एव कृषि क्षेत्रों को सेवाएँ प्रदान करने के साथ ही अर्द्ध विकसित एव अविकसित क्षेत्रो को सुविधाएँ देने का ध्यान रखना चाहिए । देश की प्रतिरक्षात्मक आवश्यकताओ की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए ।

(३) *यद्यपि सडकों का वर्गीकरण नागपुर-योजना पर ही आधारित है ।* फिर भी इस योजना मे जो निश्चित न्यूनतम स्तर की पूर्ति करें, ऐसी ग्राम सड़को पर भी ध्यान दिया गया है । साथ ही, वजनी एवं शीघ्र लम्बे यातायात साधनों में रुकावट न आवे, इसलिए घनी जन संख्या वाले एवं अधिक औद्योगीकृत क्षेत्रों मे राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजमार्गों की कुछ लम्बाई मे "एक्सप्रेस मार्ग" बनाने का लक्ष्य भी रखा गया है ।

(४) सीमित राशि की दृष्टि से सड़को की लम्बाई का लक्ष्य नागपुर-योजना के ३,३१००० मील से बढ़ाकर सन् १६८०-८१ मे ६,५७,००० मील करना है । इसकी ४०% पक्की सड़कें होगी, जिससे प्रत्येक १०० वर्ग मील क्षेत्र मे ५२ मील सड़कें हो जावेंगी । इस योजना का उद्देश्य है :—

(i) विकसित एवं कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सड़को के ४ मील तथा अन्य सड़कों के १·५ मील क्षेत्र में हो,

(ii) अर्द्ध विकसित क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडको के ८ मील और कच्ची सड़को के ३ मील क्षेत्र मे हो,

(iii) अविकसित एवं गैर-कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सड़कों से १२ मील तथा अन्य कोई सड़क से ५ मील क्षेत्र मे हो ।

(५) इस योजना की कुल लागत ५,२०० करोड रुपये है :—†

	मील लम्बाई		राशि—(सुधार एवं नई सडको के लिए) करोड रुपये
	१-४-१९६१ अपेक्षित	योजना मे प्रस्तावित लक्ष्य	
१. राष्ट्रीय राजमार्ग	१३,८००	३२,०००	९८०
२. प्रान्तीय राजमार्ग	२५,०००	७०,०००	१,५८०
३. बडी जिला सडकें	९५,२००	१,५०,०००	१,३६०
४. अन्य जिला सडकें	७८,३००	१,८०,०००	६५०
५. ग्राम सडकें (वर्गीकृत)	१,५६,७००	२,२५,०००	६३०
योग	३,७९,०००	६,५३,०००	५,२००

(६) सडको के भावी निर्माण के लिए ऐसे प्रमाप एवं स्पेसिफिकेशन्स उपयोग हों जिनको सीढी दर सीढी परिवहन की वृद्धि के साथ लागू किया जा सके।

(७) भारत मे सडक-विकास पर बहुत कम व्यय होता है। अतः सडक-विकास कार्यक्रम को गति देने के लिए *आगामी वर्षों मे व्यय बढाना होगा। योजना* के अनुसार सडक-विकास का व्यय सन् १९६०-६१ के ८० करोड रु० से सन् १९८०-८१ मे ४४० करोड रु० करने का लक्ष्य है।

(८) *सडक कार्यक्रम* के *मितव्ययितापूर्ण* एवं *कार्यक्षम* पूर्ति के लिए अग्रयोजना आवश्यक है। इस हेतु प्रारम्भ से ही आवश्यक राशि के सम्बन्ध मे निश्चित आश्वासन जरूरी है।

(९) सडको की मरम्मत एवं कार्यक्षम कार्यान्वयन के लिए वर्गीकृत ग्राम सडको के अलावा सभी वर्गीकृत-सडकें राज्य या केन्द्रीय पी० डब्लू० डी० अथवा राजमार्ग विभाग के आधीन होना चाहिये। वर्गीकृत ग्राम सडकें पचायतो के आधीन रहे, जिनको प्रान्तीय पी० डब्लू० डी० आवश्यक तकनीकी सलाह दे।

(१०) सडक सम्बन्धी अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण कार्य को अधिक गहन किया जाय।

(११) आर्टेरियल मार्गों पर टूटे हुए पुलो के निर्माण को प्राथमिकता तथा सडको *को चौडा बनाना, ग्रामीण सडकों को सभी मौसम योग्य बनाना,* इन *कार्यों* को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाय। साथ ही सडको की मरम्मत पर उचित ध्यान दिया जाय। इस हेतु वार्षिक राशि सन् १९६०-६१ के ३० करोड रु० से सन् १९८०-८१ मे १३५ करोड रु० होगी। इसलिए आवश्यक श्रमिको एवं तकनीकी व्यक्तियो की संख्या सन् १९६०-६१ के क्रमशः ८ लाख और १,२०० से सन् १९८०-८१ मे ४२ लाख और

† Indian Road Congress Supplement of the Times of India, Feb 4, 1960

२,४०० हो जायगी। इसके सिवा समिति ने सड़क निर्माण सामग्री, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं प्रशासन के सुधार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।[1]

यह योजना अभी विचाराधीन है।[2] लेकिन पंच-वर्षीय योजना में इस कार्य के लिए ५६० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है, जो बहुत कम है। क्योंकि योजना की कुल लागत का २५% अर्थात् १,३०० करोड़ रु० का आयोजन होना चाहिए था।[3] तीसरी योजना के अन्त में (१९६५-६६) में सड़कों की लम्बाई १६४ हजार मील हो जायगी।[४]

सड़कों का शासन प्रबन्ध—

सन् १९१९ से सड़कों की मरम्मत एवं विकास की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारों पर थी तथा केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सड़क निधि से वार्षिक अनुदान स्वीकृत करने के लिए जिम्मेवार थी, परन्तु १ अप्रैल सन् १९४७ से राष्ट्रीय राज मार्गों की मरम्मत एवं निर्माण की सम्पूर्ण जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार ने अपने अधिकार में ले ली है। प्रान्तीय राज मार्गों के निर्माण, मरम्मत एवं विकास की जिम्मेवारी आज भी प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभागों की (प्रान्तों की) है। इसके अलावा जिला एवं स्थानीय सड़कों की मरम्मत, विकास एवं निर्माण का उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं का है, जिनके आर्थिक एवं तान्त्रिक साधन कम होने तथा गत ४ वर्षों में ग्राम सड़कों पर आवागमन बढ़ जाने से ग्राम सड़कों की दशा दयनीय हो गई है, इसलिए इनकी व्यवस्था का भार प्रान्तीय पब्लिक वर्क्स विभाग को देने के प्रश्न पर विभिन्न प्रान्तीय सरकारें विचार कर रही हैं।

मोटर यातायात एवं बैलगाड़ी—

भारत के प्रतिनिधिक चित्र में बैलगाड़ियों को ही दिखाया जाता है, जो इस बात का प्रतीक है कि भारत में बैलगाड़ियाँ प्राचीन काल से सड़क यातायात का महत्त्वपूर्ण साधन रही हैं और आगे भी रहेंगी। कारण, भारत की कृषि स्थिति में बैलगाड़ियों की तब तक प्रधानता रहेगी जब तक हमारे किसानों को *यातायात* के अन्य सस्ते एवं सुविधाजनक साधन उपलब्ध नहीं होते।

यद्यपि भारत के सड़क यातायात में मोटरों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है तथा वे क्रमशः बैलगाड़ियों का विस्थापन कर रही हैं, फिर भी भारत की बैलगाड़ियों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि बैलगाड़ियाँ कैसे भी रास्ते पर चलाई जा सकती हैं तथा एक बैल की जोड़ी बैलगाड़ी एवं कृषि-कार्य दोनों के ही उपयोग में

1. Indian Road Congress *Supplement* of the Times of India Feb. 4, 1960.
2. India–1960.
३. भारतीय समाचार, अप्रैल १५, १९६०।
४. *उद्योग व्यापार पत्रिका*, अगस्त १९६०।

ग्रानी है, जिससे कृषक को मितव्ययिता होती है। इसी कारण आज मोटर यातायात का विकास होने हुए भी बैलगाडियो की ही अधिकता है। भारत मे लगभग ८७ लाख बैलगाडियां है, जिनमे २६१ करोड रुपये की पूंजी लगी हुई है, जबकि मोटर लॉरियो की सख्या १७६ हजार तथा उनमे लगी हुई पूंजी केवल ६६ करोड रुपए है। इसके साथ ही बैलगाडियो से लगभग १ करोड व्यक्ति तथा दो करोड पशुओ की उपजीविका चलती है और वे प्रति वर्ष १० करोड टन माल का यातायात करती हैं। यह उनके महत्व की ओर सकेत करता है। बैलगाडियो का ग्रामीण क्षेत्र से उन्मूलन कभी भी सम्भव नही है, जैसा कि मोटर यातायात के विकास के समय धारणा थी, क्योकि थोडी दूरी के लिए बैलगाडियो द्वारा यातायात साधन सस्ता होता है, जहाँ मोटरें मध्यम दूरी के लिए तथा रेलें अधिकतम दूरी के लिए सस्ती होती हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वर्तमान ढांचे की बैलगाडियों से सडकें बहुत जल्दी खराब होती हैं, इसलिए सडकों की सुरक्षा की दृष्टि से बैलगाडियो मे सुधार के प्रयत्न होने चाहिए।

रेल एवं मोटर प्रतियोगिता—

रेल यातायात का देश मे इतना विकास होते हुए भी आज रेल सेवाएं देश को पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही है और इसीलिए रेल यातायात के साथ ही सडक यातायात भी देश के लिए आवश्यक है। भारत मे सडक यातायात का सबसे बडा दोष यह है कि रेल यातायात के विकास के साथ ही सडक यातायात का भी विकास हुआ। परन्तु उसके विकास मे सामजस्य का अभाव रहा है। फलतः भारत की लगभग ⅔ सडकें रेल मार्गों के समानान्तर हैं तथा लगभग ४८% सडकें १० मील तक लौह मार्गों के समानान्तर हैं।* इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रो मे विशेषतः समृद्ध कृषि क्षेत्रो मे सडको का विकास ही नही हुआ है। वास्तव मे सडक यातायात एव रेल यातायात, ये दोनो परस्पर पूरक होने के साथ ही प्रतियोगी भी है। रेल यातायात के लिए स्टेशन तक यात्रियो एव माल ढोने के लिए पूरक सडको की आवश्यकता होती है और किसी भी क्षेत्र मे रेल यातायात का विकास तब तक सम्भव नही है जब तक उस क्षेत्र मे सडको का अच्छा जाल न बिछा हो।

परन्तु भारत में जिस परिस्थिति मे एव जिस प्रकार सडक यातायात का विकास हुआ है उस कारण उनमे परस्पर प्रतियोगिता अधिक रहती है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि मोटर यातायात मध्यम दूरी के लिए सुविधाजनक एव सस्ता होता है, क्योकि रेलो की भांति उसमे न तो अधिक स्टेशनो, स्टेशन कर्मचारियो एव अन्य कर्मचारियो की जरूरत होती है। यह प्रतियोगिता प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही क्रमशः बढने लगी परन्तु इसकी तीव्रता का प्रभाव सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी मे रेल यातायात पर विशेष हुआ। इस काल मे रेलो की आय इतनी कम हो गई कि वे साधारण बजट को दी जाने वाली राशि का भुगतान करने में असमर्थ हो गई। रेल सडक प्रतियोगिता

---

* Report of the Wedgewood Committee.

का निवारण करने एवं उनमें सामजस्य लाने की दृष्टि से सन् १९३२ मे मिचेल वर्कनेस समिति की नियुक्ति की गई थी। इस समिति का कथन है :—"रेलों मे अधिक भीड-भाड होने का दोष सत्य है। हमें ऐसे बहुत कम स्थान मिले जहाँ से इस सम्बन्ध की *शिकायतें न हों।"* इसके साथ ही समिति ने प्रतियोगिता निवारण के लिए मोटर यातायात में सामंजस्य लाने के लिए यातायात केन्द्रीय सलाहकारी सभा के निर्माण करने की सिफारिश की। इसके अलावा समिति ने यह भी सिफारिश की कि ये दोनों सामाजिक सेवाएं होने के नाते इनमे सामजस्य रखा जाय तथा सड़को का विकास समुचित रीति से होने के लिए सडक यातायात का नियन्त्रण हो।

इसके बाद सन् १९३७ में वेजवुड समिति ने भी इस प्रश्न पर विचार किया तथा मोटर यातायात के लाइसेंसिंग, निरीक्षण एवं नियन्त्रण की सिफारिश की, जिससे रेल यातायात के साथ अनुचित प्रतियोगिता का अन्त हो जाय। इस सिफारिश के अनुसार सन् १९३९ में 'मोटर वेहिकल्स अधिनियम' बनाया गया, जिसका उद्देश्य सडक यातायात का नियन्त्रण एव सामंजस्य करना है। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य के २ अथवा अधिक प्रादेशिक विभाग बनाए गये हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक प्रादेशिक यातायात अधिकारी है। साथ ही, प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय यातायात अधिकारी है, जो प्रादेशिक यातायात अधिकारियों के साथ सामंजस्य रखता है। इस अधिनियम से प्रत्येक मोटर का बीमा कराना अनिवार्य है। प्रत्येक मोटर को प्रादेशिक अधिकारियों से निश्चित क्षेत्रीय यातायात का परमिट लेना होता है तथा उन पर निश्चित यात्री अथवा माल तथा गति के सम्बन्ध में शर्तों का पालन अनिवार्य है।

रेल सड़क सामंजस्य—

रेल एवं सडक यातायात की परस्पर प्रतियोगिता समाप्त कर उनको परस्पर पूरक बनाने के लिए उनका सामजस्य ही एक मात्र साधन है। इस दृष्टि से सड़कों का भावी निर्माण एवं विकास योजनाबद्ध रीति से इस प्रकार हो कि रेलों को सड़क यातायात पूरक हो सके। अतः रेल मार्गों के समानान्तर सड़कें नही बनाना चाहिये, अपितु उनका विकास अन्य क्षेत्रों मे हो, जहाँ यातायात सुविधाओं की कमी है। इससे देशी यातायात साधन बढ़कर सडक यातायात रेलों के लिये पूरक सड़कों का *कार्य करेंगे एवं अधिक यात्री तथा माल के आवागमन की पृष्ठ-भूमि का विकास करें।* साथ ही, यातायात सुविधाओं के दुहरेपन का यथासम्भव निवारण किया जाय। यद्यपि आजकल यातायात साधनों का राष्ट्रीयकरण हो रहा है, जिससे विभिन्न यातायात साधनों का विकास योजनाबद्ध एवं विभिन्न साधनों में सामंजस्य रखने की दृष्टि से होगा। फिर भी देश के सम्पूर्ण साधनों का राष्ट्रीयकरण असम्भव ही नही अपितु वर्तमान स्थिति में कठिन है। अतः विभिन्न साधनो में सामंजस्य के लिए उन पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक है, जिस ओर सरकार ने आवश्यक कार्यवाही की है।

रेल एव सडक यातायात मे प्रभावी सामंजस्य लाने के लिए रेल एव महत्व-पूर्ण यातायान उपक्रमो की वित्तीय व्यवस्था को एक साथ लाने की ओर आवश्यक प्रयत्न किये जा रहे है। बम्बई, उडीसा तथा मध्य-प्रदेश के मोटर उपक्रमों मे रेलें भी हिस्सा ले रही है। योजना आयोग ने सामजस्य स्थापित करने के लिए जहाँ प्रान्तीय मोटर यातायात है बड़ा निगम बनाने की सिफारिश की है। इस प्रकार के यातायात निगम बम्बई, दिल्ली तथा बिलासपुर (मध्य प्रदेश) में हैं। इस कार्य की प्रगति के लिये सडक यातायात निगम अधिनियम सन् १६५० में बनाया गया था, जो अब बिहार, हैदराबाद, मैसूर तथा कच्छ मे लागू कर दिया गया है, जिसमे वहाँ ऐसे यातायात निगमो का निर्माण हो सके। इसके साथ ही रेल एव सडक यातायात मे सामंजस्य लाने एव सडक यातायात के पुनर्गठन कार्य मे काफी प्रगति हो चुकी है, क्योंकि मद्रास, बम्बई, मध्य भारत तथा उत्तर प्रदेश आदि राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण—

रेल-सडक प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र मार्ग है, जिसको भारत के लगभग सभी बडे राज्यो मे मान्यता दी गई है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अनेक राज्यो मे सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, जिसमें बम्बई, मध्य-प्रदेश, पजाब, मद्रास, उडीसा, पश्चिमी बङ्गाल तथा दिल्ली है, परन्तु इन प्रान्तो में राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्तों मे समानता नही है, जैसे—बम्बई एवं मध्य प्रदेश मे मोटर *यातायात का सचालन अर्द्ध सरकारी निगम के रूप में होता है* तो उत्तर प्रदेश, मध्य-भारत क्षेत्र तथा मद्रास मे इनका सचालन सरकारी विभागो द्वारा होता है। इसके *अलावा अन्य प्रान्तो में सरकार मोटर बसो का सचालन कर रही है*, परन्तु अभी तक मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण यात्रियो के यातायात तक ही सीमित है तथा माल ढोने का कार्य निजी मोटर वाले ही करते है।

राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे योजना आयोग के विचार माननीय हैं। यातायात मन्त्रिवालय के परामर्श से योजना आयोग ने सडक यातायात की विकास समस्याओं का अध्ययन एक विशेष दल से कराया था। इस आधार पर ही योजना आयोग ने देखा कि वर्तमान समय मे लगभग सम्पूर्ण माल का यातायात तथा लगभग २५% यात्रियों *का मोटर यातायात निजी मोटर चालकों द्वारा होता है। वर्तमान मोटर यातायात* सेवाएँ अपर्याप्त है और गत कुछ वर्षों मे इनका विकास भी धीमी गति से हुआ, *जिसका प्रमुख कारण राष्ट्रीयकरण का भय*, मोटर यातायात पर करो का उच्च स्तर, अन्तर्राज्य मोटर सेवाओं पर प्रतिबन्ध, थोडे समय के लिए परमिटों की स्वीकृति आदि है।

पहिली योजना मे सडक यातायान के राष्ट्रीयकरण के लिए १० करोड रु० व्यय किए गए तथा दूसरी योजना मे १३.५ करोड़ रु० का आयोजन है। राज्य सर-

कारों को यह सलाह दी गई है कि वे इस हेतु निगमों की स्थापना करें। रेल्वे भी इन निगमों में साझेदार हो सकती है, जिसके लिए १० करोड़ रु० का प्रबन्ध योजना में है। इसके अतिरिक्त तीन करोड़ रु० दिल्ली ट्रान्सपोर्ट सर्विसेज के लिए भी हैं। इस प्रकार दूसरी योजना में कुल २७ करोड़ रु० की व्यवस्था है, जिससे ५,००० अतिरिक्त गाड़ियाँ खरीदी जायेंगी तथा आवश्यक वर्कशॉपों की स्थापना होगी। तीसरी योजना के अन्तर्गत मोटर यातायात का विकास निजी क्षेत्र में होगा। राष्ट्रीयकृत मोटर यात्री यातायात के लिए तीसरी योजना में १८ करोड़ रु० का आयोजन है, जिससे यात्री-गाड़ियों की संख्या में ५,००० से वृद्धि होगी। रेल्वे द्वारा मोटर यातायात में योगदान देने के लिए तीसरी योजना में १० करोड़ रु० की व्यवस्था है।

सड़क द्वारा माल यातायात का राष्ट्रीयकरण वर्तमान अवस्था में न करने का विचार है। इसलिए मसानी समिति (सड़क यातायात पुनर्गठन समिति) की सिफारिशें मान ली गई हैं, जिनमें से प्रमुख सिफारिशें हैं :—

(१) सड़क यातायात एवं सड़क निर्माण में सामंजस्य।
(२) राज्य यातायात अधिकरण का निर्माण।
(३) राज्य-अधीन न्यायाधिकरणों का निर्माण।
(४) लाइसेंस देने की नीति में उदारता।
(५) ट्रक के साथ ट्रेलरों के उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए देहीकिल कर में ट्रेलर के सम्बन्ध में छूट दी जाय।

इन सिफारिशों का अनुमोदन राज्य यातायात कमिश्नरों के सम्मेलन में किया गया।* इस प्रकार देश में सड़क निर्माण एवं सड़क यातायात के विकास को सीमित साधनों में प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

---

* Journal of Trade & Industry Nov. 1959.

अध्याय १६

जल यातायात

(Water Transport)

"प्रत्येक प्रकार के यातायात का विशेष क्षेत्र एवं कार्य होता है। यह मान्यता है कि जल मार्ग और रेल मार्ग एक दूसरे के प्रतियोगी नहीं बल्कि पूरक हैं।"

प्राचीन काल में भारत समुद्री यातायात में बहुत प्रगति पर था। पश्चिम में ग्रीस तथा मेसीडोनिया तक एवं पूर्व में जावा तक भारत का सम्बन्ध था। इतना ही नही, प्रत्युत भारतीय जहाजी कला विश्व के ईर्ष्या का विषय थी। 'युक्तिकल्पतरु' नामक संस्कृत ग्रन्थ में नदी तथा समुद्री यातायात साधनों का निर्माण करना एवं विज्ञान का वर्णन मिलता है, जो प्राचीन भारत में नौवहन (Navigation) कला के महत्व का परिचायक है।

जल यातायात को हम दो भागों में बांट सकते हैं—(१) आन्तरिक अथवा नदी द्वारा यातायात, (२) समुद्री यातायात।

(१) नदी यातायात—

भारत में प्राचीन-काल में नदी यातायात का आन्तरिक आवागमन एवं माल ढोने के लिए काफी महत्व था। इसका प्रमाण साँची स्तूप आज भी दे रहा है, जो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इसी प्रकार मैगेस्थनीज, जिसने भारत का २,००८ वर्ष पूर्व भ्रमण किया था, ने गगा एव उसकी १७ सहायक नदियों तथा सिंध एवं उसकी १३ सहायक नदियों में नौवहन का उल्लेख किया है। १४वीं शताब्दी में नदी, नहरें तथा अन्य जल स्रोतों में नौवहन भारत का समृद्ध व्यापार था, जिनमें गगा एव सिंध उसकी सहायक नदियों द्वारा नदी यातायात का महत्वपूर्ण साधन था। इसके साथ ही सुरक्षा की दृष्टि से भी नदी यातायात महत्वपूर्ण साधन था।* इतना ही नहीं, अपितु आज भी हम बड़ी नावों द्वारा गगा के आस-पास माल का यातायात देखते हैं।

* 'It opens a communication between the different posts and serves in the capacity of a *military way* through the country and infinitely surpasses the celebrated inland navigation of North America where the carrying places not only obstruct the progress of an army but enable the adversary to determine his place and mode of attack with certainty.'—Map of Hindoosthan or the Moghul Empire by Rennell

नदी यातायात का विकास एवं अवनति*—

आधुनिक ढंग पर भाप चालित स्टीमर का प्रयोग भारत में सर्व प्रथम सन् १८२३ में हुआ। जब 'डायना' नामक स्टीमर ने कुलपी रोड से कलकत्ते तक की हुगली नदी पर यात्रा प्रारम्भ की। इसके बाद सन् १८३४ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का माल एवं अधिकारियों के यातायात के लिए कलकत्ता तथा गंगा नदी के स्टेशनों पर नियमित रूप से मासिक यात्रा चालू की गई। इसी समय गंगा तथा ब्रह्मपुत्र नदी पर यातायात सुविधाएँ देने के लिए नौवहन कम्पनियों की स्थापना हुई, परन्तु आज भारत तथा पूर्वी पाकिस्तान के जल मार्गों की लम्बाई ५,००० मील है, जबकि ३० वर्ष पूर्व घाघरा नदी से अयोध्या तक जल यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध थी। फिर भी अधिकतर माल का यातायात देशी नावों (Cargo boats) से होता था, जिनकी संख्या कलकत्ता, हुगली तथा पटना में क्रमशः १,७८,६२७, १,२४,५३७ तथा ६१,५७१ थी।

सन् १८५४ में रेल यातायात के विकास के साथ जल यातायात की अवनति होने लगी। प्रारम्भ में प्रमुख रेल मार्ग के कारण जल यातायात रेलों का पूरक रहा, परन्तु जैसे ही जलमार्गों के समानान्तर रेल मार्ग बनाये गए वैसे ही जल यातायात की अवनति होने लगी, क्योंकि जल मार्गों द्वारा होने वाला यातायात रेलों ने छीन लिया। दूसरे, जल यातायात असंगठित एवं असुरक्षित होने के कारण रेलों द्वारा माल के यातायात को प्रोत्साहन मिला। तीसरे, आन्तरिक जल मार्ग के महत्त्व एवं विकास की ओर सरकार ने किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया। इसके बाद रेलों के साथ ही सिंचाई योजनाओं का आरम्भ हुआ, जिससे जल यातायात को गहरा धक्का लगा, क्योंकि नहरों आदि सिंचाई के साधनों के निर्माण से नदियों में नौवहन के लिए पानी की कमी हो गई।

जल यातायात की वर्तमान स्थिति—

रेलों के विकास के साथ जल मार्गों का भारत में महत्त्व कम होता गया तथा उसके विकास की ओर तत्कालीन सरकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया। फलतः सन् १९०५ में गंगा एवं उसकी सहायक नदियों पर चलने वाली नावों (Cargo boats) की संख्या १,५०० के लगभग रह गई। यद्यपि इनकी संख्या में अब वृद्धि हो चुकी है, फिर भी जल मार्ग देश के केवल ईशान्य भाग में अर्थात् गंगा ब्रह्मपुत्र तक ही सीमित रह गए हैं। बड़े-बड़े स्टीमर्स आज भी गंगा नदी में पूर्वी पाकिस्तान से पटना तक ६२० मील की दूरी पर चलते हैं। पूर्वी भारत में कलकत्ते से डिब्रूगढ़ तक १,१७५ मील दूरी तक स्टीमरों से यातायात होता है, परन्तु स्टीमरों तथा बड़ी नावों के लिए स्थायी एवं बारहमासी जल मार्गों की लम्बाई ४,००० मील है। इसके अलावा छोटी नौकाओं से यातायात के अन्य जल मार्ग उपलब्ध है। गंगा ब्रह्मपुत्र पर वार्षिक

---

* Water Transport in India—C. W. P. C. Publication पर आधारित।

यातायात ६,२५० टन मील होता है और लगभग इससे दुगुना यातायात देशी नौकाओं द्वारा किया जाता है। सन् १९४९ के आँकड़ों के अनुसार कलकत्ते से होने वाले कुल यातायात का १२वाँ हिस्सा जल मार्गों द्वारा ढोया जाता है। इससे जल यातायात का महत्त्व स्पष्ट होता है।

जल यातायात के विकास की ओर—

रेल यातायात की अपेक्षा जल यातायात भारी से भारी माल ढोने का सस्ता साधन है, परन्तु इसके आवागमन में अधिक समय लगता है। इस कारण जल यातायात एवं रेल यातायात एक दूसरे के प्रतियोगी न होते हुए यदि ठीक रीति से इनका विकास किया गया तो सहायक हैं। कारण, रेल यातायात ऐसी वस्तुओं के लिए सुविधाजनक है जिनके यातायात में नियमितता एवं शीघ्रता की आवश्यकता हो तथा जो वस्तुएँ कम भारशील हों। इसके विपरीत कम कीमत वाली, किन्तु अधिक भारशील वस्तुओं के यातायात के लिए, जिनमें समय का विशेष महत्त्व नहीं है, जल यातायात ही एकमेव साधन है। फिर भी भारत विभाजन तक इसके विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था।

इसके बाद भारत की राष्ट्रीय सरकार ने इस ओर ध्यान दिया तथा देश के जल यातायात का विकास एवं योजना का भार केन्द्रीय जल एवं शक्ति आयोग को सौंपा गया। आन्तरिक जल यातायात सम्मेलन से नियुक्त यातायात सर्वे समिति ने यह राय दी थी :—"भारत में कलकत्ते से होने वाला अग्र आयात का उत्तर-प्रदेश को होने वाला यातायात जल मार्गों से ही किया जाय।" इस समिति ने जल यातायात की उन्नति के लिये जल मार्गों के आस पास अधिक औद्योगिक विकास करने की सिफारिश भी की थी। आन्तरिक जल मार्गों के विकास के लिए भारत सरकार के निमन्त्रण पर नौवहन विशेषज्ञ श्री ऑटो पॉपर सन् १९५० में भारत आए थे, जिन्होंने यह सम्मति दी कि यदि भारत के जल मार्गों का सगठित ढग पर विदोहन होता है तो वे रेल यातायात के समान हिस्सेदार होकर सिंचाई के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं।

आन्तरिक जल मार्गों के विकास के लिए केन्द्रीय जल एवं शक्ति आयोग ने काफी काम किया है, जिसके अनुसार दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत हुगली का रानीगज कोयले की खानों से सम्बन्ध करने के लिए एक नहर का निर्माण होगा। बम्बई में काकरपारा योजना के अन्तर्गत सूरत से काकरपारा बाँध तक जल मार्ग बनाया जायगा। इसी प्रकार हीराकुण्ड बाँध योजना की पूर्ति पर महानदी योजना ३०० मील लम्बाई तक जल यातायात के लिए उपयुक्त बनाई जायगी। इसके अलावा गगा-बराज योजना के निर्माण का अनुसन्धान कार्य भी पूर्णता पर है, जिससे मुर्शिदाबाद जिले से उत्तर-प्रदेश तथा बिहार की गगा पद्धति में जल मार्ग उपलब्ध हो सकेंगे। इस योजना से कलकत्ते से बिहार की दूरी ५०० मील से कम हो जायगी। इन योजनाओं के अलावा गगा, सोन, रिहंद तथा नर्मदा नदी पर बाँध तथा तालों

(Locks) द्वारा एक नहर पद्धति से भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तट के जोड़ने की दीर्घकालीन योजना है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जल मार्गों की उपयोगिता बढाने के लिये वर्तमान नदियों की गहराई बढाई जायगी तथा उनमे नौवहन की दृष्टि से सुधार किया जायगा।

इन योजनाओं के साथ जल सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए पूना मे एक केन्द्रीय जल संशोधन केन्द्र की स्थापना हो चुकी है।

देश के आन्तरिक जल यातायात के विकास की ओर गगा-ब्रह्मपुत्र जल यातायात सभा की सन् १९५२ मे स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस सभा का कार्य जल यातायात एवं नौवहन सुविधाओं का विकास एव सुधार करना, पंजीयन एवं अनुज्ञापन सम्बन्धी शासकीय समस्याओं को सुलझाना, यात्रियों एव माल के भाड़े की दरें निश्चित करना तथा देशी नौकाओं (रस्से से खींचे जाने वाली) के सचालन के लिए प्रमुख योजना (Pilot Project) बनाना है। इसके लिए सयुक्त-राष्ट्र तांत्रिक सहायता प्रशासन से भारत ने सहायता प्राप्त की है।

पंच-वर्षीय योजनाएँ—

यह अनुमान है कि भारत मे आधुनिक नावों के योग्य ५,००० मील, मशीन-चालित जहाजों योग्य १,५५७ मील तथा बड़ी देशी नावों के योग्य ३५७ मील के जल मार्ग है। इन जल मार्गों को आधुनिक नावों के योग्य बनाने की सम्भावना है। यह नदी की गहराई बढाने, नहर बनाने या मिट्टी साफ करने से सम्भव होगा, परन्तु यह अधिक खर्चीला है, अतः इनमें चलाने योग्य विशेष नावों के निर्माण पर ही विशेष ध्यान दिया जायगा। पहिली योजना में स्थापित गगा-ब्रह्मपुत्र सभा ने प्रयोगात्मक दृष्टि से तीन कार्यक्रम हाथ मे लिए है। इनमे से दो ऊपरी तथा असम की सहायक नदियों पर हैं तथा तीसरा असम में ब्रह्मपुत्र नदी पर यात्री एव माल यातायात योग्य जहाज बनाने का है।

दूसरी योजना में आन्तरिक जल यातायात के विकास पर ३ करोड़ रु० व्यय होगा। इसमें ११५ लाख रु० बकिंघम नहर पर व्यय होंगे, जिसे मद्रास बन्दरगाह से जोड़ा जायगा। ४३ लाख रु० पश्चिमी तट की नहरों पर तथा शेष गङ्गा-ब्रह्मपुत्र सभा के लिए एवं पाडु मे आतरिक बन्दरगाहो के विकास के लिए ये। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के स्टीमर-चालकों ने संयुक्त-रूप से अपने स्टीमरो के आधुनिकीकरण की योजना भी बनाई है। साथ ही माल-जहाजो के आधुनिक डिजाइनो के निर्माण के लिए दूसरी योजना की शेष अवधि मे १५ लाख रु० ऋण सहायता के लिए रखे गए है।*

तीसरी योजना मे आतरिक जल यातायात के विकास के लिए ६ करोड़ रु० की व्यवस्था है। आतरिक जल यातायात की समस्याओं का अध्ययन हाल ही में आतरिक जल यातायात समिति ने किया था, जिसने "देश के प्रमुख जलमार्गों की

* भारतीय समाचार, मई १, १९६०।

सुरक्षा एवं सुधार की जिम्मेवारी केन्द्र सरकार पर हो" यह सिफारिश की। इसके साथ ही जल यातायात के विकास के लिए कुछ योजनाएँ भी दी थी। तदनुरूप तीसरी योजना के विस्तृत कार्यक्रम बनाए जा रहे है। इनमे से जिन पर अभी विचार हो रहा है वे निम्न है :—

महत्वपूर्ण नदियो का हायड्रोग्राफिक सर्वेक्षण, ब्रह्मपुत्र नदी एव सुदरबन क्षेत्र के लिए ड्रेजर (Dredgers), आसाम में जहाज मरम्मत सुविधाएँ, कुछ राज्यों की, विशेषतः आसाम और केरल की नौवहन योग्य नदियो का सुधार तथा सुन्दरबन मे देशी नौकाओ को बाधने (Towing) की योजना।[1]

नवीन विकास—[2]

(१) भारत की नदियो मे जल परिवहन की क्षमता का पता लगाने के लिए केन्द्रीय जल और विद्युत आयोग गगा, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, गोदावरी और महानदी मे गहराई, बहाव आदि सम्बन्धी जाँच करेगा।

(२) अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिए एक केन्द्रीय शिल्पिक सगठन की स्थापना सरकार के विचाराधीन है।

(३) इस समय २,६०० मील लम्बी नहरो मे नाव या स्टीमर से माल यातायात हो सकता है। इसमे दामोदर घाटी नहर और तुङ्गभद्रा की बाईं नहरो का समावेश है। महानदी के डेल्टा की नहरो के सुधार की योजना बनाई गई है। राजस्थान नहर मे भी परिवहन व्यवस्था करने पर विचार हो रहा है।

(४) नर्मदा सोन गगा, नर्मदा वेन, गगा गोदावरी, नर्मदा-यमुना गगा का तटीय जलमार्ग बनाने का कार्यक्रम तैयार हो चुका है। इसके सिवा कुछ और नदियों को एक दूसरे से मिलाने का प्रश्न भी विचाराधीन है।

इसमे आशा है कि भारत की पूर्वी और पश्चिमी नदियो मे जल-परिवहन का बहुमुखी विकास होगा। इससे शताब्दियो पुरानी जल परिवहन परम्परा का पुनरुद्धार होगा और समुद्र से जल मार्ग द्वारा देश मे काफी दूर तक माल का यातायात हो सकेगा।

(२) समुद्री यातायात—

अतीत सामुद्रिक यातायात प्राचीन काल मे बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जहाजी शक्ति के विकास के कारण ही भारतीय सभ्यता अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, जिसका प्रभाव विदेशी सभ्यता पर भी अधिकाश मे पड़ा।[3] हमारे जहाजी उद्योग की विकसित स्थिति का प्रमाण इतिहास मे मिलता है, जहाँ सिकन्दर का भारत से लौटते समय २,००० भारतीय जहाजो के उपयोग का लेख है। मुगल एव मराठा

1 A Draft Outline—Third Five Year Plan.

२. भारतीय समाचार जुलाई १५ सन् १९६०।

3. History of Indian Shipping—Radhakumud Mukherji

शासन-काल में भी यहाँ की जहाजी शक्ति सुदृढ थी एव जहाजी उद्योग अत्यन्त उन्नति स्थिति पर था। इतना ही नहीं, प्रत्युत इसके बाद "सन् १७८६ मे भी भारतीय व्यापारियों के पास इतने जहाज थे, जितने ईस्ट इण्डिया कम्पनी, डच, फ्रांस तथा अमेरिका के पास कुल मिला कर होंगे। १८वीं एव १६वी शताब्दी तक भारतीय व्यापारिक जहाजी कला मे तथा उसके निर्माण मे निपुण थे। इस सम्बन्ध मे लॉर्ड वैलेजली ने ब्रिटिश पार्लियामिन्ट को लिखा था:—'हमारा विश्वास है कि कलकत्ता का बन्दरगाह अंग्रेज व्यापारियों की उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, जो लन्दन तक भारतीय माल ढोने के लिए अपेक्षित हैं। बम्बई के बने हुए सागवान के जहाज इङ्गलेंड के ओक लकडी के जहाजो से अच्छे हैं।'' इस पत्र से वेलेजली चाहता था कि इङ्गलेंड की जहाजी आवश्यकताओं की पूर्ति भारत से हो। परन्तु यह ब्रिटिश शासकों को हानिकर था, इसलिए उन्होंने यहाँ की समुद्री शक्ति एव जहाज निर्माण कला को समाप्त करने के लिए इङ्गलेंड में भारतीय जहाजो के विरुद्ध नियम बनाए। इसके साथ ही १६वी शताब्दी मे भाप-चालित जहाजो के निर्माण से भारतीय जहाज निर्माण कला को धक्का लगा, जो क्रमशः समाप्त हो गई। इस प्रकार ब्रिटिश कूटनीति से यहाँ का जहाज उद्योग तथा सामुद्रिक यातायात भारतीयो के पास से निकल गया।

इसके अलावा भारत सरकार की कोई भी राष्ट्रीय जहाजी नीति नही थी। इस कारण ब्रिटिश जहाजी उद्योगों की प्रगति होती गई तथा भारतीय जहाजी उद्योग की अवनति। फिर भी कुछ भारतीय उद्योगपति भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा बनाने के लिए विपरीत परिस्थिति मे भी अथक प्रयत्न करते रहे, परन्तु भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा अत्यल्प रहा, जिसको सन् १६४४ में भारत सरकार ने भी कबूल किया। बगाल के दुर्भिक्ष मे भारत सरकार को व्यापारिक जहाजी बेड़े का महत्व प्रतीत हुआ, जिससे आगे उसके विकास के लिए प्रयत्न किए जाने लगे।

जहाजी उद्योग के विकास की ओर—

भारत मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पूर्व भारतीय जहाजी उद्योग की उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न किये गये थे। सन् १८२३ में भारतीय व्यापारिक सामुद्रिक (Indian Merchantile Marine) समिति ने भारत का समुद्रतटीय व्यापार भारतीयों को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नही की गई। यही सन् १६३७ में भी हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध मे ब्रिटिश जहाजी बेड़े युद्ध मे लगे होने के कारण भारतीय जहाजी उद्योग की दयनीयता का परिचय भारत सरकार को मिला। इस कारण युद्ध समाप्त होने पर सन् १६४५ में जहाजी उद्योग के लिए पुनर्निर्माण नीति उप-समिति भारत सरकार ने नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (सन् १६४७) मे—(१) ५ से ७ वर्ष की अवधि में

भारतीय जहाजी उद्योग की क्षमता २० लाख टन करने की सिफारिश की तथा यह बेड़ा सम्पूर्ण रूप से भारतीय स्वामित्व एवं सचालन मे होना चाहिए। (२) भारत के तटीय व्यापार का १००% निकटवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ७५% (जैसे—अफ्रीका, मध्य पूर्वी देश, थाइलेंड, इन्डोचायना, मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह), दूरवर्ती देशो के साथ होने वाले व्यापार का ५०% तथा जर्मनी आदि देशो के शत्रु राष्ट्रो के खोये हुए व्यापार का ३०% भाग भारतीयो के हाथ मे ५ से ७ वर्ष तक आ जाना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध मे भारत सरकार ने कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नही की।

सन् १६४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता के साथ भारत सरकार ने उपरोक्त लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जहाजी कम्पनियों को सहायता देने का निर्णय किया। तदनुसार भारतीय जहाजो के लिए समुद्रतटीय व्यापार सुरक्षित रखने के लिए कदम उठाये गये तथा शिपिंग एक्ट सन् १६४७ से जहाजो का लाइसेंसिंग अनिवार्य किया गया। इसके अलावा भारतीय जहाजी हितो की सुरक्षा के लिये श्री भाभा, तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री, के सभापतित्व मे एक जहाजी सम्मेलन हुआ, जिसमे दो अथवा तीन जहाजी *निगमो (Shipping Corporations) की स्थापना का निर्णय लिया गया।* इन निगमों मे सरकार ५१%मे अधिक पूंजी नही खरीदेगी तथा शेष कोई जहाजी कम्पनी अथवा कुछ जहाजी कम्पनियां तथा जनता खरीदेंगी। इन निगमो का उद्देश्य भारतीय जहाजो की टन क्षमता तथा जहाजी यातायात म वृद्धि करना होगा। ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन अब पूर्ण रूप मे सरकारी स्वामित्व एव नियन्त्रण मे है। इसके पास २,२६३ जो० आर० टी० टन क्षमता के ६ जहाज है, जो आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका, मलाया और जापान को नियमित रूप से चलते है। जून सन् १६५६ मे इसी प्रकार वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन (प्राइवेट) लि० की स्थापना १० करोड रुपये की पूंजी से हुई है। इसके जहाज भारत से फारस की *खाडी एव लालसागर के बन्दरगाहो तक पोलैण्ड और रूस तक जाते है। ये मार्ग* व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तीसरे निगम की स्थापना अभी तक नहीं हो सकी है।

इसके अलावा सरकार देशी जहाजी उद्योग के विकास को निम्न रीति से सहायता देती है :—

(१) *सरकारी माल अथवा सरकार के नियन्त्रण में आयात-निर्यात* होने वाले माल के यातायात का समुद्र पार व्यापार मे लगी हुई जहाजी कम्पनियो में बँटवारा करना।

(२) ब्रिटिश जहाजी हितों के साथ वार्तालाप के फलस्वरूप भारतीय जहाजी उद्योग को नया व्यापार मिला है, जैसे—भारत-सिंगापुर व्यापार तथा भारत संयुक्त-राज्य महाद्वीप व्यापार।

(३) विशाखापट्टम में बने हुए जहाजों को भारतीय जहाजी कम्पनियों को रियायती दरों पर बिक्री करना।

(४) योजना-प्रयोग के अनुसार जहाजी कम्पनियों को अपनी टन-क्षमता बढ़ाने के लिए ऋण देना।

(५) भारत सरकार भारतीय जहाजी कम्पनियों को शिपिंग कांफ्रेंसों का पूर्ण सभासदत्व दिलाने के लिए भी प्रयत्न कर रही है तथा अपने दूतावासों का उपयोग इस कार्य के लिए कर रही है।

इसी प्रकार सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी भारत-संयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार एवं भारत-उत्तरी अमरीका व्यापार में तथा इण्डिया स्टीमशिप कम्पनी भारत संयुक्त राज्य महाद्वीपीय व्यापार में भाग ले रही हैं। इसके अलावा ईस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन और वेस्टर्न शिपिंग कॉर्पोरेशन भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-मलाया, पोलैण्ड-भारत, रूस-भारत आदि व्यापार में सलग्न है। यह अल्पकालीन प्रगति इस ओर संकेत करती है कि भारत सरकार इस उद्योग की उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न कर रही है, जिससे इस उद्योग का भविष्य उज्जवल है।

जहाज-निर्माण—

सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए देश में ही जहाज बनना आवश्यक होता है। इस हेतु सन् १९३१ में विशाखापट्टम में हीराचन्द बालचन्द के अथक प्रयत्नों से एक कारखाना—हिन्दुस्तान शिपयार्ड—खोला गया। इसमें सरकार और सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन का भाग २ : १३ के अनुपात में है, परन्तु सन् १९५२ में यह कारखाना पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्व में लिया गया है, जिससे इसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो सके। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इसी कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता ४ आधुनिक जहाज निर्माण तक बढ़ाने का लक्ष्य है। साथ ही, एक और जहाज निर्माण कारखाने की पूर्ण तैयारी भी इसी योजना में की जावेगी। दूसरे जहाजी कारखाने की स्थापना के हेतु स्थान निर्धारित करने के लिए जुलाई सन् १९५७ में कोलम्बो योजना तथा ब्रिटिश जहाज निर्माण सम्मेलन के संयुक्त तत्वाधान में एक तान्त्रिक दल बुलाया गया था। इस दल ने अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत कर दिया। दल ने २६ स्थानों का निरीक्षण कर कोचीन, काडला, ट्राम्बे, जानखाली और माझगाँव इन पाच स्थानों को दूसरे जहाजी कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है। इस हेतु नियुक्त अन्तर्विभागीय समिति ने कोचीन को जहाज-निर्माण कारखाने के लिए उपयुक्त बताया है।

पंच-वर्षीय योजनाओं में—

पहिली योजना में जहाजी उद्योग की टन शक्ति ३,९०,७०७ टन से ६ लाख टन तक बढ़ानी थी। जहाजी कम्पनियों को अपनी टन क्षमता बढ़ाने के हेतु जहाज खरीदने के लिए १९.५ करोड़ रु० की सहायता देने का प्रबन्ध था। कलकत्ता, बम्बई,

मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता (२ करोड़ टन) बढ़ाने के लिए १२ करोड की व्यवस्था थी । इसके अलावा बन्दरगाहो के अधिकारियो को निजी साधनो से १५·५ करोड रु० व्यय करने थे । कराची बन्दरगाह की हानि पूर्ति के हेतु काडला बन्दरगाह के विकास के लिए योजना की अवधि मे १२·०५ करोड रु० तथा तेल कारखानो को बन्दरगाह सम्बन्धी सुविधाओ का विकास करने के लिए ८ करोड रुपये व्यय होने थे ।

प्रथम पच-वर्षीय योजना की पूर्ति से जहाजी उद्योग की टन क्षमता ४,८०,००० टन हो गई । इस हेतु योजना की अवधि मे व्यय २६·३ करोड रु० होना था, परन्तु वास्तव में १८ करोड रु० ही खर्च हो सके तथा शेष दूसरी योजना कार्य मे व्यय होगे । इसके अलावा १,२०,००० टन के जहाज तैयार हो रहे थे,* जो सन् १९५७ तक आ जावेंगे, जिससे ६ लाख टन शक्ति का लक्ष्य पूरा होगा । भारतीय जहाजी कम्पनियो को नए जहाज खरीदकर टन क्षमता बढाने के हेतु २३·७२ करोड रु० के ऋण सुविधाजनक शर्तों पर दिए गए । काडला बन्दरगाह भी तैयार हो गया है, जिससे बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता २·६ करोड टन हो गई है । समुद्र-तटीय व्यापार अब पूर्ण रूप मे भारतीय कम्पनियो के अधिकार में है ।

दूसरी पच-वर्षीय योजना के विस्तृत हेतु निम्न हैं : —

(१) तटीय व्यापार की आवश्यकताओ को पूर्ण करना । इसमें रेल्वे के कुछ ट्रैफिक का तटीय व्यापार मे अपवर्तन करने का समावेश भी है ।

(२) भारत के समुद्री (Overseas) व्यापार का अधिक भाग भारतीय जहाजी उद्योग को प्राप्त करने योग्य बनाना । वर्तमान अवस्था मे यह भाग केवल ६% है । इसी प्रकार पडौसी देशो के व्यापार का ४०% भाग भारतीय जहाजी उद्योग को मिलता है । यह अनुपात दूसरी योजना के अन्त तक क्रमशः १२ से १५% और ५०% तक बढाना ।

(३) तडाग (Tanker fleet) जहाजी बेडे के लिए केन्द्र का निर्माण करना ।

इसके साथ ही दूसरी योजना मे भारत की जहाजी क्षमता मे ३,९०,००० टन की वृद्धि करने का लक्ष्य है । इसमें ९०,००० टन के जहाजो के विस्थापन का भी समावेश है । इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक भारत के पास ९ लाख टन का जहाजी बेडा हो जायगा । इस हेतु योजना मे ३७ करोड़ रु० का आयोजन है । इस लक्ष्य के अनुसार तटीय व्यापार की जहाजी क्षमता १ लाख टन मे, विदेशी व्यापार के हेतु जहाजी क्षमता १७० हजार टन से तथा तडाग जहाजी बेडे की शक्ति ३०,००० टन से बढाई जावेगी ।

---

* Article by Shri Raj Bahadur, Minister for Shipping, in Amrit Bazar Patrika, Shipping Supplement April, 1958.

टन क्षमता में २ लाख टन की वृद्धि हो सकेगी। यह जहाजी क्षमता के विस्तार के अतिरिक्त है। जहाजी-विकास कार्यक्रम विदेशी सहायता की राशि पर निर्भर रहेगा। योजना को अन्तिम रूप देने के पूर्व और अधिक राशि के आयोजन के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

दूसरी योजना में प्रमुख बन्दरगाहों की लदान क्षमता का लक्ष्य २५ मि० टन था। परन्तु कलकत्ता, मद्रास, विशाखापट्टम और कोचीन बन्दरगाहों की लदान क्षमता में वृद्धि की जो योजनाएँ दूसरी योजना में कार्यान्वित की गई थी उनकी पूर्ति पर इनकी लदान क्षमता तीसरी योजना में ४१ मि० टन हो जायगी। तीसरी योजना का प्रमुख हेतु लदान क्षमता में वृद्धि न होते हुये बन्दरगाह सुविधाओं का विकास करना है। इस हेतु कलकत्ता के पास सहायक बन्दरगाह हल्दिया का विकास, बम्बई गोदी का आधुनिकीकरण, मद्रास में भोगी गोदी की पूर्ति तथा मद्रास वर्कशॉप का सुधार एवं पुनर्नियोजन (re-modelling) किया जायगा। साथ ही काण्डला में प्रशिक्षण सुविधायें तथा विशाखापट्टम में अतिरिक्त बर्थ का निर्माण एवं खनिज के लदान के लिए यन्त्री-करण करने की योजना है। इस हेतु ८५ करोड रुपए का आयोजन है, जबकि दूसरी योजना में कुल व्यय ६० करोड रु० हुआ है।[1]

नवीन विकास—

(१) जहाज मरम्मत समिति की नियुक्ति भारत सरकार ने वर्तमान जहाज मरम्मत सुविधाओं की जाँच कर उनमें सुधार एवं विस्तार की सिफारिशें करने के लिये की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि सरकार व बन्दरगाह अधिकारियों को यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि जहाज मरम्मत उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति की जिम्मेवारी लें। क्योंकि इस सम्बन्ध में विदेशों पर निर्भरता सकट के समय खतरनाक सिद्ध हो सकती है। इसलिए समिति ने इस उद्योग के ऐसे पुनर्गठन की सिफारिश की है जिससे कि वह विदेशी स्पर्धा में टिक सके।[2] इस समिति के अध्यक्ष भूतपूर्व यातायात एवं रेल्वे के डिप्टी मन्त्री श्री०वी० अलगासेन थे।

(२) हिन्दुस्थान शिपयार्ड ने पहिला सर्वेक्षण जहाज भारत में बनाया, जिसको अक्टूबर सन् १९५९ में पानी में उतारा गया। इसका नाम आई० एन० एस० दर्शक है तथा इसकी क्षमता २,७५० टन है। यह पूर्ण होने पर भारतीय नौ सेना का आधुनिकतम जहाज होगा। इसमें समुद्री सर्वेक्षण के लिये ओशनोग्राफिक, थर्मोग्राफिक और हायड्रोग्राफिक आदि सामग्री होगी। इसकी लम्बाई व चौड़ाई ३२१ फीट और ४४ फीट तथा गति १६ नॉट होगी। साथ ही वायु छाया चित्रण के लिए हेलीकोप्टर, जीप, ट्रैक्टर, क्रेन तथा ६ नौकाएँ (launches) ये विशेष सामग्री होगी। इस पर

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline.
2. Journal of Trade and Industry, Nov. 1959.

२४० अधिकारियों की सुविधा का प्रबन्ध है, जो अभी तक भारतीय नौसेना या व्यापारिक बड़े के किसी जहाज पर नहीं है।*

(३) जहाज बनाने और उसकी मरम्मत के काम आने वाले पुर्जे बनाने के सहायक उद्योगों की सलाहकार समिति ने अपनी पहिली रिपोर्ट में निम्न मुख्य सिफारिशें की हैं :—

(i) इस्पात के नये कारखानों में सुयोजित कार्यक्रम बनाकर देशी सामान से ही जहाजों के लिए इस्पात की प्लेटें और सेक्शन बनाने को उच्च प्राथमिकता दी जाय।

(ii) यन्त्र आदि बनाने का कार्यक्रम बनाकर प्रत्येक यन्त्र बनाने की प्राथमिकता निश्चित की जाय।

(iii) यन्त्रों की किस्म, सूक्ष्मता आदि के भारतीय मानक तैयार करने का प्रबन्ध किया जाय। मालवाहू जहाज के डिजाइन के मानक तैयार करने पर भी विचार किया जाय।

(iv) भारतीय मानक संस्था में जहाज सम्बन्धी विशेषज्ञों की अलग समिति बनाई जाय और उसमें जहाजरानी, जहाज-निर्माण उद्योग, जहाज सम्बन्धी यन्त्रों के निर्माता, जहाजरानी से सम्बन्धित संस्थाओं और सम्बन्धित सरकारी विभागों के प्रतिनिधि हों।

(v) निर्माताओं के लिए बम्बई और कलकत्ता में जहाजी-यन्त्रों के प्रदर्शन-कक्ष बनाये जायें। जहाजरानी के महानिदेशक देश में ही यन्त्र आदि बनाने, आयात कम करने और निर्माताओं को तकनीकी सलाह देने की उचित व्यवस्था करें। इस हेतु महानिदेशक को : (अ) जहाजरानी, (आ) जहाज-निर्माण और मरम्मत उद्योग तथा (इ) सहायक उद्योगों के लिए आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा का कोटा सौंपा जाय। महानिदेशक ही कोटे के लिए आयात-नियन्त्रण अधिकारियों को सिफारिशें भेजें और उनसे कोटा प्राप्त करें।

(vi) जहाजी सामान बनाने का कार्यक्रम तैयार करने और उसकी पूर्ति में महानिदेशक को सहायता देने के लिए एक सलाहकार समिति का निर्माण हो। इसमें जहाजी कम्पनियों, जहाज मरम्मत उद्योगों, जहाजी सामान निर्माताओं, आयात-नियन्त्रण अधिकारियों, वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय की विकास शाखा, नौसेना तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों के प्रतिनिधि हों।

इसके अलावा समिति ने डीजल इञ्जन, सेंट्रीफ्यूगल पंप, बिजली का सामान,

* Journal of Trade & Industry, Nov. 1959.

तार ने रस्से, आग बुझाने के उपकरण आदि आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की हैं।* ये सभी विचाराधीन हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जहाजी उद्योग की उत्तरोत्तर प्रगति होकर उसकी नींव सुदृढ़ हो गई है। अतः विश्वास है कि भविष्य में जहाजी व्यवसाय एवं जहाज निर्माण उद्योग गत गौरव को प्राप्त करने में सफल होगा।

अध्याय १७

वायु-यातायात

(Air Transport)

"यह केवल वायु यातायात की ही विशेषता है कि उसके वर्तमान स्तर के विकास का श्रेय दो महायुद्धों को है।"

भारत के विभिन्न यातायात साधनों में हवाई यातायात का विकास नया है, फिर भी इसकी प्रगति नियमितता, समय एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। भारत में हवाई यातायात के पर्याप्त विकास के लिए काफी गुञ्जाइश है, क्योंकि भारत पूर्व-पश्चिम वायु मार्गों का मिलन स्थान होने से पूर्व-पश्चिमी वायु मार्गों में भारत को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। दूसरे, उसकी विस्तृत दूरी तथा सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल जलवायु के कारण वायु मार्गों के विकास के लिए भारत एक आदर्श देश है। साथ ही, व्यापारिक, राजनैतिक एवं सुरक्षा की दृष्टि से नागरिक वायु यातायात का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण आजकल सभी उन्नत देशों में वायु-यातायात की कार्यक्षम व्यवस्था है। यद्यपि हवाई यातायात अन्य यातायात साधनों की तुलना में अधिक खर्चीला है, फिर भी देश एवं समाज के लिए उसकी विशेष उपयोगिता है। वायुयानों के लिए न तो सड़कों और रेल मार्गों की आवश्यकता होती है और उड़ान में उसके मार्ग में मौसम के अलावा अन्य किसी भी प्रकार की बाधाएँ न होने से वह कहीं भी जा सकता है। अन्य सब यातायात साधनों की अपेक्षा आकाश यातायात में उसकी अधिक गति के कारण किसी भी स्थान पर पहुँचने में कम समय लगता है। परन्तु आकाश यातायात की कुछ सीमाएँ भी हैं :—सचालन व्यय

---

* भारतीय समाचार, मई १५, १९६०।

की अधिकता, कम माल ढोने की शक्ति तथा इसमें मौसमी बाधाओं का भय बना रहता है। हवाई मार्गों से रात में सफ़र नहीं किया जा सकता और उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना पड़ता है।

उगम एव विकास—

भारत मे सबसे पहिली उड़ान सन् १९११ मे हुई, जब भारत के सैनिक अधिकारियों को प्रयोग के लिए भेजा गया ब्रिस्टल एरोप्लेन कम्पनी का वायुयान उड़ाया गया। इस प्रकार भारत में वायु मार्गों का उपयोग सर्व प्रथम सन् १९११ मे हुआ, फिर फरवरी सन् १९११ मे एम-पिकेट नामक फ्रेंच चालक प्रयोग के लिये भारत में शासकीय डाक की पहली थैली प्रयाग से नैनी तक वायुयान मे ले गया। इसी प्रकार सन् १९११ मे ही हवाई जहाज से जाने वाला यात्री सर सेफ्टन ब्रेन्कर था। इसलिए भारत मे हवाई यातायात का आरम्भ सन् १९११ मे हुआ, यह कहना अनुचित न होगा।

सन् १९११ के बाद वायु यातायात के सगठन के लिए कोई भी प्रयत्न नही हुए, जिससे वायु यातायात का विकास न हो सका। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध में यह अनुभव हुआ कि योरोप, सुदूरपूर्वी देश तथा आस्ट्रेलिया से सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिए भारत में वायु-यातायात का सगठन होना आवश्यक है। फलतः प्रथम विश्व युद्ध को समाप्ति के बाद ही सन् १९१८ में भारत में नागरिक वायु-यातायात के संगठन एवं प्रगति का इतिहास आरम्भ हुआ। इसी समय भारत मे वायुयानो को उतरने तथा ठहरने के लिए हवाई अड्डों की व्यवस्था की गई। इसके अलावा सन् १९१९ मे भारत ने विश्व के ३० प्रमुख देशों के साथ हवाई यातायात सम्बन्धी समझौते पर पैरिस मे हस्ताक्षर किये। इसका उद्देश्य था कि समझौते के सदस्य देश परस्पर देशों के वायुयानो को अपनी सीमा से न उड़ने देंगे तथा इन सभी देशों मे वायु यातायात के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों मे समानता रहेगी। यह समझौता होने के बाद यह अपेक्षा थी कि भारत सरकार हवाई यातायात के सगठन के लिए कुछ कार्य करेगी, परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई कार्यवाही नही की गई।

इसके बाद जनवरी सन् १९२० मे बम्बई के गवर्नर लॉर्ड लॉयड के प्रयत्नों से भारत मे पहिली नियमित हवाई डाक का सगठन हुआ। इसके सिवा इस बीच नागरिक यातायात के विकास एव संगठन के लिए कोई प्रयत्न नही हुए, अपितु केवल उड़ान-क्लबों की व्यवस्था की गई, जहाँ विदेशी वायुयान ठहर सकते थे।

सन् १९१८ मे कैप्टन रॉस स्मिथ ने इजिप्त से भारत की पहिली उड़ान ली, परन्तु सन् १९२५ तक भारत में नियमित वायु सेवा के संगठन के लिए कोई उल्लेखनीय कार्यवाही नहीं की गई। वास्तव में सन् १९२५ मे ब्रिटिश वायु मन्त्रालय ने इम्पीरियल एयरवेज लिमिटेड को इङ्गलैंड से भारत तक की हवाई उड़ान करने का अनुबन्ध दिया। इस कम्पनी का भारत-इङ्गलैंड की उड़ान का पहिला वायुयान क्रॉयडन

से ३० मार्च सन् १६२६ को उड कर ६ अप्रैल सन् १६२६ को करांची पहुँचा । इसी प्रकार करांची से ७ अप्रैल सन् १६२६ को उडा, जो एक सप्ताह मे लॉवडन पहुँचा। यही लन्दन-करांची के ५,००० मील वायु मार्ग पर नागरिक वायु सेवा का पहिला सगठन था, जिसने भारत को सर्व प्रथम विश्व के वायु-नक्शे मे बिठाया।

वायु यातायात परिषद् सन् १६२६ (Air Board)—

इसी समय सन् १६२६ मे वायु यातायात के सगठन एव विकास की दृष्टि से भारत की स्थिति की जाँच करने तथा सरकारी नीति के निर्धारण पर सुझाव देने के लिए एक वायु परिषद् का आयोजन हुआ। इस परिषद् ने भारत की सभी दृष्टि मे वायु यातायात की अनुकूलता तथा आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्वी देश आदि देशो की केन्द्रीय स्थिति को देखते हुए वायु यातायात के विकास एव सगठन पर जोर दिया तथा निम्न सिफारिशें की :—

(१) वायुयानो के ठहरने के लिए हवाई अड्डे बनाना चाहिए तथा उन पर एव उनकी आवश्यक वस्तुओ पर सरकारी अधिकार हो। वायु-मण्डल सम्बन्धी सूचनाओ की सुविधाओ के लिये बेतार के तारो की व्यवस्था भी हो।

(२) इस कार्य के सगठन के लिए नागरिक उडान विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की जाय।

(३) वायु-यातायात के विकास के लिए भारत सरकार नई कम्पनियो को अधिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन दे।

(४) वायु यातायात सम्बन्धी भावी समझौते करते समय भारत सरकार की सम्मति अवश्य ली जाय तथा ऐसे समझौतो में भारत सरकार मध्यस्थ की हैसियत से भाग ले।

विकास की ओर—

इन सिफारिशो को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा सन् १६२७ मे आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवाओ के सगठन के लिए नागरिक वायु-सेवा विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई। इसके साथ ही भारत मे नागरिक हवाई अड्डो एव उडान क्लबो की स्थापना की गई। भारतीय अधिकारियो को विदेशो मे वायु-सेवा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। इन उडान-क्लबो मे वायुयानो को चलाने की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया, जिन्होने नागरिक वायु-सेवाओ के विकास मे तथा जनता को वायु-मार्गों से परिचित कराने में उल्लेखनीय कार्य किया। सन् १६२६ अप्रैल मे, भारत-इङ्गलेंड नियमित साप्ताहिक वायु-सेवा का संगठन हो चुका था। इसी समय भारत के अन्य प्रान्तो में भी युवको को वायुयान सम्बन्धी साधारण शिक्षा देने के लिए उडान क्लबो की स्थापना की गई। इसके बाद भारत सरकार ने इम्पीरियल एयरवेज कम्पनी के साथ समझौता करके सन् १६३० में करांची दिल्ली वायु सेवा का आरम्भ किया। परन्तु एक साल बाद इस कम्पनी का

समझौता समाप्त होने से दिसम्बर सन् १६३२ से यह वायु-सेवा बन्द हो गई। फिर सन् १६३१ के आरम्भ मे दिल्ली उडान क्लब ने इस सेवा को १८ मास तक चालू रखा।

वायु यातायात सुविधाएँ देने के उद्देश्य से सबमे पहिला भारतीय सगठन टाटा एअरलाइन्स लिमिटेड था, जिसने १५ अक्टूबर सन् १६३२ से करांची, मद्रास, अहमदाबाद, बम्बई तथा बेलरी को वायु सेवाएँ देना आरम्भ किया। इसके साथ ही इस कम्पनी ने कलकत्ता और कोलम्बो के बीच भी वायु सम्बन्ध स्थापित किये। इसकी सफलता से सन् १६३३ में इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसने कलकत्ता-रगून तथा कलकत्ता-ढाका के बीच वायु-सेवा का आरम्भ किया। इसी कम्पनी ने दिसम्बर सन् १६३४ मे करांची से सक्कर एवं मुलतान होते हुये लाहौर तक हवाई-सेवा प्रारम्भ की। इस प्रकार सन् १६३३ तक भारत में वायु सेवाओं का संगठन सफलता से होने लगा तथा उनका महत्त्व भी बढा। इसी समय सन् १६३३ में ब्रिटिश सरकार ने इम्पीरियल एअरवेज से समझौता किया कि वह क्रॉयडन-कराची वायु-सेवा को सिंगापुर तक लागू करे, जिससे इङ्गलैंड और आस्ट्रेलिया के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसी समय इण्डियन ट्रांसकॉंटिनेन्टल एअरवेज लिमिटेड की स्थापना हुई, जिसमे इम्पीरियल एअरवेज लिमिटेड, इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड तथा भारत सरकार का हित क्रमशः ५१%, २५% तथा २४% था। यही से भारत सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से वायु-सेवाएँ देने मे हाथ बँटाया। इससे भारत को लाभ हुआ, परन्तु इस कम्पनी का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण इम्पीरियल एअरवेज कम्पनी के हाथ मे ही था। इसके बाद सन् १६३७ मे एअर सर्विसेस ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिससे बम्बई तथा काठियावाड रियासतो मे वायु सेवाएँ उपलब्ध हो गईं।

साम्राज्य वायु-डाक योजना—

नागरिक वायु-सेवाओं के विकास का दूसरा चरण सन् १६३८ मे प्रारम्भ होता है, जब भारत से साम्राज्य हवाई-डाक योजना का प्रारम्भ हुआ। इस योजना से साम्राज्य देशो की पहिली श्रेणी की डाक संयुक्त राज्य आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अफ्रीका के बीच वायु मार्ग से भेजने का प्रबन्ध किया गया। इस योजना को कार्य रूप मे लाने के लिए यात्रियो एवं माल के वायु यातायात मे विकास करने की दृष्टि से बडे वायुयानो का उपयोग किया गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल में—

सन् १६३६ मे द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने से सम्पूर्ण नागरिक वायु यातायात सगठन पर सामरिक जिम्मेवारी आ गई तथा टाटा एअरलाइन्स और नेशनल एअरवेज को वायुसेना यातायात-आदेशक (Airforce Transport Command) के अनुसार कार्य संचालन करना पड़ा। इसकी वायु-यातायात क्षमता बढ़ाने के लिए उधार-पट्टे के आधार पर नये वायुयान भी दिये गये। इस कारण इन

कम्पनियो को जो सेवा शुल्क मिला उससे इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया तथा भारत मे वायु यातायात का विकास भी काफी हुआ। फलस्वरूप भारत मे अनेक स्थानो पर नये हवाई अड्डे बने तथा वायु उडान का नया तन्त्र विकसित हुआ। इसमे वायु मार्गों की सुरक्षा बढी एव जनता को उनकी उपयोगिता का अनुभव मिला। साथ ही, अनेक भारतीयो को हवाई-उडान की यान्त्रिक एव तान्त्रिक शिक्षा तथा अनुभव मिला, जो भारत के भावी वायु मार्गों के विकास के लिए आवश्यक ही था।

युद्ध समाप्त होने पर जनता का वायु मार्गों की सुरक्षा एव उपयोगिता मे विश्वास बढने के साथ साथ यात्रियो एव माल के यातायात का परिमाण बढा। इसके साथ अनेक डाकोटा वायुयान जो अब सैनिक दृष्टि से अनावश्यक थे वे मिट्टी मोल बेचे गये। फलत: भारत मे अनेक नई वायु-सेवा कम्पनियो की स्थापना हुई तथा ऐसी ११ कम्पनियो को लाइसेन्स दिये गये।* यद्यपि यात्रियो एव माल यातायात का परिमाण बढ रहा था, फिर भी बढते हुए सचालन व्यय के कारण अनेक कम्पनियो की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई तथा उन्होने सरकारी सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप १ मार्च सन् १९४९ से वायु यातायात कम्पनियो को सरकारी सहायता मिलने लगी, जिसका संशोधन १ अक्टूबर सन् १९५१ मे किया गया।

वायु यातायात जाँच समिति सन् १९५०—

इसी समय बम्बई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में वायु सेवाओ की कार्य प्रणाली की जांच तथा वायु यातायात उद्योग की सुदृढता के हेतु सिफारिशें करने के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने यह राय दी कि वर्तमान वायु कम्पनियो का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। यात्री एव माल के यातायात को देखते हुये कम्पनियो की सख्या अधिक है। इसलिए समिति ने उनके कार्य व्यय मे कमी तथा उनका पुनर्गठन कर उनको चालू रखने की सिफारिश की। इसके साथ ही समिति ने राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अपनी सिफारिश की। परन्तु राष्ट्रीयकरण के लिए वह समय उपयुक्त न होने से ५ वर्ष के लिए उसे स्थगित किया जाय, यह भी कहा।

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे इस समिति ने निम्न दलीलें दी :—

(१) देश की विभिन्न वायुयान कम्पनियो के नियन्त्रण के लिए एक कॉर्पोरेशन बनाया जाय, जिसमे वर्तमान साधनो का अधिकतम उपयोग हो सके। यह कॉर्पोरेशन व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार अपनी नीति व्यवहार में लाये, किन्तु प्रमुख नीति पर सरकारी नियन्त्रण रहे।

(२) राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त हितकर है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा राष्ट्रीयकृत वायुयानो की सेवाएं सस्ती दरो पर एव किसी भी समय उपयोग मे ली जा सकती है।

* Hindustan Year Book—1954

(३) सरकारी वायुयान कॉर्पोरेशन की स्थापना होने से उसका हेतु केवल लाभ कमाना नहीं रहेगा, जिससे जनता को सस्ते दरों पर आकाश यातायात की सेवाएँ मिल सकेंगी। कारण, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होने से दुहरी क्रियाएँ नहीं रहेंगी एवं व्यय में मितव्ययिता होगी।

(४) व्यक्तिगत वायु यातायात कम्पनियों की सफलता के लिए सरकारी सहायता देनी होगी (जो उस समय सरकार दे रही थी)। ऐसी दशा में इनका राष्ट्रीयकरण करना ही अधिक वाञ्छनीय होगा।

वायु मार्ग कॉर्पोरेशन योजना (Airways Cooperative Scheme)—

इसके बाद सन् १९५२ में योजना आयोग ने वायु यातायात प्रमण्डलों को आवश्यक आर्थिक सहायता तथा उसको प्रति वर्ष दी जाने वाली ४० लाख रुपए की अप्रत्यक्ष सहायता, इन दोनों पहलुओं पर विचार कर यह निर्णय लिया कि वायु यातायात कम्पनियों की अधिकता देश के हित में नहीं है। इसलिए आयोग ने एक एअरवेज कॉर्पोरेशन का निर्माण कर उसमें वर्तमान वायु यातायात कम्पनियों के एकीकरण की योजना बनाई। इस योजना के अनुसार वर्तमान कम्पनियों के अंशधारियों को उनकी पूँजी के बदले नवनिर्मित एअरवेज कॉर्पोरेशन के अंश देने का प्रस्ताव रखा। सरकार इस कॉर्पोरेशन पर अपना प्रबन्ध एवं नियन्त्रण रखने में सफल हो, इसलिए सरकारी अंश सबसे अधिक परिमाण में रहेंगे। इस कार्य के लिए तथा १३ वायुयानों के क्रय के लिए ९·५० करोड़ रुपए का आयोजन भी किया गया।

राष्ट्रीयकरण हो गया—

फलस्वरूप यातायात मन्त्री एवं वर्तमान वायु यातायात प्रमण्डलों के साथ अनेक बार विचार-विनिमय होकर वायु यातायात राष्ट्रीयकरण अधिनियम सन् १९५३ बना। इस अधिनियम से १ अगस्त सन् १९५३ को वायु-यातायात उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो गया। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप १ अगस्त सन् १९५३ में आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए 'इण्डियन एअरलाइन्स कॉर्पोरेशन' तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु सेवाएँ प्रदान करने के लिए 'एअर इण्डिया इन्टरनेशनल कॉर्पोरेशन' का निर्माण हुआ।

इन वैधानिक निगमों के निर्माण से लाभ—

(१) वायु-यातायात सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री, वर्कशॉप क्षमता तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों का देश हित में अधिकतम् उपयोग होगा।

(२) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण निश्चित रूप में वांछनीय ही था, जो अब सरकारी निगमों के निर्माण से पूर्ण हो गया है।

(३) वायु-यातायात जन-उपयोगी साधन होने से उसका विकास देश हित में एवं जन-हित में होगा।

(४) वर्तमान यन्त्र-युग में वायु यातायात क्षेत्र में तीव्र गति से तान्त्रिक

विकास हो रहा है, जिसका पूर्णतम लाभ सरकारी निगम अपने असीमित साधनों के कारण ले सकेगा।

राष्ट्रीयकरण होने से इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने देश के आन्तरिक वायु मार्गों पर सुविधाएं देने वाली आठ वायु यातायात कम्पनियों को अपने नियन्त्रण एवं प्रबन्ध में ले लिया है। इसी प्रकार एअर इण्डिया इण्टरनैशनल ने तत्कालीन वायु यातायात कम्पनियों को, जो अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों पर सेवाएं दे रही थी, अधिकार एवं नियन्त्रण में लिया है। केन्द्रीय सरकार को देश हित में दोनों ही निगमों को आदेश देने का अधिकार है। ये दोनों निगम केन्द्रीय सरकार को आर्थिक अनुमान के साथ अपनी क्रियाओं की वार्षिक योजनाएं देंगे तथा इनकी लेखा पुस्तकों की जाँच ऑडिटर जनरल एवं कन्ट्रोलर करेगा, जिसकी रिपोर्ट संसद में रखी जायेगी।

इन दोनों निगमों की क्रियाओं से सामजस्य लाने के लिए अप्रैल सन् १९५५ में वायु यातायात परिषद् की स्थापना की गई है, जो भाड़े की दरें, किराया, डाक-शुल्क तथा वायु मार्ग सुविधाओं की पूर्णता एवं कार्यक्षमता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देती है। इसके साथ ही दोनों निगमों की पृथक सलाहकार समितियाँ हैं, जिनमें वायु यातायात के उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व भी है, जिससे वे प्रबन्धकों के सामने दृष्टिकोण रख सकेंगे।

प्रत्येक वायु-यातायात कम्पनी को दी जाने वाली हानि पूर्ति की राशि अधिनियम में निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ६'०१ करोड़ निश्चित की गई है। हानि पूर्ति की राशि का भुगतान ३½% के बॉडों में किया गया है, जो बेचान साध्य एवं ५ वर्ष बाद देय है।

राष्ट्रीयकरण के बाद—

वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण की विभिन्न क्षेत्रों से कटु आलोचना की गई थी तथा कहा गया था कि राष्ट्रीयकृत वायु परिवहन में कार्यक्षमता की हानि के साथ ही आर्थिक हानि भी बढ़ेगी। फलतः रेल परिवहन की भाँति वायु-सेवाओं में भाड़े की वृद्धि होगी, परन्तु कॉर्पोरेशन की गत वर्षों की क्रियाओं से यह स्पष्ट होता है कि इन आलोचनाओं में कोई तथ्य नहीं था।

राष्ट्रीयकरण के प्रथम वर्ष में अवश्य ही यात्रियों की संख्या तथा माल का यातायात कम और डाक अधिक भेजी गई थी, परन्तु इसके बाद के वर्षों में वायु परिवहन प्रगति कर रहा है :—

वर्ष	मील उड़ान (हजार)	यात्री संख्या (हजार पौंड)	माल (हजार पौंड)	डाक (हजार पौंड)
१९५२	१६,५६२	४३४	८६,०३८	८,३७७
१९५३	१६,२०२	४०४	८४,८२०	८,८४६
१९५४	१६,७६८	४३२	८६,४१५	१०,६७३
१९५५	२१,२६७	४६६	६८,२००	११,४७८
१९५६	२३,४८१	५५६	६६,२३१	१२,४८६
१९५७	२३,४६६	६१५	८५,६६१	१३,०८१
१९५८	२४,०८६	६८३	६८,४६४	१३,१८०
१९५९	३०,२००	८१४	१,६७,६००	(अनुमानित)

इस उन्नति का प्रमुख कारण परस्पर स्पर्धा का अन्त एवं व्यवस्था का केन्द्रीयकरण है, जिससे कॉर्पोरेशनों को अपना संगठन सुदृढ आधार पर करना सम्भव हुआ। इसी कारण कॉर्पोरेशनों ने अपने वायुयानों में आधुनिकता लाने के साथ ही सेवाओं में भी पर्याप्त सुधार किया है, जो वायु परिवहन के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत है।

भारतीय वायु परिवहन के इण्डियन एअर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने सन् १९५७ से वाइकर्स वाइकाउंट विमानों से यात्री सेवाएँ देना आरम्भ किया। दूसरे, १ अगस्त सन् १९५८ से कलकत्ता-असम मणिपुर मार्ग पर विमान-सेवाएँ आरम्भ की गईं तथा अक्टूबर सन् १९५८ से दिल्ली-कलकत्ता के बीच विमानों के रुकने की व्यवस्था की गई।[1] तीसरे, एअर इण्डिया इन्टरनेशनल ने १४ अगस्त सन् १९५८ से भारत रूस यात्रा की साप्ताहिक सेवा का आरम्भ किया।[2]

पंच-वर्षीय योजनाओं में—

पहिली योजना में वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण एवं आधुनिकीकरण के लिए ६·५ करोड़ रु० का आयोजन था, परन्तु वास्तविक व्यय १५·३ करोड़ रुपये के लगभग हुआ। दूसरी योजना में दोनों कॉर्पोरेशनों पर १६ करोड़ (I. A. C.) तथा १४·५ करोड़ रु० (A. I. I.) का आयोजन है, जो निम्न प्रकार से है:—

हानि पूर्ति की राशि का भुगतान	५·१४ करोड़ रुपया
वायुयानों की खरीद	१५·३४ ,, ,,
इण्डियन एअर लाइन्स की हानि	७·०० ,, ,,
इण्डियन एअर लाइन्स के लिए कार्यालय एवं गृह व्यवस्था	०·५० ,, ,,
एअर इण्डिया इन्टरनेशनल वर्कशॉप का विस्तार	१·६५ ,, ,,
इण्डियन एअर लाइन्स के लिए साज सामग्री	०·५१ ,, ,,
एअर इण्डिया इन्टरनेशनल के ऋण-पत्रों का भुगतान	०·०६ ,, ,,
योग	३०·५३ करोड़ रुपया

१. भारतीय समाचार : १ अगस्त सन् १९५८, १५ अक्टूबर सन् १९५८।
२. भारतीय समाचार : १ सितम्बर सन् १९५८।

इसी राशि मे से इण्डियन एग्नर लाइन्स के लिए ५ वाइकाउन्ट वायुयानों की खरीद का ग्रायोजन था, जिसमे मे ४ दिसम्बर सन् १९५७ तक ग्रा गए हैं। इसी प्रकार एग्नर इण्डिया इन्टरनेशनल की बढते हुए ट्रैफिक की मांग पूरी करने तथा नवीन वायु सेवाओं को चालू करने के लिए टर्बोप्रॉप या जेट वायुयानो के क्रय की भी व्यवस्था है। इस योजना के अनुसार ३ बोइङ्ग जेट वायुयानो का आदेश दिया गया है, जो अब (सन् १९६०) आ गए हैं। इनका वेग ६०० मील प्रति घण्टा तथा १२० यात्री ले जाने की क्षमता है।[1]

वायु परिवहन निगम—

इन्डियन एग्रर लाइन्स कार्पोरेशन के पास इस समय (जनवरी सन् १९६०) ५७ डाकोटा, २२ विकिंग्ज, ६ स्काय मास्टर, ८ हेरोन तथा १४ वाइकाउन्ट वायुयान हैं, जो देश के प्रमुख केन्द्रों को १९,८८५ मील वायु मार्गों से सम्बन्धित करते हैं।

एग्रर इन्डिया इन्टरनेशनल के पास ६ सुपर कॉन्स्टेलेशन, ३ कॉन्स्टेलेशन तथा १ टाकोटा हैं। यह निगम २३,४७३ मील वायु मार्गों द्वारा विश्व के १९ देशो से सम्बन्ध प्रस्थापित करता है। सन् १९५९ की दूसरी छमाही मे इण्डियन एग्रर लाइन्स कॉर्पोरेशन के विमान अनुसूचित मार्गों पर १,३६,३५,११५ किलोमीटर उड़े और इनमे ३,१६,६७९ यात्रियों ने यात्रा की। इसके साथ ही इस निगम ने १,४९,९१,७६१ माल तथा २६,८६,७०४ किलोग्राम डाक का परिवहन किया। इसी प्रकार एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल के विमान अनुसूचित मार्गों पर ६०,९३,५२९ मील उड़े, जिनमे ४७,१६३ यात्री, १४,५८,५९९ किलोग्राम माल तथा ४,३५,८०९ किलोग्राम डाक का यातायात हुआ।[2] इस प्रकार कार्यशीलता की दृष्टि से दोनों ही निगम प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

दूसरी योजना मे शाताक्रुज, दमदम तथा पालम हवाई अड्डो का विकास जेट वायुयानों की दृष्टि से किया गया तथा इण्डियन एग्रर लाइन्स कॉर्पोरेशन ने १० वायकाउन्ट वायुयान प्राप्त किए। इसके सिवा ५ फॉक्कर-फ्रेंडशिप वायुयानो के आदेश दिए है। इसी प्रकार एग्नर इण्डिया इन्टरनेशनल ने ५ सुपर कॉन्स्टेलेशन वायुयान तथा ४ बोईङ्ग जेट वायुयान खरीदे। इन वायुयानों से १९ अप्रेल को ब्रिटेन तथा १४ मई को अमेरिका के लिए एग्रर इण्डिया इन्टरनेशनल ने जेट सेवा का उद्घाटन किया।[3]

तीसरी योजना मे नागरिक वायु परिवहन के लिए ५५ करोड रु० का आयोजन है, जिसमें से २२ से २५ करोड रु० हवाई अड्डो के विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए तथा ३० से ३३ करोड रु० वायु परिवहन निगमो के लिए है।[4]

---

१. भारत म यातायात—पी० एल० मलनलकर।
२. भारतीय समाचार : मई १५, १९६०।
३. भारतीय समाचार जून १, १९६०।
4. Third Five Year Plan—A Draft Outline.

अध्याय १८

भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foriegn Trade)

"बहुत प्राचीन काल से ही भारत एक व्यापारिक देश रहा है। न केवल प्राकृतिक सम्पत्ति और उसके विस्तीर्ण समु्द्र तट के कारण बल्कि निवासियों की औद्योगिक कुशलता के कारण इसको एशिया के अन्य देशों से अधिक मान प्राप्त था"—

—विलियम हन्टर

प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला कौशल के लिए संसार मे प्रसिद्ध रहे हैं। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ३० शताब्दियो तक भारत पुरानी दुनिया के मध्य मे विश्व की प्रमुख सामुद्रिक शक्ति रहा है। इसके व्यापारिक सम्बन्ध न केवल एशियाई देशों से ही थे, किन्तु उस समय की ज्ञात दुनिया के सभी देशों से थे, जिसमें पूर्व और पश्चिम के सभी उन्नत देश सम्मिलित थे। इसी व्यापारिक क्रिया के कारण ही भारत का नाविक शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे महत्त्व बढ़ा।

भारतीय व्यापार का अध्ययन हम निम्न काल खण्डों मे करेंगे :—

(१) मुस्लिम काल (सन् ११००–१७००)।
(२) अंग्रेजी काल का प्रथम युग (सन् १७००–१६००)।
(३) प्रथम महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६००–१६१४)।
(४) प्रथम महायुद्ध काल (सन् १६१४–१८)।
(५) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६१८–२६)।
(६) विश्व व्यापारिक मन्दी का काल (सन् १६२६–३५)।
(७) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (सन् १६३५–३६)।
(८) द्वितीय महायुद्ध काल (सन् १६३६–४५)।
(६) महायुद्ध के पश्चात् का काल (सन् १६४५–१६६१)।

मुस्लिम काल में भारतीय व्यापार—

मुसलमानी शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण विदेशी व्यापार को गहरा धक्का लगा। १३वी शताब्दी के आरम्भ मे अफगा- निस्तान, मध्य एशिया तथा ईरान को जाने वाले उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग मंगोलो के आक्रमण से कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गये। किन्तु पुनः व्यापार के लिए संकट

रहित हो गये। इस समय दक्षिणी भारत से मसालों (इलायची, लौंग, काली मिर्च, जावित्री) और कपूर का निर्यात पश्चिमी देशों को बड़ी मात्रा में होता था। इसके अतिरिक्त भारत के मोती, अनेक प्रकार के वस्त्र, सिन्ध के बढ़िया फर्श, 'गलीचे, हाथी दांत और उसकी बनी चीजें, गैंडे के चमड़े व उससे निर्मित वस्तुएँ, नारियल, कस्तूर, नील, काला नमक, अनेक प्रकार की औषधियां तथा मेवे ईरान, मिश्र और अरब को भेजे जाते थे। इनके बदले में अरब से घोड़े, लोहा, सोना, चाँदी, मिस्र से पन्ने की अंगूठियाँ, हीरा, मूँगे, और मिश्री शराब तथा ईरान से ऊनी वस्त्र, केवड़ा और गुलाबजल तथा मिट्टी का तेल आता था।[1] सोलहवीं शताब्दी में भारत से उत्तर-पश्चिम को जाने वाले मुख्य मार्ग थे—पहला, स्थल मार्ग और दूसरा, जल मार्ग। पहला लाहौर और मुलतान से पेशावर तथा कंधार को जाता था। कन्धार से एक मार्ग चीन और दूसरा मध्य एशिया को जाता था। जल मार्ग भी दो थे—एक, फारस की खाड़ी होकर और दूसरा, लाल सागर होकर। भारत से भेजा जाने वाला माल पहले फारस की खाड़ी पर स्थित उरमुज बन्दरगाह को भेजा जाता था, जहाँ से जहाजों पर माल लाद कर फारस की खाड़ी होकर बसरा पहुँचता था और बसरे से दजला, फरात नदियों के मार्ग से ईराक के उत्तरी भाग में पहुँचता था। वहाँ से ऊँटों और खच्चरों आदि पर लाद कर पहिले दमिश्क और फिर वहाँ से एशिया माईनर तथा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप को पहुँचाया जाता था।[2]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक एशिया का व्यापार मुख्यतया अरब, आरमेनिया, गुजराती, मलाबारी तथा बङ्गाली व्यापारियों के हाथ में था। इन सबमें भी अरब वालों का प्राधान्य था। १६वीं और १७वीं शताब्दी में भारत में सूरत, कालीकट, मछलीपट्टम, सतगाँव, चिटगाँव आदि निर्यात के मुख्य केन्द्र थे। इन स्थानों से छींट, कीमती सूती वस्त्र, कपास, रेशम, चावल, शक्कर, नील और काली मिर्च आदि का विदेशों को भारी मात्रा में निर्यात होता था।[3] सूती कपड़े पूर्व में हिन्द चीन, थाईलैंड, मलक्का, जापान, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा आदि को जाते थे। पश्चिम में ये वस्त्र ईरान, अफगानिस्तान, दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, मिस्र तथा पश्चिमी अरब को भेजे जाते थे। टैवर्नियर लिखता है कि टर्की, पोलेंड आदि में दक्षिण भारत के छपे हुए कपड़ों की माँग बहुत थी। पश्चिमी यूरोप को गुजरात, कारोमण्डल तथा बंगाल की छींट और रेशम का अधिक निर्यात होता था। १७वीं शताब्दी का भारतीय निर्यात यह सूचित करता है कि यहाँ के कारीगर कितनी सफलता के साथ विदेशों के विभिन्न वर्गों के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। एक ओर शासक वर्ग और अमीरों की और दूसरी ओर साधारण निम्न वर्ग के लोगों की रुचि के अनुकूल वस्तुएँ तैयार करने में वे बड़े कुशल थे। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत संसार के व्यापार का केन्द्र

---

१. कृष्णदत्त वाजपेयी - भारतीय व्यापार का इतिहास (१९५२), पृ० २१४-२१५।

2 Moreland · India at the Death of Akbar, p. 299.

3. Petermundy · Traveles in Asia, Vol. II, pp. 154-156.

रहा। करैरी लिखते हैं :—"सारे भारत का सोना, चांदी घूम-फिर कर अन्त में भारत में पहुँचता है।"

श्री विलियम हन्टर के अनुसार पूर्व में मलाया प्रायद्वीप, पश्चिम में अरब प्रायद्वीप अथवा चीन के उपजाऊ राज्य की अपेक्षा भारत का ही व्यापार यूरोपीय देशों से अधिक होता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सोलोमन राजा के जहाज मलाबार तट से ही बहुमूल्य माल भर कर लाते थे। प्राचीन काल के रोम साम्राज्य को आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ भारत से ही प्राप्त होती थीं। इसी व्यापार में भाग लेने के उद्देश्य से ही कोलम्बस ने अमेरिका और वास्कोडिगामा ने उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) का चक्कर लगाकर भारत का पता लगाया। भारत के मसाले, दवाइयाँ, रंग, उत्तम लकड़ियाँ, सूती वस्त्र, जवाहरात, सोना, चांदी और वस्तुओं ने ही यूरोप वासियों को भारत की ओर आकृष्ट किया।*

१५वीं शताब्दी के अन्त में सबसे पहले पुर्तगाल वाले भारत में आये। धीरे-धीरे उन्होंने भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर गोआ, डामन, ड्यू आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। १६वीं शताब्दी में पुर्तगाल वालों को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त हो गया, परन्तु पुर्तगालियों के अत्याचार के कारण भारत तथा पश्चिमी देशों के मुसलमान उनसे नाराज हो गए थे और उन्हें भारतीय समुद्र तट से निकालने की चेष्टा करने लगे। जनता की सहानुभूति खो देने से उनकी शक्ति बहुत घट गई, जिससे पुर्तगाल के व्यापार को बड़ा धक्का लगा। पुर्तगालियों की शक्ति को तोड़ने में डचों का भी बड़ा हाथ था। १६वीं शताब्दी के अन्त तक इनका प्रभुत्व पूर्वी द्वीपों में हो गया। डच लोग मसाले, रेशमी और सूती वस्त्र, चावल, अफीम और शोरा बाहर भेजते थे। डचों की बढ़ती हुई व्यापारिक शक्ति को पुर्तगाली, अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग सहन नहीं कर सके; अतः तीनों में झगड़े होने लगे। अंग्रेज और फ्रांसीसियों के साथ युद्ध होने से डचों ने भारत में काफी हानि उठाई। फ्रांसीसियों और डचों के परस्परिक युद्धों से इङ्गलैंड ने बड़ा लाभ उठाया। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे भारत में अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ किया और ३१ दिसम्बर सन् १६०० को इङ्गलैंड की रानी एलिजाबेथ ने पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए रायल चार्टर दिया। डा० सरकार का अनुमान है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के प्रथम ६० वर्षों में भारत से प्रति वर्ष औसतन एक लाख पौंड (लगभग ८० लाख रु०) का माल इङ्गलैंड भेजा गया। सन् १६८१ में २२,३४,५१६ पौंड का माल इङ्गलैंड भेजा गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की थी, क्योंकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निर्भर था। किन्तु थोड़े समय बाद ही ब्रिटिश पूँजीपतियों के विरोध के कारण उसे यह नीति छोड़नी। ब्रिटिश पूँजीपति यह चाहते थे कि कम्पनी ब्रिटिश कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत

* W. W. Hunter : The British Empire.

से निर्यात करने पर जोर दे, अतः कम्पनी ने अपनी नीति बदली और भारत से तैयार माल की अपेक्षा अधिक मात्रा मे कच्चा माल निर्यात किया जाने लगा, जिसकी जगह भारत मे इङ्गलेंड के कारखानो का बना हुआ तैयार माल आने लगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत औद्योगिक देश से कृषि प्रधान देश बना दिया गया। इसका घातक प्रभाव हमारे व्यवसायो और व्यापार दोनो पर ही पडा। श्रीमती नौल्स के शब्दो में—"भारत अब इङ्गलेंड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उन्नत कारखानो के लिए कच्चा सामान, रुई, चमडा, तिलहन, रंग, जूट आदि निर्यात करने लगा और बदले मे अधिकाधिक मात्रा मे इङ्गलेंड से लोहे और सूत का तैयार माल खरीदने लगा, जबकि अन्य यूरोपीय देशो की क्रय शक्ति फ्रासीसी युद्धो के कारण कमजोर पड चुकी थी।"

सन् १८६६ में स्वेज नहर मार्ग खुलने से भारत के विदेशी व्यापार में नये युग का प्रारम्भ हुआ। भारत और यूरोप के बीच ५,००० मील की दूरी कम हो गई। अन्य कारणो से हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला :—

(१) भारत मे अग्रेजी राज्य की स्थापना होने से देश को शासन-व्यवस्था के विचार से एक सूत्र मे बाधा गया, जिससे देश के विभिन्न भागो की राजनैतिक अशांति समाप्त हो गई और व्यापारियो को व्यापार करने में बडी सुविधा मिली।

(२) यातायात के साधनो का देश में काफी विकास हुआ। देश के आन्तरिक भागो से बन्दरगाहो तक आना-जाना सुगम हो गया तथा वहाँ से स्वेज नहर द्वारा यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, फारस, इटली, मिस्र, आस्ट्रिया आदि देशो को माल भेजने की सुविधा हो गई। यात्रा मे अब समय कम लगने लगा, जिससे अनाज आदि काफी मात्रा मे निर्यात किये जाने लगे।

(३) बम्बई और स्वेज नहर के बीच मे समुद्री तार से सम्बन्ध स्थापित हो गया और जहाज-निर्माण उद्योग मे काफी प्रगति होने से व्यापारिक जहाजो बेडों का भी इसी समय विकास हुआ।

फलस्वरूप भारत से कम कीमत की, किन्तु भारी वस्तुएँ विदेशो को जाने लगी :—गेहूँ, चावल, तिलहन, चमडा, जूट आदि। उसके बदले मे सूती वस्त्र, मशीनें, रेलो का सामान, काँच का सामान आदि पहले इङ्गलेंड से और फिर जर्मनी, संयुक्त राज्य तथा जापान से आने लगा। यद्यपि कहने के लिये भारत से व्यापार करने की सब देशो को स्वतन्त्रता थी, पर वास्तव मे इङ्गलेंड का भारत के विदेशी व्यापार पर बडा प्रभुत्व था। इसके कई कारण थे—(१) भारतीय रेलो मे ब्रिटिश पूँजी लगी थी तथा उन पर अग्रेजो का ही अधिकार था, जो केवल अग्रेज व्यापारियो को ही परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप मे उत्साहित करती थी। (२) बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियाँ अग्रेजों के ही अधिकार मे थी, तथा (३) देश मे अर्थ नीति निर्धारण करने का काम भी इन्ही के हाथ मे था। १६वी शताब्दी के अन्त तक इङ्गलेंड की यह प्रभुता बनी रही, क्योकि हमारा ५०% आयात और २५% निर्यात अब भी इङ्गलेंड मे ही था। अमेरिकन गृह युद्ध के समय भारत के रुई निर्यात मे काफी वृद्धि हुई।

ब्रिटेन से आने वाले सूती वस्त्रों के आयात में कमी हो गई। इसके अतिरिक्त भारत में ही १९वीं शताब्दी के अन्त मे अकाल आदि की अधिकता के कारण व्यापार में काफी कमी हुई।

इस काल मे भारत का आयात की अपेक्षा कुल निर्यात अधिक रहा और प्रायः प्रति वर्ष कुछ न कुछ शेष रहता था, जो भारत के नाम इङ्गलैंड मे जमा होता था। इसका अधिकांश भाग इण्डियन ऑफिस के खर्च, इण्डियन सिविल सर्विस के नौकरों की पेन्शनों, ब्रिटेन की ब्याज वाली रकमो, अग्रेज व्यापारियो की जहाजी किरायों और बीमा तथा विनिमय के अनेक प्रकार के खर्चों मे काटा जाता रहा। जो थोडी सी रकम बाकी बचती थी उसका भुगतान सरकारी हुँडियो द्वारा किया जाता रहा। *नीचे विभिन्न वर्षों मे भारतीय आयात निर्यात तथा व्यापारिक शेष के आँकडे हैं:—**

(लाख रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	बाकी
१८५४-५५ से १८५८-५९	२,६८५	२,५८५	—
१८६९-७० से १८७३ ७४	३,३०४	५,६८५	२,३२१
१८८४-८५ से १८८८ ८९	७,५१३	९,७२८	१,५१५
१८९९-१९०० से १९०३-०४	८,४६८	१२,४९२	४,०२४

इस काल मे विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ निम्न थीं :—

(१) स्वेज नहर के खुल जाने एव देश में यातायात के साधनो तथा सिंचाई क्षेत्रों मे वृद्धि होने से भारत के आयात और निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई।

(२) पहले जहाँ भारत से बहुमूल्य धातुयें तथा हल्के वस्त्र आदि निर्यात किये जाते थे, वहाँ केवल भारी कच्चा माल ही अधिक जाने लगा और पक्का माल आयात होने लगा।

(३) व्यापार को दिशा भारत के अनुकूल रहने लगी।

(४) आयात और निर्यात दोनों में ही ब्रिटेन का भाग अधिक रहने लगा।

(५) इस काल मे निर्यात की मुख्य वस्तुएँ—चावल, गेहूँ, चाय, जूट, तिलहन, कपास, चमड़ा आदि थी। आयात की मुख्य वस्तुएँ—सूती, ऊनी वस्त्र, मशीनें और लोहे का सामान तथा काँच का सामान था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व—

इस काल मे भारत का विदेशी व्यापार काफी चमका, क्योंकि विश्व मे आर्थिक उन्नति की लहर चल पडी। सोने का उत्पादन और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों मे वृद्धि होने से समस्त विश्व में व्यापारिक कार्यों मे प्रगति हुई। यह प्रगति

* कृष्णदत्त बाजपेयी : Principles of Planning, पृ० ३१२-३१३।

केवल सन् १६०८-६ में कुछ कमजोर पड गई, क्योंकि इस समय मानसून फेल हो गये तथा संयुक्त राज्य अमेरिका मे कई बैंकों की स्थिति बिगड गई। किन्तु यह परिस्थिति अधिक काल तक न रह सकी और पश्चिमी देशों की आर्थिक स्थिति सुधरने तथा रुपये और पौंड का विनिमय निश्चित हो जाने से भारतीय व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला।*

(करोड रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	जोड़
१६००-०१	७६·२७	१०४·१६	१८०·४३
१६०७-०८	१०७·५०	१४८·४५	२५५·६५
१६१३-१४	१५०·३५	१६६·६२	३४६·६७

इस काल मे भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें निम्न थीं:—

(१) भारत मे निर्यातों में कच्चे माल की और आयातों में तैयार माल की अधिकता।

(२) हमारा निर्यात व्यापार आयात व्यापार से मात्रा और मूल्य मे अधिक होता था, जिससे व्यापार की बाकी हमारे अनुकूल रहती थी। किन्तु भारत को बहुत बडी रकम प्रति वर्ष अदृश्य आयात और गृह व्यय के लिये भी चुकानी पड़ती थी।

(३) भारत के कच्चे माल और अनाज के निर्यात मे इङ्गलेंड का हिस्सा सबसे ज्यादा रहता था।

(४) इङ्गलेंड के अतिरिक्त भारत का व्यापारिक सम्बन्ध गैर साम्राज्य के देशों से क्रमश: बढ रहा था, जो योरोप महाद्वीप के इटली, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों से भी होता था।

(५) इङ्गलैंड के प्रभाव से भारत ने भी मुक्त व्यापार नीति को अपनाया, जिससे इङ्गलैंड के तैयार माल को भारत मे बेचने के लिए एक बडी मन्डी प्राप्त हो सके।

(६) इस काल के पिछले वर्षों मे विदेशी व्यापार में कुछ कमी आई। इसके प्रमुख कारण थे—महाद्वीप मे औद्योगिक झगड़े, बाल्कन युद्ध के आरम्भ होने से भारतीय माल की अमेरिका मे माँग न होना, मानसून का अनिश्चित होना और देश में बैंकिंग सकट होना।

(७) इस काल में कच्ची रुई और जूट का निर्यात इङ्गलैण्ड को बढ़ने लगा।

वास्तव मे इस काल में जैसा कि वीरा ऐन्स्टी ने लिखा है—बीसवी शताब्दी के पहिले १४ वर्षों में भारतीय व्यापार में बडी उन्नति और वृद्धि हुई, किन्तु व्यापार मे कोई परिवर्तन नही हुआ। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकांश व्यापार

* Parimal Pay : India's Foreign Trade Since 1870, p. 79.

इङ्गलैंड से होता था, किन्तु जापान और संयुक्त-राज्य अमेरिका का महत्व भी बढ़ता जा रहा था। यही हाल मध्य योरोपीय देशों का था।''[1]

प्रथम महायुद्ध काल (सन् १९१४-१८)—

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने के साथ ही भारत का विदेशी व्यापार कम हो गया। सन् १९१३-१४ के आधार पर आयात में ६७% और निर्यात में ३४% की कमी हो गई। दोनों में ४८% की कमी हुई। जहाँ सन् १९१४ में कुल विदेशी व्यापार ४२७ करोड़ रुपये का था (आयात १८३ करोड़ और निर्यात २४४ करोड़), वहाँ सन् १९१९-२० मे कुल व्यापार २२३ करोड़ रुपये का ही रह गया (आयात ६३ करोड़ रुपये और निर्यात १६० करोड़ रुपये[2])। इस काल में कच्चे माल का निर्यात सन् १९१३-१४ मे ३१·९% से बढ़कर सन् १९१९-२० मे ५१·७% हो गया तथा इसी अवधि मे तैयार माल के आयात में ७९·५% से ७०·४% की कमी हो गई। युद्धकाल में व्यापार कम होने के मुख्य कारण ये—

(१) पड़ौसी देशों अथवा महाद्वीप के देशों के यातायात में युद्ध के फलस्वरूप बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न हो गई, जिससे भारत का व्यापार इन देशों से कम हो गया।

(२) महायुद्ध के पूर्व भारत का व्यापार जर्मनी के साथ बढ़ गया था, किन्तु युद्ध आरम्भ होने के साथ शत्रु-देश घोषित हो जाने से हमारा व्यापार जर्मनी से प्रायः नष्ट ही हो गया। रूस आदि देशों से यातायात की कठिनाइयों के कारण ही हमारा व्यापार रुक गया।

(३) शत्रु देशों से व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया तथा मध्य यूरोप के देशों से युद्ध के कारण व्यापार कठिन हो गया।

(४) बहुत से देशों ने विदेशों से माल लेना बन्द कर अपने देशों मे ही युद्ध सामग्री उत्पादन करना आरम्भ किया, जिससे भारतीय माल की माँग इन देशों में कम हो गई।

(५) यद्यपि युद्ध के समय भारतीय कच्चा सामान विदेशों को कम जाने लगा, किन्तु भारत परतन्त्र था और विदेशों से मशीनें आदि मंगवाने की भी सुविधा नहीं थी। अतः भारत इसको तैयार माल मे परिणित नहीं कर सकता था।

(६) आयात व्यापार पर पहले से अधिक कर लगा दिया गया था, इससे भी भारतीय व्यापार को धक्का पहुँचा। भारत सरकार ने चाय और जूट पर निर्यात कर भी लगा दिया, जिससे इन वस्तुओं का निर्यात युद्ध काल तक के लिए कम हो गया।

(७) युद्ध-काल में माल ले जाने के लिए जहाजों की भयंकर कमी हो गई। जो जहाज भारतीय समुद्रों में माल ले जाने पर नियुक्त थे अब वे अंग्रेजों के लिए युद्ध

---

1. Vera Anstey : Trade of Indian Ocean.
2. P. C. Jain : Industrial Problems of India, p. 175

सामग्री ले जाने लगे। बाल्टिक तथा काला सागर मे मित्र राष्ट्रो के जहाजो का भी जाना बन्द कर दिया गया तथा बहुत से जहाज जर्मन सेनाम्रो द्वारा नष्ट कर दिए गये। इस प्रकार भारतीय व्यापार का माल ले जाने के लिए जहाजो की नितान्त कमी पड गई।

(८) युद्ध-काल में जहाजो की कमी होने तथा सामान भेजने की अधिक माग होने के कारण जहाजी-भाडे मे वृद्धि हो गई तथा समुद्री बीमे का व्यय भी अधिक पडने लगा, इससे हमारा विदेशी व्यापार घट गया।

(६) बहुत से देशो मे अन्धाधुन्ध कागजी मुद्रा छापी गई। इस मुद्रा स्फीति का परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुएँ वहाँ बहुत मँहगी पडने लगी।

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक भारत के व्यापार की दिशा—

पहले महायुद्ध के पूर्व भारत के निर्यात और आयात में ब्रिटेन का बहुत बडा भाग था, जिसमें भारत कुल आयात का ४०% ब्रिटेन से मँगवाता था। क्रमशः ब्रिटेन से आने वाले माल का प्रतिशत घटने लगा और सन् १६३६ मे वह ३०% ही रह गया। फिर भी ब्रिटेन का हिस्सा अन्य देशो की तुलना मे अधिक था। इसका मुख्य कारण ब्रिटेन का भारत पर आधिपत्य था। जहाँ तक भारत के निर्यात का प्रश्न था, सन् १६१४ के पूर्व कुल निर्यात का केवल २५% ब्रिटेन को जाता था। क्रमशः यह प्रतिशत बढता गया और सन् १६३६ मे ३४% हो गया। ब्रिटेन ने भारत के उद्योग धन्धो मे बहुत अधिक पूँजी लगा रखी थी। ब्रिटेन की जहाजी कम्पनियाँ, बैंक, बीमा कम्पनियाँ भारत की अदृश्य सेवा करती थी, अतः ब्रिटेन को प्रति वर्ष अपनी पूँजी पर लाभ तथा अपनी अदृश्य सेवाम्रो का मूल्य मिलता था। इसी कारण ब्रिटेन को भारत से अधिक निर्यात होता गया। सन् १६१४ के पूर्व जर्मनी का भारत के आयात व्यापार मे २·४%, सयुक्त राज्य अमेरिका का १·७%, जापान का ०·६% भाग था, किन्तु सन् १६१४ मे बडा परिवर्तन हुआ। न केवल ब्रिटेन के भाग मे ही कमी हो गई, बल्कि जर्मनी के व्यापार मे ६·६% वृद्धि और जापान तथा सयुक्त राज्य के प्रत्येक के साथ व्यापार मे २·६% की वृद्धि हुई। बेल्जियम का व्यापार ३·६% से २·३% रह गया।

निर्यात व्यापार की दशा मे भी इसी प्रकार से परिवर्तन हुआ। इस शताब्दी के प्रारम्भ में इङ्गलैंड का भाग २६%, योरोपीय देशो का २५%, पूर्वी देशो का २४% और सयुक्त राज्य का ७% था, किन्तु सन् १६१३-१४ मे यह भाग क्रमशः १४%, २६%, १७% और ६% ही रह गया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक इङ्गलैंड का भाग क्रमशः घटता गया, किन्तु अन्य देशो के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध बढते गये। सुदूर पूर्व के देशो के साथ व्यापार मे हुई कमी छोटे-छोटे देशो के साथ व्यापार बढाकर दूर की गई। वैयक्तिक देशो के साथ भारत के व्यापार में वृद्धि हुई। स्वरूप जर्मनी, जो सन् १६०० मे भारत का तीसरा बडा खरीददार था, सन् १६१४

में उसका स्थान दूसरा हो गया। जापान की स्थिति भी छठे से तीसरी हो गई और चीन का स्थान दूसरे से हट कर छठा हो गया।*

सन् १६१४-१८ की अवधि मे इङ्गलेंड का व्यापार भारत के साथ कम होता गया। इसका मुख्य कारण उसका युद्ध मे व्यस्त रहना तथा अंग्रेज सरकार द्वारा निर्यात व्यापार पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना था। इसीलिए आयात व्यापार मे उसका भाग सन् १६१३-१४ मे ६४·१% से घटकर सन् १६१८-१६ मे ४५·५% रह गया। सम्पूर्ण युद्ध काल का विचार करें तो कहा जा सकता है कि युद्ध पूर्व काल के औसत ६२·८% से युद्ध-काल का औसत ५६·५% ही रह गया। इसी समय भारत के बाजार से हट जाने के कारण जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ होने वाले व्यापार मे वृद्धि हुई। पहले लोहे की मशीनें जो इङ्गलैण्ड से आती थी वे इन दोनो देशो से आयात होने लगी। इसके अतिरिक्त जापान से कांच का सामान, कागज और सूती वस्त्र तथा अमेरिका से रंग आदि भी मँगवाया जाने लगा। इन दोनो देशो ने अपने व्यापारिक संगठन स्थापित करने के भरसक प्रयत्न किये।

निर्यात व्यापार मे इङ्गलेंड और अंग्रेजी साम्राज्य के देशो के साथ वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध-काल में अधिकाधिक माल भारत से खरीदा गया। इस कारण हमारे निर्यात व्यापार मे इङ्गलेंड का भाग सन् १६१३-१४ में २३·४% से बढकर सन् १६१८-१६ मे २६·२% हो गया। इङ्गलेंड और ब्रिटिश साम्राज्य दोनों को मिलाकर युद्ध पूर्व के १५·१% और ४१·१% औसत से युद्धकाल का औसत ३१·१% और ५१·७% होगया। भारत से जर्मनी का व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः टूट सा गया। जर्मनी का फ्रान्स तथा बेल्जियम के कई भागो पर अधिकार होने से इन दोनों देशो से भी हमारा व्यापार कम हो गया। किन्तु जापान और संयुक्त राज्य से निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई, जो क्रमशः ६·२% से १२·१% और ८·६% से १३·८% हुई। इसका मुख्य कारण था कि ये देश युद्ध की विभीषिका से दूर थे तथा मित्र राष्ट्र होने के नाते वे भारत की वस्तुयें खरीदने मे समर्थ थे। इस प्रकार युद्ध काल मे भारत का विदेशी व्यापार बहुत ही थोडे देशो के साथ सीमित था। यद्यपि निर्यात व्यापार से अधिक प्राप्ति होती थी, किन्तु आयात की कीमतें बढ जाने से हमे चुकाना भी अधिक पड़ता था।

सन् १६१६ से सन् १६२६ के वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार मे अनेक उतार-चढाव आये। प्रथम वर्ष में भारत का व्यापारिक शेष अनुकूल रहा, किन्तु सन् १६२०-२१ और सन् १६२१-२२ मे यह प्रतिकूल हो गया। युद्ध के तुरन्त बाद ही युद्ध-कालीन प्रतिबन्ध हटने से जहाजो का किराया कम होने और युद्ध के समय जिन राष्ट्रो से व्यापार बन्द हो गया था वह फिर से चालू होने से यद्यपि व्यापार बढा, पर

* R. M. Joshi: India's Export Trade, p. 159-160,

यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हो गई। देश के निर्यात व्यापार में निम्न कारणों से कमी आ गई :—

(१) क्रय-शक्ति के अभाव मे योरोपीय देश विशेष मात्रा मे भारतीय माल नही खरीदते थे।

(२) ब्रिटेन, अमेरिका और जापान मे भी पहले से ही इतना भारतीय माल खरीद लिया गया था कि उनके पास अधिक माल खरीदने की गुञ्जाइश नही थी, क्योकि इन देशो के बाजार भारतीय माल से पटे पड़े थे।

(३) भारत मे लगातार वर्षा की कमी होने (सन् १६१८-२१) से अनाज की कमी हो गई और अनाज के भाव चढ़ गये। अतः अनाज का निर्यात रोकना पड़ा।

(४) जापान भी आर्थिक संकट मे फँस जाने से अधिक माल नही मंगा सकता था।

(५) भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को बढ़ा देने (१ शि० ६ पैंस से बढ़ा कर २ शि० कर दिया गया) से भारतीय निर्यात पर बुरा असर पड़ा।

(६) स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ होने से विदेशी माल का बहिष्कार होने लगा, जिससे इङ्गलैंड से आने वाले माल मे कमी हो गई और भारतीय उद्योगो की प्रगति हुई।

इस प्रकार हमारा निर्यात व्यापार कम हुआ, किन्तु उधर आयात व्यापार मे वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण जो आयात रुका हुआ था, वह अब सुगमता से होने लगा। रुपये का विदेशी विनिमय बढ़ जाने से भी आयात को प्रोत्साहन मिला और विदेशो से तैयार माल अधिकाधिक मात्रा मे आयात होने लगा। सन् १६२०-२१ मे भारत के निर्यात से आयात ७६.८ करोड़ रुपये का अधिक था, परन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदली और सन् १६२२-२३ तक निर्यात आयात अपनी सामान्य स्थिति मे पहुँच गये। योरोपीय मुद्राओ मे अब स्थिरता आ गई थी और योरोपीय देशो की आर्थिक स्थिति मे सुधार हो गया था, जो कि सन् १६२६ तक सन्तोषजनक रही।

विश्व मन्दी का काल सन् १६२६-३५—

सन् १६२६ मे विश्व-व्यापी मन्दी आरम्भ हो गई। विभिन्न देशो ने अपनी-अपनी आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से विदेशी व्यापार पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध (निर्यात प्रतिबन्ध, ऊँची दरें तथा कोटा पद्धति) लगाना शुरू कर दिये। दुनियाँ के विदेशी व्यापार की मात्रा घटने लगी। भारत कृषि प्रधान देश था और कृषि पदार्थों का मूल्य अधिक गिरा था, अतः भारत के विदेशी व्यापार को विशेष हानि हुई। सन् १६२६-३० मे हमारा कुल निर्यात ३१८ करोड़ रुपए का ही हुआ, पिछले वर्ष के निर्यात से यह २० करोड़ रुपए से कम था। जब इसी काल मे आयात २५० करोड़ रुपे का था। यह आयात पिछले वर्ष के आयात से १५ करोड़ रुपये कम का था। सन् १६३१-३२ मे जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ा तब सारा सोना अमेरिका,

फान्स आदि देशों को जाने लगा। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। भारत से सोना अत्यधिक मात्रा में (चूंकि उसकी कीमत में वृद्धि हो गई थी) विदेशों को जाने लगा, किन्तु फिर भी हमारे निर्यात-आयात व्यापार मे कोई लाभ नही हुआ। पिछले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष निर्यात-व्यापार मे ६५ करोड़ रुपये की कमी हुई। इसी प्रकार आयात व्यापार मे भी ४३ करोड़ रुपए की कमी हुई। इस काल मे विदेशी व्यापार की बाकी ३०.५६ करोड़ रुपए से भारत के पक्ष में रही। निर्यात व्यापार के मूल्य में कमी होने का मुख्य कारण कृषि वस्तुओं की कीमतों मे कमी होना था। सन् १६३२-३३ में जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्णमान पद्धति को छोड़ा तो विश्व के देशों मे आर्थिक सुरक्षा आन्दोलन को एक लहर सी चल पड़ी, जिसका असर भारत पर भी पड़ा। विश्व के प्रमुख देशों ने मिलकर अपने आपको कई व्यापारिक सङ्गठनों मे बाँटा, किन्तु भारत अपनी पराधीनता के कारण किसी भी सङ्गठन में सम्मिलित होने मे असमर्थ रहा। फिर भी इस वर्ष भारत के आयात २५ करोड़ रुपए से बढे और निर्यात २५ करोड़ रुपए से कम हुए और व्यापारिक शेष १.०६ करोड रुपये रहा। आयात मे वृद्धि होने का एक मात्र कारण देश मे राजनैतिक स्थिति मे सुधार तथा भारत का ब्रिटेन के साथ पहिला व्यापारिक (ओटावा) समझौता होना था। इस वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका से हमारा व्यापार कम हुआ, किन्तु इङ्गलेंड के साथ हमारे व्यापार में वृद्धि हुई।

सन् १६३३-३४ मे हमारे व्यापार में कुछ प्रगति हुई। निर्यात १३६.०७ करोड़ से १५०.२३ करोड़ रुपये तक पहुँच गया और आयात मे १७ करोड़ रुपये की कमी हो गई। विश्व-मन्दी का प्रभाव सन् १६३२-३३ तक रहा। सन् १६३३-३४ से स्थिति मे सुधार होने लगा। इसका मुख्य कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशो ने अपनी आर्थिक मन्दी का सुधार करने की योजनायें कार्यान्वित की। भिन्न-भिन्न देशों मे कच्चे माल की उत्पत्ति पर नियन्त्रण लगाये गये, युद्ध के भय के कारण शस्त्रों पर अन्धाधुन्ध व्यय होने लगा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के देशो ने जो ओटावा पैक्ट किया, उससे भारत के विदेशी व्यापार को थोड़ा लाभ हुआ। सन् १६३४ में भारत-जापानी व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गये।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व विदेशी व्यापार की विशेषतायें—

(१) भारत विदेशो से मुख्यतः पक्का माल मँगवाता था, जिसमे वस्त्र, लोहे का सामान, यन्त्र, घड़ियाँ, चमड़े का सामान, शीशे का सामान, मोटरें, साइकिल, कपड़ा, सीने की मशीनें, बिसात-खाने का सामान, तेल, साबुन, दवाइयाँ, कागज, शक्कर, दियासलाई मुख्य था। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, भारत मे कारखाने स्थापित होते गये, जिससे पक्के माल का आयात कम होता गया। सन् १६२० तक भारत अपने कुल आयात का ८४% पक्का माल विदेशों से मँगवाता था। इसके उपरान्त सरकार ने धन्धों को संरक्षण देने की नीति स्वीकार की। फलस्वरूप वस्त्रों के

उद्योग, दियासलाई, शक्कर तथा लोहे के धन्धे को संरक्षण प्राप्त हुआ। अस्तु जब ये धन्धे देश में स्थापित हो गये तो विदेशों से पक्के माल का आयात कम हो गया।

(२) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता यह थी कि भारत मुख्यतः खेती की पैदावार तथा औद्योगिक कच्चा माल विदेशों को निर्यात करता था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत अपने निर्यात का ७०% भोज्य पदार्थ और कच्चे माल के रूप में भेजता था। प्रथम युद्ध के बाद पक्के माल के प्रतिशत में थोड़ी सी वृद्धि हुई, फिर भी ६४% निर्यात भोज्य पदार्थों और कच्चे माल के रूप में ही होता था। यह स्थिति महायुद्ध आरम्भ होने तक रही। इससे स्पष्ट है कि भारत अपने कच्चे माल का उचित उपभोग नहीं करता था।

(३) जहाँ भारत विदेशों से बहुत प्रकार की तैयार वस्तुएँ मंगवाता था वहाँ भारत के निर्यात कुछ ही मालों तक सीमित थे, जैसे—जूट, कपास, अनाज, तिलहन, खालें और चाय आदि।

(४) भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहता था, क्योंकि भारत अधिकतर जितने रुपये का माल विदेशों को भेजता था उससे कम रुपयों का माल विदेशों से मँगवाता था।

द्वितीय महायुद्ध काल में (सन् १९३९-४५)—

सन् १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो हमारे विदेशी व्यापार पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण कीमतें बढ़ने लगीं और भारतीय कच्चे माल की विदेशों में माँग बढ़ने लगी। इससे हमारा निर्यात बढ़ गया। जहाँ सन् १९३८-३९ में केवल १६३ करोड़ रुपये का माल निर्यात किया गया वहाँ सन् १९३९-४० में २४० करोड़ रुपए का निर्यात हुआ। इसी प्रकार युद्ध काल में माल की कीमतों में वृद्धि होने के डर से व्यापारियों की अधिक मात्रा में माल खरीदकर एकत्र करने की प्रवृत्ति से आयात में वृद्धि हुई। जहाँ सन् १९३८-३९ में १५२ करोड़ रुपयों का आयात हुआ वहाँ सन् १९३९-४० में यह मात्रा १६५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। इस प्रकार इस वर्ष भारत को व्यापार की बाकी ३८·६३ करोड़ रुपये रही, किन्तु सन् १९४०-४१ में यह पुनः ३० करोड़ रुपये ही रह गई। इसका कारण यह था :—

(१) शत्रु राष्ट्रों के साथ हमारा व्यापार बन्द हो गया तथा निर्यात और आयात पर राज्य का नियन्त्रण हो गया। किसी भी प्राइवेट व्यापार को सरकार द्वारा विदेश को आयात या निर्यात करने के लिए आज्ञा-पत्र देने की पद्धति समाप्त की गई।

(२) जहाज़ों की कमी तथा किराये में वृद्धि होने से हमारे आयात निर्यात पर काफी प्रभाव पड़ा। जर्मनी की यू-बोटों ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों को डुबा कर बहुत अधिक हानि की, बहुत से जहाज़ सेना-सम्बन्धी सामान ढोने के ही काम में लाये जाते थे, अस्तु नागरिक व्यापार के लिये जहाज़ों की कमी होना स्वाभाविक था। इटली से युद्ध छिड़ जाने के कारण भूमध्यसागर व्यापार के लिए सुरक्षित नहीं रहा। इस वर्ष युद्ध के कारण फ्रांस की स्थिति भी बहुत कमजोर हो गई। उनके जो जहाज व्यापार

(२) युद्ध काल मे भारत का व्यापार ब्रिटिश साम्राज्य से तथा मध्य-पूर्वी देशो से ही अधिक रहा। आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिस्र, ईराक तथा मध्य-पूर्व के देशो से भारत का व्यापार बहुत बढ गया। सन् १९४३ और सन् १९४४-४५ में ईरान और बहरीन टापू से हमारे यहाँ ३१ करोड और ५३ करोड रुपये का मिट्टी का तेल आया। सन् १९४४-४५ मे सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का व्यापार ६५ करोड़ रुपए का था, जबकि ब्रिटेन के साथ केवल १०५ करोड रुपए का व्यापार हुआ।

(३) युद्ध काल मे भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहा, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :—

	व्यापारिक शेष		करोड रुपयो मे व्यापारिक शेष
१९३८–३९	+१७·५	१९४२–४३	+८४
१९४०–४१	+४२·०	१९४३–४४	+९२
१९४१–४२	+८०·०	१९४४–४५	+४२

निर्यात नियन्त्रण—

युद्ध काल मे आयात और निर्यात पर सरकार का नियन्त्रण था, जो अब तक चला आ रहा है। जब तक युद्ध चलता रहा, विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का उद्देश्य यही रहा कि युद्ध संचालन में सरकार को अधिकतम सहायता मिले। यातायात और निर्यात दोनो पर नियन्त्रण लगाए गये। निर्यात पर जो नियन्त्रण थे उनका उद्देश्य:—(i) शत्रु राष्ट्रो को माल भेजने पर रोक लगाना, (ii) कुछ चीजो को जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको भी भेजने से मना करना, (iii) कुछ चीजें जो शत्रु राष्ट्र नही थे, उनको लाइसेन्स द्वारा ही माल भेजने की स्वीकृति देना और कुछ देशों को कुछ चीजें बिना लाइसेन्स या मुक्त लाइसेन्स (O. G. L.) के अन्तर्गत भेजने की स्वीकृति देना। मार्च सन् १९४० से विदेशी विनिमय पर सरकार का नियन्त्रण होने से निर्यात पर भी नियन्त्रण हो गया। जब तक निर्यात से मिलने वाले विदेशी विनिमय का सरकार के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमो के अनुसार उपयोग करने का प्रमाण-पत्र पेश नही किया जाता था तब तक निर्यात करने की स्वीकृति नही दी जाती थी। इसका प्रयोजन यही था कि निर्यात के कारण जो विदेशी मुद्रा प्राप्त हो उस पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रह कर वह युद्ध कार्य में उपयोगी हो सके।

आयात नियन्त्रण—

युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् आयात पर नियन्त्रण किया गया। शुरू-शुरू में मित्र राष्ट्रो को छोड कर किसी भी देश से माल मँगाने की पूरी स्वतन्त्रता नही थी। पहले ऐसी वस्तुओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये गये, जिनका उपभोग बिना कठिनाई के कम किया जा सकता था अथवा जिनका प्रयोग देश में निर्मित वस्तुओ द्वारा ही किया जा सकता था अथवा ऐसे देशो से आयात किया जाता था,

जहाँ विदेशी विनिमय की समस्या इतनी विकट नहीं थी। आयात नियन्त्रणों का मुख्य उद्देश्य यह था:—(१) विदेशों से आयात में दी जाने वाली रकम का अभाव किया जा सके। (२) जहाजों की संख्या में किफायत की जा सके, जिससे युद्ध सामग्री अधिक ले जाई जा सके और (३) अधिक से अधिक युद्ध सामग्री का उत्पादन करने में मित्र राष्ट्र समर्थ हों। मई सन् १९४० में विदेशी विनिमय और खास तौर से दुर्लभ मुद्रा के संचय की दृष्टि से आयात के लाइसेन्स देने की व्यवस्था चालू की गई। आयात लाइसेंस प्राप्त किए बिना विदेशों को माल का भुगतान करने पर रिजर्व बैंक ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। मई सन् १९४० में ६८ वस्तुओं के आयात पर नियन्त्रण लगाया गया। बाद में यह संख्या बराबर बढ़ती गई। जनवरी सन् १९४२ तक लगभग आयात की सब वस्तुओं पर नियन्त्रण लगाया गया।

इस प्रकार युद्ध काल में कन्ट्रोलरों की आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी व्यापारी न तो कोई वस्तु विदेशों को भेज सकता था और न मँगवा ही सकता था। व्यक्तिगत व्यापारियों को जाँच-पड़ताल के बाद ही लाइसेंस दिया जाता था। तटस्थ राष्ट्रों में बहुत सी फर्मों का नाम काली सूची में रख दिया गया, जिन पर यह सन्देह था कि उनके द्वारा वस्तुयें शत्रुओं को पहुँच सकती थीं, उन फर्मों से व्यापार करने की मनाई थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, ये नियन्त्रण तथा बन्धन और भी कठोर होते गये, अस्तु सरकारी नियन्त्रण की कड़ाई अथवा ढिलाई का सीधा प्रभाव हमारे आयात-निर्यात पर पड़ता था। जब नियन्त्रण ढीला होता था तो विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ जाती थी और अगर नियन्त्रण कठोर होता तो मात्रा कम हो जाती थी।

युद्धोत्तर काल (सन् १९४५-६१)—

भारत के युद्धोत्तर विदेशी व्यापार की विशेषता थी कि हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे विपक्ष में रहा। इसका प्रमुख कारण खाद्यान्नों की कमी होने से खाद्यान्न का अधिक मात्रा में आयात होना था। साथ ही, युद्ध काल में उपभोक्ता वस्तुओं का देश में अकाल होने से सरकारी आयात नीति में उदारता आते ही उनका सुलभ मुद्रा वाले देशों से भारी मात्रा में आयात होने लगा। फलस्वरूप सन् १९४४-४५ से सन् १९४६-४७ के तीन वर्षों में हमारा व्यापारिक सन्तुलन क्रमशः २·९६, २५·७१ तथा ५१·२ करोड़ रुपए से हमारे विपक्ष में था। यही स्थिति सन् १९४७ और सन् १९४८ में थी, जिन वर्षों में हमारा व्यापारिक शेष क्रमशः ५१·२ करोड़ तथा १०२·७ करोड़ रुपए से भारत के अनुकूल रहा। परन्तु सन् १९४६-४७ में विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन के कारण हमारे सामने कोई गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई। क्योंकि हमारे पौंड पावने को दूसरे देशों की मुद्रा में बदलने पर कोई प्रतिबन्ध न होने से उसका उपयोग इस विपक्षीय व्यापारिक सन्तुलन को ठीक करने में कर सकते थे। परन्तु सन् १९४८ के प्रारम्भ में ही स्टर्लिंग प्रदेश के केन्द्रीय कोष में कमी आ जाने के कारण यह प्रतिबन्ध लग गया। सन् १९४९ के मई के महीने तक हमारी स्थिति और भी

बिगड गई। विदेशी व्यापार सम्बन्धी इस बिगडती हुई स्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान गया। उसने सन् १६४६ में आयात के बारे मे जुलाई सन् १६४८ मे जो उदार नीति स्वीकर की थी उसे रद्द करके अब कडी नीति बरतने का निर्णय किया गई सन् १६४६ मे ४०० वस्तुओ के खुले साधारण लाइसेंस के बजाय थोडी वस्तुओं को खुले साधारण लाइसेंस की श्रेणी में मन्जूर किया। जून सन् १६४६ मे दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात की स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। जुलाई सन् १६४६ मे लन्दन में कामनवैल्थ के वित्त मन्त्रियो का सम्मेलन हुआ, उसमे दुर्लभ मुद्रा प्रदेशो से सन् १६४८ के मुकाबले मे २५% आयात मे कमी करने का निश्चय किया गया और भारत ने इस निश्चय को मन्जूर किया। भारत-इङ्गलैंड के बीच आर्थिक समझौते पर जब अगस्त सन् १६४६ मे विचार किया गया तब फिर आयात पर और अधिक नियन्त्रण करने का निश्चय किया गया।

एक तरफ तो आयात को कम करने के प्रयत्न किये गये तो दूसरी ओर निर्यात को बढाने का भी सरकार ने प्रयत्न किया। सन् १६४६ की जुलाई मे निर्यात प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की गई, जिसने देश के निर्यात बढाने सम्बन्धी कई सिफारिशें की। जैसे—(१) निर्यात कर हटायें जायें, (२) निर्यात माल सम्बन्धी अत्यधिक सट्टे पर नियन्त्रण किया जाय, (३) निर्यात होने वाले माल का देश मे उत्पादन बढाया जाय। सरकार ने कमेटी की सिफारिशो के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप आयात पर रोक लग गई और निर्यात मे थोडा सुधार हुआ, पर सन् १६४६ मे फिर भी विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष मे हा रहा। इसके बाद हमारी स्थिति सुधरने लगी और सन् १६५० में कई वर्षों के बाद पहली बार विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा। इस सुधरती हुई स्थिति के मुख्य कारण रुपये का अवमूल्यन, निर्यात को प्रोत्साहन, निर्यात की वस्तुओ की बढी हुई कीमतें तथा कोरिया युद्ध के कारण उत्पन्न हमारे माल की युद्ध की तैयारी की दृष्टि से बढती हुई माँग है। नीचे की तालिका मे युद्ध के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति बताई गई है :—

(करोड रुपयों मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	व्यापार का सन्तुलन
१६४६	३१६·३८	३०५·७१	६६२·०६	— १०·६७
१६४७	४४५·८१	४०८·२४	८५४·०५	— ३७·५८
१६४८	५४२·६१	४२३·३८	६६६·२३	—११६ ५३
१६४६	५६०·५१	४८५·८०	१,०४६·३१	— ७४·७१
१६५०	५६५·४६	५८५·८८	१,१५१·३४	+ २०·४२
१६५१	३८४·००	४०८·००	८०२·००	+ ३४·००
१६५२	८६२·२५	७१५·५५	१,५७७·८०	—१४६·७०
१६५३	६३२·६५	५५६·७८	१,१८६·७३	— ७६·१७

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सन् १९४६ और सन् १९४७ के पहले सात महिनों मे भारत सरकार ने नरम नीति का पालन किया। दुर्लभ मुद्रा के बारे मे भी सरकार की नीति नरम ही रही, लेकिन अगस्त सन् १९४७ के बाद सरकारी नीति मे कड़ाई हो गई, यहाँ तक कि भारत व इङ्गलैंड के बीच हुए समझौते (जनवरी-जून सन् १९४८) के अनुसार हमारे पौंड पावने के कोष मे से जो पौंड पावने की रकम खर्च करने के लिए हमे मिली थी वह भी हम खर्च न कर सके। दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से आने वाले माल के बारे मे विशेष कड़ी नीति बरती गई। डालर क्षेत्र से कुछ माल के आयात को बिल्कुल ही रोक दिया गया। उन पूँजी पदार्थों के आयात को भी स्वीकृति नही दी जाती थी, जो इङ्गलैंड मे उपलब्ध थे। परिणामस्वरूप देश मे माल की तङ्गी आ गई और आयात बहुत गिर गये। आयात सम्बन्धी इस कड़ी नीति का कारण डालर की कठिनाई को हल करना था, पर उसका प्रभाव मँहगाई बढने में हुआ। यह वह समय था जब देश के विभाजन के फलस्वरूप देश मे बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी। यातायात की कठिनाई के कारण उत्पादन घट रहा था और नियन्त्रण हटाने की नीति का प्रयोग किया जा रहा था। इन सब बातो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि देश में माल की हर तरह से कमी हो गई और थोक कीमतो का मूल्याङ्कन जो नवम्बर सन् १९४७ मे ३०२ था वह सन् १९४८ की जुलाई मे ३८९·६ हो गया।

आयात मे नरम नीति बरतने का यह उपयुक्त समय था। इस विपरीत अनुभव के कारण जुलाई सन् १९४८ मे भारत सरकार की आयात नीति मे फिर से नर्मी आई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत आने वाली चीजो की संख्या मे काफी वृद्धि की गई और वह ४०० के लगभग पहुँच गई। कई चीजें जिनका आयात बिल्कुल बन्द था उनको उस श्रेणी से हटा लिया गया। इस नीति से हमारा आयात बहुत बढ़ गया और व्यापार का सन्तुलन हमारे विपक्ष मे जाने लगा। यद्यपि मँहगाई पर इसका अच्छा असर हुआ, पर विदेशी विनिमय की कठिनाई हमारे सामने उपस्थित हुई। जो पौंड पावना हम पहले खर्च नहीं कर पाते थे वह सब खर्च हो गया और इसके अलावा जितना हमने कमाया था उससे कहीं अधिक स्टर्लिङ्ग और डालर हमने खर्च किये। फलतः फरवरी सन् १९४९ में भारत सरकार की आयात-निर्यात नीति में फिर कठोरता आ गई। डालर प्रदेश से आयात कम करने की कोशिश की गई। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत आने वाली चीजो की संख्या बहुत कम कर दी गई। एक अगस्त सन् १९४९ से भारत इङ्गलैंड के बीच मे फिर आर्थिक समझौते मे संशोधन हुआ और इङ्गलैंड ने भारत को जो डालर का घाटा हो रहा था उसे पूरा करने का वचन दिया। इसके बदले मे भारत साम्राज्य डालर निधि का सदस्य बन गया। सरकार ने अपनी आयात नीति को फिर कड़ा करने का निश्चय किया। खुले साधारण लाइसेंस के अन्तर्गत वस्तुओ की संख्या अब केवल २० ही रह गई। सितम्बर सन् १९४९ में जो आयात नीति सरकार ने घोषित की, उसके अनुसार आयात को तीन श्रेणियों मे बाँटा गया:—

(१) वे चीजें जिनके लिए साधारण लाइसेंस नही दिये जायेंगे।

(२) वे चीजें जिनके लिए एक निश्चित परिणाम के आधार पर लाइसेंस दिए जायेंगे।

(३) वे चीजें जिनका समय-समय पर लाइसेंस दिया जा सकेगा, बशर्ते कि उनके आयात का हर समय उचित कारण बताया जा सके। दुर्लभ मुद्रा प्रदेश से आयात करने की स्वीकृति तभी दी जाती थी जबकि स्टर्लिङ्ग प्रदेश मे वह या उसकी जगह काम मे आने वाला दूसरा माल न मिले। अगर किसी चीज की आयात की व्यवस्था किसी द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते में की जा चुकी है तो उनको दूसरी जगहों से आयात करने की स्वीकृति दी जा सकती थी।

रिजर्व बैंक ने जनवरी सन् १९४८ से अनाधिकृत आयात का भुगतान करने के लिए विदेश को रुपया भेजने की जो सुविधा दे रखी थी वह भी अब वापस ले ली गई। इसके बाद भी जैसी-जैसी आवश्यकता पडी, अलग अलग चीजो के आयात के बारे में कुछ फेर फार होता रहा, पर मूल नीति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। इस बीच रुपये का भी सितम्बर सन् १९४९ मे अवमूल्यन हो चुका था और इसका हमारे विदेशी व्यापार के सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड रहा था।

भारत सरकार की निर्यात नीति पहले तो प्रतिबन्धात्मक थी, परन्तु जब विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगडने लगा और विदेशी विनिमय की तङ्गी आ गई तो भारत सरकार की नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की हो गई। बढी हुई कीमतें, बढी हुई देश के अन्दर की मांग और देश का विभाजन हमारे निर्यात व्यापार मे बाधक हुए, परन्तु भारत सरकार ने इन सब बाधाओ के बावजूद भी सन् १९४८-४९ मे निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति जारी रखी। कई चीजो को नियन्त्रण से मुक्त किया गया और बहुतो को आसानी से लाइसेंस मिलने वाली श्रेणी में ले लिया गया। इन सबके बावजूद भी सन् १९४९ के पहले ६ महीनो मे हमारे निर्यात व्यापार की स्थिति पहले से भी गिर गई। जुलाई सन् १९४९ मे भारत सरकार ने निर्यात व्यापार प्रवर्तक समिति की नियुक्ति की।

सन् १९५०-५१ मे आयात नीति मे फिर परिवर्तन हुआ। सामान्य लाइसेंस प्रणाली (O G. L. X.) जिसके अनुसार पाकिस्तान से आयात की अनुमति दी गई था, सितम्बर सन् १९४९ मे रद्द कर दी गई, परन्तु अब पाकिस्तान से पुनः व्यापार लागू किया गया। उद्योगो को कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करने के लिए बहुत सी वस्तुओं के लिए दीर्घकालीन आयात नीति बनाई गई। खाद्यान्न और कच्चे माल इत्यादि के लिए सामान्य लाइसेंस २० और २१ लागू किये गये, क्योंकि प्रतिबन्धित आयात नीति से देश को हानि पहुंच रही थी। इसलिए उनमें संशोधन किया गया और आयात के प्रति उदार नीति अपनाई गई। सामान्य लाइसेंस २३ मे लोहा तथा इस्पात, तारो के रस्से, पीतल के सामान, तांबे का तार, बोतल, लिखने का कागज इत्यादि शामिल करके फ्री लाइसेंस देने का क्षेत्र बढ गया।

आयात नियन्त्रण जांच समिति] की सिफारिशों के अनुसार आयात नियन्त्रण में काफी सुधार किया गया है। जांच समिति का मत है कि आयात नियन्त्रण का] आधारभूत उद्देश्य हो कि उतना ही आयात किया जाय जितनी विदेशी मुद्रा है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों का कृषि तथा उद्योग के लिए और उपभोक्ताओं की आवश्यकता को पूरी करने के लिए आवश्यक वस्तुओं में समान रूप से वितरण हो। विशेष वस्तुओं की कीमतों के उतार-चढ़ाव पर नियन्त्रण रखा जाय। समिति ने सुझाव दिया है कि व्यावसायिक वस्तुओं का ४०० करोड़ रुपए तक आयात किया जाना चाहिए, जो शान्ति काल का निम्नतम स्तर है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों की दृष्टि से समिति ने आयात को ६ भागों में विभाजित किया है।

सरकार ने समिति की आम सिफारिशों को मान लिया है, परन्तु ४०० करोड़ रुपए की सीमा को स्वीकार नहीं किया है। [साथ ही, सरकार ने अपनी आयात नीति के आधारस्वरूप आयात के ६ नहीं, किन्तु सुविधा की दृष्टि से कम भाग किये हैं। समिति की सिफारिशों के आधार पर आयात लाइसेंस प्रणाली को सरल बनाया गया है और व्यर्थ समय नष्ट होने से बचने के लिए यह व्यवस्था की गई कि—(अ) पहले जितने लाइसेंस दिये गये थे अब उसके कई गुने लाइसेंस दिये जायेंगे। (ब) लाइसेंस पत्रों का विकेन्द्रीयकरण किया गया है। अब बन्दरगाह वाले शहरों से आयात लाइसेंस प्राप्त किया जा सकता है। चुङ्गी अधिकारियों को व्यापक अधिकार दिये गये हैं। (स) चुङ्गी अधिकारियों तथा आयात नियन्त्रण अधिकारियों के कार्यों में सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अतीत में चुङ्गी अधिकारी आयात लाइसेंस देने वाले अधिकारियों द्वारा किये गये सामान के वर्गीकरण को सदैव स्वीकार नहीं करते थे। इससे इस कार्य में काफी देर लग जाती थी और व्यापारियों को हानि होती थी। परन्तु वित्त और वाणिज्य मन्त्रालय के बीच उचित सम्बन्ध करने से और चुङ्गी अधिकारियों की सहायता के लिए बन्दरगाह सलाहकार समिति नियुक्त करने से स्थिति काफी सुधर गई है। इससे व्यापारियों का कार्य बहुत कुछ आसान हो गया है।

आयात नीति की आलोचना—

(१) सरकार की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं है। वस्तुओं के वर्गीकरण, आयात नियन्त्रण अनुसूची और अनेक सामान्य लाइसेंसों के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं में बार-बार परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन करते समय व्यापारियों के हित का ध्यान नहीं रखा जाता। परिवर्तनशील विश्व में समय के अनुसार सरकार को भी अपनी आयात नीति बदलनी चाहिए, परन्तु इस कारण सरकार की आयात-नीति में किसी प्रकार की अनिश्चितता और दुर्बलता नहीं आनी चाहिए। सरकार ने लाइसेंस की अवधि ६ महीने से बढ़ाकर एक वर्ष कर दी है। साथ ही, सरकार ने कुछ आयात-कर्ताओं के लाइसेंस की निर्धारित अवधि को बढ़ाया है, परन्तु इससे स्थायी आयात नीति का जन्म न हो सका। वास्तव में उपभोक्ताओं और उत्पादकों के हितों की तभी रक्षा की जा सकती है जब आयात नीति स्थायी हो।

(२) आयात नीति देश के उपलब्ध विनिमय साधनो के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसके निर्धारण मे देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के आधार पर विचार नहीं किया जाता। आय और भुगतान में सन्तुलन स्थापित करने की नकारात्मक नीति उपयुक्त नही है। वास्तव में ऐसी ठोस नीति की आवश्यकता है जो उद्योग की आवश्यकताओ का विदेशो से प्राप्त होने वाली मशीनो इत्यादि से उचित सम्बन्ध स्थापित करे और जिसका उद्देश्य भारतीय उद्योग के लिए अधिक मशीनें और कच्चा माल प्राप्त करना हो।

(३) आवेदन पत्रो पर शीघ्र कार्यवाही करने के लिए, कार्य की विधि को अधिक सरल बनाने के लिए और आयात नियन्त्रण अनुसूची का अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से वर्गीकरण करने के लिए अभी काफी सम्भावना है। जो आयात लाइसेंस आयात-कर्त्ता द्वारा स्वयं माल खर्च मे लाने के लिए दिये जाते हैं, उनका दुरुपयोग किया जाता है। आयातकर्त्ता सामान को स्वयं खर्च मे नही लाता, परन्तु बाजार में बेच देता है। नये आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिये जाते हैं, उनका उचित उपयोग नही होता। यद्यपि इन तीन प्रकार के आयातकर्त्ताओं के हितो की रक्षा करने के निमित्त लाइसेंस प्रणाली में सुधार किया गया है, परन्तु इस दिशा मे अभी बहुत सुधार करने की आवश्यकता है।

(४) कच्चे माल का आयात कर सकने वाले वास्तविक आयातकर्त्ताओ का कार्य सरल करने के लिए इन्हे लाइसेंस देने की आवश्यकता है और आयात व्यापार मे प्रतियोगिता की भावना बनाये रखने के लिए नये आयातकर्त्ताओ के लिए विदेशी माल का कोटा निश्चित कर देना चाहिए। वास्तव मे पुराने आयातकर्त्ताओ को लाइसेंस दिया जाना चाहिए, क्योंकि उनको इसका अनुभव है और इस कार्य को करने के लिए उपयुक्त सङ्गठन भी है, परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तीनो प्रकार के आयातकर्त्ताओ के हित परस्पर न टकराएं और उनमे उचित सन्तुलन स्थापित हो।

निर्यात नीति—

कमेटी की सिफारिशो के अनुसार कई चीजें जिनका निर्यात मना था, लाइसेन्स के बाद निर्यात होने वाली वस्तुओ की श्रेणी में आ गई। खुले साधारण लाइसेन्स के अन्तर्गत, जो बिना लाइसेन्स के सब देशो को निर्यात की सुविधा देता है, चीजो की संख्या बढ़ गई। लाइसेंस देने की पद्धति को पहले से सरल बनाने का प्रयत्न किया गया और व्यापार मन्त्रालय से ही निर्यात लाइसेन्स मिलने की व्यवस्था की गई। पहले जो खाद्य पदार्थ के लाइसेंस खाद्य मन्त्रालय से मिलते थे वे अब व्यापार मन्त्रालय से मिलने लगे। जो कर निर्यात मे बाधक थे उन्हे कम किया गया या हटाया गया। कोरिया के युद्ध के कारण आगामी युद्ध की तैयारी की दृष्टि से दुनियाँ के देशो ने कच्चे माल का संचय करना शुरू किया, उसका भी निर्यात पर असर पडा। इन सब कारणो का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि हमारे निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई और सन् १९५०-५१ मे गत महायुद्ध के बाद पहली बार व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में हुआ, किन्तु सन् १९५१-५२ में यह फिर उल्टा हो गया। इस वर्ष हमने ७६३ करोड़ रुपए का माल

निर्यात किया और ८५० करोड़ रुपये का आयात किया, इस वर्ष हमें ८७ करोड़ रु० का घाटा रहा।

सन् १९५२ में देश से अधिक निर्यात व्यापार हो सके, इसके लिए निर्यात कर में कमी कर दी गई। टाट पर प्रति टन निर्यात कर घटाकर २७५ रुपये और बोरों पर केवल १७५ रु० कर दिया गया। इसी प्रकार मूँगफली के तेल, जीरा, कच्चे ऊन पर से तो निर्यात कर बिल्कुल ही हटा दिया गया तथा अलसी के तेल और तम्बाकू पर निर्यात कर मे यह कमी की गई। बंगाली देशी कपास पर यह कर ४०० रु० प्रति गाँठ से घटाकर २०० रु० कर दिया गया और अन्त में यह कमी १२५ रु० तक हो गई। तैयार कपड़े पर १ जनवरी सन् १९५३ से मूल्य के अनुसार यह कर २५% से घटाकर १०% कर दिया गया।

निर्यात व्यापार की वृद्धि के लिए लाइसेन्स प्रणाली मे ढिलाई बरतना प्रारम्भ किया गया। पहले जिन वस्तुओं के निर्यात के लिए विशेष प्रमाण नियत या अब अधिकतर खुले लाइसेन्स मे आ गई। अस्तु सूती वस्त्र, जूट के वस्त्र, सूती सूत और कच्चा ऊन आदि अपरिमित मात्रा में निर्यात किये जाने लगे। इस प्रकार अब ९०% वस्तुओं के निर्यात पर ढीलापन हो गया।

इसके अतिरिक्त इस बात की भी कोशिश होने लगी कि देशी निर्मित माल भी अधिक मात्रा में निर्यात किया जावे। बिजली के पंखे, मीनाकारी के सामान, अल्युमीनियम के बर्तन, दवाइयाँ, साबुन, कपड़े धोने का सोडा, हाथ का बना कागज, प्लाइवुड की पेटियाँ, फर्नीचर, घड़ियों आदि के निर्यात पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। ऐसी वस्तुओं का निर्यात भी किया जा सकता या जिसमें विदेशी आयात की हुई मशीनें लगाई गई हैं। टायर व ट्यूब के अलावा अन्य प्रकार के रबड़ के सामान पर भी छूट दी गई।

भारत सरकार ने सन् १९४९ मे गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की और उसकी निम्न सिफारिशों को कार्यान्वित किया :—

(१) जूट तथा अन्य वस्तुओं के सट्टे को रोक दिया, जिसकी प्रवृत्ति जुए मे गतिशील होती थी।

(२) निर्यात नियन्त्रणों में, विशेषकर निर्मित वस्तुओं से सम्बन्धित उदारता कर दी गई और लाइसेन्सों का तरीका सरल कर दिया गया। कोटे की समाप्ति तक नियत कोटे के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओं का निर्यात होता था।

(३) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के निर्माण के लिए नियन्त्रित कच्चा माल, पैकिंग का सामान और यातायात की सुविधाएं दी गई थी।

(४) इस बात का विश्वास दिलाने के लिए प्रबन्ध किए गये थे कि भारतीय वस्तुओं मे कोई शिकायत न हो और यदि कोई हुई तो उस पर तत्काल कार्यवाही की जायगी।

(५) यदि आवश्यकता हुई तो सरकार निर्यात [illegible] ओ के आधार [illegible] करेगी।
निर्यात होने वाली वस्तुओ पर प्रान्तीय 'बिक्री टैक्स भी नहीं [illegible]।

सरकार ने निर्यात नियन्त्रण नीति के विषय में राय देने के लिए परामर्शदाता कौंसिल की स्थापना की। प्रत्येक ६ मास के बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओं के अनुसार वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। घरेलू खपत के लिए आवश्यक कच्चे मालों के निर्यात पर रोक लगा दी गई है।

निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार काफी प्रयत्नशील है। इस हेतु विदेशों को व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजना और निर्यात बढाने वाली योजनाओं को कार्यान्वित करना, ये विशेष है। साथ ही, निर्यात व्यापार बढाने के लिए स्टेट ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन की स्थापना भी की है और विदेशी जहाजी कम्पनियों की विवेकात्मक भाड़ा नीति की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए भी प्रयत्न किए गए हैं।

पंच-वर्षीय योजना में—

पिछले कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति पर विचार करके उपयुक्त व्यापार नीति निर्धारित करने के लिए पहिली योजना मे पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :—(१) योजना से निर्धारित उत्पादन उपभोग के लक्ष्यों को पूरा किया जाय। (२) निर्यात का उच्च स्तर रखा जाय। (३) निर्यात व्यापार को जो घाटा हो उसको देश के विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनो से पूरा किया जा सके। (४) निर्यात और आयात को सरकार की वित्त तथा मूल्य सम्बन्धी नीति के अनुरूप किया जाय। और (५) निश्चित व्यापार की नीति निर्धारित की जाय। पंच-वर्षीय योजना की अवधि मे भारत के व्यापार पर दो बातो का प्रभाव पडेगा :—(अ) कृषि सम्बन्धी कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि और (ब) उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए बडी-बडी मशीनो और शोधित कच्चे माल की आवश्यकता।

विदेशी व्यापार की वर्तमान दशा—

आजकल भारत का व्यापार विशेष रूप से सीलोन, इटली, नीदरलैंड, कनाडा, मिस्र, पाकिस्तान, जापान, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी, बर्मा, अमेरिका तथा ब्रिटेन इन बारह देशो के साथ है। यह इस बात को संकेत करता है कि विभाजन के पश्चात् हमारे विदेशी व्यापार का ढाँचा काफी बदल गया है। फिर भी हमारे विदेशी व्यापार के परिमाण में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नही हुई है, तथापि हमारे विदेशी व्यापार के मूल्य, स्वरूप एव दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

सन् १९५८-५९ के बाद भारत का व्यापार संतुलन

(करोड़ रुपये)

वर्ष	आयात (कुल)	कुल निर्यात	व्यापारिक संतुलन
१९४८-४९	६४३·८५	४५८·७२	—१८५·१३
१९४९-५०	६४७·९५	५०९·०२	—१४१·९३
१९५०-५१	६५०	६०१	— ४९
१९५१-५२	९७०	७३३	—२३७
१९५२-५३	६६७	५७७	— ९०
१९५३-५४	५६७	५३१	— ३६
१९५४-५५	६५६	५४८	— ६३
१९५५-५६	७०५	६०९	— ९६
१९५६-५७	८३२	६१३·५२	—२१९·९३
१९५७-५८	९९३	६२१·३१	—३७२·२७
१९५८-५९	८५६·१८	५८०·३०	—२७५·८८
जनवरी जुलाई १९६०	५३०·८९	३५३·०४	—१७७·८५*

भारत के सामने एक भयङ्कर समस्या यह रही है कि भारत में खाद्यान्न की कमी हो गई, जिसको पूरा करने के लिए भारत सरकार को प्रति वर्ष विदेशों से अधिकाधिक मात्रा में अनाज मँगवाना पड़ता है।

युद्ध के पश्चात् से भारत में व्यापारिक सम्बन्धों में क्रमशः बहुत ही परिवर्तन होता जा रहा है। यद्यपि ब्रिटेन का स्थान अब भी बहुत ऊँचा है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इसके बराबर पहुँच गया है। आस्ट्रेलिया, बर्मा, पाकिस्तान, कनाडा और मिस्र का भी हमारे विदेशी व्यापार में अच्छा स्थान बन गया है। युद्ध-काल में भारत का मध्य पूर्व के देशों से जो नया व्यापारिक सम्बन्ध हुआ है उसमें उन्नति की अधिक सम्भावना है। सुदूर-पूर्व से भारत के व्यापार का भविष्य भी उज्ज्वल है। युद्ध के उपरांत हमारे विदेशी व्यापार में एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह हुआ कि जहाँ पहले भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों का भाग अधिक रहता था वहाँ वह अन्य देशों के लगभग बराबर पहुँच गया है।

भारत के विदेशी वर्तमान व्यापार की विशेषताएँ—

(१) अधिकांश भारतीय व्यापार समुद्र के द्वारा होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत के पड़ोसी देश अफगानिस्तान, तिब्बत, मध्य-एशिया बहुत पिछड़े हुए हैं। कलकत्ता, मद्रास, विजगापट्टम, कोचीन, काण्डला और बम्बई भारत के मुख्य व्यापारिक प्रवेश द्वार हैं।

* Commerce—17 Sept. 1960.

(२) हमारे निर्यात व्यापार मे तैयार माल का स्थान बढता जा रहा है। देश के विभाजन से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। इसका मुख्य कारण देश मे औद्योगिक उन्नति होना है।

(३) हमारे विदेशी व्यापार मे युद्ध के बाद के वर्षों में जहाँ तक आयात का सम्बन्ध है, कामनवैल्थ राष्ट्रो और इङ्गलैंड का भी अनुपातिक भाग कम हुआ है तथा कामनवैल्थ के बाहर के देशो में, विशेषकर अमेरिका का महत्व बढ रहा है। इसी प्रकार निर्यात के सम्बन्ध मे भी कामनवैल्थ राष्ट्रो का महत्व घट रहा है।

(४) भारत के विदेशी व्यापार का संतुलन बहुत समय तक भारत के पक्ष मे था, किन्तु गत वर्षों से वह भारत के विपक्ष मे है। इसका प्रमुख कारण देश मे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री का आयात अधिक मात्रा में होना है, जैसे—लोहा एव इस्पात, यन्त्र सामग्री आदि।

इस स्थिति के कारण देश की आयात नीति को गत कुछ वर्षों मे एक विशेष रूप दिया गया है, जिसमे देशी वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। गत वर्षों के आयात के विश्लेषण से स्पष्ट होगा कि ऐसी वस्तुओ के आयात मे कटौती की गई या रुकावट लगाई गई है जिन्हे तैयार करने मे देशी कृषि एव उद्योग उत्तरोत्तर समर्थ होते जा रहे है। साथ ही, यह प्रयत्न भी किया गया है कि उद्योगो में यथा-सम्भव विदेश से आयात किए गए कच्चे माल की जगह देशी कच्चे माल का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार हमारे आन्तरिक और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओ मे सन्तुलन कायम रखने के लिए देश मे सन् १९५७ के आरम्भ मे पचसूत्री आन्दोलन का श्रीगरोश किया गया है।

पंचसूत्री आन्दोलन—*

(१) आयात मे अधिकतम कटौती—आयात मे यथासम्भव अधिकतम कटौती की जा रही है, इससे अल्पावधि मे कुछ कठिनाइयाँ निश्चय ही उपस्थित होगी और कही-कही आयातो के मूल्य मे वृद्धि होगी। सरकार इस दिशा मे काफी सतर्क है और व्यापक रूप से मूल्य स्तर को यथासम्भव स्थिर रखने के लिए प्रयत्नशील है। आयात नियन्त्रणो मे देशी उत्पादन के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। इञ्जीनियरिंग वस्तुओ, रसायन, दवाइयो, उपभोक्ता एव उत्पादक वस्तुओ और मध्यम तथा भारी मशीनो के उत्पादन के सम्बन्ध मे इस बात का विशेष ध्यान रखा जायगा।

(२) देशी उत्पादन को प्रोत्साहन देकर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना—इस हेतु यथासम्भव (अ) अधिक पालियो मे काम करने पर, (आ) उपकरणो की वर्तमान क्षमता तक उत्पादन करने मे बढावा देने पर, (इ) वर्तमान उपकरणो को आधुनिकतम अवस्था मे लाने के प्रयत्न पर, (ई) देशी और विदेशी कच्चे मालो,

* आर्थिक समीक्षा, नवम्बर ५, १९५७ पृष्ठ ७, श्री मनुभाई शाह के 'विदेशी व्यापार' पर आधारित।

उपकरणों, पूँजीगत और उत्पादक वस्तुओं का अधिकतम उपयोग करने पर देशी उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दी जा रही है। उपक्रमी ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं जिनका उत्पादन पहिले कभी नहीं हुआ था। उद्योग, व्यापार, उपभोक्ता और सरकार के सहयोग तथा निरन्तर सावधानी के कारण ऐसी वस्तुओं की किस्म में भी सुधार हो रहा है। अनेक विकास समितियाँ, भारतीय प्रमाप संस्था, किस्म निर्माण योजना, निर्यात प्रोत्साहन समिति और उत्पादन से सम्बन्धित सभी संस्थाएँ वस्तुओं के गुणों पर अधिक ध्यान दे रही हैं और उनके प्रमाप निर्धारित किए जा रहे हैं।

(३) निर्यातों का प्रोत्साहन—यह एक प्रत्यक्ष कदम है, क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। इसके विपरीत अन्य चार उपायों से विदेशी विनिमय की बचत होती है। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए देश में १४ निर्यात प्रोत्साहन समितियाँ काम कर रही हैं। ये समितियाँ अपने प्रतिनिधि मण्डल विदेशों में भेजती हैं तथा विदेशी बाजारों का सर्वेक्षण कर नए बाजारों की खोज करती हैं। निर्यात प्रोत्साहन के लिए सन् १९५७ में एक विदेशी व्यापार बोर्ड की स्थापना भी की गई है, जो निर्यात को प्रोत्साहन देने वाले उपायों पर अपना प्रयत्न केन्द्रित करता है तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही करता है। इसके साथ ही निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए राजकोषीय उपाय भी अपनाये जा रहे हैं, जैसे—निर्मित वस्तुओं के आयात किए गये हिस्सों पर ली गई चुङ्गी की वापिसी। ऐसी चुङ्गियों का सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं से है जिन्हें मँगाने के बाद पुनः निर्यात करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पादन कर वापिस करने की व्यवस्था की गई है, यदि इन वस्तुओं का निर्यात हो। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए एक निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना की गई है तथा विदेशों से व्यापारिक समझौते भी किए जा रहे हैं।

(४) मशीनों और उपकरणों के आयात के सम्बन्ध में स्थगित भुगतान का आधार—इसका सम्बन्ध मशीनों के पुर्जे और मँहगे कच्चे मालों के आयात से भी है। यह योजना अब काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी है और सन् १९५७ के आरम्भ से ही ५ से ७ वर्ष की अवधि के स्थगित भुगतान समझौते लागू हो चुके हैं। इसके अन्तर्गत ३१ अगस्त सन् १९५७ तक ५९·२७ करोड़ रु० की १३७ स्थगित भुगतान योजनाओं पर स्वीकृति दी गई है।

(५) आवश्यक विदेशी ऋण की व्यवस्था—अभी तक भारत में ऋण के साधन निम्न रीति से प्राप्त किए जा रहे हैं—

(अ) योजना बनाम योजना के आधार पर लिखा-पढ़ी द्वारा,

(आ) द्विपक्षीय समझौतों द्वारा,

(इ) विभिन्न देशों से राज्य व्यापार निगम के माध्यम से पारस्परिक लाभ समझौतों द्वारा,

(ई) विभिन्न विदेशी नौकरी और साख संस्थाओं द्वारा दिए गए ऋण।

भुगतान सन्तुलन की स्थिति को ठीक करने के लिए यह पंच-सूत्री कार्यक्रम बहुत ही व्यापक, सामंजस्यपूर्ण एवं एकीकृत नीति के परिचायक हैं, जो निश्चय ही भारत के विदेशी व्यापार की नींव को सुदृढ़ करेंगे।

राजकीय व्यापार निगम—

देश के विदेशी व्यापार मे राज्य द्वारा हिस्सा लेने के लिए मई सन् १९५६ में राज्य व्यापार निगम की स्थापना एक निजी लिमिटेड कम्पनी के रूप मे की गई है। इसका प्रमुख उद्देश्य ऐसी वस्तुओ के भारत से निर्यात और भारत मे आयात को सगठित करना है जिनके सम्बन्ध मे समय समय पर निगम निश्चित करे और इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अन्य सभी कार्य करना है, किन्तु निगम का प्रमुख कार्य व्यापार सम्बन्धी कठिनाइयो और समस्याओ को सुलझाना है, जिससे अनिवार्य आयात की वस्तुएँ मितव्ययिता के साथ मिल सकें और भारत के निर्यातो का क्षेत्र बढ सके। इस निगम के प्रादेशिक कार्यालय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कालीमादा, मछलीपट्टम, विशाखापट्टम, काडला, भावनगर तथा नागपुर मे हैं। इस निगम की निर्यात की प्रमुख वस्तुओ मे कास्टिक सोडा, सोडा एश, जिप्सम, अमोनियम सल्फेट, कच्चा रेशम, मशीन, चावल, सीमेंट, कॉफी, चाय, तम्बाकू, चटाई, हाथ करघा एव हाथ के बने सामान, जूते, पटसन, लोहा और मैगनीज की धातुएँ हैं। अधिकाश निर्यात व्यवसाय रूस, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, अमरीका, इङ्गलैंड, चीन और जापान के साथ तथा आयातो के क्षेत्र मे इङ्गलैंड, अमरीका, यूगोस्लाविया, जापान और पाकिस्तान से सौदे किए हैं। निगम को सन् १९५८-५९ मे २ ३९ करोड रु० का लाभ हुआ, जो इसकी सफलता का परिचायक है।[1]

निर्यात जोखिम बीमा निगम—

इस निगम की स्थापना जुलाई सन् १९५७ मे पूर्णतः सरकारी स्वामित्व मे की गई तथा इसने अपना कार्य अक्टूबर सन् १९५७ में प्रारम्भ किया। यह निगम उस माल का बीमा करता है जो माल भारत से विदेशो को उधार भेजा जाता है और अन्य बीमा कम्पनियाँ जिसका बीमा नही करती। इस निगम ने अपने दूसरे वर्ष मे ९·८७ करोड रु० देनदारी के ३०२ बीमे जारी किए, जबकि पहिले वर्ष में ७·५२ करोड रु० के १४६ बीमे दिए थे। बीमित निर्यातको ने इसी वर्ष १३·७९ करोड रु० के निर्यात घोषित किए, जहाँ गत वर्ष मे २·२१ करोड रु० के घोषित किए थे। इन निर्यातों मे "साख-आधार पर" ७·३५ करोड रु० के निर्यात है, जबकि पिछले वर्ष केवल १·३० करोड़ रु० के ही थे। बीमित निर्यातो में ६७ वस्तुयें ६४ देशो को निर्यात की गई।[2]

निर्यात प्रोत्साहन समिति—[3]

निर्यात प्रोत्साहन के सभी विषयो का विस्तृत अध्ययन करने के लिए फरवरी सन् १९५७ में एक निर्यात प्रोत्साहन समिति नियुक्त की गई थी, जिसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १९५७ में प्रस्तुत हुई। इसमे नीति विषयक निम्न बातो की सिफारिश की गई :—

(१) सभी क्षेत्रो में उत्पादन (विशेषतः कृषि) मे निरन्तर वृद्धि होनी चाहिए।

(२) मूल्यो को प्रतिस्पर्धात्मक स्तरो पर कायम रखा जाय।

(३) घरेलू उपभोग रोक कर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय।

---

[1] सम्पदा, मई सन् १९६०।

[2] Journal of Trade & Industry, March 1960

[3] India 1958, p 356-357.

(४) निर्यात एवं निर्यात बाजारों में विविधता लाई जाय।

(५) निर्यात किये जाने वाले पदार्थों के नये उपयोग पता लगाना और इन नये उपयोगों के अनुकूल ही आन्तरिक उत्पादन का संगठन करना।

उपरोक्त उपायों के द्वारा, कमेटी का यह मत है कि भारत के निर्यात काफी बढ़ जायेंगे और द्वितीय योजना की समाप्ति पर ६१५ करोड़ रु० का जो लक्ष्य रखा गया है उसकी पूर्ति तो होगी ही, लेकिन निर्यात इससे भी अधिक ७००-७५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो सकते हैं। निर्यात को प्रेरणा देने के लिए कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि निर्यात कर न केवल कम रखे जायें, अपितु उनमें बार-बार परिवर्तन भी नहीं होना चाहिए। अन्य सिफारिशें निम्न थीं:—

(१) एकाकी एजेन्सी प्राइवेट या पब्लिक के द्वारा निर्यातों को संगठित किया जाय।

(२) भारत का 'बन्दरगाह से बन्दरगाह का व्यापार' (Entrepot Trade) प्रोत्साहित करना चाहिए।

(३) रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक व्यापारिक बैंकों के द्वारा निर्यात साख सम्बन्धी अधिक सुविधायें प्रदान करें।

(४) विदेशों से व्यापार समझौते किये जायें और ऐसी व्यवस्था कराई जाय कि कुछ में भुगतान रुपयों में भी सम्भव हो।

(५) भारतीय व्यापार कमिश्नरों और अन्य व्यापार अधिकारियों के लिए, जिनकी नियुक्ति विदेशों में की जाय, व्यापार सम्बन्धी विशेष प्रशिक्षा दी जाय।

(६) विदेशों में भारतीय माल का अधिक अच्छा विज्ञापन और प्रचार करना चाहिए। सरकार विदेशी व्यापार की एक साप्ताहिक पत्रिका निकाले और कोई प्राइवेट संस्था भारतीय आयातकों एवं निर्यातकों की विस्तृत एवं तिथि तक पूर्ण डाइरेक्टरी का प्रकाशन करे।

(७) भारतीय व्यापार में भारतीय जहाजी कम्पनियाँ अधिकाधिक भाग लें, ताकि अप्रत्यक्ष निर्यातों में वृद्धि हो।

(८) निर्यात वस्तुओं की किस्म का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण हो।

(९) निर्यातकों के लिए अनिवार्य रजिस्ट्री की व्यवस्था की जाय, ताकि उनकी अहितकारी प्रवृत्तियाँ बन्द हो जायें।

इन सिफारिशों के अनुसार जून सन् १९५७ में विदेशी व्यापार-सभा का निर्माण हुआ। इसकी शासकीय अभिकर्त्ता के रूप में निर्यात सम्वर्द्धक निदेशालय की स्थापना भी जून सन् १९५७ में की गई। इसके कार्यालय मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई में हैं। इसके प्रमुख कार्य निम्न हैं :—

(१) अपने-अपने कार्यक्षेत्र में निर्यात-सम्वर्द्धक परिषदों की निर्यात-सम्वर्द्धन क्रियाओं में प्रशासकीय सहायता देना एवं उनमें सामञ्जस्य लाना,

(२) विशेष वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने के लिए ठोस कदम उठाना तथा निर्यातकों का उनके लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता देना, तथा

(३) विदेशी व्यापार की प्रशासकीय एवं कार्य-पद्धति सम्बन्धी कठिनाइयों में सहायता देना।

इसके अलावा निर्यात सम्वर्द्धन के विभिन्न उद्योगो के लिए निर्यात सम्वर्द्धन परिषदो की स्थापना की गई है। ऐसी ११ परिषदें देश मे कार्य कर रही है। ये क्रमश: वस्त्र उद्योग, स्पोर्ट उद्योग, सिल्क एवं रेयन वस्त्र, प्लास्टिक एवं लायनोलियम, काँजू एवं काली मिर्च, तम्बाकू, रसायन एव रसायनिक द्रव्य, लाख, चमडा, इञ्जीनियरी सामान तथा अभ्रक उद्योग के लिए है।

अगस्त सन् १९५९ मे निर्यात सवर्द्धक सलाहकार सभा का पुनर्गठन किया गया है, जिसमे व्यापार एवं सम्बन्धित हितो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसकी स्थायी सभा का निर्माण २६ अगस्त सन् १९५९ को किया गया, जो भारत सरकार को निर्यात सम्बन्धी समस्याओ पर सलाह देती है। इन परिषदो को चालू वित्तीय वर्ष में १३·६७ लाख रु० सहायता की व्यवस्था है।[1]

प्रदर्शन निदेशालय भारतीय वस्तुओ का दृश्य (Visual) प्रचार करता है। इसने सन् १९५९ मे इटली, टोकियो अन्तर्राष्ट्रीय मेला, कैनाडा के राष्ट्रीय प्रदर्शनो आदि मे भाग लिया। इसके सिवा सेगांव, बुडापेस्ट, बगदाद आदि विदेशी शहरो में भारतीय प्रदर्शनो का आयोजन किया। साथ ही, भारतीय वस्तुओ के प्रचार द्वारा निर्यात बढाने के लिए भारत सरकार के प्रदर्शन कक्ष फ्रेंकफर्ट, न्यूयार्क, काहिरा, बगदाद, कोलम्बो, जद्दा, बैंकाक, जकार्ता और तेहरान मे है तथा रगून मे भी खोला गया है।[2] इस वर्ष २८ अगस्त से २ सितम्बर सन् १९६० तक फ्रेंकफर्ट (जर्मनी) के अन्तर्राष्ट्रीय मेले में भाग लेने का निश्चय किया गया है।

भारत सरकार विदेशो मे व्यापारिक शिष्ट मण्डल भी भेजती है। इस प्रकार का एक शिष्ट मण्डल सितम्बर अक्टूबर सन् १९५९ मे इटली, फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड, बेल्जियम और प० जर्मनी को गया था। इसकी रिपोर्ट से स्पष्ट है कि गत कुछ वर्षो में भारत मे पश्चिम यूरोपीय देशो (इङ्गलैंड छोड कर) से आयात मे वृद्धि हुई है, परन्तु निर्यात मे कोई विशेष कमी या अधिकता नही। उनका कथन है कि पश्चिम यूरोप मे बहुत से कच्चे माल की खपत है, जो भारत से निर्यात हो सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे ठोस प्रगति तभी हो सकती है जबकि उन देशो के और भारत के व्यापारियो के आपसी सम्बन्ध दृढ हो। साथ ही, यदि पश्चिमी यूरोप के उपभोक्ताओ की आवश्यकतानुसार माल बने और उन्हे उपयुक्त दामो पर दिया जाय। अतः शिष्ट मण्डल का मत है कि भारतीय माल की किस्म पर नियन्त्रण रखा जावे, पैकिङ्ग अच्छा हो तथा व्यापारिक झगडो के सन्तोषजनक हल की व्यवस्था हो।[3]

इन विविध प्रयत्नों के कारण हमारे निर्यात स्तर मे सुधार हुआ है। फलस्वरूप सन् १९५९ मे कुल निर्यात ६२६ करोड रु० के हुए, जो सन् १९५८ की अपेक्षा १०% अधिक है।[4] आयात मे विकासशील उद्योग तथा निर्यातक उद्योगो को कच्चे माल आदि के आयातो मे अधिक सुविधा दी जा रही है, जो वास्तव में विकासशील एवं नियोजित आर्थिक नीति के अनुरूप है। इससे निश्चय ही हमारे भुगतान संगठन की स्थिति मे सुधार होगा।

---

१ उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।
२ भारतीय समाचार—जुलाई १५, १९६०।
३ भारतीय समाचार—मई १५, १९६०।
४. उद्योग व्यापार पत्रिका—अगस्त १९६०।